

श्री

मनुस्मृति प्राकृतभाषान्तरसहित.

हे पुस्तक,

(कुल्लुकमश्रुत संस्कृतटीकेच्या आधाराने)

जनार्दन महादेव गुर्जर

हानी

लोकहिताकरिता,

विद्वज्जनांच्या साहाय्याने तयार करून

मुंबईमध्ये

निर्णयसागर छापखान्यात छापून प्रसिद्ध केले.

प्रमाण शुद्ध १ मार्च १९२८.

शानेवारी सन् १८७७ इसवी.

किंमत रुपये ६ (साहा). टपाल कमी ८ आणे.

(सन् १८६७ च्या २५ व्या आक्टामार्फे रजिस्टर करून सर्व
हक्क स्वामीन घेविले आहेत.)

अथ मनुस्मृतिसूचीपत्र.

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------------------------------|--------|--------|------------------------------|--------|--------|
| प्रस्तावना. | १-४ | | पशुपक्ष्यादिसृष्टि. | ८ | ३९ |
| अध्याय पहिला. | | | कमिकीटाद्युत्पत्ति. | ८ | ४० |
| ऋषीर्नी मनुस धर्म विचारिले. | १ | १ | जरायुज. | ८ | ४३ |
| मनु ऋषींप्रत बोलता झाला. | २ | ४ | अंडज. | ९ | ४४ |
| जगताचे उत्पत्तिकथन. | २ | ५ | स्वेदज. | ९ | ४५ |
| प्रथम जलसृष्टि. | ३ | ८ | उद्भिज्ज. | ९ | ४६ |
| ब्रह्मोत्पत्ति. | ३ | ९ | वनस्पति, वक्ष. | ९ | ४७ |
| नारायण शब्दाचा अर्थ | ३ | १० | गुच्छगुल्मादिक. | ९ | ४८ |
| ब्रह्मस्वरूपकथन. | ३ | ११ | या रीतीने सृष्टि उत्पन्न | | |
| स्वर्ग, भूमि इत्यादिकांची | | | करून ब्रह्मा अदृश्य | | |
| उत्पत्ति. | ४ | १३ | झाला. | १० | ५१ |
| महदादिक्रमैकरून जगताची | | | महाप्रलय. | १० | ५४ |
| उत्पत्ति. | ४ | १४ | जीवाचे उत्क्रमण. | १० | ५५ |
| देवगणादिकांची उत्पत्ति. | ५ | २२ | देहांतरग्रहण. | ११ | ५६ |
| वेदत्रयसृष्टि | ५ | २३ | जाग्रत्स्वप्नावस्थांच्या यो- | | |
| कालादिसृष्टि. | ६ | २४ | गाने जगताची उत्पत्ति. | ११ | ५७ |
| कामक्रोधादिसृष्टि. | ६ | २५ | मनुस्मृतीचा प्रचार. | ११ | ५८ |
| धर्माधर्मविचार. | ६ | २६ | भृगु हे शास्त्र सांगेल. | ११ | ५९ |
| सूक्ष्मस्थूलद्युत्पत्ति | ६ | २७ | भृगु ऋषींस सांगतो. | ११ | ६० |
| कर्मसापेक्ष सृष्टि. | ६ | २८ | मन्वंतरकथन. | ११ | ६१ |
| ब्राह्मणादिकांची सृष्टि. | ७ | ३१ | अहोरात्रादिमानकथन. | १२ | ६४ |
| स्त्रीपुरुषसृष्टि. | ७ | ३२ | पित्रहोरात्रकथन. | १२ | ६६ |
| मनूची उत्पत्ति. | ७ | ३३ | दैवाहोरात्रकथन. | १२ | ६७ |
| मरीच्यादिकांची उत्पत्ति | ७ | ३४ | चतुर्युगप्रमाण. | १२ | ६९ |
| ग्रह, गंधर्व, इत्यादिकांची उ- | | | दैवयुगप्रमाण. | १३ | ७१ |
| त्पत्ति. | ७ | ३७ | ब्रह्माहोरात्रप्रमाण. | १३ | ७२ |
| मेघादिसृष्टि. | ८ | ३८ | मनापासून आकाशोत्पत्ति | १३ | ७५ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------------------------------|--------|--------|-------------------------------|--------|--------|
| वायूची उत्पत्ति | १४ | ७६ | श्रुतिस्मृतिविरोध असतां | | |
| तेजाची उत्पत्ति.... | १४ | ७७ | श्रुति श्रेष्ठ. | २२ | १३ |
| जलाची व पृथ्वीची उत्पत्ति | १४ | ७८ | श्रुतिद्वैध असतां निर्णय | २२ | १४ |
| मन्वंतरप्रमाण. | १४ | ७९ | श्रुतिद्वैधाविषयी दृष्टांत. | २२ | १५ |
| सत्ययुगीं चतुष्पाद धर्म | १४ | ८१ | धर्मानुष्ठानाविषयी योग्यदेश | २३ | १७ |
| अन्ययुगीं धर्माची पाद पाद | | | सदाचारलक्षण. | २३ | १८ |
| हानि. | १४ | ८२ | ब्रह्मावर्ताचे आसमंतात् | | |
| युगानुरूप आयुष्यप्रमाण. | १५ | ८३ | देशाचें लक्षण ... | २३ | १९ |
| युगानुरूप धर्मवैलक्षण्य | १५ | ८५ | ब्रह्मावर्तादि देशांतील ब्रा- | | |
| ब्राह्मणकर्म. | १५ | ८८ | हणांपासून आचाराशिक्षा | २३ | २० |
| क्षत्रियकर्म. | १५ | ८९ | मध्यदेशलक्षण. | २३ | २१ |
| वैश्यकर्म.... | १६ | ९० | आर्यावर्त देशलक्षण. | २३ | २२ |
| शूद्रकर्म.... | १६ | ९१ | यज्ञिय देशाचें लक्षण. | २४ | २३ |
| ब्राह्मणाचें श्रेष्ठत्व.. | १६ | ९३ | वर्णधर्मादिक. | २४ | २५ |
| ही मनुस्मृति ब्राह्मणानें प- | | | वैदिक मंत्रांहींकरून ग- | | |
| ठण करावी..... | १८ | १०३ | <u>र्भाधानादिक संस्कार.</u> | २४ | २६ |
| द्वा शास्त्राचें अध्ययन केलें | | | जातकर्म.... | २५ | २९ |
| असतां फल.... | १८ | १०४ | नामकरण.... | २५ | ३० |
| धर्मप्रधान आचार. ... | १८ | १०८ | स्त्रियांचें नामकरण ... | २५ | ३३ |
| ग्रंथार्थानुक्रमणिका.. | १९ | १११ | निष्क्रमण आणि अन्नप्राशन. | २५ | ३४ |
| <u>अध्याय दुसरा.</u> | | | चूडाकर्म. | २५ | ३५ |
| धर्मसामान्यलक्षण. | २० | १ | उपनयन | २६ | ३६ |
| कामात्मतानिषेध.. | २० | २ | उपनयनकालाचा अवधि.... | २६ | ३८ |
| व्रतादिक संकल्पोत्पन्न. | २० | ३ | ब्राह्म. | २६ | ३९ |
| फलेच्छेवांचून क्रिया नाही. | २१ | ४ | कृष्णाजिनादिधारण. | २६ | ४१ |
| धर्माचीं प्रमाणे. | २१ | ६ | मौज्यादि धारण. | २६ | ४२ |
| धर्म वेदोत्पन्न आहे. | २१. | ७ | मौजीच्या अभावीं कुशादि- | | |
| श्रुतिस्मृतिविहित धर्म आ- | | | मेखला.. | २७ | ४३ |
| चरण करावा | २१ | ९ | यज्ञोपवीत.. | २७ | ४४ |
| श्रुति आणि स्मृति यांचें | | | दंडधारण. | २७ | ४५ |
| स्वरूप. | २१ | १० | भिक्षा | २७ | ४९ |
| नास्तिकनिंदा. | २२ | ११ | प्राङ्मुखादि काम्य भोज- | | |
| धर्मप्रमाणाचे प्रकार | २२ | १२ | नाचें फल. | २८ | ५२ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---------------------------------|--------|--------|----------------------------------|--------|--------|
| आचमन..... | २८ | ५३ | इन्द्रियसंयमासिद्धि..... | ३५ | ९३ |
| अन्नप्रशंसा. | २८ | ५४ | विषयांचा उपेक्षक श्रेष्ठ..... | ३५ | ९४ |
| भोजनाचे नियम..... | २९ | ५६ | इन्द्रियनिग्रहाचे उपाय. | ३६ | ९६ |
| अतिभोजननिषेध. | २९ | ५७ | कामासक्ताचें यागादि कर्म | | |
| ब्राह्मादितीर्थानें आचमन.... | २९ | ५८ | निष्फल. | ३५ | ९७ |
| ब्राह्मादितीर्थलक्षण..... | २९ | ५९ | जितेंद्रियाचें लक्षण.. | ३५ | ९८ |
| आचमनविधि. | २९ | ६० | इन्द्रियनिग्रहाचा पुरुषार्थ | ३६ | १०० |
| सव्यापसव्य. | ३० | ६३ | संध्याबंदन. | ३६ | १०१ |
| दंडादिकांचा नाश झाला | | | संध्याहीन शूद्रवत् | ३६ | १०३ |
| असतां दुसरा ग्रहण | | | वेदपाठाविषयीं असमर्थ अ- | | |
| करावा. | | | सतां सावित्री मात्र जप. | ३६ | १०४ |
| केशांतनामक संस्कार | ३० | ६५ | नित्यकर्माविषयीं अनध्याय- | | |
| स्त्रियांचे संस्कार अमंत्रक.... | ३० | ६६ | निर्णय | ३७ | १०५ |
| स्त्रियांचा विवाह वैदिक मं- | ३० | ६७ | जपयज्ञफल | ३७ | १०७ |
| त्रांनी करावा... .. | | | समावर्तनपर्यंत होमादि क- | | |
| उपनीताचें कर्म.... | ३१ | ६९ | रावें. | ३७ | १०८ |
| वेदाध्ययनाचा विधि. | ३१ | ७० | अध्याप्य शिष्याचें लक्षण.... | ३७ | १०९ |
| गुरुबंदनविधि. | ३१ | ७१ | न विचारितां वेद सांगूं नये | ३७ | ११० |
| गुरूच्या आज्ञेने अध्ययन व | ३१ | ७३ | निषेधाचा अतिक्रम असतां | | |
| विराम..... | | | दोष..... | ३८ | १११ |
| अध्ययनाच्या आरंभी व अंती | ३१ | ७४ | असत शिष्यास विद्या सांगूं | | |
| प्रणव.... | | | नये..... | ३८ | ११२ |
| प्राणायाम..... | ३१ | ७५ | सच्छिष्यास विद्या सांगणें.... | | |
| प्रणवादिकांची उत्पत्ति | ३२ | ७६ | अध्ययनावांचून वेदग्रहणा- | ३९ | ११५ |
| सावित्रीची उत्पत्ति.. | ३२ | ७७ | चा निषेध. | ३९ | ११६ |
| सावित्रीजपाचें फल. | ३२ | ७८ | अध्यापकास अभिवंदन ... | ३९ | ११७ |
| सावित्रीचा जप टाकिला | ३२ | ८० | अभिहिताचरणनिंदा | | |
| असतां पातित्य. | | | गुरुस अभिवादानादिक क- | ३९ | ११८ |
| प्रणवव्याहर्तिसावित्रीप्रशंसा. | ३२ | ८१ | तैव्य असतां.... | ३९ | ११९ |
| प्रणवप्रशंसा. | ३३ | ८४ | वृद्धाभिवादन. | ३९ | १२० |
| मानसजपफल | ३३ | ८५ | अभिवादनफल. | ३९ | १२१ |
| इन्द्रियनिग्रह. | ३४ | ८८ | अभिवादनविधि..... | ४० | १२२ |
| एकादश इन्द्रियें..... | ३४ | ८९ | प्रत्याभिवादन. | ४० | १२५ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--------------------------------|--------|--------|-------------------------------|--------|--------|
| प्रत्यभिवादानाचें अज्ञान अ- | | | वर्णक्रमानें ज्ञानादिकें करून | | |
| अतां दोष. | ४० | १२६ | श्रेष्ठत्व | ४९ | १९५ |
| कुशलप्रश्नादि. | ४० | १२७ | मूर्खनिंदा | ४९ | १९७ |
| दीक्षितादिकांचे नामग्रहणा- | | | शिष्याकारणें मधुर वाणी | | |
| विषयीं दोष. | ४१ | १२८ | योजावी ... | ४६ | १९९ |
| परस्त्री इत्यादिकांचें नाम घे- | | | मनुष्यास वाणीमनांचा सं- | | |
| प्याचा निषेध. | ४१ | १२९ | यम सांगतो | ४६ | १६० |
| कनिष्ठ मातुलादिकांस वंदन | | | परब्रह्मादिकांचा निषेध. | ४६ | १६१ |
| करण्याचा निषेध. | ४१ | १३० | दुसऱ्यानें अपमान केला | | |
| मातृष्वसा इत्यादिक गुरूसा- | | | असतां हि क्षमा करावी. | ४६ | १६२ |
| रखे पूज्य. | ४१ | १३१ | अपमान करणारास दोष. | ४७ | १६३ |
| भ्रातृभार्यादिकांस अभिवा- | | | वेदाध्ययनाचा विधि. | ४७ | १६४ |
| दन. | ४१ | १३२ | वेदाभ्यासाचें श्रेष्ठत्व | ४७ | १६६ |
| ज्येष्ठ भगिनी इत्यादिकांस अ- | | | वेदाभ्यासस्तुति. | ४७ | १६७ |
| भिवादन. | ४२ | १३३ | वेदाध्ययनविरहित वेदां- | | |
| पौरसख्यादिक. | ४२ | १३४ | गांचे अध्ययनाचा निषेध. | ४७ | १६८ |
| दशवर्ष ब्राह्मण क्षत्रियादि- | | | द्विजत्वनिरूपणाचा अर्थ | | |
| कांस पितृवद्वंद्व. | ४२ | १३५ | सांगतो. | ४८ | १६९ |
| विचादि मान्य स्थानें. | ४२ | १३६ | अनुपनीतास कर्माचा अधि- | | |
| रथारूढादिकांस मार्ग देणें. | ४३ | १३८ | कार नाही. | ४८ | १७१ |
| स्नातकास मार्ग राजानें हि | | | उपनीतानें वेदाध्ययन करावें | ४८ | १७३ |
| दावा. | ४३ | १३९ | गोदानादि संस्कारां नूतन | | |
| आचार्य शब्दाचा अर्थ. | ४३ | १४० | दंडादि धारण करावी. | ४८ | १७४ |
| उपाध्याय शब्दाचा अर्थ. | ४३ | १४१ | ब्रह्मचाऱ्यानें नियम धारण | | |
| गुरु शब्दाचा अर्थ. | ४३ | १४२ | करावे. | ४८ | १७५ |
| ऋत्विक्. | ४३ | १४३ | नित्य स्नानतर्पणहोमादि.. | ४९ | १७६ |
| अध्यापकप्रशंसा. | ४३ | १४४ | ब्रह्मचाऱ्याचे नियम | ४९ | १७७ |
| माता इत्यादिकांचा उत्कर्ष. | ४४ | १४५ | कामें करून रेतःपातनिषेध. | ४९ | १८० |
| आचार्याचें श्रेष्ठत्व. | ४४ | १४६ | स्वभावस्थेंत रेतःपात असतां | | |
| आचार्य वयानें कनिष्ठ अ- | | | जप | ४९ | १८१ |
| सतां हि पित्याप्रमाणें पूज्य. | ४४ | १५० | आचार्यांसाठीं जलकुशादि- | | |
| याविषयीं दृष्टांत सांगतो. | ४५ | १५१ | क आणणें | ५० | १८२ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--|--------|--------|---|--------|--------|
| वेदयज्ञयुक्त गृही भिक्षा करावी | ५० | १८३ | गुरुपुत्राविषयीं. | ५४ | २०७ |
| गुरुकुलादिकांचे गृही भिक्षा न करणे | ५० | १८४ | गुरुस्त्रीविषयीं. | ५४ | २१० |
| अभिशास्त भिक्षानिषेध | ५० | १८५ | स्त्रीस्वभावकथन | ५६ | २१३ |
| सायंप्रातः कालीं समिधांचा होम. | ५० | १८६ | माता इत्यादिकांशीं हि एकां- तनिषेध ... | ५५ | २१५ |
| होमादि न केलें असतां | ५० | १८७ | तरुण गुरुपत्नीस वंदन करणे | ५५ | २१६ |
| एकगृहीभक्षानिषेध | ५० | १८८ | गुरुशुश्रूषाफल | ५५ | २१८ |
| निमंत्रितानें एकान्न भोजन करावें. | ५१ | १८९ | ब्रह्मचाऱ्याचे तीन प्रकार. | ५६ | २१९ |
| क्षत्रियवैश्यांला एकान्नभोज- न निषेध | ५१ | १९० | सूर्याच्या उदयास्तकाली नि- द्रानिषेध | ५६ | २२० |
| अध्ययन व गुरुचें हित यां- विषयीं यत्न | ५१ | १९१ | संध्योपासनाची आवश्यकता. | ५६ | २२२ |
| गुरुची आज्ञा धारण करणे सांगतो | ५१ | १९२ | स्त्री इत्यादिकांचे श्रेयःक- रण | ५६ | २२३ |
| गुरुने निद्रा केल्यानंतर नि- द्रा करणे | ५१ | १९४ | धर्मार्थकाम सांगतो. | ५६ | २२४ |
| गुरुची आज्ञा धारण कर- ण्याचा प्रकार | ५२ | १९५ | पिता, आचार्य इत्यादिकांचा अवमान न करणे. | ५७ | २२५ |
| गुरुच्या समीप चांचक्य- निषेध | ५२ | १९८ | त्यांची शुश्रूषा करणे | ५७ | २२८ |
| गुरुचें नामग्रहण करूं नये. | ५२ | १९९ | त्यांचा अनादर न करणे | ५८ | २३४ |
| गुरुनिंदाश्रवणनिषेध | ५२ | २०० | मात्रादिकांची सेवा प्रधान. | ५८ | २३५ |
| गुरुशीं परिवाद करण्याचें फल | ५३ | २०१ | नीचापासून हि विद्या ग्रहण करणे. | ५९ | २३८ |
| जवळ जाऊन गुरुपूजा करावी | ५३ | २०२ | आपत्तिकालीं अध्ययनादि- कांचा निर्णय. | ५९ | २४१ |
| गुरुच्या परोक्ष सांगूं नये. | ५३ | २०३ | क्षत्रियादि गुरुचे ठायीं अ- तिवासनिषेध. | ६० | २४२ |
| गाडी, रथ इत्यादिकांत गुरु- सह बसावें | ५३ | २०४ | यावज्जीव गुरुशुश्रूषा. | ६० | २४३ |
| परमगुरुचे ठायीं गुरुप्र- माणें वर्तन | ५३ | २०५ | गुरुदक्षिणादि. | ६० | २४५ |
| विद्यागुरुविषयीं | ५४ | २०६ | आचार्य मृत असतां त्याचे पुत्रादिकांची सेवा करणे. | ६० | २४७ |
| | | | यावज्जीव गुरुसेवाफल. ... | ६१ | २४९ |
| | | | अध्याय तिसरा. | | |
| | | | ब्रह्मचाऱ्याचा अवधि | ६१ | १ |
| | | | गृहस्थाश्रमवास सांगतो | ६१ | २ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|------------------------------------|--------|--------|--------------------------------|--------|--------|
| वेदाध्ययनानंतर पिताइत्या- | | | सवर्णाविवाहाचा विधि | ६८ | ४३ |
| दिकांनी पूजा करणे.... | ६१ | ३ | असवर्णा विवाहाचा विधि. | ६८ | ४४ |
| समावर्तनोत्तर विवाह | ६२ | ४ | स्त्रीगमनाविषयी ... | ६८ | ४५ |
| सापिंड्यरहित कन्या वरणे. | ६२ | ५ | ऋतु कालाचा अवधि ... | ६९ | ४६ |
| विवाहाविषयी निंदित कुलें. | ६२ | ६, ७ | स्त्री गमनाविषयी निंदित | | |
| कन्यादोष | ६२ | ८, ९ | काल... | ६९ | ४७ |
| कन्यालक्षणे | ६३ | १० | समदिनीं पुत्रोत्पत्ति. | ६९ | ४८ |
| पुत्रिकाविवाहनिंदा | ६३ | ११ | कन्या, पुत्र, नपुंसक उत्पन्न | | |
| सवर्णा स्त्री प्रशस्त | ६३ | १२ | होण्याचीं कारणे. | ६९ | ४९ |
| चातुर्वर्ण्याच्या भार्या परिग- | | | वानप्रस्थाश्रमी यास ऋतुग- | | |
| णन..... | ६३ | १३ | मन सांगतो..... | ६९ | ५० |
| ब्राह्मणक्षत्रियांस शूद्रा स्त्री- | | | कन्याविक्रयीं दोष.. | ७० | ५१ |
| निषेध | ६३ | १४ | स्त्रीधनग्रहणीं दोष. ... | ७० | ५२ |
| हीनजातिविवाहनिषेध ... | ६४ | १५ | वरापासून मौल्य न घेणे.... | ७० | ५३ |
| शूद्राविवाहाविषयी. | ६४ | १६ | कन्येला धन देणे.. | ७० | ५४ |
| <u>आठप्रकारचे विवाह</u> | ६५ | २० | कन्येस वस्त्रालंकारादिकांनीं | | |
| धर्म्य विवाह सांगतो | ६५ | २२ | भूषित करणे.... | ७० | ५५ |
| पैशाचासुरविवाहनिंदा | ६५ | २५ | स्त्रियांचे सन्मानाचें फल.... | ७० | ५६ |
| ब्राह्मविवाहलक्षण | ६६ | २७ | उत्सवांचे ठायीं विशेषेकरून | | |
| दैवविवाहलक्षण | ६६ | २८ | सत्कार. | ७१ | ५९ |
| आर्षविवाहलक्षण | ६६ | २९ | दंपतीच्या संतोषाचें फल.... | ७१ | ६० |
| प्राजापत्यविवाहलक्षण | ६६ | ३० | स्त्रियांस अलंकारादि देणे | | |
| आसुरविवाहलक्षण | ६६ | ३१ | न देणे. | ७१ | ६१ |
| गांधार्वाविवाहलक्षण ... | ६७ | ३२ | कुलास हीनत्व करणारीं कर्मे | ७२ | ६३ |
| राक्षसविवाहलक्षण | ६७ | ३३ | कुलाचा उत्कर्ष करणारीं | | |
| पैशाचविवाहलक्षण | ६७ | ३४ | कर्मे..... | ७२ | ६६ |
| उदकदानपूर्वक ब्राह्मण- | | | पंचमहायज्ञांचें अनुष्ठान ... | ७२ | ६७ |
| विवाह | ६७ | ३५ | पंचसूनादोषलक्षण. | ७२ | ६८ |
| ब्राह्मादिविवाहांचीं फलें... | ६७ | ३७ | पंचयज्ञ सांगतो..... | ७३ | ७० |
| ब्राह्मादिविवाह असतां सुप्र- | | | पंचयज्ञ न केले असतां दोष | ७३ | ७२ |
| जा उत्पन्न होते | ६८ | ३९ | पंचयज्ञांचीं दुसरीं नामें | ७३ | ७३ |
| निंदित विवाह असतां नि- | | | असामर्थ्य असतां ब्रह्मयज्ञ | | |
| दित प्रजा | ६८ | ४१ | व होम करणे... | ७४ | ७५ |

मनुस्मृतिसूचीपत्र.

७

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---|--------|--------|--|--------|--------|
| होमापासून वृष्ट्यादिकांची उत्पत्ति.... | ७४ | ७६ | गर्भिणी इत्यादिकांस प्रथम भोजन. | ८० | ११४ |
| गृहस्थाश्रमप्रशंसा. | ७४ | ७७ | गृहस्थास प्रथम भोजनाचा निषेध. | ८० | ११५ |
| ऋष्यादिकांची पूजा | ७५ | ८० | दंपतींनीं सर्वांचें शेष अन्न भोजन करावें. | ८० | ११६ |
| नित्यश्राद्ध सांगतो. | ७५ | ८२ | आत्मार्थपाकनिषेध. | ८१ | ११८ |
| पितृर्था ब्राह्मणभोजन. | ७५ | ८३ | गृही राजादिक आले असतां पूजा.. | ८१ | ११९ |
| बलिवैश्वदेवकर्म.... | ७५ | ८४ | राजा व रनातक यांची पूजा | ८१ | १२० |
| बलिवैश्वदेवकर्माचें फल.... | ७६ | ९३ | स्त्रियेनें अमंत्रक बलिहरण करणें. | ८१ | १२१ |
| भिक्षादान. | ७७ | ९५ | अमावास्यापौर्णिमा श्राद्ध.... | ८१ | १२२ |
| सत्कार करून भिक्षादिदान. | ७७ | ९६ | मासैकरून श्राद्ध करणें.... | ८२ | १२३ |
| अपार्त्री दान व्यर्थ. | ७७ | ९७ | श्राद्धब्राह्मणांची संख्या. | ८२ | १२५ |
| सत्पार्त्री दान असतां फल. | ७७ | ९८ | श्राद्धविस्तारनिषेध. | ८२ | १२६ |
| अतिथिसत्कार. | ७७ | ९९ | अमावास्याश्राद्ध अवश्य करणें..... | ८२ | १२७ |
| अतिथिविमुख गेला असतां | ७८ | १०० | देवपितृसंबंधी अन्न श्रोत्रियास देणें | ८२ | १२८ |
| अतिथीचा सत्कार. | ७८ | १०१ | श्रोत्रियप्रशंसा | ८३ | १२९ |
| अतिथीचें लक्षण... | ७८ | १०२ | अमंत्रब्राह्मण निषेध. | ८३ | १३३ |
| परपाकनिषेध | ७८ | १०४ | ज्ञाननिष्ठास कव्यादि दान. | ८४ | १३५ |
| अतिथिप्रत्याख्यान. | ७८ | १०५ | श्रोत्रियपुत्रप्राधान्य. | ८४ | १३६ |
| अतिथीस भोजन दिल्यावांचून भोजन न करणें. | ७९ | १०६ | श्राद्धी मित्रादिकांस भोजन देण्याचा निषेध. | ८४ | १३८ |
| बहुत अतिथि प्राप्त असतां यथायोग्य सत्कार करणें. | ७९ | १०७ | अविद्वानास श्राद्धी भोजन देणें व्यर्थ.... | ८५ | १४२ |
| अतिथीसाठी पुनः पाक करून बलिकर्म..... | ७९ | १०८ | विद्वानास दक्षिणादान सफल. | ८५ | १४३ |
| भोजनासाठी कुलगोत्र प्र- श्रनिषेध. | ७९ | १०९ | विद्वान् ब्राह्मण न मिळेल तर श्राद्धी मित्रास भोजन देणें.... | ८५ | १४४ |
| ब्राह्मणास क्षत्रियादिक अ- तिथि नव्हत.... | ७९ | ११० | | | |
| क्षत्रियादिकांस भोजन घालणें.... | ८० | १११ | | | |
| मित्र इत्यादिकांसहि सत्कार- पूर्वक भोजन.... | ८० | ११३ | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------------|--------|--------|---------------------------------|--------|--------|
| वेदपारग ब्राह्मण यज्ञाने | | | पितृगणाची उत्पत्ति | ९३ | १९३ |
| सांगणें | ८५ | १४५ | पितरांस रुप्याचें पात्र प्रशस्त | ९५ | २०२ |
| श्राद्धीं मातामहादिकहि | | | देवकार्याहून पितृकार्य श्रेष्ठ. | ९५ | २०३ |
| ब्राह्मण सांगणें. | ८६ | १४८ | देवकार्य पितृकार्याचें अंग. | ९५ | २०४ |
| ब्राह्मणपरीक्षा. | ८६ | १४९ | श्राद्धदेश..... | ९५ | २०६ |
| चोर पतित इत्यादिक वर्ज्य. | ८६ | १५० | निर्मंत्रित ब्राह्मणास आसना- | | |
| श्राद्धीं निषिद्ध ब्राह्मण | ८६ | १५१ | दिक देणें. | ९६ | २०५ |
| अध्ययनशून्यब्राह्मणनिंदा. | ८९ | १६८ | ब्राह्मणाची पूजा.... | ९६ | २०९ |
| पंक्तिपावनरहितास दान | | | अग्नौकरणहोम करणें. | ९६ | २१० |
| देण्याचा निषेध | ८९ | १६९ | अग्नौच्या अभावीं विप्रहस्ता- | | |
| परिवेत्ता इत्यादिकांचें लक्षण | ८९ | १७१ | वर होम. | ९६ | २१२ |
| परिवेदनसंबंधीचें फल, दि- | | | अपसव्यानें अग्नौकरणादि. | ९७ | २१४ |
| धिषूपतीचें लक्षण. | ९० | १७३ | पिंडदानादिविधि.... | ९७ | २१५ |
| कुंडगोलकलक्षण. | ९० | १७४ | कुशमूलाचे ठायीं हस्ताचें | | |
| कुंडगोलकांसदान देण्याचा | | | घर्षण करणें.... | ९७ | २१६ |
| निषेध. | ९० | १७५ | ऋतूंस नमस्कारादि करणें. | ९७ | २१७ |
| चोर इत्यादिक न पहातील | | | पिंडांच्या सन्निध उदक देणें | ९७ | २१८ |
| असें ब्राह्मणभोजन करणें | ९० | १७६ | ब्राह्मणांकडून पिंडान्न भक्षण | | |
| अंधादिकांचे दृष्टीचें दुष्टफल | ९० | १७७ | करविणें. | ९७ | २१९ |
| शूद्रयाजकनिषेध | ९१ | १७८ | पिता जीवंत असतां पिताम- | | |
| शूद्रयाजकप्रतिग्रहाचा निषेध | ९१ | १७९ | हादि पार्वण. | ९८ | २२० |
| सोमविक्रयी इत्यादिकांस | | | पिता मृत व पितामह जी- | | |
| दान देणें त्याचें दुष्टफल | ९१ | १८० | वंत असतां पार्वण | ९८ | २२१ |
| पंक्तिपावन सांगतो. | ९२ | १८३ | पित्रादि ब्राह्मण भोजनविधि | ९८ | २२३ |
| श्राद्धीं ब्राह्मणांस निर्मंत्रण | | | परिवेषणविधि. | ९८ | २२४ |
| देणें.... | ९२ | १८७ | व्यंजनादि दानाविषयीं. ... | ९९ | २२६ |
| निर्मंत्रिताचे नियम. | ९३ | १८८ | रोदनक्रोध इत्यादिक न करणें | ९९ | २२९ |
| निर्मंत्रण स्वीकारून भोजन | | | ब्राह्मणांस अपेक्षित पदार्थ | | |
| न केल्यास दोष. | ९३ | १९० | वाढणें. | ९९ | २३१ |
| निर्मंत्रित ब्राह्मण स्त्रीगमन | | | ब्राह्मणांकडून वेदादिक श्र- | | |
| करील तर. | ९३ | १९१ | वण करविणें. ... | १०० | २३२ |
| श्राद्धकर्ता व भोक्ता यांनीं | | | ब्राह्मणांस संतोषविणें. | १०० | २३३ |
| क्रोधादिक वर्ज्य करावें. | ९३ | १९३ | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------------|--------|--------|---------------------------------|--------|--------|
| श्राद्धीं दौहित्रास यत्नैकरून | | | पितामहपिंड स्त्रियेने भक्षण | | |
| भोजन देणें | १०० | २३४ | करणें. | १०४ | २६१ |
| दौहित्रादिकांची प्रशंसा.... | १०० | २३५ | ज्ञातिभोजन. | १०४ | २६४ |
| उष्णान्न भोजन हविर्गुणादि | | | शेषान्नानें बलिकर्म करणें | १०४ | २६५ |
| न सांगणें. | १०० | २३७ | तिलादिकांनीं पितृतृप्ति. ... | १०५ | २६७ |
| भोजनकालीं उष्णीषादिकां- | | | मांसविशेषानें तृप्तिकाल. | १०५ | २६८ |
| चा निषेध. | १०० | २३८ | मघादिश्राद्धीं मधुदान. | १०६ | २७३ |
| ब्राह्मणास भोजनकालीं चां- | | | गजच्छायादि. | १०६ | ५७४ |
| डालादि स्पर्शनिषेध ... | १०१ | २३९ | श्रद्धेने दान. | १०६ | २७५ |
| अवघ्राणादिनिषेध. | १०१ | २४१ | पितृपक्षाविषयीं प्रशस्त तिथि | १०६ | २७६ |
| श्राद्धभूमीपासून खंजादिकांस | | | युग्मतिथि नक्षत्रादि प्रशस्त. | १०६ | २७७ |
| घालविणें | १०१ | २४२ | कृष्णपक्ष, अपराह्न प्रशस्त. | १०६ | २७८ |
| भिक्षुकादिभोजन. | १०१ | २४३ | अपसव्यकुशादि | १०७ | २७९ |
| अभिदग्धानदान. | १०१ | २४४ | रात्री श्राद्धनिषेध.... | १०७ | २८० |
| भूमिगत उच्छिष्ट, दासवर्गा- | | | प्रतिमासीं श्राद्ध करण्यावि- | | |
| चा अंश | १०२ | २४६ | षयीं अशक्ति असतां | | |
| सर्पिडीपर्यंत विश्वेदेवरहित | | | निर्णय. | १०७ | २८१ |
| श्राद्ध.... | १०२ | २४७ | सांनिधिककर्तृक अग्नौकरण. | १०७ | २८२ |
| सर्पिडीनंतर पार्वणश्राद्ध.... | १०२ | २४८ | तर्पणफल..... | १०७ | २८३ |
| श्राद्धोच्छिष्ट शूद्रास न देणें. | १०२ | २४९ | पितृप्रशंसा. | १०७ | २८४ |
| श्राद्धभोक्त्यास स्त्रीगमननि- | | | विधिसामृतभोजन. | १०८ | २८५ |
| षेध..... | १०२ | २५० | अध्याय चवथा. | | |
| कृतभोजन ब्राह्मणाकडून आ- | | | ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यांचा काल. . | १०८ | १ |
| चमन करविणें... .. | १०२ | २५१ | उपजीविकानिर्णय ... | १०९ | २ |
| स्वधाशीर्वचन. | १०३ | २५२ | उचितार्थ संग्रह करणें | १०९ | ३ |
| शेषान्नाचा विनियोग. | १०३ | २५३ | आपत्तिरहित कालीं जीवन- | | |
| एकोद्दिष्टादिकांचा विधि.... | १०३ | २५४ | कर्म | १०९ | ४ |
| अपराह्णादिक | १०३ | २५५ | ऋत इत्यादि शब्दांची | | |
| श्राद्धविहित अन्नादिक.... | १०३ | २५६ | व्याख्या | १०९ | ५ |
| ब्राह्मणाचें विसर्जन करून वर | | | धनसंग्रहाची इयत्ता | ११० | ७ |
| मग्नणें | १०३ | २५७ | अश्वस्तनिकप्रशंसा. | ११० | ८ |
| पिंड • गार्ह इत्यादिकांकडून | | | याजनाध्यापनादि जीविका. | ११० | ९ |
| भक्षण करविणें. | १०४ | २६० | शिलोच्छवृत्ति. | ११० | १० |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|------------------------------|--------|--------|---------------------------------|--------|--------|
| असज्जीविकानिषेध | ११० | ११ | वत्स व रज्जु यांचें उल्लंघन | | |
| संतोषप्रशंसा. | १११ | १२ | आणि जलांत स्वप्रतिबिंब | | |
| व्रतकरण | १११ | १३ | पाहणें यांचा दोष..... | ११६ | ३८ |
| वेदोक्त कर्म करणें | १११ | १४ | मार्गीं गाई इत्यादिकांस प्रद- | | |
| गीतादिकें करून धनार्जन- | | | क्षिणावर्त करणें | ११६ | ३९ |
| निषेध..... .. | १११ | १५ | रजस्वलागमनादिनिषेध | ११६ | ४० |
| इंद्रियार्थासक्तिनिषेध | १११ | १६ | भार्येसह भोजननिषेध... | ११६ | ४३ |
| वेदविरुद्धकर्मत्याग. | ११२ | १७ | कालविशेषीं स्त्रीदर्शननिषेध | ११६ | ४४ |
| वय, कुल यांचा अनुरूप वर्तन | ११२ | १८ | नग्नस्नानादिनिषेध. | ११७ | ४५ |
| नित्य शास्त्रावलोकन | ११२ | १९ | मार्गादिकांत विष्टामूत्रोत्स- | | |
| पंचमहायज्ञ यथाशक्ति करणें | ११२ | २१ | र्गनिषेध | ११७ | ४६ |
| कोणी इंद्रिय संयम करितात | ११३ | २२ | मूत्रपुरीषोत्सर्गकालीं. सूर्या- | | |
| कोणी वाणीचे ठायीं करितात | ११३ | २३ | दिदर्शननिषेध: | ११७ | ४८ |
| कोणी ज्ञानाग्नीचे ठायीं क- | | | मूत्रपुरीषोत्सर्गविधि. | ११७ | ४९ |
| रितात | ११३ | २४ | दिवसा इत्यादिकालीं उदङ्- | | |
| संध्याद्वय होम दर्शपूर्णमास. | ११३ | २५ | मुख... .. | ११७ | ५० |
| सौमयागादिक | ११३ | २६ | अंधकारादि असतां अनियम | ११७ | ५१ |
| आग्रयण केल्यावांचून नवा- | | | मूत्रपुरीषाचे ठायीं अग्न्यादि- | | |
| न्नभक्षणनिषेध. | ११४ | २७ | संमुखनिषेध... .. | ११८ | ५२ |
| यथाशक्ति अतिथिपूजन... | ११४ | २८ | अग्नीचे ठायीं अशुद्ध पदार्थ | | |
| पाखंडी इत्यादिकांचे सत्का- | | | न टाकणें. | ११८ | ५३ |
| राचा निषेध..... .. | ११४ | ३० | अग्नीचे उल्लंघनादिकांवि- | | |
| श्रोत्रियादिकांची पूजा.... | ११४ | ३१ | षयीं निषेध | ११८ | ५४ |
| ब्रह्मचारी इत्यादिकांस अन्न | | | संधिकालीं भोजन, भूमिलि- | | |
| देणें..... .. | ११५ | ३२ | खनादि यांचा निषेध. | ११८ | ५५ |
| क्षत्रियादिकांपासून धन ग्र- | | | जलांत मूत्रादिप्रक्षेपाचा नि- | | |
| हण करणें | ११५ | ३३ | षेध..... .. | ११८ | ५६ |
| द्रव्य मिळण्याचा संभव अ- | | | शून्यगृहीं निद्रादिकांचा नि- | | |
| सतां उपवासी न राहणें | ११५ | ३४ | षेध..... .. | ११८ | ५७ |
| शूचि, स्वाध्याययुक्त असावे | ११५ | ३५ | भोजनादिकांविषयीं दक्षिण | | |
| दंडकमंडलु इत्यादि धारण | ११५ | ३६ | हस्त..... .. | ११८ | ५८ |
| सूर्यदर्शननिषेध. | ११५ | ३७ | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--|--------|--------|--|--------|--------|
| तृषाक्रांत गाईचें निवारण आणि इंद्रधनुष्य दर्शन न करणें. | ११९ | ५९ | केशभस्मयुक्तस्थानीं उभें न राहणें. | १२१ | ७८ |
| अधार्मिक ग्रामवास व ए- काकी गमन यांविषयीं. | ११९ | ६० | पतितादिसंगतिनिषेध | १२२ | ७९ |
| शूद्रराज्यांत वासादि निषेध | ११९ | ६१ | शूद्राकारणें व्रतकथनादि- | १२२ | ८० |
| अतिभोजनादिकांचा निषेध. | ११९ | ६२ | कांचा निषेध. | १२२ | ८० |
| अंजलीकरून जलपान नि- षेध | ११९ | ६३ | शिरःकंडूयन स्नानादिकां- विषयीं. | १२२ | ८२ |
| नृत्यादिनिषेध. | ११९ | ६४ | शिरःप्रहारादिनिषेध. | १२२ | ८३ |
| कांस्यपात्रांत पादप्रक्षालन आणि भिन्न पात्रांत भो- जन यांचा निषेध... | १२० | ६५ | क्षत्रियविरहित राजापासून प्रतिग्रहनिषेध.... | १२३ | ८४ |
| परधृतयज्ञोपवीतादिधारणनि | १२० | ६६ | तैलिकादिप्रतिग्रहाविषयीं.- | १२३ | ८५ |
| अशिक्षित वृषभयुक्त गाडींत वसण्याचा निषेध | १२० | ६७ | शास्त्रोलंघनकर्त्या राजाच्या प्रतिग्रहाविषयीं. | १२३ | ८७ |
| धुर्यलक्षण सांगतो. | १२० | ६८ | तामिस्रादिक एकवीस नरक सांगतो. | १२३ | ८८ |
| प्रेतधूमनखादिच्छेदन यांचा निषेध. | १२० | ६९ | ब्राह्ममुहूर्तकृत्य. | १२३ | ९२ |
| तृणच्छेदनादि निषेध | १२० | ७० | प्रातःकृत्यादिक. | १२४ | ९३ |
| लोष्ठमर्दन करणारे इत्या- दिकांविषयीं दुष्टफल... | १२० | ७१ | आयुःकीर्त्यादिवर्द्धकत्व. | १२४ | ९४ |
| मालाधारण व बैलावर वस- णें यांविषयीं.... | १२१ | ७२ | श्रावणीचे ठायीं उपाकर्म क- रणें..... | १२४ | ९५ |
| अद्वारें गृहगमनादिक अ- सतां.... | १२१ | ७३ | पुण्यनक्षत्रीं उत्सर्जन नामक कर्म. | १२४ | ९६ |
| ब्रूतादि निषेध.... | १२१ | ७४ | उत्सर्जनोत्तर पक्षिण्यनध्याय. शुक्लपक्षीं वेद आणि कृष्णप- | १२५ | ९७ |
| रात्रीं तिलभोजन व नम्रश- यन यांचा निषेध. | १२१ | ७५ | क्षीं वेदांगें पठण करणें. | १२५ | ९८ |
| पादप्रक्षालनपूर्वक भोजन करणें.... | १२१ | ७६ | पादनिशांतीं निशानिषेध... | १२५ | ९९ |
| दुर्गगमन, मलदर्शन, नदी- तरण यांविषयीं. | १२१ | ७७ | यथाविधि निख गायत्र्यादि वेदभाग पठन करावा- | १२५ | १०० |
| | | | अनध्याय सांगतो. | १२५ | १०१ |
| | | | वर्षाकालिक अनध्याय.... | १२५ | १०२ |
| | | | अकालिक अनध्याय. | १२६ | १०३ |
| | | | सार्वकालिक अनध्याय. ... | १२६ | १०५ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---------------------------------|--------|--------|---------------------------------|--------|--------|
| संध्यागर्जनादिकांविषयीं | १२६ | १०६ | वृथा वाद न करणें. | १३१ | १३९ |
| नगरादिकीं निज्ञानध्याय.... | १२६ | १०७ | उषःकाल इत्यादि समयीं | | |
| श्राद्धभोजनग्रहणादिकीं त्रि- | | | अपरिचितासह गमन- | | |
| रात्र अनध्याय. | १२६ | ११० | निषेध. | १३१ | १४० |
| गंधलेपयुक्त असतां अध्य- | | | हीनांगादिकांच्या आक्षेपाचा | | |
| यननिषेध. ... | १२७ | १११ | निषेध. | १३१ | १४१ |
| शयनादिक असतां अध्ययन- | | | उच्छिष्ट स्पर्श सूर्यादिदर्शना- | | |
| निषेध. | १२७ | ११२ | विषयीं. | १३२ | १४२ |
| अमावास्यादि तिथि अध्य- | | | स्वकीय इंद्रिय स्पर्शादिकां- | | |
| यनाविषयीं निषिद्ध.... | १२७ | ११४ | विषयीं. | १३२ | १४४ |
| सामवेदध्वनि श्रुत असतां | | | मंगलाचारयुक्त असणें. | १३२ | १४५ |
| अन्य वेदाध्ययननिषेध. | १२९ | १२४ | वेदाध्ययनाचें प्राधान्य. | १३२ | १४६ |
| वेदत्रयदेवता. | १२९ | १२४ | अष्टकाश्राद्धादि.... | १३३ | १५० |
| गायत्रीजपानंतर वेद पाठ | | | अग्निगृहापासून दूर मूत्रादु- | | |
| गवाक्षंतरागमन असतां. | १२९ | १२६ | त्सर्ग करावा..... | १३३ | १५१ |
| शुचि प्रदेशीं अध्ययन करणें | १२९ | १२७ | पूर्वाह्ने स्नानपूजादि कर्म.... | १३३ | १५२ |
| अमावास्यादिक तिथींचे ठा- | | | पर्वणीचेठायीं देवादिकांचें | | |
| यीं ऋतुकालींहि स्त्रीग- | | | दर्शन..... | १३३ | १५३ |
| मन वर्ज्य. | १२९ | १२८ | आलेल्या वृद्धादिकांचा स- | | |
| स्नाननिषेध. | १३० | १२९ | त्कार..... | १३३ | १५४ |
| गुरु इत्यादिकांची छाया उल्लं- | | | श्रुतिस्मृत्युदिताचारकरणें. | १३४ | १५५ |
| घन करण्याविषयीं निषेध. | १३० | १३० | आचारफल. | १३४ | १५६ |
| चतुष्पयनिषेध. | १३० | १३१ | दुराचारनिंदा. | १३४ | १५७ |
| रुधिर, श्लेष्मा इत्यादिक | | | आचारप्रशंसा. | १३४ | १५८ |
| स्थलीं न राहणें. | १३० | १३२ | परवश कर्मत्यागादि. | १३४ | १५९ |
| शत्रु, चोर, परस्त्री इत्यादि- | | | त्यांचें कारण | १३४ | १६० |
| कांचे सेवनाचा निषेध. | १३० | १३३ | चित्तास आल्हादकारक कर्म | | |
| परस्त्रीसेवनविंदा.... | १३० | १३४ | करणें. | १३४ | १६१ |
| क्षत्रिय, सर्प व ब्राह्मण यांचा | | | आचार्यादिहिंसानिषेध. | १३५ | १६२ |
| अपमान न करणें ... | १३१ | १३५ | नास्तिक्यादिनिषेध. | १३५ | १६३ |
| आपल्या अपमानाचा निषेध | १३१ | १३६ | परताडनादिनिषेध. | १३५ | १६४ |
| प्रियसत्यकथन. | १३१ | १३८ | ब्राह्मणताडननिषेध. | १३५ | १६५ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--|--------|--------|---|--------|--------|
| ब्राह्मणशरीरी शोणितोत्पाद- ननिषेध. | १३५ | १६७ | नद्यादिकांत स्नान करणे.... | १४१ | २०३ |
| अधार्मिकादिकांस सुखा- भाव.... | १३६ | १७० | यमानियम. | १४१ | २०४ |
| अधर्मबुद्धिनिषेध. | १३६ | १७१ | अश्रोत्रिययज्ञादिकांत भो- जननिषेध.... | १४२ | २०५ |
| अधर्मफलोत्पत्ति..... | १३६ | १७२ | मत्त कुद्धादिकांचें अन्न भ- क्षण न करणे. | १४२ | २०७ |
| शिष्यादिशासन.... | १३७ | १७५ | रजस्वलादिस्पृष्ट अन्नाचा निषेध. | १४२ | २०८ |
| अर्थकामत्याग. | १३७ | १७६ | गवाघ्रातगणान्नादिनिषेध. | १४२ | २०९ |
| पाणिपादचापल्यनिषेध | १३७ | १७७ | अभोज्याचें. | १४२ | २१० |
| कुलमार्गगमन. | १३७ | १७८ | राजाद्यन्नभोजनफल. | १४४ | २१८ |
| ऋत्विगादिकांसह वादनि- षेध.... | १३७ | १७९ | त्यांचें अन्न भक्षण केलें अ- सतां प्रायश्चित्त. | १४४ | २२२ |
| वादनिषेधाचें फल. | १३८ | १८१ | शूद्रपक्वान्न निषेध. | १४४ | २२३ |
| प्रतिग्रहनिंदा. | १३८ | १८६ | कदर्यादिकांचे अन्नाविषयीं | १४५ | २२४ |
| विधिज्ञानावांचून प्रतिग्रह- निषेध. | १३९ | १८७ | श्रद्धेनै दत्त केलेल्या अन्ना- विषयीं. | १४५ | २२५ |
| अविद्वानास सुवर्णादिप्रति- ग्रहनिषेध. | १३९ | १८८ | श्रद्धेनै यागादिक करावें ... | १४५ | २२६ |
| बैडालव्रतिकादिकांस दान- निषेध. | १३९ | १९२ | श्रद्धादानफल. | १४५ | २२७ |
| बैडालव्रतिकलक्षण. | १४० | १९५ | जलभूमिदानादिकांचें फल. | १४५ | २२८ |
| वक्रव्रतिकलक्षण.... | १४० | १९६ | वेददानप्रशंसा..... | १४६ | २३३ |
| बैडालव्रतिक व वक्रव्रतिक यांची निंदा... | १४० | १९७ | काम्यदानाविषयीं. | १४६ | २३४ |
| प्रायश्चित्तवंचनानिषेध. | १४० | १९८ | विधिवदानप्रशंसा. | १४६ | २३५ |
| छलव्रताचरणनिषेध. | १४० | १९९ | द्विजनिंदादानकीर्तनादिनि- षेध. | १४६ | २३६ |
| छलेंकरून कमंडलु इत्या- दिक धारण केलें अ- सतां फल... | १४१ | २०० | अनृतादिकांचें फल. | १४७ | २३७ |
| परकृत पुष्करिणी इत्यादि- कांत स्नान करण्याचा निषेध. | १४१ | २०१ | शनैर्धर्माचरण. | १४७ | २३८ |
| अदत्त यानादिभोगनिषेध. | १४१ | २०२ | धर्मप्रशंसा. | १४७ | २३९ |
| | | | उत्कृष्टांशीं संबंध करावा.... | १४८ | २४४ |
| | | | फलमूलादि ग्रहणाविषयीं. | १४८ | २४७ |
| | | | पाप्यापासून भिक्षाग्रहण. . | १४८ | २४८ |
| | | | भिक्षा ग्रहण केली नसतां. | १४९ | २४९ |
| | | | अयाचित भिक्षेविषयीं. | १४९ | २५० |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------------|--------|--------|------------------------------|--------|--------|
| कुटुम्बार्थ भिक्षा..... | १४९ | २५१ | वेदाविहिर्ताहिंसानिषेध. | १५७ | ४३ |
| स्वार्थाकरितां साधु भिक्षा. | १४९ | २५२ | आत्मसुखेच्छेकरून हनना- | | |
| भोज्याल शूद्र. | १४९ | २५३ | विषयीं निषेध. | १५८ | ४५ |
| शूद्रानें आत्मनिवेदन करणें. | १४९ | २५४ | वधबंधन न करणें. | १५८ | ४६ |
| असत्यकथनाची निंदा.... | १५० | २५५ | मांसवर्जनाविषयीं.... | १५८ | ४८ |
| गृहस्थास संन्यासाचा प्रकार. | १५० | २५७ | घातक सांगतो. | १५९ | ५१ |
| ब्रह्मचिंतन. | १५० | २५८ | मांसवर्जनफल. | १५९ | ५३ |
| उक्ताचें फलकथन. | १५० | २६० | सर्पिडांस दशाहादिक आ- | | |
| अध्याय पांचवा. | | | शौच. | १६० | ५८ |
| ब्राह्मणाचे मृत्युविषयीं प्रश्न. | १५१ | २ | सापिंड्यनिवृत्ति..... | १६० | ६० |
| मृत्युप्रापकांतें सांगतो. | १५१ | ३ | जननाचे ठायीं मातेस अ- | १६१ | |
| लशुनादिक अभक्ष्य सांगतो. | १५२ | ५ | स्पृश्यत्व. | १६१ | ६१ |
| वृथाभासादिनिषेध. | १५२ | ७ | परपूर्वापत्यमरणीं आशौच.. | १६१ | ६३ |
| अभक्ष्य दुर्घ्वे सांगतो. | १५२ | ८ | शवस्पर्श व समानोदकमर- | | |
| शुकांपैकीं दध्यादिकभक्षण | | | ण यांविषयीं. | १६१ | ६४ |
| करणें. | १५२ | १० | गुरुमरणीं आशौच. | १६१ | ६५ |
| अभक्ष्य पक्षी सांगतो. | १५२ | ११ | गर्भस्त्राव असतां रजस्वला- | | |
| सौन शुष्कमांसादिक. | १५३ | १३ | शुद्धि. | १६१ | ६६ |
| ग्राह्यसूकरमत्स्यादिक | १५३ | १४ | बालादिकांस अशौच. | १६२ | ६७ |
| मत्स्यभक्षणनिंदा. | १५३ | १५ | ऊनद्विवाधिकप्रेताचा संस्का- | | |
| भक्ष्य मत्स्य सांगतो. | १५३ | १६ | र. | १६२ | ६८ |
| सर्पवानरादिकांचा निषेध. | १५३ | १७ | अभिसंस्कारादि न करणें.... | १६२ | ६९ |
| भक्ष्य पंचनख सांगतो. | १५३ | १८ | बालकाचे उदकदानाविषयीं. | १६२ | ७० |
| लशुनादिभक्षणीं प्रायश्चित्त. | १५४ | १९ | सहाध्यायी मृत असतां.... | १६२ | ७१ |
| यागार्थ पशुहिंसाविधि. | १५४ | २२ | वारदत्तकन्येचें आशौच.... | १६२ | ७२ |
| पर्युषित भक्ष्ये सांगतो. | १५४ | २४ | हविष्यभक्षणादि. | १६२ | ७३ |
| मांसभक्षणाविषयीं. | १५५ | २७ | विदेशस्थाचें आशौच. ... | १६३ | ७५ |
| प्रोक्षितमांसभक्षणनिषेध | १५६ | ३१ | आचार्य व त्याचे पुत्रादिक- | | |
| श्राद्धी मांसभक्षण न करणा- | | | मृत असतां आशौच..... | १६३ | ८० |
| राचा निषेध. | १५६ | ३५ | श्रोत्रियमातुलादि मृत असतां | १६४ | ८१ |
| अप्रोक्षितमांस भक्षणनिषेध. | १५६ | ३६ | राजा, अध्यापक मृत असतां | १६४ | ८२ |
| यज्ञार्थपशुवधप्रशंसा. | १५७ | ३९ | संपूर्णाशौच सांगतो. | १६४ | ८३ |
| पशुहननकालाचा नियम.... | १५७ | ४१ | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------------|--------|--------|-------------------------------|--------|--------|
| अग्निहोत्रार्थं ज्ञानमात्राने | | | अर्थशौचप्रशंसा. | १६८ | १०६ |
| शुद्धि. | १६४ | ८४ | क्षमादानादिक, शोधक. | १६८ | १०७ |
| स्पर्शनिमित्त आशौच. | १६४ | ८५ | शोध्यशोधक पदार्थ. | १६८ | १०८ |
| अशुचिदर्शन ज्ञालें असतां. | १६५ | ८६ | द्रव्यशुद्धि सांगतो. | १६९ | ११० |
| मनुष्याचे अस्थीचा स्पर्श अ- | | | सुवर्णादिमणिशुद्धि. | १६९ | १११ |
| सतां. | १६५ | ८७ | घृतादिकांची शुद्धि. | १६९ | ११५ |
| ब्रह्मचारी यास प्रेतक्रियेचा | | | यज्ञपात्रशुद्धि. | १६९ | ११६ |
| निषेध. | १६५ | ८८ | धान्यवस्त्रशुद्धि. | १७० | ११८ |
| पातितादिकांचे क्रियेचा नि- | | | चर्म, वंशपात्र, शाक, फल | | |
| षेध. | १६५ | ८९ | मूले यांची शुद्धि | १७० | ११९ |
| व्यभिचारिणी इत्यादिकांचे | | | कंबलपट वस्त्रादि शुद्धि. | १७० | १२१ |
| क्रियेचा निषेध. | १६५ | ९० | तृण, काष्ठ, गृह, मृद्भांड- | | |
| ब्रह्मचारी यानें पिता इत्या- | | | शुद्धि. | १७० | १२२ |
| दिकांची प्रेतक्रिया क- | | | शोणितादिदिग्ध मृत्तिका- | | |
| रावी. | १६५ | ९१ | पात्रांचा त्याग. | १७० | १२३ |
| शूद्रादिकांचीं प्रेतें नेण्यावि- | | | भूमिशुद्धि. | १७१ | १२४ |
| षयीं द्वारनियम. | १६५ | ९२ | पक्षी इत्यादिकांनीं दूषित | | |
| राजादिकांस आशौचनिषेध | १६६ | ९३ | वस्तूंची शुद्धि. | १७१ | १२५ |
| राजास राजकार्याविषयीं | | | गंधलेपयुक्त द्रव्याची शुद्धि. | १७१ | १२६ |
| तात्कालिक शुद्धि. | १६६ | ९४ | पवित्र वस्तु सांगतो. | १७१ | १२७ |
| वज्रादिकांनीं मृत ज्ञालेल्या- | | | जलशुद्धि. | १७१ | १२८ |
| चें सद्यःशौच. | १६६ | ९५ | नित्य शुद्ध पदार्थ सांगतो. | १७१ | १२९ |
| राजप्रशंसा. | १६६ | ९६ | नित्य शुद्ध इंद्रियें. | १७२ | १३२ |
| क्षात्रधर्मैकरून मृत ज्ञाले- | | | मूत्रादुत्सर्गशुद्धि. | १७२ | १३४ |
| ल्याचें सद्यःशौच. | १६६ | ९८ | द्वादश मळ. | १७२ | १३५ |
| आशौचाच्या अंतर्तीचें कृत्य | १६७ | ९९ | मृत्तिका उदक घेण्याचे नि- | | |
| असर्पिडांचें आशौचसांगतो | १६७ | १०१ | यम. | १७३ | १३६ |
| आशौचीचे अन्नभक्षणाचा | | | ब्रह्मचारी इत्यादिकांस द्वि- | | |
| निषेध. | १६७ | १०२ | गुणित आचार. | १७३ | १३७ |
| अनुगमनादिकांची शुद्धि. | १६७ | १०३ | आचमनविधि. | १७३ | १३९ |
| ब्राह्मणप्रेत शूद्रानें नेण्या- | | | शूद्रवपननिर्णय. | १७३ | १४० |
| विषयीं निषेध. | १६७ | १०४ | विप्रुष, स्मश्रु इत्यादिक उ- | | |
| ज्ञानादिक शुद्धिसाधनें. | १६८ | १०५ | च्छिष्ट नाही. | १७३ | १४१ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---|--------|--------|---|--------|--------|
| आचमनविदु शुद्ध. | १७४ | १४२ | मधुमांसादिवर्जन. | १८० | १४ |
| उच्छिष्ट स्पर्श असतां..... | १७४ | १४३ | संचीतनीवारादिकांचा आग | १८० | १५ |
| वमन, विरेक, मैथुन यांची शुद्धि. | १७४ | १४४ | फालकृष्टाद्यननिषेध. | १८० | १६ |
| आचमननिमित्तें..... | १७४ | १४५ | अश्मकुष्टादिक..... | १८० | १७ |
| स्त्रीधर्म सांगतो. | १७४ | १४६ | नीवारादिसंचयाविषयीं | १८० | १८ |
| स्त्रीस्वातंत्र्यनिषेध. | १७४ | १४७ | भोजनकालादिक. | १८१ | १९ |
| स्त्रीने कोणाच्या आधीन राहावें तें सांगतो. | १७४ | १४८ | भूमिपरिवर्तनादि. | १८१ | २० |
| स्त्रीने गृहकृत्य करणें. | १७५ | १५० | ग्रीष्मादि ऋतुकृत्य. | १८१ | २१ |
| पतिसेवा. | १७५ | १५१ | स्वदेहशोषण. | १८१ | २४ |
| स्वाम्यहेतु सांगतो. | १७५ | १५२ | अग्निहोत्रसमारोपादि. ... | १८२ | २५ |
| पतिप्रशंसा..... | १७५ | १५३ | वृक्षमूलाचे ठायीं भूशय्यादि. | १८२ | २६ |
| स्त्रियांस यज्ञ, व्रतें इत्यादि कांचा निषेध. | १७६ | १५५ | भिक्षाचरण. | १८२ | २७ |
| पतीचे अप्रिय करण्याचा निषेध. | १७६ | १५६ | वेदादिपाठ. | १८२ | २९ |
| निषवास्त्रीचे धर्म. | १७६ | १५७ | महाप्रस्थान. | १८२ | ३१ |
| परपुरुषगमननिषेध. | १७७ | १६१ | संन्यासग्रहणाचा काल.... | १८३ | ३३ |
| पातिव्रत्यफल. | १७७ | १६५ | ब्रह्मचर्यादि क्रमानें संन्यास. | १८३ | ३४ |
| श्रौताश्रमींनीं स्त्रियेचें दहन. | १७७ | १६७ | ऋणी असतां संन्यासनिषेध. | १८३ | ३५ |
| पुनः विवाह करून अग्निधारण करणें. | १७८ | १६८ | पुत्रोत्पादनावांचून संन्यास निषेध. | १८३ | ३७ |
| गृहस्थाच्या कालाचा अवधि..... | १७८ | १६९ | प्राजापत्येष्टिकरणपूर्वक संन्यास. | १८३ | ३८ |
| अन्याय साहावा. | | | अभयदानाचें फल. | १८४ | ३९ |
| वानप्रस्थाश्रम सांगतो..... | १७८ | १६९ | निरपेक्षास संन्यासग्रहण. | १८४ | ४१ |
| अरण्यगमन. | १७८ | ३ | मोक्षाविषयीं एकाकी संचार. | १८४ | ४२ |
| फलमूल इत्यादिकांनीं पंचयज्ञ करणें..... | १७९ | ५ | संन्यासी याचे नियम. | १८४ | ४३ |
| चर्म, वस्त्रां इत्यादि धारण अतिविचर्या. | १७९ | ६ | मुक्तलक्षण. | १८५ | ४४ |
| वानप्रस्थानियम..... | १७९ | ७ | जीवनादि कामनाराहित्य. | १८५ | ४५ |
| | | | संन्यासी याचा आचार..... | १८५ | ४६ |
| | | | भिक्षाग्रहणाविषयीं. | १८५ | ५० |
| | | | दंडकमंडलु इत्यादिक..... | १८६ | ५२ |
| | | | भिक्षापात्रें. | १८६ | ५३ |

मनुस्मृतिसूचीपत्र.

१७

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-----------------------------------|--------|--------|---------------------------------|--------|--------|
| एक वेळ भिक्षा मागणे. | १८६ | ५५ | अध्याय सातवा. | | |
| भिक्षाकाल. | १८६ | ५६ | राजधर्म सांगतो. | १९३ | १ |
| लाभालाभाविषयी हर्षवि- | | | क्षत्रियाने प्रजारक्षण करणे. | १९४ | २ |
| पादनिषेध. | १८६ | ५७ | इंद्रादिकांपासून राजोत्पत्ति. | १९४ | ३ |
| पूजापूर्वक भिक्षानिषेध. | १८७ | ५८ | राजप्रशंसा. | १९४ | ६ |
| इंद्रियनिग्रह. | १८७ | ५९ | राजद्वेषनिंदा. | १९५ | १२ |
| सुखदुःखास धर्माधर्म हेतु. | १८७ | ६१ | राजस्थापित-धर्मोद्धघनाचा | | |
| आश्रमचिन्ह धर्मास का- | १८८ | ६४ | निषेध. | १९५ | १३ |
| रण नाही. | १८८ | ६६ | दंडोत्पत्ति. | १९६ | १४ |
| भूमि पाहून गमन करणे. | १८८ | ६८ | दंडप्रणयन. | १९६ | १६ |
| क्षुद्रजंतुहिसाप्रायश्चित्त. | १८८ | ६९ | दंडप्रशंसा. | १९६ | १७ |
| प्राणायामप्रशंसा. | १८९ | ७० | अनुचित दंडनिषेध. | १९६ | १९ |
| ध्यानयोगेकरून आत्माबलो- | | | अपराधी यांस दंड न केला | | |
| कन. | १८९ | ७३ | असतां निंदा. | १९७ | २० |
| ब्रह्मसाक्षात्कार. | १८९ | ७४ | पुनः दंडप्रशंसा. | १९७ | २२ |
| मोक्षसाधन कर्मे. | १८९ | ७५ | दंडकर्त्याचे लक्षण. | १९८ | २६ |
| देहस्वरूप सांगतो. | १८९ | ७६ | अधर्मदंड राजादिकांस मा- | | |
| देहत्यागाविषयी दृष्टांत. | १९० | ७८ | रितो. | १९८ | २८ |
| प्रिय व अप्रिय यांचे ठायीं | | | मूर्खादिकांस दंडप्रणयना- | | |
| पुण्यपापाचा त्याग. | १९० | ७९ | चा निषेध. | १९८ | ३० |
| विषयनिस्पृह. | १९० | ८० | शुचिइत्यादिगुणयुक्त रा- | | |
| आत्मध्यान. | १९० | ८२ | जा दंड करण्यास समर्थ. | १९८ | ३१ |
| संन्यासाश्रमफल. | १९१ | ८५ | शत्रु, मित्र, विप्र इत्यादिकां- | | |
| वेदसंन्यासिकर्म सांगतो. | १९१ | ८६ | चे ठायीं दंडविधि. | १९८ | ३२ |
| चार आश्रम. | १९१ | ८७ | न्यायी राजांची प्रशंसा. | १९९ | ३३ |
| सर्वाश्रमांचे फल. | १९१ | ८८ | दुष्टराजाची निंदा. | १९९ | ३४ |
| गृहस्थाश्रमाचे श्रेष्ठत्व. | १९२ | ८९ | राज्यकृष्याविषयी वृद्धसेवा. | १९९ | ३७ |
| दशविध धर्मसेवन. | १९२ | ९१ | विनयग्रहण. | २०० | ३८ |
| दशविध धर्म सांगतो. | १९२ | ९२ | अविनयनिंदा. | २०० | ३९ |
| दशविध धर्माचरणाचे फल. | १९२ | ९३ | याविषयी दृष्टांत. | २०० | ४१ |
| वेदाभ्यास. | १९३ | ९५ | विनयेकरून राज्यादिप्राप्ती- | | |
| वेदाभ्यासफल. | १९३ | ९६ | विषयी दृष्टांत. | २०० | ४२ |
| | | | विद्याग्रहण. | २०० | ४३ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--|--------|--------|--|--------|--------|
| इन्द्रियजय. | २०० | ४४ | राजाने युद्धाविषयीं निवृत्त न होणे | २०७ | ८७ |
| कामक्रोधजन्य व्यसनाचा त्याग. | २०१ | ४५ | शत्रूच्या संमुख मरण अ- सतां स्वर्ग..... | २०८ | ८९ |
| कामजन्य दहा व्यसने सां- गतो. | २०१ | ४७ | कूटास्त्रादिनिषेध. | २०८ | ९० |
| क्रोधजन्य आठ व्यसने सां- गतो. | २०१ | ४८ | युद्धांत अवध्य सांगतो.... | २०८ | ९१ |
| सर्वमूल लोभत्याग. | २०१ | ४९ | भीतादिकांस हनन केलें असतां दोष. | २०८ | ९४ |
| अतिदुःखद व्यसने. | २०१ | ५० | युद्ध पराङ्मुखतास मारलें अ- सतां दोष..... | २०९ | ९५ |
| व्यसननिंदा. | २०२ | ५३ | युद्धसंबंधी जित वस्तूंचें ग्रहण | २०९ | ९६ |
| सचिव..... | २०२ | ५४ | राजास श्रेष्ठ वस्तु देणे.... | २०९ | ९७ |
| संधिविग्रहादिविचार. | २०२ | ५६ | वस्तूंची वृद्धि करणे. | २०९ | ९९ |
| मंत्रीसह विचार करणे. .. | २०२ | ५७ | अलब्ध वस्तूची इच्छा करणे. | २०९ | १०१ |
| ब्राह्मणमंत्री. | २०३ | ५८ | हत्ती, घोडे इत्यादि युद्धसा- मग्रीची शिक्षा. | २१० | १०२ |
| दुसरोहि अमात्य करणे.... | २०३ | ६० | दंड जागरूक ठेवणे. | २१० | १०३ |
| आकार व अंतःपुर यांवर अध्यक्ष. | २०३ | ६२ | प्रधानादिकांचे ठायीं नि- ष्कपट वृत्तीने वागणे.... | २१० | १०४ |
| सेनापत्यादि कार्य. | २०४ | ६५ | प्रकृतिभेदादि गुप्त ठेवणे. | २१० | १०५ |
| वकिलाची प्रशंसा. | २०४ | ६६ | अर्थादिचिंता. | २१० | १०६ |
| परराजाचा राज्यव्यवहार व- किलाकडून नाणणे.... | २०४ | ६८ | विजयविरोधीस वश करणे. | २११ | १०७ |
| नांगलदेशीं आश्रय करणे. | २०४ | ६९ | सामदंडप्रशंसा.... | २११ | १०९ |
| दुर्गाचे प्रकार. | २०४ | ७० | राष्ट्रलक्षण. | २११ | ११० |
| अस्त्रादि सामग्रीने किल्ला पूर्ण करणे.... | २०६ | ७५ | प्रजापीडनीं दोष. | २११ | १११ |
| राज्य स्वी वरणे | २०६ | ७७ | प्रजारक्षणीं सुख. | २१२ | ११३ |
| पुरोहितादिक. | २०६ | ७८ | ग्रामपति, अधिपति इत्या- दिक अधिकारी नेमणे. | २१२ | ११४ |
| यज्ञादि करणे. | २०६ | ७९ | ग्रामदोषनिवेदन. | २१२ | ११६ |
| कर घेणे. | २०६ | ८० | ग्रामाधिपतीचें वेतन. | २१२ | ११८ |
| अध्यक्ष .. | २०६ | ८१ | गांवांतील लोकांचे वाद दुसऱ्या अधिकाऱ्याक- | | |
| ब्राह्मणास वृत्ति देणे. | २०७ | ८२ | डून तपासविणे. | २१३ | १२० |
| ब्राह्मणवृत्तिदानप्रशंसा. | २०७ | ८३ | | | |
| पात्रदानफल सांगतो. | २०७ | ८५ | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---|--------|--------|--|--------|--------|
| अर्थन्वितक. | २१३ | १२१ | अरिप्रकृति. | २१९ | १९८ |
| अधिकाऱ्यांची वागणूक स्व- तां जाणणें..... | २१३ | १२२ | षड्गुण .. | २२० | १६० |
| लांच इत्यादि घेणारांस शिक्षा. | २१३ | १२३ | संधिविग्रहादिप्रकार. | २२० | १६२ |
| चाकर माणसांस रोजमुरा देणें. | २१३ | १२५ | संधिविग्रहादिकाल. ... | २२१ | १६९ |
| व्यापाऱ्यांकडून कर घेणें. | २१४ | १२६ | वल्लिष्ठ राजाचा आश्रय..... | २२२ | १७४ |
| थोडथोडा कर घेणें. | २१४ | १२९ | आपणाहून शत्रुमित्रादि अ- धिक नसणें. | २२२ | १७७ |
| धान्यादिकांचा कर घेणें. | २१४ | १३० | भावी गुणदोषांचा विचार. | २२३ | १७८ |
| श्रोत्रियापासून कर घेण्याचा निषेध. | २१५ | १३३ | राज्यरक्षण | २२३ | १८० |
| श्रोत्रिय.क्षुधेनें म्लान अ- सतां राज्याचा नाश. | २१५ | १३४ | अरिराज्ययानविधि. | २२३ | १८१ |
| हलक्या पदार्थांचा व्यापार करणाऱ्यांपासून कर घेणें. | २१५ | १३७ | शत्रूची सेवा करणाऱ्या मि- त्रादिकांविषयीं साव- धान रहाणें..... | २२४ | १८६ |
| कारू इत्यादिकांपासून चा- करी घेणें. | २१५ | १३८ | व्यूहकरण. | २२४ | १८७ |
| अति थोडा व अति फार कर घेण्याचा निषेध. | २१५ | १३९ | जलादिकांत युद्धप्रकार..... | २२६ | १९२ |
| तीक्ष्ण मृदु आचरण. | २१६ | १४० | सेनेच्या पुढील योग्य सांगतो | २२६ | १९३ |
| राजा अस्वस्थ असतां त्यानें मुख्य प्रधान नेमणें.... | २१६ | १४१ | सैन्यपरीक्षा. | २२६ | १९४ |
| चोरांचें शासन..... | २१६ | १४३ | परराष्ट्रपंडा. | २२६ | १९५ |
| प्रजापालनाचें श्रेष्ठत्व. | २१६ | १४४ | शत्रूचे प्रधानादि फितुर करणें. | २२७ | १९७ |
| सभाकाल. | २१६ | १४५ | सर्वयत्नांच्या अभावीं युद्ध. | २२७ | २०० |
| एकांतीं गौप्य मसलत.... | २१७ | १४७ | जयानंतर ब्राह्मणादिकांची पूजा व प्रजांस अभय- दान. | २२७ | २०१ |
| मसलतीच्या वेळीं स्त्री इ- त्यादिक समीप नसणें. | २१७ | १४९ | तद्वंशजास • राज्यासनावर स्थापन करणें. | २२७ | २०२ |
| धर्मकामादिविचार. | २१७ | १५१ | करग्रहणादि | २२८ | २०६ |
| दूत पाठविणें इत्यादि. | २१८ | १५३ | मित्रप्रशंसा. | २२८ | २०७ |
| प्रकृतिप्रकार. ... | २१९ | १५६ | शत्रुगुण. | २२९ | २१० |
| | | | उदासीनगुण. | २२९ | २११ |
| | | | आत्मार्थ भूम्यादित्याग..... | २२९ | २१२ |
| | | | संकटकालीं उपायांचा वि- चार. ... | २२९ | २१४ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------|--------|--------|-------------------------------|--------|--------|
| राजाचे भोजनाविषयी..... | २३० | २१६ | वादिप्रतिवादींच्या असत्य | | |
| अन्नादिपरीक्षा..... | २३० | २१७ | भाषणाविषयी. | २३६ | १९ |
| विहारादिकांविषयी. | २३० | २२१ | व्यवहार पाहण्याविषयी | | |
| आयुषादिकांचे पाहणे. | २३१ | २२२ | शूद्रनिषेध. | २३६ | २० |
| गुप्त बातमीदाराचे भाषण | | | शूद्र धर्मविवेचक असतां | | |
| श्रवण करणे इत्यादि. | २३१ | २२३ | राष्ट्राचा नाश. | २३६ | २१. |
| रात्रिभोजनादिक. | २३१ | २२४ | लोकपालांस प्रणाम करू- | | |
| राजा अस्वस्थ असतां मुख्य | | | न व्यवहार पाहणे. | २३६ | २३ |
| प्रधानाने राज्यकारभार | | | न्यायाधीशाने व्यवहार पाहणे | २३७ | २४ |
| करणे. | २३१ | २२६ | मनुष्यस्वभाव जाणण्याचे | | |
| अध्याय आठवा. | | | प्रकार. | २३७ | २५ |
| व्यवहार पाहावे, सभाप्रवेश. | २३१ | १ | बालधनाचे राजाने रक्षण | | |
| अठरा प्रकारचे व्यवहार- | | | करणे. | २३७ | २७ |
| कुल, देश, शास्त्र यांच्या | | | बंध्या इत्यादि स्त्रियांचे धन | | |
| अनुरोधाने पाहावे. | २३२ | ३ | रक्षण. | २३७ | २८ |
| अठरा प्रकारचा व्यवहार | | | स्त्रीधनाचा अपहार करणा- | | |
| सांगतो. | २३२ | ४ | रांस दंड. | २३७ | २९ |
| धर्माला अनुसरून निर्णय | | | हरवलेले द्रव्य रक्षण करण्या- | | |
| करावा. | २३४ | ८ | चा कालावधि. | २३७ | ३० |
| स्वतां असमर्थ असेल तर | | | द्रव्यरूपसंख्यादिकथन. | २३८ | ३१ |
| व्यवहारीविद्वानाची यो- | | | द्रव्यरूपादि न सांगितल्यास | | |
| जना करणे. | २३४ | ९ | दंड. | २३८ | ३२ |
| तीन समासदांसह व्यवहार | | | हरवलेल्या द्रव्यांतून सहा- | | |
| पाहणे. | २३४ | १० | वा अंश घेणे. | २३८ | ३३ |
| राजसभाप्रशंसा. | २३४ | ११ | चोरांस शिक्षा. | २३८ | ३४ |
| अधर्म असतां समासदांस | | | ठेवइत्यादिकांतून सहावा भा- | | |
| दोष. | २३५ | १२ | ग घेणे. | २३८ | ३५ |
| सभेत सत्य भाषण करणे | २३५ | १३ | निधीविषयी मिथ्या बोल- | | |
| अधर्मवादींस शासन. | २३५ | १४ | णारास दंड. | २३८ | ३६ |
| धर्माचे उल्लंघन केले असतां | | | ब्राह्मणाच्या निधीविषयी. | २३८ | ३७ |
| दोष. | २३५ | १५ | राजाने निधीचा अर्धा भाग | | |
| दुर्व्यवहारी राजादिकांस | | | ब्राह्मणास देणे. | २३९ | ३८ |
| दोष. | २३६ | १८ | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---|--------|--------|---|--------|--------|
| चोरीस गेलेलें द्रव्य राजानें देणें. | २३९ | ४० | श्रुतसाक्षी. | २४४ | ७६ |
| देशाचारास अनुसरून धर्म-व्यवस्था करणें. | २३९ | ४१ | धर्मवेत्ता असा एक साक्षी साक्षीचें स्वाभाविक भाषण ग्रहण करणें. | २४४ | ७७ |
| राजानें आपण होऊन को-णताहि वाद उपस्थित न करणें | २३९ | ४३ | साक्षिप्रश्न. ... | २४५ | ७८ |
| अनुमानेंकरून तत्त्व जाणणें सत्यादिकेंकरून व्यवहार पाहणें. ... | २३९ | ४४ | साक्षीनीं सत्यभाषण करणें. | २४५ | ७९ |
| सदाचाराचा आश्रय करणें कर्ज वसूल करणें. | २४० | ४५ | एकांतीं केलेलें कर्म आत्मा जाणतो. | २४५ | ८१ |
| हीन. | २४० | ४६ | ब्राह्मणादि साक्षीस प्रश्न करणें. | २४५ | ८४ |
| वादीस दंड, एकतर्फी हु-कुमनामा. | २४१ | ४७ | मिथ्या साक्षीविषयीं दोष.. | २४६ | ८७ |
| वादी किंवा प्रतिवादी यास दंड. | २४२ | ५३ | सत्यप्रशंसा. | २४६ | ८९ |
| प्रतिवादीस दिलेलें ऋण वादीनें साक्षीनीं सिद्ध करणें. | २४२ | ५८ | असत्यकथनाचें फल. | २४७ | ९२ |
| साक्षी. | २४२ | ५९ | पुनः सत्यकथनाची प्रशंसा. विषयभेदेकरून असत्य भा-षणाचें फल. | २४७ | ९६ |
| वर्ग्य साक्षी. | २४२ | ६० | निर्दिष्ट ब्राह्मणास शूद्राप्रमा-णें प्रश्न करणें.* | २४७ | ९७ |
| स्त्रियांचे साक्षी स्त्रिया. | २४३ | ६१ | दयानिमित्त असत्य भाषण. अनृतकथनाचें प्रायश्चित्त. | २४८ | १०२ |
| साक्षी कज्जाचें स्वरूप जा-णणारा असणें. | २४३ | ६२ | साक्षीस दंडादि करणें. | २४८ | १०३ |
| स्त्रियादिक साक्षी. | २४३ | ६४ | साक्षिभंग. | २४८ | १०५ |
| साहसादिव्यवहारीं साक्षि-परीक्षा न करणें. | २४४ | ६८ | साक्षिरहित कज्जांत शपथ. वृथाशपथ केली असतां दोष. | २४९ | १०८ |
| साक्षीचें भाषण परस्पर वि-रुद्ध असतां निर्णय. | २४४ | ६९ | वृथा शपथाचा प्रतिप्रसव सांगतो. | २४९ | १०९ |
| साक्षीनें सत्य सांगणें. | २४४ | ७० | ब्राह्मणादिकांस शपथ दे-ण्याचा प्रकार. | २४९ | १११ |
| खोटी साक्ष दिली असतां दोष. | २४४ | ७२ | शपथाविषयीं शुद्ध. | २५० | ११३ |
| | | ७३ | पुनः वाद उलटणें. | २५० | ११५ |
| | | ७४ | लोभादिकारणानें मिथ्या साक्ष देणारास दंड. | २५१ | ११७ |
| | | ७५ | | | १२० |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------|--------|--------|---|--------|--------|
| दंडाचीं दश स्थानें. | २५१ | १२४ | कुळापासून द्रव्य घेऊन पि- ता जामीन झाला अ- | | |
| अपराधादिकांचा विचार | | | सतां पुत्रांनीं कर्ज देणें | २५७ | १६ |
| करून दंड करणें. | २५१ | १२६ | | | |
| अधर्मदंडनिंदा.... | २५२ | १२७ | कपटानें केलेले गाहाणा- | | |
| अपराधीस दंड न करणारा | | | दिकांचा निर्णय. | २५८ | १६ |
| व निरपराधीस दंड क- | | | कुटुंबपोषणार्थ केलेले ऋ- | | |
| रणारा राजाविषयीं..... | २५२ | १२८ | ण देणें. | २५८ | १६ |
| बाददंड धिदंडादि. | २५२ | १२९ | बलात्कारानें केलेला दस्तै- | | |
| त्रसरेण्यादिकांचें परिमाण. | २५२ | १३१ | वज उलटावा. | २५८ | १६ |
| प्रथम मध्यमोत्तम साहस. | २५३ | १३८ | जामीनकी इत्यादिकांचा | | |
| ऋणादांनीं दंडनियम. | २५३ | १३९ | निषेध. | २५८ | १६ |
| व्याजाविषयीं. | २५३ | १४० | अयोग्य कर घेण्याचा नि- | | |
| गाहाणाविषयीं..... | २५४ | १४३ | षेध. | २५८ | १६ |
| बलात्कारानें गाहाणाच्या | | | योग्य करादिक न घेतल्यास | | |
| भोगाचा निषेध. | २५४ | १४४ | दोष | २५९ | १७ |
| आधि, निक्षेप इत्यादिकां- | | | अबल रक्षणादिकांविषयीं. | २५९ | १७ |
| निषयीं. | २५४ | १४५ | अधर्म कार्य करण्याविषयीं | | |
| गाई इत्यादिकांविषयीं..... | २५४ | १४६ | दोष. | २५९ | १७ |
| आधि, सीमादिकांविषयीं | | | धर्मकरून कार्य करणें. | २५९ | १७ |
| स्वत्वनिर्णय. | २५५ | १४८ | सावकारकुळाकडून आपलें | | |
| बलात्कारानें गाहाणाचा उप- | | | कर्ज वसूल करणें. | २५९ | १७ |
| भोग असतां व्याजाचा | | | कर्ज फेडण्याविषयीं अस- | | |
| निर्णय. | २५५ | १४९ | मर्थ असेल तर. | २६० | १७ |
| दामदुपटीपेक्षां अधिक व्या- | | | ठेव स्थापनाचा निर्णय.... | २६० | १७ |
| जाचा निषेध. | २५५ | १५१ | | | |
| व्याजाचे प्रकार. | २५५ | १५२ | साक्षीच्या अभावीं ठेवीचा | | |
| पुनः रोखा करून देणें.... | २५६ | १५४ | निर्णय. | २६० | १८ |
| मजुरीचा नियम..... | २५६ | १५६ | निक्षेप देण्याविषयीं. | २६१ | १८ |
| हजरजामीन मालजामीन. | २५६ | १५७ | स्वतां ठेव देणें. | २६१ | १८ |
| प्रातिभाव्यादिक ऋण पु- | | | मुद्रा करून दिलेल्या ठेवी- | | |
| त्रांनीं न देणें. | २५७ | १५८ | विषयीं. | २६२ | १८ |
| पिता हजर जामीन असतां | | | चोरादिकांपासून नष्ट झाले- | | |
| मृत झाल्याचा निर्णय. | २५७ | १५९ | लेल्या ठेवीविषयीं. | २६२ | १८ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---|--------|--------|---|--------|--------|
| ठेवीचा अपहार असतां श- पथ. | २६२ | १९० | गुराख्याच्या दोषानें गुरुं मृत असतां..... | २६९ | २३२ |
| ठेवीचा अपहार असतां दंड. | २६२ | १९१ | चोरांनीं गुरुं चोरलें असतां. | २६९ | २३३ |
| छलेंकरून परद्रव्याचा अप- हार करणारास दंड. | २६२ | १९३ | अवयवदर्शन. | २६९ | २३४ |
| ठेवीविषयीं मिथ्या भाषण • करणारास दंड. | २६२ | १९४ | लांडगा इत्यादिकांनीं हत असतां. | २६९ | २३५ |
| ठेव देणें व घेणें यांविषयीं. | २६३ | १९५ | सस्यघातकदंडाविषयीं. | २७० | २३८ |
| अस्वामिविक्रयाविषयीं. | २६३ | १९७ | सीमाविवादस्थलाविषयीं. | २७१ | २४५ |
| सागम भोगवटा प्रमाण.. | २६३ | २०० | सीमावृक्षादि. | २७१ | २४६ |
| प्रसिद्ध विक्री, मूळ किंमत यांविषयीं. | २६४ | २०२ | सीमेच्या गुप्त खुणा. | २७१ | २४९ |
| मालांत भेळ करून विक्री- विषयीं. | २६४ | २०३ | भोगवटा पाहून निर्णय.... | २७१ | २५२ |
| कन्याविवाहाविषयीं. | २६४ | २०४ | सीमासाक्षी. • | २७२ | २५३ |
| उन्मत्तादिकन्याविवाहावि- षयीं. | २६४ | २०५ | साक्षिकथित सीमा बांधणें. | २७२ | २५५ |
| ऋत्विजास दक्षिणा देणें. | २६४ | २०६ | साक्ष देण्याचा प्रकार. | २७२ | २५६ |
| अध्वर्यु इत्यादिकांच्या द- क्षिणा. | २६५ | २०९ | मिथ्या साक्षीस दंड. | २७२ | २५७ |
| संभूयसमुत्थान. | २६५ | २११ | साक्षीच्या अभावीं ग्रामस्थां- नीं निर्णय करणें. | २७२ | २५८ |
| दत्तानपक्रिया. | २६५ | २१२ | सामंतांस दंड. | २७३ | २६३ |
| चाकराविषयीं. | २६६ | २१५ | गृहादिहरणीं दंड. | २७३ | २६४ |
| संविद्वयतिक्रम. | २६६ | २१८ | राजानें स्वतां सीमानिर्णय करणें. | २७३ | २६५ |
| क्रीतानुशय. | २६७ | २२२ | शिबीगाळ, निदित भाषण यांविषयीं दंड. | २७४ | २६७ |
| दोषोद्घाटनावांचून कन्या न देणें. | २६७ | २२४ | समवर्ण आक्रोश असतां. | २७४ | २६९ |
| मिथ्या कन्यादूषणकथनीं. | २६७ | २२५ | शूत्रानें द्विजातीस निदित भाषण केलें असतां. | २७४ | २७० |
| दूषितकन्यानिंदा. | २६७ | २२६ | धर्मोपदेशकर्त्या शूत्रास दंड. | २७४ | २७२ |
| सप्तपदी. | २६८ | २२७ | श्रुत, देश, जाति यांनिमित्त आक्षेप असतां दंड.... | २७४ | २७३ |
| स्वामिपालविवाद. | २६८ | २२९ | काणा इत्यादिक आक्रोशा विषयीं. | २७५ | २७४ |
| दुग्धध्वेतनाविषयीं. | २६८ | २३१ | मातां इत्यादि आक्रोशा विषयीं | २७५ | २७५ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|------------------------------|--------|--------|------------------------------|--------|--------|
| ब्राह्मण, क्षत्रियादिकाने प- | | | प्रजांचे रक्षण केल्यावांचून | | |
| रस्पर आक्रोश असतां. | २७५ | २७६ | सांपासून कर घेणाराची | | |
| दंडपारुष्यव्यवहार. | २७५ | २७८ | निंदा. | २८० | ३०७ |
| शूद्र ब्राह्मणास ताडन करी- | | | पाण्यांचा निग्रह, साधूंचे र- | | |
| ल तर. | २७५ | २७९ | क्षण. | २८० | ३१० |
| पाय इत्यादिकाने ताडन | | | बाल, वृद्धादिक यांस क्षमा | | |
| करील तर | २७६ | २८० | करणे. | २८० | ३१२ |
| एकासनावर बसला असतां. | २७६ | २८१ | ब्राह्मणाचे सोने चोरणारा- | | |
| अंगावर युंकी इत्यादि टाकी- | | | स दंड. | २८१ | ३१४ |
| ल तर. | २७६ | २८२ | चोरास शासन न करणाऱ्या | | |
| केश घरील तर.... | २७६ | २८३ | राजास दोष. | २८१ | ३१६ |
| तचा, अस्थि यांचा भेद | | | परपापसंश्लेषण..... | २८१ | ३१७ |
| केला असतां | २७६ | २८४ | राजदंडाने पापाचा नाश. | २८१ | ३१८ |
| वनस्पतिच्छेद केला असतां. | २७६ | २८५ | कूपघटादिहरण व प्रपा- | | |
| लहान मोठी पीडा असेल | | | भेदन यांविषयी. | २८१ | ३१९ |
| तदनुरूप दंड. | २७७ | २८६ | धान्यादिकांचे चोरीविषयीं. | २८२ | ३२० |
| जसम बरी होण्याचा स्वर्च | | | सुवर्णादिकांचे चोरीविषयीं. | २८२ | ३२१ |
| व दंड यांविषयीं. | २७७ | २८७ | स्त्री इत्यादिकांचे चोरी- | | |
| द्रव्यनाश असतां. | २७७ | २८८ | विषयीं. | २८२ | ३२३ |
| मांडादिकांचा नाश असतां. | २७७ | २८९ | महापश्वादिकांचे चोरीवि- | | |
| गाडीवान इत्यादिकांस द- | | | षयीं. | २८२ | ३२४ |
| हा स्यानांचे ठायीं दंड | | | सूत कापूस इत्यादिकांचे | | |
| न करणे | २७७ | २९० | चोरीविषयीं. | २८२ | ३२६ |
| गाडीच्या मालकास दंड..... | २७८ | २९३ | पुष्पे, हरित धान्य इत्यादि- | | |
| भार्यादिताडनाविषयीं. | २७९ | २९९ | कांचे चोरीविषयीं. | २८३ | ३३० |
| अन्यथा ताडन असतां दंड. | २७९ | ३०० | निरन्वय व सान्वय धान्या- | | |
| चोरास शासन करण्यावि- | | | दिकांविषयीं. | २८३ | ३३१ |
| षयीं. | २७९ | ३०१ | स्तेयसाहसलक्षण. | २८३ | ३३२ |
| चोरापासून रक्षण करणा- | | | अग्नीची चोरी केली असतां. | २८३ | ३३३ |
| रास फल. | २७९ | ३०३ | चोराचे हस्तपादादि तोडणे. | २८४ | ३३४ |
| राजा धर्माधर्माचा पट्टांश- | | | पित्रादिकांचे दंडाविषयीं. | २८४ | ३३५ |
| मागी. | २७९ | ३०४ | राजास दंड करण्याविषयीं | २८४ | ३३६ |
| | | | जात्या शूद्रादिकांस दंड. | २८४ | ३३७ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--|--------|--------|--|--------|--------|
| अस्तेय पदार्थ सांगतो.... | २८४ | ३३९ | वैश्यक्षत्रियांस दंड. | २९१ | ३८२ |
| चोराकडून यत्न करवून द्रव्य घेणारास दंड. | २८४ | ३४० | अगुप्ताक्षत्रियादिगमन असतां..... | २९१ | ३८४ |
| द्विज मार्गस्थ असतां इक्षु इत्यादिक घेईल तर दंडास पात्र नाही. | २८५ | ३४१ | साहसिकादिशून्य राज्यप्रशंसा. | २९२ | ३८६ |
| दास्य, अध्यादिकांचे चोरीविषयी. | २८५ | ३४२ | कुलपुरोहितादिकांचा त्याग केला असतां. | २९२ | ३८८ |
| साहस सांगतो. | २८५ | ३४४ | माता इत्यादिकांचा त्याग असतां. | २९२ | ३८९ |
| साहसक्षमानिदा. | २८५ | ३४६ | द्विजातींच्या धर्मवादाचा निर्णय राजानें न करणें. | २९२ | ३९० |
| द्विजातींस शस्त्राच्या ग्रहणाचा काल. | २८६ | ३४८ | प्रातिवेश्यादिकांस भोजन देणें..... | २९३ | ३९३ |
| आततायिहननाविषयी. | २८६ | ३५० | कर देण्यास योग्य. | २९३ | ३९४ |
| परदाराभिर्मर्शनीं दंड. | २८६ | ३५२ | रजकाविषयी. | २९३ | ३९६ |
| परस्त्रीशीं एकांत भाषण असतां दंड..... | २८६ | ३५३ | कोष्ठ्याविषयी..... | २९४ | ३९७ |
| स्त्रीसंग्रहणाचें लक्षण. | २८७ | ३५८ | व्यापाऱ्यांपासून कर घेणें. | २९४ | ३९८ |
| भिक्षुकादिकांनीं परस्त्रीशीं संभाषण करणें. | २८७ | ३६० | राजानें मना केलेल्या मालाचा व्यापार केला असतां दंड. | २९४ | ३९९ |
| परस्त्रीशीं संभाषण करणारास दंड. | २८८ | ३६१ | अकालीं विक्रय केला असतां. | २९४ | ४०० |
| नटादिकांचे स्त्रियांशीं संभाषण करणें..... | २८८ | ३६२ | विदेशविक्रयाविषयी. | २९४ | ४०१ |
| कन्यादूषणीं दंड. | २८८ | ३६४ | निरख ठरवून देणें. | २९४ | ४०२ |
| अंगुलिप्रक्षेपादिक असतां दंड..... | २८९ | ३६७ | वजनें तपासणें..... | २९५ | ४०३ |
| व्यभिचार करणाऱ्या स्त्रीस दंड..... | २८९ | ३७१ | गलबतांचा उतार | २९५ | ४०४ |
| राजास दंड. | २८९ | ३७२ | गर्भिणी इत्यादिकांस उताराची माफी. | २९५ | ४०७ |
| शूद्रादिकांस परस्त्रीविषयक दंड..... | २९० | ३७४ | नावाड्याच्या हयगईमुळें उतारुंची वस्तु नष्ट झाल्यास. | २९५ | ४०८ |
| ब्राह्मणास दंड. | २९० | ३७८ | वैश्यादिकांकडून व्यापारकरविणें. | २९६ | ४१० |
| ब्राह्मणास बध्दंडनिषेध | २९१ | ३८० | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------------------------------|--------|--------|---------------------------------|--------|--------|
| सत्रिय वैश्य दास्यत्वाविषयी | | | भ्रातृपत्नीगमनजन्य पातिस. | ३०७ | १७७ |
| अयोग्य. | २९६ | ४११ | नियोग..... | ३०७ | १९ |
| शूद्राकडून चाकरी करविणे | २९६ | ४१३ | नियोगेंकरून दुसरा पुत्र उ- | | |
| शूद्राचें दास्यत्वापासून मु- | | | त्पन्न करण्याचा निषेध. | ३०७ | ६० |
| क्त न होणे. | २९६ | ४१४ | कामेंकरून गमनाचा निषेध. | ३०७ | ६३ |
| सात प्रकारचे दास. | २९६ | ४१५ | नियोगनिंदा. | ३०८ | ६४ |
| भार्यादासादिक हे अधन. | २९७ | ४१६ | वर्णसंकरकाल... | ३०८ | ६५ |
| वैश्य व शूद्र यांकडून आ- | | | वाग्दत्तकन्येविषयी. ... | ३०८ | ६९ |
| पापलें कर्म करविणे.... | २९७ | ४१८ | विवाहित कन्येचा पुनः दा- | | |
| राजानें दररोज जमा खर्च | | | ननिषेध. | ३०९ | ७१ |
| पाहणे | २९७ | ४१९ | सप्तपदीचे पूर्वी स्त्रीव्याग अ- | | |
| यथाशास्त्र व्यवहार पाहण्या- | | | सतां. | ३०९ | ७२ |
| चें फल. | २९७ | ४२० | दोषवतीकन्यादानाविषयी. | ३०९ | ७३ |
| अध्याय नववा. | | | स्त्रियेच्या उपजीविकेविषयी. | ३०९ | ७४ |
| स्त्रीपुरुषधर्म. | २९८ | १ | भर्ता प्रवासांत असतां स्त्रि- | | |
| स्त्रीसंवरण. | २९८ | २ | येचे नियम.... | ३०९ | ७५ |
| जायाशब्दार्थकथन | २९९ | ८ | स्त्रियेनें पतीची प्रतीक्षा क- | | |
| स्त्रीरक्षणोपाय..... | २९९ | ११ | रणें.... | ३१० | ७७ |
| स्त्रीस्वभाव. | ३०० | १४ | रोगिष्ठ पतीचा अनादर के- | | |
| स्त्रियांला मंत्राधिकार नाही. | ३०० | १८ | ला असतां.... | ३१० | ७८ |
| व्यभिचारप्रायश्चित्त. | ३०१ | १९ | अधिवेदनाविषयी. | ३१० | ८० |
| स्त्री स्वामिगुणासारखी होणे | ३०१ | २२ | स्त्रीमद्यपानादिक करील तर. | ३११ | ८४ |
| स्त्रीप्रवासा. | ३०२ | २६ | सजातीय स्त्रीसह धर्मकार्य | | |
| अन्यभिचाराचें फल. | ३०२ | २९ | करणें.... | ३११ | ८६ |
| व्यभिचारफल. | ३०२ | ३० | गुणी वरास कन्या देणे..... | ३११ | ८८ |
| नीज व क्षेत्र यांचे बलाबल. | ३०३ | ३२ | स्वयंवराचा काल. | ३१२ | ९० |
| परस्त्रीचे ठायीं नीजवापाचा | | | स्वयंवरीं पितृदत्त अलंका- | | |
| निषेध. | ३०४ | ४१ | रांचा त्याग करणे. | ३१२ | ९२ |
| स्त्रीपुरुषांचें ऐक्य. | ३०५ | ४५ | ऋतुमतीकन्येच्या विवाहांत | | |
| सकृदंश भाग्यादि. | ३०५ | ४७ | शुल्कदानाचा निषेध. | ३१२ | ९३ |
| क्षेत्रप्राधान्य. | ३०५ | ४८ | कन्यावरांचे वयाचा नियम.. | ३१२ | ९४ |
| स्त्रीधर्म..... | ३०६ | ५६ | विवाहाची आवश्यकता | ३१३ | ९५ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------------------------------------|--------|--------|--|--------|--------|
| कन्यामौल्य दिल्यानंतर वर | | | कन्यापुत्राविषयी..... | ३१९ | १३६ |
| मृत असतां..... | ३१३ | ९७ | पौत्र व प्रपौत्र यांस विभाग. | ३१९ | १३७ |
| शुल्कग्रहणाचा निषेध. | ३१३ | ९८ | पुत्रशब्दाचा अर्थ. | ३१९ | १३८ |
| एकास दिलेली कन्या दुस- | | | पुत्रिकापुत्रकर्तृक श्राद्धावि- | | |
| व्यास देण्याचा निषेध. | ३१३ | ९९ | षयी..... | ३२० | १४० |
| स्त्रीपुरुषांचा धर्म. | ३१३ | १०१ | दत्तक पुत्र धनविभागी.... | ३२० | १४१ |
| अथ दायभाग सांगतो. | ३१४ | १०३ | नियोगविरहित उत्पन्न शा- | | |
| विभागकाल. | ३१४ | १०४ | लेल्यास विभाग न देणे. | ३२० | १४३ |
| भ्राते एकत्र असतां ज्येष्ठ- | | | क्षेत्रजास धन घेण्याविषयी. | ३२० | १४५ |
| प्राधान्य | ३१४ | १०५ | अनेकमातृक पुत्रांचा विभाग | ३२१ | १४९ |
| ज्येष्ठप्रशंसा. | ३१४ | १०६ | अनूढ शूद्रापुत्रास विभागा- | | |
| ज्येष्ठ भ्राता अज्येष्ठवृत्ति अ- | | | चा निषेध..... | ३२२ | १५५ |
| सतां..... | ३१५ | ११० | सजातीय अनेकमातृक पु- | | |
| विभागाविषयी कारण. | ३१५ | १११ | त्रांचे विभागाविषयी. | ३२२ | १५६ |
| ज्येष्ठभ्रात्यास उद्धारभाग.... | ३१६ | ११२ | शूद्रास बहुत पुत्र असतां | | |
| ज्येष्ठ भ्रात्यास श्रेष्ठ वस्तु.... | ३१६ | ११४ | समविभाग. | ३२२ | १५७ |
| समान भ्राते असतां ज्येष्ठास | | | दायाद व अदायाद बंधुत्व. | ३२२ | १५८ |
| उद्धारभाग न देणे..... | ३१६ | ११५ | कुपुत्रनिंदा. | ३२३ | १६१ |
| समभाग व विषम भाग..... | ३१६ | ११६ | औरस, क्षेत्रज यांच्या विभा- | | |
| भगिनीस विभाग देणे..... | ३१६ | ११८ | गाविषयी. | ३२३ | १६२ |
| विषम अजादिक ज्येष्ठाचेच. | ३१६ | ११९ | क्षेत्रजानंतर औरस शाला | | |
| क्षेत्रजविभागाविषयी. | ३१६ | १२० | असतां. | ३२३ | १६३ |
| अनेक माता असतां ज्येष्ठ्या- | | | दत्तकादिक गोत्र रिकथाचे | | |
| निर्णय. | ३१७ | १२२ | विभागी. | ३२४ | १६५ |
| जन्मेकरून ज्येष्ठत्व. | ३१७ | १२६ | औरसादि द्वादश पुत्रांचे ल- | | |
| पुत्रिका पुत्र करणे. | ३१८ | १२७ | क्षण..... | ३२४ | १६६ |
| कन्येने विभाग घेणे. | ३१८ | १३० | दासीपुत्रास समभाग. | ३२७ | १७९ |
| मातेचे स्त्रीधन कन्येचा | | | क्षेत्रजादिक पुत्रप्रतिनिधि. . | ३२७ | १८० |
| विभाग. | ३१८ | १३१ | औरसपुत्र असतां दत्तका- | | |
| पुत्रिकापुत्रास धनविभाग. . | ३१८ | १३२ | दिकांचा निषेध. | ३२७ | १८१ |
| पुत्रिका पुत्र केल्यानंतर औ- | | | भ्राते भ्रातृपुत्रैकरून पुत्रवंत | | |
| रस पुत्र शाला असतां. | ३१९ | १३४ | होतात. | ३२७ | १८२ |
| अपुत्र पुत्रिकेच्या धनाविषयी | ३१९ | १३५ | द्वादशपुत्रांमध्ये पूर्व पूर्व श्रेष्ठ | ३२७ | १८४ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|------------------------------|--------|--------|------------------------------|--------|--------|
| क्षेत्रजादिक रिक्तविभागी | | | ज्येष्ठभ्राता गुणशून्य असतां | | |
| होत..... | ३२७ | १८५ | समभाग, | ३३२ | २१३ |
| क्षेत्रजादिकांस पितामहध- | | | निंदितकर्म करणाऱ्यांस ध- | | |
| नाचा विभाग. | ३२८ | १८६ | नविभागनिषेध. | ३३२ | २१४ |
| सर्पिहादिक धनग्राही होतात | ३२८ | १८७ | जीवत्पितृकविभागाविषयीं. | ३३२ | २१५ |
| सर्वांच्या अभावीं ब्राह्मण | | | विभागानंतर उत्पन्न झाले- | | |
| धनविभागी. | ३२८ | १८८ | ल्या पुत्राविषयीं. | ३३२ | २१६ |
| सर्वांच्या अभावीं क्षत्रिया- | | | अनपत्यधनाविषयीं माता | | |
| दिकांचे धनाचा अधि- | | | विभागी. | ३३३ | २१७ |
| कारी राजा..... | ३२८ | १८९ | ऋण व जिदगीचा सम | | |
| अपुत्रमृताच्या पत्नीस नियोग- | | | विभाग. | ३३३ | २१८ |
| पूर्वक पुत्राधिकार. ... | ३२८ | १९० | अविभाज्य सांगतो. | ३३३ | २१९ |
| औरस पौनर्मव विभागाविषयीं | ३२८ | १९१ | जुगारव्यवहार. | ३३३ | २२० |
| मातृधनविभागाविषयीं ... | ३२८ | १९२ | जुगाराचा निषेध..... | ३३३ | २२१ |
| स्त्रीधन सांगतो..... | ३२९ | १९३ | जुगार खेळणाऱ्यांस दंड. . | ३३३ | २२२ |
| स्त्रीधनाचे अधिकारी. | ३२९ | १९५ | पाखंडी इत्यादिकांस देशपार | | |
| अप्रन स्त्रियेच्या धनाचे अ- | | | करणे. | ३३४ | २२५ |
| धिकारी. | ३२९ | १९६ | दंड देणाऱ्याविषयीं असा- | | |
| समायीक द्रव्य स्त्रीधन नव्हे | | | मर्थ्य असतां..... | ३३४ | २२९ |
| याविषयीं. | ३२९ | १९९ | स्त्रीबालादिकांस दंड करणे | ३३४ | २३० |
| स्त्रियांचे अलंकार अविभाज्य | ३३० | २०० | लांच घेणाऱ्या कामदारांस | | |
| अनंश सांगतो. | ३३० | २०१ | शिक्षा. ... | ३३४ | २३१ |
| श्रीजादिकांचे क्षेत्रज पुत्र | | | राजाच्या आज्ञेविरुद्ध खोटे | | |
| अंशविभागी. | ३३० | २०३ | दस्तैवज करणारे इत्या- | | |
| अविमक्ताने मिळविलेल्या द्र- | | | दिकांस शिक्षा. ... | ३३५ | २३२ |
| व्याविषयीं..... | ३३० | २०४ | कायदेशीर तपासलेले क- | | |
| निचादिकांने मिळविलेल्या- | | | जे योग्य कारणावांचू- | | |
| द्रव्याविषयीं..... | ३३१ | २०६ | न फिरविण्याचा निषेध- | ३३५ | २३३ |
| अविभाज्य धनाविषयीं. | ३३१ | २०८ | वेकायदेशीर तपासलेले कजे | | |
| नष्टोदाराविषयीं..... | ३३१ | २०९ | फिरविणे..... | ३३५ | २३४ |
| संसृष्टधनविभागाविषयीं | ३३१ | २१० | महापातकी प्रायश्चित्त न | | |
| निदेशांत गेलेल्याचा वि- | | | करील तर दंड. | ३३५ | २३५ |
| भाग नष्ट होत नाही. | ३३२ | २११ | | | |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---------------------------------|--------|--------|--------------------------------|--------|--------|
| प्राप्यश्चित्त करितील तर | | | वस्त्राची गांठ सोडून चोर- | | |
| डागाचा निषेध. | ३३६ | २४० | णारास शिक्षा. | ३४२ | २७७ |
| ब्राह्मणास महापातकीं दंड. | ३३६ | २४१ | चोरांस सामग्री देणाऱ्यांस | | |
| क्षत्रियांस दंड. | ३३६ | २४२ | दंड..... | ३४२ | २७८ |
| महापातक्याचें धन घेण्या- | | | तलावाचा भेद करणाऱ्यास | | |
| चा निषेध. | ३३६ | २४३ | दंड..... | ३४२ | २७९ |
| ब्राह्मणास पीडा करणाऱ्या | | | राजमार्गीं मल केलें असतां | | |
| शूद्रादिकांस दंड. | ३३७ | २४८ | दंड. .. | ३४२ | २८२ |
| वध्य अपराध्यास सोडिलें | | | शास्त्रज्ञानावांचून वैद्यकी क- | | |
| असतां दोष..... | ३३७ | २४९ | रणारास दंड. | ३४३ | २८४ |
| शत्रुनाशाविषयीं सर्वदा तत्प- | | | मूर्तीचा भेद केला असतां | | |
| र राहाणें. | ३३८ | २५२ | दंड. .. | ३४३ | २८५ |
| आर्यरक्षणाचें फल. | ३३८ | २५३ | मणीच्या अयोग्य वेधाविषयीं. | ३४३ | २८६ |
| तस्करादिकांस शासन न- | | | विषम व्यवहारीं..... | ३४३ | २८७ |
| केलें असतां दोष. | ३३८ | २५४ | राजमार्गावर तुरुंग बांधण्या- | | |
| निर्भय राज्याची वृद्धि. | ३३८ | २५५ | विषयीं. | ३४३ | २८८ |
| गुप्त व प्रसिद्ध चोरांची चौ- | | | तट फोडणारा इत्यादिकांस | | |
| कशी करणें. | ३३८ | २५६ | दंड..... | ३४४ | २८९ |
| गुप्त व प्रसिद्ध चोरांचें लक्षण | ३३८ | २५७ | अभिचारकर्माविषयीं. | ३४४ | २९० |
| त्यांचें शासन करण्याविषयीं. | ३३८ | २६२ | अबीजविक्रयादिकांविषयीं. | ३४४ | २९१ |
| चोरांस दंड. | ३३८ | २६३ | सोनारास दंड. | ३४४ | २९२ |
| चोर राहण्याचीं स्थानें..... | ३४० | २६४ | नांगर इत्यादि वस्तु चोर- | | |
| चोरीचे मुद्यावांचून चोरास | | | णारास दंड. | ३४४ | २९३ |
| दंडानिषेध. | ३४१ | २७० | राज्याचीं भ्रात अंगें. | ३४४ | २९४ |
| चोरास आश्रय देणारांस | | | आपलें व शत्रूचें सामर्थ्य | | |
| दंड. | ३४१ | २७१ | पाहणें. | ३४५ | २९८ |
| स्वधर्मत्याग करणारास दंड. | ३४१ | २७३ | कार्याच्या आरंभाविषयीं. | ३४५ | २९९ |
| चोर लुटित असतां धांवणें | | | राजानुरूप युगधर्म होणें. | ३४६ | ३०१ |
| न करणाऱ्यास दंड. | ३४१ | २७४ | इंद्रादिकांचें तेज राजा धा- | | |
| सज्जाचा जामदारखाना लु- | | | रण करितो..... | ३४६ | ३०३ |
| टणें इत्यादि अपराध | | | ब्राह्मणास कोपविण्याचा नि- | | |
| करणाऱ्यांस दंड. | ३४१ | २७५ | षेध. | ३४८ | ३१३ |
| संधिच्छेद असतां..... | ३४२ | २७६ | ब्राह्मणप्रशंसा | ३४८ | ३१४ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------------|--------|--------|----------------------------------|--------|--------|
| स्मशानाग्निं दुष्टं नाहीं व | | | षट्कर्म सांगतो.... | ३६४ | ७६ |
| ब्राह्मणहि दूषित नाहीं. | ३४८ | ३१८ | ब्राह्मणजीविका. | ३६४ | ७६ |
| ब्राह्मण व क्षत्रिय यांचें पर- | | | क्षत्रियवैश्यकर्म सांगतो. | ३६४ | ७७ |
| स्पर साहाय्य..... | ३४९ | ३२२ | द्विजांचें श्रेष्ठकर्म सांगतो. | ३६५ | ८० |
| पुत्रास राज्य देऊन रणांत | | | आपद्धर्म सांगतो. | ३६५ | ८१ |
| प्राणत्याग. | ३४९ | ३२३ | विक्रयाविषयी वर्यपदार्थ | ३६६ | ८६ |
| वैश्यधर्म सांगतो. | ३४९ | ३२६ | मांसादिविक्रयाचें फल. | ३६७ | ९२ |
| शूद्रधर्म सांगतो. | ३५१ | ३३४ | श्रेष्ठवृत्तीनें निर्वाह करण्या- | | |
| अध्याय दहावा. | | | चा निषेध. | ३६७ | ८५ |
| अध्यापन ब्राह्मणानेंच करणें | ३५१ | १ | परधर्मजीवननिंदा. | ३६७ | ९७ |
| सर्व वर्णांचा प्रभु ब्राह्मण. | ३५१ | २ | वैश्यशूद्रांचे आपद्धर्म. | ३६७ | ९८ |
| द्विजवर्णकथन. | ३५२ | ४ | आपत्तिकालीं ब्राह्मणानें | | |
| सजातीय. | ३५२ | ५ | हीनयाचनादि करणें. | ३६८ | १०२ |
| पितृजातिसदृश..... | ३५२ | ६ | प्रतिग्रहनिंदा | ३६९ | १०९ |
| वर्णसंस्कार. | ३५२ | ८ | ब्राह्मणानें याजनाध्यापन क- | | |
| त्रात्य. | ३५४ | २० | रणें.... | ३६९ | ११० |
| त्रात्योत्पत्त्यादिसंकीर्ण. | ३५४ | २१ | प्रतिग्रहादि पापनाशा- | | |
| उपनयनसंस्कारास योग्य. | ३५८ | ४१ | विषयी.... | ३६९ | १११ |
| कर्मकरून उत्कर्ष पावणें. | ३५९ | ४२ | शिलोच्छ्रवृत्तीविषयी. | ३६९ | ११२ |
| क्रियालोपानें वृषलत्वप्राप्ति. | ३५९ | ४३ | घनयाचनेविषयी. | ३६९ | ११३ |
| दस्युनाति. | ३५९ | ४५ | द्रव्यप्राप्तीचे सात उपाय. | ३७० | ११५ |
| वर्णसंस्कारांचीं कर्म सां- | | | उपजीविकेचे दाहा उपाय | ३७० | ११६ |
| गतो. | ३५९ | ४७ | व्याजानें उपजीविकेचा | | |
| चंडालकर्म सांगतो. | ३६० | ५१ | निषेध. | ३७० | ११७ |
| कर्मावरून जातिज्ञान. | ३६१ | ५७ | राजाचे आपद्धर्म सांगतो. | ३७० | ११८ |
| वर्णसंस्कारनिंदा. | ३६१ | ५९ | शूद्राचे आपद्धर्म. | ३७१ | १२१ |
| ब्राह्मणादिकांचेकार्याविषयी | | | शूद्रास ब्राह्मणसेवा श्रेष्ठ | ३७१ | १२२ |
| प्राणत्याग करणें श्रेष्ठ. | ३६१ | ६२ | शूद्रवृत्तिकल्पना.... | ३७१ | १२४ |
| साधारण धर्म ... | ३६२ | ६३ | शूद्रास संस्कारादिकांचा | | |
| सातव्या जन्मांत ब्राह्मणजन्म | | | निषेध. | ३७२ | १२६ |
| अथवा शूद्रजन्म | ३६२ | ६४ | शूद्राचें अमंत्रक धर्मकार्य. | ३७२ | १२७ |
| वर्णसंस्कारांत श्रेष्ठत्व | ३६३ | ६७ | शूद्रास घनसंग्रहाचा नि- | | |
| वीजक्षेत्रांचे बलाबल | ३६३ | ७० | षेध.... | ३७२ | १२९ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-----------------------------------|--------|---------------------------|---------------------------------|--------|--------|
| अध्याय अकरावा. | | | क्षत्रियादिकाने स्वपराक्र- | | |
| स्नातकाचे प्रकार | ३७२ | १ | माने शत्रुपराभव करणे | ३७८ | ३४ |
| नवस्नातकांस अन्न देणे. | ३७२ | ३ | ब्राह्मणास अवाच्यन बोलणे | ३७८ | ३५ |
| वेदवेत्त्यास दान देणे | ३७२ | ४ | कन्यादिकांनीं होम कर- | | |
| भिक्षावृत्तीने द्वितीयविवा- | | | ण्याचा निषेध. | ३७८ | ३६ |
| • हाचा निषेध | ३७२ | ५ | अश्वदक्षिणेविषयीं. | ३७८ | ३८ |
| कुटुंबी ब्राह्मणास धनदान | | | अल्पदक्षिण यज्ञाची निंदा. | ३७९ | ३९ |
| देणे. | ३७४ | ६ | अग्निहोत्रहोमत्यागाचा दोष | ३७९ | ४१ |
| यज्ञशेषार्थ, वैश्यापासून ध- | | | शूद्रदत्त धनाने अग्निहोत्र | | |
| न घेणे. | ३७४ | ७ | घेण्याचा निषेध | ३७९ | ४२ |
| सोमयागास अधिकारी..... | ३७४ | ९ | विहिताकरणीं प्रायश्चित्ती | | |
| कुटुंबाचे पोषण न करणा- | | | होतो. • | ३७९ | ४५ |
| रा दोषी. | ३७४ | ११ | प्रायश्चित्तीच्या संसर्गाचा नि- | | |
| ब्रह्मस्वादिहरणनिषेध | ३७५ | १८ | षेध. | ३८० | ४७ |
| असाधु धनाचे दानाविषयीं. | ३७६ | १९ | पूर्वपापानुसार अंधादि होणे | ३८० | ४८ |
| यज्ञशीलादिधनप्रशंसा. . | ३७६ | २० | प्रायश्चित्त अवश्य करणे.... | ३८० | ५३ |
| यज्ञाकरितां ब्राह्मण श्वेरी- | | | पंच महापातके. ... | ३८१ | ५४ |
| करील तर दंडनिषेध. ३७६ | २१ | ब्रह्महत्यासम पातके. | ३८१ | ५५ | |
| राजाने ब्राह्मणाची उपजी- | | | सुरापानसम पातके. | ३८१ | ५६ |
| विका करून देण्या | | | सुवर्णस्तेयसम पातके. | ३८१ | ५७ |
| विषयीं. | ३७६ | २२ | गुरुपत्नीगमनसम पापे.... | ३८१ | ५८ |
| यज्ञार्थ शूद्रभिक्षेचा निषेध. ३७६ | २४ | उपपातके. | ३८२ | ५९ | |
| यज्ञार्थ संपादिलेले द्रव्या- | | | जातिभ्रंशकर पातके. | ३८२ | ६७ |
| चा संग्रह न करणे.... | ३७६ | २५ | संकरीकरण पातके. | ३८२ | ६८ |
| देवब्राह्मणांचे द्रव्यहरण | | | अपात्रीकरण पापे. | ३८३ | ६९ |
| करण्याचा निषेध | ३७७ | २६ | मलिनीकरण. | ३८३ | ७० |
| सोमयागाविषयीं असामर्थ्य | | | ब्रह्मवधप्रायश्चित्त. | ३८३ | ७२ |
| असतां वैश्वानरयाग | | | गर्भ, ब्राह्मणी, रजस्वला, | | |
| करावा. | ३७७ | २७ | क्षत्रिय व वैश्य यांच्या | | |
| समर्थास अनुकल्पाचा नि- | | | वधाचे प्रायश्चित्त. | ३८६ | ८७ |
| • षेध. | ३७७ | २८ | स्त्री, सुवृद्ध यांचा वध व | | |
| ब्राह्मणाने स्वशक्तीनेच अप- | | | ठेवीचे हरण यांविषयीं | | |
| राध्यास शिक्षा करणे. | ३७७ | ३१ | प्रायश्चित्त. ... | ३८६ | ८८ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|----------------------------------|--------|--------|--------------------------------|--------|--------|
| सुरापानप्रायश्चित्त. | ३८६ | ९० | शुक्तादिभक्षणीं प्रायश्चित्त. | ३९५ | १५३ |
| सुरेचे भेद. | ३८७ | ९४ | सूकरादिविष्टामूत्र भक्षणप्रा- | | |
| सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्त. | ३८८ | ९९ | यश्चित्त. | ३९५ | १५४ |
| गुरुस्त्रीगमन प्रायश्चित्त. | ३८८ | १०३ | शुष्कमांसादि भक्षण प्राय- | | |
| गोवधाद्युपपातक प्रायश्चित्त. | ३८९ | १०८ | श्चित्त. | ३९६ | १५५ |
| अवकीर्णप्रायश्चित्त. | ३९० | ११८ | कुक्कुट, नर, काक, क्रव्याद | | |
| जातिभ्रंशकरप्रायश्चित्त. | ३९१ | १२४ | यांच्या मांसभक्षणीं प्रा- | | |
| संकरीकरणादिप्रायश्चित्त. . | ३९१ | १२५ | यश्चित्त. ... | ३९६ | १५६ |
| क्षत्रियादिवधप्रायश्चित्त. | ३९२ | १२६ | मासिकान्नभक्षणीं प्रायश्चित्त | ३९६ | १५७ |
| मार्जारवादिवधप्रायश्चित्त. | ३९२ | १३१ | ब्रह्मचाय्यानें मधुमांस भ- | | |
| अश्वदिवधप्रायश्चित्त. | ३९३ | १३६ | क्षण केलें असतां प्रा० | ३९६ | १५८ |
| व्यभिचारिणीस्त्रीव्यावधावि- | | | मार्जारादिकांचे उच्छिष्ट भ- | | |
| षयीं प्रायश्चित्त. | ३९३ | १३८ | क्षणीं प्रायश्चित्त. | ३९६ | १५९ |
| सर्पादिवधप्रायश्चित्त. | ३९३ | १३९ | अभोज्य अन्न भक्षण अस- | | |
| क्षुद्रजंतुसमूहवधादिप्रायश्चित्त | ३९३ | १४० | तां वमन करणें. | ३९६ | १६० |
| वृक्षादिकांचे छेदाचें प्राय- | | | सजातीय धान्यादिकांचे चो- | | |
| श्चित्त. ... | ३९४ | १४२ | रीचें प्रायश्चित्त. | ३९७ | १६२ |
| अन्नोद्भवादिप्राणिवधप्राय० | ३९४ | १४३ | मनुष्यादि हरणप्रायश्चित्त. | ३९७ | १६३ |
| औषधादिकांचे छेदाविषयीं | | | अल्प किमतीचे द्रव्याचे | | |
| प्रायश्चित्त. | ३९४ | १४४ | चोरीचें प्रायश्चित्त. | ३९७ | १६४ |
| गौण सुरापानाचें प्रायश्चित्त. | ३९४ | १४६ | मोदकादिभक्ष्य पदार्थ, यान- | | |
| सुराभांडस्थ जलपानप्राय- | | | शय्या इत्यादि हरणीं- | | |
| श्चित्त. | ३९४ | १४७ | प्रायश्चित्त | ३९७ | १६५ |
| शूद्रोच्छिष्ट जलपान प्राय- | | | मणिमुक्तादिकांचें चोरीचें- | | |
| श्चित्त. | ३९५ | १४८ | प्रायश्चित्त | ३९७ | १६६ |
| सुरागंधाघ्राणप्रायश्चित्त. | ३९५ | १४९ | कार्पासादि द्रव्याचे चोरीचें | | |
| विष्टा, मूत्र, मद्य एतद्दूषित | | | प्रायश्चित्त. | ३९७ | १६७ |
| पदार्थभक्षणीं प्रायश्चित्त | ३९५ | १५० | अगम्यागमनप्रायश्चित्त. | ३९८ | १७ |
| पुनःसंस्कारी दंडादि नि- | | | वडवा रजस्वलादिगमनप्राय- | | |
| वृत्ति. | ३९५ | १५१ | श्चित्त, | ३९८ | १७ |
| अभोज्यान्न, स्त्रीशूद्रोच्छिष्ट, | | | दिवाभैथुनादिप्रायश्चित्त. | ३९८ | १७ |
| अभक्ष्यमांस यांचे प्राय- | | | चांडाल्यादिगमनप्रायश्चित्त. | ३९८ | १७ |
| श्चित्त. | ३९५ | १५२ | व्यभिचारिणीस्त्रीप्रायश्चित्त. | ३९९ | १७ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--|--------|--------|--|--------|--------|
| चाण्डालीगमनप्रायश्चित्त..... | ३९९ | १७८ | अतिकृच्छ्राचै लक्षण. ... | ४०४ | २१३ |
| पतितसंसर्गप्रायश्चित्त. | ३९९ | १७९ | तप्तकृच्छ्राचै लक्षण. | ४०४ | २१४ |
| पतिताची जीवन्तपर्णीच क्रि- या करणें. | ४०० | १८२ | पराकृच्छ्राचै लक्षण. ... | ४०५ | २१५ |
| पतितास विभागादिकांचा निषेध. | ४०० | १८५ | चांद्रायणाचै लक्षण. | ४०५ | २१६ |
| कृतप्रायश्चित्तसंसर्ग. | ४०० | १८७ | यवमध्य चांद्रायणाचै लक्षण. | ४०५ | २१७ |
| पतित स्त्रियांस अन्नादिदेणें. | ४०० | १८८ | यतिचांद्रायणाचै लक्षण. | ४०५ | २१८ |
| पतितसंसर्गनिषेधादि. | ४०१ | १८९ | व्रतार्ची अंगें. | ४०६ | २२२ |
| बालप्रादिकांचा त्याग. | ४०१ | १९० | पाप गुप्त न ठेवणें. | ४०६ | २२७ |
| ब्राह्मप्रायश्चित्त..... | ४०१ | १९१ | पापानुताप. | ४०७ | २३० |
| गर्हितधनसंपादक ब्राह्मणास प्रायश्चित्त. | ४०१ | १९३ | पापवृत्तिनिंदा. | ४०७ | २३२ |
| दुष्टप्रतिग्रहप्रायश्चित्त. | ४०१ | १९४ | मनाच्या संतोषापर्यंत तप करणें. | २०७ | २३३ |
| कृतप्रायश्चित्तास साम्यप्रश्न. | ४०१ | १९५ | तपःप्रशंसा. | ४०७ | २३४ |
| गाईस तृण भक्षणार्थ देणें. | ४०२ | १९६ | वेदाभ्यासप्रशंसा | ३०९ | २४५ |
| ब्राह्मयाजनादिप्रायश्चित्त..... | ४०२ | १९७ | रहस्यप्रायश्चित्त..... | ४११ | २५७ |
| शरणागतत्यागादिप्रायश्चित्त | ४०२ | १९८ | अध्याय बारावा. | | |
| श्वादिदंशनप्रायश्चित्त. | ४०२ | १९९ | शुभाशुभ कर्माचै फल. ... | ४१२ | १ |
| अपांक्त्यप्रायश्चित्त. | ४०२ | २०० | मन आत्म्यास प्रवर्तक..... | ४१३ | ४ |
| उष्ट्रादियानप्रायश्चित्त. | ४०२ | २०१ | त्रिविध मानस कर्म. | ४१३ | ५ |
| उदकरहित मूत्रोत्सर्गप्राय- श्चित्त. | ४०२ | २०२ | चतुर्विध वाचिक कर्म..... | ४१३ | ६ |
| वेदोक्तकर्मत्यागप्रायश्चित्त | ४०३ | २०३ | त्रिविध शारीर कर्म. | ४१३ | ७ |
| ब्राह्मणास त्वंकार करील तर प्रायश्चित्त. | ४०३ | २०४ | मनोवाक्कायकर्मभोग. | ४१३ | ८ |
| ब्राह्मणास ताडन केल्याचै प्रायश्चित्त. | ४०३ | २०५ | त्रिदंडजय. | ४१४ | १० |
| अनुक्त स्थली प्रायश्चित्तक- ल्पना. | ४०३ | २०६ | क्षेत्रज्ञलक्षण. | ४१४ | १२ |
| प्राजापत्यप्रायश्चित्त. | ४०४ | २११ | जीवात्मपश्चिचय. | ४१४ | १३ |
| सांतपनकृच्छ्राचै लक्षण. | ४०४ | २१२ | असंख्य नीव. | ४१४ | १५ |
| | | | लिंगशरीराची उत्पत्ति. | ४१५ | १६ |
| | | | लिंगशरीराचा लय. | ४१५ | १७ |
| | | | धर्मधर्मजन्य भोग. | ४१५ | २० |
| | | | त्रिविध गुणांचै कथन. | ४१६ | २४ |
| | | | अधिकगुणप्रधानदेह. | ४१६ | २५ |
| | | | सत्त्वादिगुणलक्षण. | ४१६ | २६ |
| | | | सात्विकगुणलक्षण..... | ४१७ | ३१ |

| विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. | विषय. | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-----------------------------------|--------|--------|--------------------------------|--------|--------|
| राजसगुणलक्षण..... | ४१७ | ३२ | वेदज्ञप्रशंसा. | ४२७ | १०१ |
| तामसगुणलक्षण..... | ४१७ | ३३ | वेदव्यवसायी श्रेष्ठ. | ४२७ | १०३ |
| संक्षेपतः तामसादिलक्षण. | ४१७ | ३५ | तप आणि आत्मज्ञान यांहीं- | | |
| गुणत्रयाने त्रिविध गति.... | ४१८ | ४० | करून मोक्षप्राप्ति. | ४२७ | १०४ |
| त्रिविध गर्ताचे प्रकार. | ४१८ | ४१ | प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द | | |
| पार्ष्णेकरून कुत्तित गति. | ४२० | ५२ | प्रमाणें. | ४२७ | १०५ |
| पापविशेषेकरून ज्ञानाविध | | | धर्मज्ञाचें लक्षण. | ४२७ | १०६ |
| जन्म. | ४२० | ५३ | ह्या शास्त्रांत न सांगितलेल्या | | |
| पापाधिक्याने नरकादि.... | ४२३ | ७६ | धर्माविषयी. | ४२८ | १०८ |
| मोक्षार्थी उपायभूत सहाकर्म | ४२४ | ८३ | शिष्ट. | ४२८ | १०९ |
| आत्मज्ञानप्रधान.... | ४२४ | ८५ | परिषत् (सभा). | ४२८ | ११० |
| वेदविहित कर्म श्रेष्ठ. | ४२६ | ८६ | मूर्खसमुदायास सभासंज्ञा | | |
| वैदिक कर्म दोन प्रकारचे. | ४२५ | ८८ | नाहीं. | ४२८ | ११४ |
| प्रवृत्तानिवृत्तकर्माचें फल. | ४२५ | ९० | आत्मज्ञानफल. | ४२९ | ११८ |
| समदर्शन. | ४२५ | ९१ | वायु इत्यादिकांचा लय. | ४२९ | १२० |
| वेदाम्यासाविषयी..... | ४२५ | ९२ | आत्मस्वरूप सांगतो. ... | ४३० | १२२ |
| वेदवादास्मृतिनिंदा. | ४२६ | ९५ | आत्मदर्शनाची आवश्य- | | |
| वेदप्रशंसा.... | ४२६ | ९७ | कता. | ४३० | १२५ |
| सेनापत्यादिकांस वेदज्ञ योग्य | ४२७ | १०० | मनुसंहितापाठफल. | ४३० | १२६ |

प्रस्तावना.



प्रस्तुत काळी या भरतखंडांत सर्वत्र छापखान्याची कला प्रसिद्ध झाल्यामुळे अनेक विषयांवर लहान मोठे संस्कृत, व प्राकृत ग्रंथ छापून प्रसिद्ध होत आहेत, तेणेकरून लोकांस अनेक विषयांचे ज्ञान होऊन ग्रंथवाचनाविषयी लोकांची अभिरुचि उत्तरोत्तर वृद्धिगत होत आहे हे एक देशोत्कर्षास मुख्य साधन होय, तथापि धर्मज्ञासु प्राकृत जनांस या ग्रंथांपासून जसा लाभ व्हावा तसा होत नाही. याचे कारण असे आहे की, आमच्या धर्मशास्त्राची सर्व पुस्तके संस्कृत भाषेत आहेत आणि ती भाषा तर अति दुर्बोध असल्या कारणाने तिचा अभ्यास करणारांची संख्या कालगतीच्या योगाने उत्तरोत्तर कमी होत जाऊन प्राकृत भाषेची वृद्धि दिवसेंदिवस विशेष होत आहे, यामुळे प्राकृत भाषेत लिहिणाऱ्यांची व वाचकांची संख्या अधिक होत आहे.

आमच्या धर्मशास्त्रांत, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र याणीं आपापले आचार व धर्म कसे पाळावे व न पाळल्यापासून त्याचा परिणाम काय होतो इत्यादि विवेचन यथार्थ केले आहे. तसेंच ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ आणि संन्यास ह्या चार आश्रमांत प्रत्येकाने कसे वर्तन ठेवावे याचेहि यथार्थ विवेचन केलेले असून सर्व व्यावहारिक विषयांचे प्रतिपादन केले आहे, यामुळे धर्मशास्त्राचा संबंध रोजच्या आपल्या दिनचर्येस लगटून आहे. धर्मशास्त्रांत कितीएक आचार अति उत्तम सांगितले आहेत परंतु ते हल्लीं व्यवहारांत चालू नाहीत, आणि हल्लीं कित्येक आचार, धर्म यांचा लोकांत जो प्रतिबंध आहे त्याविषयी सदसत् विचार न करितां हल्लींचा रिवाज उलटा होऊन गेला आहे, यामुळे सदाचार कोणता व दुराचार कोणता याचे ज्ञान होण्यास धर्मशास्त्राचे ज्ञान असणे अवश्य आहे, परंतु ते ज्ञान होण्यास उपाय झटला झणजे प्रसिद्ध व प्राचीन अशा संस्कृत पुस्तकांची प्राकृत भाषांतरे करून शास्त्रज्ञानाचा प्रसार करावा, हाच आहे. तसे झाल्याने त्यापासून लोकांस आपो-आप प्रत्येक आचार अथवा रीतिभाती यांविषयी आपले अनुकूल व प्रतिकूल मत देण्यास व स्वकीय आचरण ठेवण्यास साधन होऊन सदसद्विचारशक्ति साहजिक सर्वास प्राप्त होईल अशा हेतूने जीत सर्व हिंदु लोकांचे सर्व प्रकारचे धर्म सांगितले असून फार प्राचीन व वेदासारखी प्रमाणभूत अशी एक मनुस्मृति आहे, झणून तिचे महाराष्ट्र भाषांतर प्रसिद्ध व विद्वत्मान्य अशा कुल्लुकभट्टकृत टीकेच्या आधाराने चांगल्या विद्वानांकडून करवून वर संस्कृत-मूळ श्लोक व त्याचा खाली प्राकृत अर्थ अशा क्रमाने आली छपीत आहो. या ग्रंथाचा उपयोग धर्मज्ञासु प्राकृत जनांस व राजे रजवाडे, मुनसफ, मामलेदार, वकील नगरे देशसुधारणेच्छु जनांस तर विशेषकरून आहे. यांत विषय कोणकोणते आहेत त्यांचे

दिग्दर्शन या प्रस्तावनेच्या शेवटी केले आहे त्यावरून ग्रंथाचे महत्त्व किती आहे हे स्पष्ट वाचकांच्या ध्यानांत येईल.

आतां स्मृति ह्मणजे काय, त्यांचे कर्ते कोणकोणते, व त्यांमध्ये मनु श्रेष्ठ कां इत्यादि निचार खाली दाखवितो, त्यावरून ग्रंथाचे महत्त्व वाचकांच्या ध्यानांत येईल.

“स्मृति” ह्मणजे प्राचीन मन्वादि ऋषींला त्या त्या काळीं ज्या ज्या वेदोक्त धर्मांचे स्मरण राहिले, ते धर्म त्यांनीं एकत्र करून ग्रंथ केले, अथवा त्यांच्या शिष्यांनीं ज्या ग्रंथरचना केल्या त्यांला स्मृति असे ह्मणतात.

याज्ञवल्क्याने आचाराध्यायांत खाली लिहिलेले स्मृतिकार वांणले आहेत.

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्ययोगीश्वराः ॥ यमापस्तंबसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ ॥ शातातप्यो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रवर्तकाः ॥

अर्थः— मनु, मन्त्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तंब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पुराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ हे स्मृतिशास्त्राचे कर्ते आहेत.

नीमित्रोदय ग्रंथी आचाराध्यायांत अठरा स्मृतिकार आणि अठरा उपस्मृतिकार सांगून पुढे दुसरे एकवीस स्मृतिकार वांणले आहेत. ते असेः—

यनुर्बृहस्पतिर्दक्षो गौतमोय यमोऽगिराः ॥ योगीश्वरः प्रचेताश्च शातातपपरशरौ ॥
संवर्तोशनसौ शंखलिखितावत्रिरेव च ॥ विष्ण्वापस्तंबहारीता धर्मशास्त्रप्रवर्तकाः ॥
एते सष्टादश प्रोक्ता मुनयोऽनियतव्रताः ॥

अर्थः— मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर (याज्ञवल्क्य), प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशना, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तंब, हारीत, हे अठरा ऋषि धर्मशास्त्राचे कर्ते सांगितले आहेत.

उपस्मृतिकाराः—

जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कंदो लौगाक्षिकाश्यपौ ॥ व्यासः सनत्कुमारश्च सुमंतुश्च
पितामहः ॥ व्यासः कार्णार्जुनिश्चैव जातूकर्ण्यः कर्पिजलः ॥ बौधायनश्च का-
णादो विश्वामित्रस्तथैव च ॥ पैठीनीसिर्गोभिलश्च, उपस्मृतिविधायकाः ॥

अर्थः— जाबालि, नाचिकेत, स्कंद, लौगाक्षि, काश्यप, व्यास, सनत्कुमार, सुमंत, पितामह, व्यास, कार्णार्जुनि, जातूकर्ण्य, कर्पिजल, बौधायन, काणाद, विश्वामित्र, पैठीनीसि, गोभिल, हे अठरा उपस्मृतिकार आहेत.

१ प्रयोग परिघात तत्संस्काराद—“तत्संस्काराणां याः काश्चित्सां वेदांतराणि च ॥ अंतर्धानगतानीह स्मृत्यंताः स्मृतयः कृताः ॥” अर्थः— ज्या कित्येक वेदांच्या शाखा नष्ट झाल्या व तत्संबंधी जे वेद नष्ट झाले त्यांचि स्मरण करून त्या ग्रंथरचना केल्या त्या स्मृति होत.

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमंतुश्च पितामहः॥वसुः कृष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः॥
जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः॥ आत्रेयश्छागलेयश्च मरीचिर्वत्स एव च॥
पारस्कर ऋष्यशृंगो बैजवापस्तथैव च॥ इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः॥
एभिर्यानि प्रणीतानि धर्मशास्त्राणि वै पुरा॥तान्येतानि प्रमाणानि न हंतव्यानि हेतुभिः॥

अर्थः—वसिष्ठ, नारद, सुमंतु, पितामह, वसु, कृष्णाजिनि, सत्यव्रत, गार्ग्य, देवल, जमदग्नि, भरद्वाज, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, आत्रेय, छागलेय, मरीचि, वत्स, पारस्कर, ऋष्यशृंग, बैजवाप, हे दुसरे एकवीस स्मृतिकार सांगितले आहेत. यांनी पूर्वी सांगितलेली धर्मशास्त्रे (स्मृति) प्रमाणभूत आहेत, तीं स्वकपोलकल्पनांनीं बाधित करूं नयेत.

येथे स्मृतिकार आणि उपस्मृतिकार दाखविण्याचें प्रयोजन इतकेंच आहे कीं, सर्व धर्म-शास्त्राचें मूळ वेद आहेत, तस्मात् वेदांच्या मागून सर्व स्मृति झाल्या, व त्यां सर्व स्मृतिकारांमध्ये मनु हा पहिला स्मृतिकार आहे त्यामुळे सर्व स्मृतींमध्ये मनुस्मृति फार प्राचीन आहे. याकरितां प्रमाणाविषयीं तिला वेदासारखाच मान देतात. याविषयीं प्रयोगपारिजातग्रंथीं संस्कारप्रकरणीं सांगितले आहे. ते असें:-

यत्पूर्वं मनुना प्रोक्तं धर्मशास्त्रमनुत्तमं ॥ न हि तत्समतिक्रम्य वचनं हितमात्मनः ॥

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं तु मनुस्मृतेः॥मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा विनश्यति ॥

अर्थः—मनूनें जें पूर्वी अत्युत्तम धर्मशास्त्र सांगितले आहे त्याचें उल्लंघन करणारें जें वचन तें आपणास हितकारक नाही. वेदार्थापासून ती रचली आहे यास्तव सर्व स्मृतींमध्ये मनुस्मृति प्रधान आहे. मनुस्मृतीस विरुद्ध जी स्मृति ती नाश पावते ह्मणजे बाधित होते. याविषयीं वेदांत (छांदोग्य ब्राह्मणांत) हि सांगितले आहे. ते असें:-

मनुर्वैयक्तिकिदवदत्तद्वेषजंभेषजतायादति ॥

अर्थः—जें काहीं मनु बोलला तें अत्युत्तम औषध ह्मणजे हितकारक आहे.

याप्रमाणें मनुस्मृति ही सर्वांत मुख्य असल्यामुळे इतर स्मृति एतदनुरोधें करून प्रायः आहेत, तस्मात् मनुस्मृति निर्णयाविषयीं आद्यशास्त्र आहे असें सर्व लोक मानतात.

या हिंदुस्थानांत हल्लीं व्यवहाराचे कामीं देशपरत्वेंकरून निरनिराळे ग्रंथ प्रमाणभूत मानितात. ह्मणजे बंगाल्यांत दायक्रमसंग्रह व वीरमित्रोदय; मिथिलदेशांत विवादचिंतामणि व मिताक्षरा; काशींत मिताक्षरा; महाराष्ट्र व गुजराथ यांत व्यवहारमयूख व मिताक्षरा; द्रविडदेशांत स्मृतिचंद्रिका व दत्तचंद्रिका याप्रमाणें न्यायाचे कामीं ग्रंथ चालत आहेत तथापि त्यांना प्रायः मनुस्मृतीचाच आधार आहे, कारण एक याज्ञवल्क्य स्मृति खेरीज करून बाकी सर्वे ग्रंथ व्याख्यारूप असल्या कारणानें मनुस्मृति व इतर स्मृति घेऊन ते रचिले आहेत.

आतां मनुस्मृतीत विषय कोणकोणते आहेत त्यांचे दिग्दर्शन संक्षेपाने करितो. प्रथम अध्यायापासून सहा अध्यायपर्यंत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र, यांचे धर्म; आठ प्रकारचा विवाह; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास हे आश्रम सांगून त्या त्या आश्रमाचे धर्म; स्त्रीपुरुषांचे परस्पर हक्क व धर्म सांगितले आहेत. व इतर अनुलोम व प्रतिलोम जाति त्यांचेहि धर्म सांगितले आहेत. ७, ८, ९ ह्या तीन अध्यायांत सर्व राजकीय व्यवहार हाणजे राज्यव्यवस्था कशी चालवणे, फौजेचा बंदोबस्त ठेवणे, परराज्यांशी संबंध ठेवणे; साम, दान, दंड, भेद यांचा वयार्थकारी उपयोग; दिवाणी, फौजदारी, देणे, घेणे, सत पत्रे वगैरेचा निर्णय, सीमाविवाद निर्णय, साक्षी, साक्षिलक्षणें, कोणत्या जिद-गोचा कोण कसा वासीसदार, स्त्रीधन कोणते व ते कोणी कसे घ्यावे, दत्तकप्रकरण, चोरीची शौकशी, चोरास शिक्षा, वगैरे अनेक व्यावहारिक विषय आहेत. १०, ११, १२ ह्या तीन अध्यायांत सर्व प्रकारचीं पातके, त्यांचीं प्रायश्चित्ते, व राजद्वाराकडून त्याविषयी दंड इत्यादिक विषय सांगितले आहेत. यावरून पाचें महत्त्व किती आहे हें साहजिक वाचकांच्या ध्यानांत येईल.

वाचकांस पुस्तक वाचण्यास एकदम दीर्घ काल न लगतां प्रतिमासास थोडथोडे वाचून पाहण्यास सुलभ पडावे व विद्वानाकडून यथार्थ भाषांतर होऊन पुस्तकहि चांगले छापले जावे हाणून दरएक महिन्यास या ग्रंथाची (प्राकृत धर्मसिंधूच्या पृष्ठाएवढी) चालीस पृष्ठे छापून देण्याचा निश्चय केला आहे.

मनुस्मृति प्राकृतभाषांतरसहित.

श्रीगणेशायनमः

वत्सुपालेशमात्रेण मूकोऽपि धिषणायते ॥

तमहं परमात्मानं प्रणमामि पुनःपुनः ॥ १ ॥

असे प्रथारंभी मंगल करून यजमानाब्रत मी (बापूशास्त्री मोघे) मनुस्मृतीचें प्राकृत भाषांतर करण्यास आरंभ करितों.

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ॥

प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

एकाग्र (विषयांतरेंकरून ज्याचें चित्त व्यग्र झालें नाहीं तो), सुखासनावर बसलेला, अशा मनुप्रत मोठमोठे ऋषि संमुख जाऊन त्याचें विधिपूर्वक प्रैतिपूजन करून मन्त्रपणा, भक्ति इत्यादि विधीनें बक्ष्यमाण (दुसऱ्या श्लोकांत सांगितलेली) गोष्ट विचारिते झाले.

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥

अंतरप्रभवाणां च धर्मानो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे भगवन्, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र हे चार वर्ण; तसेच संकीर्णजाति क्षणजे अनुलोम व प्रैतिलोम जाति या सर्वांचे धर्म; जो धर्म ज्या ज्या वर्णांला व आश्रमाला योग्य होतो अशा प्रकारानें क्रमेंकरून आह्मांकारणें तूं सांगण्याला योग्य आहेस.

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ॥

अचित्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो ॥ ३ ॥

कारण कीं, हे प्रभो, स्वयंभू (अपौरुषेय), अचित्य (इयत्तेने परिमाण करण्यास अयोग्य), अप्रमेय (मीमांसादि न्यायावांचून ज्याचें प्रमेय समजण्यास अशक्य), सर्व

१ 'मनु' हा शब्द 'मनु' अवबोधने (जाणणें, समजणें) या धातूपासून झाला आहे. मनु क्षणजे विचार करणारा, चिंतन करणारा. या स्थळीं 'सकलवेदार्थादिमननाम्मनुः' क्षणजे सकल वेदांच्या अर्थादिचा विचार करणारा असा अर्थ जाणावा. २ या ठिकाणीं 'प्रतिपूजन' शब्दापासून असे सूचित होतें कीं, पूर्वी मनुनें सर्व ऋषींची पूजा केल्यानंतर ऋषींनीं मनुचें हें पूजन केलें क्षणून ऋषींनीं मनुचें जें पूजन केलें त्याचें नांव 'प्रतिपूजन' असें कुल्लूकभट्ट व्याख्येत लिहिलें. ३ ऐश्वर्य, वीर्य (पराक्रम), यश, भी, ज्ञान, वैराग्य या सहा गुणांनीं युक्त तो भगवान् होय. ४ उत्तम वर्णांतील पुरुषापासून हीनवर्ग स्त्रियेचे ठायीं उत्पन्न झालेली जाति. (सूचविसिक्त अंबळादिक.) ५ उत्तमवर्णांतील स्त्रियेचे ठायीं हीनवर्ग पुरुषापासून उत्पन्न झालेली जाति. (सूत, वैदेहकादिक.)

ज्ञाने प्रत्यक्षश्रुत आणि स्मृत्यादिकांनी अनुमेय जो वेद त्यांत सांगितलेलीं अग्निष्टोमादि कर्मे व तत्त ज्ञाने ब्रह्म हाच जो प्रतिपाद भाग त्यांत ज्ञाणणास एक तूच समर्थ आहेस.

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्माभिः ॥

प्रत्युवाचार्च्यतान्सर्वान्महर्षींश्छूयतामिति ॥ ४ ॥

महासामर्थ्यवंत अशा त्या ऋषींनी पूर्वोक्त प्रकारे करून नम्रपणाने व अति आस्तिक्य बुद्धीकरून मनुष्य प्रश्न केला त्या काळीं ज्ञानतत्त्वकथनादिकांविषयीं अपार ज्याचे सामर्थ्य अशा त्या मनुनें सर्व महर्षींची पूजा करून त्या सर्वांप्रत, श्रवण करा अशा उपक्रमें करून खरे तत्व सांगता झाला.

आसीदिदं तमोभूत मप्रज्ञात मलक्षणं ॥

अप्रतर्क्य मविज्ञेयं प्रमुमु मिव सर्वतः ॥ ५ ॥

पूर्वी हे सर्व जैगत् प्रकृतीचे ठायीं लीन झालेले अतएव अप्रज्ञात (इंद्रियांला अविषय), अलक्षण (अनुमान करण्यास अशक्य), अप्रतर्क्य (तर्क करण्यास अशक्य), अविज्ञेय (शब्देकरूनहि जाणण्यास अविषय) आणि सर्वकाळ निश्चेत निमग्न ज्ञान्यासारखे (सत्कार्याविषयी असमर्थ) असें होतें.

ततः स्वयंभूमवत्सव्यक्तो व्यंजयन्निदं ॥

महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

प्रलयानंतर स्वयंभू भगवान् परमात्मा आपण अव्यक्त (बाह्येन्द्रियांस अविषय) होत्साता आकाशादि (आकाश, पृथ्वी, जल, तेज, वायु) महाभूते आणि महदादि पंचतत्त्वे ही प्रकाशमान करून सृष्टि उत्पन्न करण्याविषयी अकुठितसामर्थ्यावान् व सृष्टीविषयी प्रकृतीस प्रेरणा करीत होत्साता आपण प्रकट झाला.

योऽसावर्तीन्द्रियग्राहाः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥

सर्वभूतमयो ऽचित्यः स एव स्वयमुद्भूतौ ॥ ७ ॥

१ श्रुत-कधीतीं सर्व वर्णांचे धर्म सांगण्याविषयी मनुस प्रश्न केला तेव्हां ते धर्म सांगण्याचें सोडून जगताची उत्पत्ति सांगण्याला जो हा आरम्भ केला हे पुढे नाहीं. समाधान-कुल्लुकमठ टीकाकार असें सांगतो कीं ज्यापेक्षा या सर्व जगतास कारण ब्रह्म आहे त्यापेक्षा ते ब्रह्म कसे आहे व त्याचें लक्षण काय इत्यादि वाचने हा मनुष्याचा प्रथम धर्म आहे, यास्तव उत्तर सांगणाऱ्यामध्ये ज्यासनें पहिल्या सुत्रांत “ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ” हाणजे प्रथम ब्रह्म ओळखण्याची इच्छा धरणें हा मनुष्याचा मुख्य धर्म असें सांगितले. एवें ब्रह्म हाणजे काय ते दाखविण्याकरितां सांगतो कीं, “ जन्माद्यस्ययत इति ” हाणजे ज्यांपासून हा जगताची उत्पत्ति, स्थिति आणि लय हे होतात ते ब्रह्म अतः दुसरे सूत्र आहे, तरी ब्रह्मानें प्रथम हा जगता-विषयी काय काय उत्पन्न केले हे समजण्याकरितां मनुनें पहिल्या अध्यायांत जगताचे उत्पत्तीविषयी वर्णन करून पुढे आद्यप्रथम सांगितले.

सकल वेदादिकांत प्रतिपादन केलेला, अतींद्रियग्राह्य (मनानें ग्रहण करण्यास पोष्य), सूक्ष्म (बाह्येन्द्रियांस अविषय), अवयवरहित, सनातन (नित्य), सर्वभूतात्मा अतएव अचिंत्य (परिच्छेदरहित) असा जो परमात्मा तोच आपण महदादिकार्यरूपे-
करून प्रकट झाला.

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

नंतर त्या परमात्म्याला असी इच्छा उत्पन्न झाली की, आपल्या शरीरापासून अनेक प्रकारची प्रजा उत्पन्न करावी, यावरून ' प्रथम उदक उत्पन्न होवू ' असा मनांत संकल्प करताच प्रथम उदक उत्पन्न केले आणि त्या उदकाचेठायीं परमात्मा शक्तिरूप बीजाचें रोपण करिताझाला.

तदंडमभवद्वैमं सहस्रांशुसमप्रभं ॥

तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

नंतर तें बीज परमेश्वराच्या इच्छेनें सुवर्णासारखें शुद्ध आणि सहस्र किरण धारण करणाऱ्या सूर्यासारखी ज्याची कांति असें अंडें झालें, त्या अंडाचेठायीं सर्व लोकांचा पितामह (जनक) ब्रह्मा स्वतां उत्पन्न झाला.

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥

तस्य यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

आप ह्मणजे उदकें नर ह्मणजे परमात्मा यापासून उत्पन्न झालीं अतएव त्यांस नारा असी संज्ञा आहे व त्या नारा (उदकें), नराचें पूर्वीं अयन (स्थान) असल्या कारणानें परमात्म्याला नारायण असें झटलें आहे.

यसत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकं ॥

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

अव्यक्त (बाह्येन्द्रियांस अविषय), नित्य (उत्पत्तिविनाशरहित), आणि सदसत्स्वरूप असें जें जगताचें कारण त्या कारणानें उत्पन्न केलेला जो पुरुष झाला लोकांत ब्रह्मा असें ह्मणतात.

तस्मिन्नंडे स भगवानुषित्वा परिवत्सरं ॥

स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदंडमकरोद्विधा ॥ १२ ॥

भगवान् ब्रह्मा, ब्रह्ममानानें त्या पूर्वोक्त अंडाचेठायीं एक वर्षपर्यंत राहिला, नंतर ' आपो-
आप अंड द्विधा होऊ ' असें आपण ध्यान केलें, तेणेंकरून त्या अंडाचीं दोन झकले
करिता झाला.

१ सत् आणि असत् रूप कारण ह्मणजे जें कारण सर्व पदार्थमात्रांत व्यापक असून वृद्धिघात होत
नाहीं ते.

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ॥

मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतं ॥ १३ ॥

नंतर ब्रह्मदेवाने, तीं जीं दोन शकले त्यांतून वरच्या शकलापासून स्वर्ग लोक, आणि खालच्या शकलापासून पृथ्वी, आणि त्या दोहोंच्या मध्ये आकाश, आठ दिशा, व समुद्र-रूची असे उदकाचे स्थिर स्थान इतकी उत्पन्न केली.

उद्बुबहीमनश्चैव मनः सदसदात्मकं ॥

मनसश्चाप्यहंकारमभिमतारमीश्वरं ॥ १४ ॥

नंतर ब्रह्मदेवाने परमात्म्यापासून संकल्पविकल्परूप मन उत्पन्न केले, आणि मी सर्वे कार्य करण्याविषयीं समर्थ आहे असा अभिमान धारण करणारा अहंकार मनाचे उत्पत्तीचे पूर्वी उत्पन्न केला.

महांतमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ॥

विषयाणां प्रहीतृणि शनैः पंचेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

अहंकाराचे पूर्वी आत्मरूप असे महत्त्व; सत्व, रज आणि तम; व शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यांते ग्रहण करणारी पंच ज्ञानेन्द्रिये आणि पंच कर्मेन्द्रिये आणि शब्दतन्मात्रा-दिक हीं हळू हळू उत्पन्न केलीं.

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्वण्णामप्यमितौजसां ॥

सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

परमात्म्याने अहंकार, आकाशादि पंचतन्मात्रा (शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, आणि गंधतन्मात्र) हे जे सहा अति बलिष्ठ पदार्थ यांचे सूक्ष्म अवयव परस्पर विकारांचे ठायीं मिलवून सर्वभूते लणजे मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष इत्यादिक उत्पन्न केलीं.

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ॥

तस्माच्छरीरमित्याहुः स्तस्यमूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

ज्या हेतूस्तव, परमेश्वराच्या मूर्तीचे संपादक जे सहा सूक्ष्म अवयव (तन्मात्राहंकाररूप) ते, भूते आणि इन्द्रिये यांचा कार्यत्वाने आश्रय करितात, यास्तव ब्रह्माची जी मूर्ति (स्वभाव) तिला विद्वान् लोक शरीर असे ज्ञानतात.

तदा विशन्ति भूतानि महानि सह कर्मभिः ॥

मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतरुद्रव्ययं ॥ १८ ॥

शरीरात्मत्वेकालीं शब्दादिपंचतन्मात्ररूपाने राहिलेल्या ब्रह्माचे ठायीं, पूर्वेक्त आकाशादि महाभूते आपापल्या कर्मासहवर्तमान प्रवेश करितात. आकाशादि महाभूतांची

१ षडवयवण्णामित्येति, अर्थ— सहा तत्वांचा आश्रय करणारे अतएव शरीर असें साटले आहे.

कर्म— आकाशाचें कर्म अवकाश देणें, वायूचें कर्म व्यूहन (विन्यास—स्थापन), तेजाचें कर्म शक करणें, जलाचें कर्म पिंडीभूत (गोळा) करणें, पृथ्वीचें कर्म धारण करणें. आणि सर्व उत्पत्तीस निमित्त, अविनाशि अतें जें मन तें स्वकीय जे सूक्ष्म (बहिरिन्द्रियांस अगोचर) अवयव (शुभाशुभसंकल्प सुखदुःखादिरूप) त्यांसहवर्तमान प्रवेश करितें.

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसां ॥

सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययं ॥ १९ ॥

म्हत्त्व, अहंकार, आणि पंचतन्मात्रा हे जे अतिवलिष्ठ सात पुरुष त्यांचे सूक्ष्म जे शरीर उत्पन्न करणारे भाग त्यांपासून हे सर्व जगत् नश्वर असे उत्पन्न होतें, आणि अनश्वरांपासून जें कार्य उत्पन्न होतें तें प्रलयकालीं आपापल्या कारणामध्ये लीन होतें. याचें मुख्य कारण अव्यय जें ब्रह्म त्याची उपासना करावी एतदर्थ हा अनुवाद केला आहे.

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ॥

यो यो यावत्तिथश्चैवां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

ह्या पंच महातत्वांतून पहिल्या तत्वाचा गुण जो शब्दादिक त्यामध्ये वायु इत्यादिकांचा पुढचा पुढचा गुण मिळतो आणि त्यांमध्ये ज्या तत्वाचा गुण आहे तितक्या गुणांचें तें तत्व असें ह्मटलें आहे. ह्मणजे आकाशाचा शब्द मात्र गुण आहे; वायूचें शब्द, स्पर्श हे दोन; तेजाचें शब्द, स्पर्श, रूप हे तीन गुण; उदकाचें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, हे चार; आणि पृथ्वीचें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हे पांच याप्रमाणें जाणावे.

सर्वेषां तु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ॥

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

नंतर ब्रह्मदेवानें सृष्टीच्या पूर्वीं सर्व पदार्थमात्रांचीं निरनिराळीं नांवें, निरनिराळीं कर्मे आणि निरनिराळ्या लौकिकी व्यवस्था (कुमारानें घट निर्माण करावे, व कोष्ट्यानें पट विणावे इत्यादि नियम) हीं सर्व पूर्वीं जसी वेदांत सांगितलीं त्याप्रमाणें तीं सर्व ध्यानांत आणून निर्माण केलीं. नामाचें उदाहरण— गोजातीचें नाम गाय, अश्वजातीचें नाम अश्व इत्यादि. कर्माचें उदाहरण— ब्राह्मणाचें कर्म वेदाध्ययन करणें. क्षत्रियाचें कर्म प्रजांचें रक्षण करणें इत्यादि.

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ॥

साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनं ॥ २२ ॥

यानंतर ब्रह्मदेवानें कर्मात्मक देव (प्राणरहित देव), इंद्रादिक देव, पाषाणरूपी देव, साध्यदेव आणि मिय असे ज्योतिष्टोमादिक यज्ञ हे सर्व उत्पन्न केले.

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मा सनातनं ॥

दुंदोह यज्ञसिद्धयर्थं यग्यतुः सामलक्षणं ॥ २३ ॥

१ रक्तामांसादिकांचें यथास्थित स्थापन. २ या अध्यायाचे सोळाव्या श्लोकांत सांगितलेले पांच. ३ या स्थळां 'दुह' वात आकर्षणवाची आहे.

नंतर ब्रह्मदेवाने यज्ञाची सिद्धि व्हावी एतदर्थ अग्नि, वायु आणि रवि यांपासून कर्मेकरून ऋग्वेद, यजुर्वेद, आणि सामवेद हे तीन वेद आकर्षण (उत्पन्न) केले.

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ॥

सरितः सागरान् बौलान् समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

यानंतर काल; कालविभाग (झणजे वर्ष, मास, पक्ष, ऋतु, अयने, दिवस इत्यादि); कृत्तिकादि नक्षत्रे; सूर्यादि ग्रह; नदी; समुद्र; पर्वत; आणि सम विषम स्थाने हीं सर्व उत्पन्न केलीं.

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ॥

सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

पुढे सांगावयाच्या अशा देवादिक प्रजा उत्पन्न करण्याची इच्छा करीत होत्या त्या ब्रह्मदेवाने तप (प्रजापत्यादिक), वाणी, रति (चित्ताचा संतोष), काम (इच्छा), आणि क्रोध (चेतोविकार) हे उत्पन्न केले.

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवचंपत् ॥

द्वंद्वैर्योजयन्नेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

सत्कर्म करावे व निराकर्म केलं नये, याप्रकारचा विभाग लोकांस होण्याकरिता धर्म (यज्ञादि) आणि अधर्म (ब्रह्महत्यादि) हे उत्पन्न केले, आणि परस्पर विरुद्ध (धर्माचे फळ सुख, अधर्माचे फळ दुःख) अशीं जी धर्माधर्माचीं सुखदुःखादि फळे तीं सर्व प्रजांचे ठायीं योजिता झाला.

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ॥

ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

पंचमहाभूतांचे नाशवत् जे पंचतन्मात्रारूप सूक्ष्म भाग सांगितले यांहीं करून हे (पूर्वी सांगितलेले व पुढे सांगावयाचे) सर्व जगत् कर्मेकरून (सूक्ष्मापासून मोठे व मोठ्यापासून अति मोठे असे) उत्पन्न होते. (कदाचित् तत्वावांचून मानससृष्टि उत्पन्न होते अशी आशंका दूर करण्याकरिता, व तत्वेद्वाराच सृष्टि होते हे सूचित होण्याकरितां पूर्वेकाचा एथे पुनः अनुवाद केला.)

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुक्तं प्रथमं प्रभुः ॥

स तदेव स्वयं भेजे सृजयमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

पूर्वी ब्रह्मदेवाने ज्या प्राण्यास (व्याघ्रादिकांस) जे कर्म (हरिणास मारणे इत्यादिक) नेमून दिले तेच कर्म तो प्राणी पुनः पुनः उत्पन्न होतेवेळेस आपोआप करिता झाला.

हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावितानृते ॥

यस्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशेत् ॥ २९ ॥

हिंसकर्म, अहिंसकर्म, सौम्यपणा, क्रूरपणा, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, हीं कर्मे उत्पन्न केलीं व यातून पूर्वी सृष्टिकालीं ज्या जातीला जसे कर्म ब्रह्मदेवाने उत्पन्न केलें होते त्या त्या जातीस तसे तसे कर्म दुसऱ्या जन्मी प्राप्तव्यवशाने स्वयमेव प्राप्त होतें.

१ हिंसकर्म लिहाने, हनीस मारणे इत्यादिक. २ अहिंसकर्म, हरिणादिकांचे. ३ मृदु झणजे दयापिपात ब्रह्मणादिकांचे. ४ क्रूर, सज्जियादिकांचे. ५ धर्म, जसा ब्रह्मचारी इत्यादिकांस पुरस्तेवादिक. ६ अधर्म, ब्रह्मचात्यास सासमेयुनसैवनादिक. ७ सत्य, देवाने. ८ असत्य, मनुष्याने.

यथर्तुर्लिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यगे ॥

स्वानि स्वान्यभिपद्यंते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

वसंतादिक ऋतु जसे आपापल्या कार्यसमयीं आपापलीं चिन्हें (आंब्यास मोहूर येणें, उष्मा होणें, वृक्षांस पल्लव फुटणें इत्यादि) धारण करितात, तद्वत् प्राणी हिंसादिक कर्म धारण करितात.

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखगह्वरपादतः ॥

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत् ॥ ३१ ॥

गृथीवर लोकांची वृद्धि होण्यासाठीं ब्रह्मदेवानें आपल्या मुख, बाहु, ऊरू आणि पाय यांपासून क्रमानें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र असे चार वर्ण उत्पन्न केले.

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्थेन पुरुषोऽभवत् ॥

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

नंतर ब्रह्मदेवानें आपल्या देहाचे दोन भाग केले, त्यांतून अर्ध्या भागाचा पुरुष झाला, आणि अर्ध्या भागाची स्त्री झाली, नंतर त्या स्त्रियेचे ठायीं मैथुनधर्मेकरून विराट्संज्ञक पुरुष उत्पन्न केला.

तस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ॥

तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसन्तमाः ॥ ३३ ॥

नंतर त्या विराट् पुरुषानें स्वतां तपश्चर्या करून ज्या पुरुषाला उत्पन्न केला तो मी (मनु) ह्या सर्व जगताचा उत्पन्नकर्ता आहे असें, अहो ब्रह्मर्षि, मजप्रत तुम्ही जाणा.

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्वत्त्वा सुदुश्चरं ॥

पत्नीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

प्रजा उत्पन्न करण्यानिघयीं मला इच्छा झाल्यामुळे तीत्र तपश्चर्या करून प्रथमतः महर्षि असे दहा प्रजापति मी उत्पन्न केले.

मरीचिमर्ष्यगिरिसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुं ॥

प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

त्यांचीं नामें—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु, आणि नारद हे दहा.

एते मनुस्तु सप्तान्मानसृजन् भूरितेजसः ॥

देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

नंतर मुहातेजस्वी अशा ह्या मरीच्यादि दहा ऋषींनीं सात महापराक्रमी मनु, देव, देवांचीं स्थाने स्वर्गादिक आणि मोठे प्रतापी महर्षि यांला उत्पन्न केले.

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गंधर्वांसरसोऽसुरान् ॥

नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

नंतर त्या मरीच्यादिकानीं आणखी र्यक्ष, राक्षस, पिशाच, गर्ध्व, अर्षरा, अर्षुर, नार्म, सैर्प, पक्षी, आणि पितरांचे निरनिराळे गण हे उत्पन्न केले.

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ॥

उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींषुच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

नंतर विद्युत्, अशनि, मेघ, रोहित (इंद्राचे दंडाकार विचित्रवर्ण धनुष्य), इन्द्रधनुष्य, उल्का (आकाशातून रेखाकार पडणारा तारा), निर्घात^१, शेडेनक्षत्र, आणि ध्रुव, अगस्त्यादिक नाना प्रकारचे तारे उत्पन्न केले.

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विधांश्च विहंगमान् ॥

पशून् मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतो दत्तः ॥ ३९ ॥

नंतर किन्नर (अश्वमुख देवयोनिविशेष), वानर, मत्स्य (रोहितादिक), नानाविध पक्षी, पशु (गार्ई इत्यादिक), मृग, आणि दोन दंतपंक्तीनीं युक्त असे व्यालादिक (सिंहादिक) हे सर्व उत्पन्न केले.

रुमिक्रीटपतंगांश्च युकामक्षिकमत्कुणं ॥

सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधं ॥ ४० ॥

नंतर रुमि, क्रीट, पतंग (शलभ), यूका, मक्षिका, टेंकूण, मोठी डांस, मोठ्या माशा आणि नानाप्रकारचे वृक्षादि स्थावर पदार्थ उत्पन्न केले.

एवमेतैरिदं सर्वं मन्त्रियोगान्महात्मभिः ॥

यथा कर्मतपोयोगात्सृष्टं स्थावरजंगमं ॥ ४१ ॥

याप्रमाणे हे महात्मे मरीच्यादिक ऋषि यांनी आपल्या तपश्चर्येच्या सामर्थ्याने व माझ्या आज्ञेकरून जीवाच्या कर्मानुसार देव, मनुष्य, तिर्यगादिक असी स्थावरजंगम सृष्टि उत्पन्न केली.

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितं ॥

तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

प्राचीन आचार्यांनी ज्या प्राण्यांचे जसे कर्म ह्या संसाराचे ठायी सांगितले आहे तसे त्या प्राण्यांचे कर्म व जन्ममरणाचा क्रमयोग हे सर्व तुम्हाला सांगेन.

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतो दत्तः ॥

रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

पशु, मृग, दोन दंतपंक्तीनीं युक्त असे व्यालादिक (सिंहादिक), राक्षस, पिशाच आणि मनुष्य हे जरायु ह्मणजे गर्भाचे जे आवरणचर्म त्यांत प्रथम होऊन नंतर त्यांतून उत्पन्न होतात अतएव ते जरायुज होत.

१ कुबेरादिक. २ रावणादिक. ३ विवरणादिक. ४ उर्वखादिक. ५ विरोचनादिक. ६ वासुकि इत्यादिक. ७ अलमर्षादिक. ८ गरुडादिक. ९ आज्यपादिक. १० मेघावेठावीं दोषे आकाराचे दित्तगारे ज्योति. ११ मेघापासूनून उत्पन्न होऊन वृक्षादिकांचा नाश करणारे देव. १२ भूमि अथवा आकाश यांत होणारा उत्पातध्वनि.

अंडजाः पक्षिणः सर्पा नक्ता मत्स्याश्च कच्छपाः ॥

यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥

प्रक्षी, सर्प, मगर, मत्स्य आणि कांसव हे प्रथम अंडाचे ठायीं उत्पन्न होतात ह्मणून हे अंडज होत, स्थलाचे ठायीं होणारे सरठादिक व उदकाचे ठायीं होणारे शंखादिक ते क्रमानें स्थलज व औदक जाणावे.

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणं ॥

उष्मणश्चोपजायंते यच्चान्यत्किंचिदीदृशं ॥ ४५ ॥

डांस, माशा, यूका, मक्षिका, टेंकूण हे घर्मापासून उत्पन्न होतात अतएव ते स्वेदज होत, आणि दुसरे असे जे प्राणी उष्मापासून होतात ते उष्मज होत.

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकांडप्ररोहिणः ॥

ओषध्यः फलपाकांता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

बीज व भूमि यांचा भेद करून जे उत्पन्न होतात वृक्ष ते उद्भिज्ज होत, ते दोन प्रकारचे आहेत, कितीएक बीजापासून होणारे व कितीएक त्या त्या शाखा भूमीत लावल्याने होणारे. जे कितीएक (ब्रीहि यव इत्यादि) वृक्ष पुष्कळ फलपुष्पांनी युक्त होऊन फलें पक्क झाल्यानेच आपण नष्ट होतात ते ओषधी होत.

अपुष्पाः फलवंतो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ॥

पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

वनस्पतिरूप जे वृक्ष ते पुष्पावांचून फलरूप होतात आणि इतरांस प्रथम पुष्पें येऊन त्यांपासून फलें उत्पन्न होतात. याप्रमाणें वृक्ष दोन प्रकारचे जाणावे.

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ॥

बीजकांडरुहाण्येव प्रतानावल्लय एव च ॥ ४८ ॥

ज्याच्या मूलापासूनच पुष्कळ वल्ली उत्पन्न होतात व कांडीं होत नाहींत ते मल्लिकादिक गुच्छ आणि मूलापासून ज्यांचा साठा होऊन संघातरूपी उत्पन्न होतात असे शर, ऊस प्रभृति ते गुल्म होत. तृणजाति, प्रतान (तंतुयुक्त भोपळा) इत्यादि कित्येक बीजापासून होतात. कित्येक शाखा लावल्याने होतात, कित्येक भूमीतून होतात. भूमीतून उत्पन्न होऊन वृक्षावर चढतात त्या वल्ली होत, अशा गुळवेल इत्यादिक, हे सर्व बीजकांड-रुह जाणावे.

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ॥

अंतःसंज्ञा भवंत्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

हे जे वृक्ष इत्यादिक, यांसध्यें विचित्र दुःस्वप्न देणारा, अधर्मकर्मास कारण असा तमोगुण राहतो. आणि चैतन्य अंतरंगत्वाने राहतें यास्तव वृक्ष सुखदुःखांनी युक्त आहेत, आणि सत्वगुण राहतो त्या योगानें भेद्योदकेकरून किंचित् सुखहि त्यांस प्राप्त होतें.

१ अभिधानकोशाप्रमाणें या ओकास संज्ञासंज्ञितबंध नाहीं, हांगून असा अर्थ लिहिला आहे. कुळूक मद्यः तसा संबंध मानल्यास 'पुष्पावांचून फलरूप होणारे ते वनस्पति' इत्यादिक अर्थ होतो.

एतदंतास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ॥

घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

भूतांस जन्ममरणरूप फेर देणारा, सतत विनश्वर अशा ह्या भयंकर संसारप्रबंधाचेठायीं ब्रह्मदेवापासून तो स्थावरपर्यंत शास्त्रांत सांगितल्याप्रमाणें सृष्टीच्या उत्पत्ति सांगितल्या.

एवं सर्वं स सृष्टेर्दं मां चाचित्यपराक्रमः ॥

आत्मन्यंतर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

याप्रमाणें उत्पत्ति सांगून यापुढें प्रलयदशा सांगतो—अचित्यशक्ति अशा ब्रह्म-देवानें पूर्वीक प्रकारें करून स्थावरजंगम सर्व जगताला व मला उत्पन्न करून पुनः प्रलय-कालानें सृष्टिकालाचा नाश करित होत्ताता आपण स्वतां आपले ठिकाणीं शरीर-त्वागरूप अंतर्धान पावला.

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ॥

यदा स्वपिति शांतात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

ज्या काळीं तो ब्रह्मदेव जागीं होतो ह्मणजे सृष्टि, स्थिति व्हाव्या असें इच्छितो त्या काळीं हें जगत् श्वास, प्रश्वास, आहारादिक कर्म करिते, आणि ज्याकाळीं शांतात्मा (उप-संहाराची इच्छा करणारा) होत्ताता निद्रा करितो ह्मणजे निरिच्छ होतो त्याकाळीं ह्या सर्व जगताचा प्रलय होतो.

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ॥

स्वकर्मभ्यो निर्वर्तते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

ज्याकाळीं ब्रह्मदेव देहमनोव्यापारांचा उपसंहार करून निद्रेची इच्छा करितो त्याका-ळीं, कर्मापासून ज्याला देह प्राप्त झालेले असे ते प्राणी आपल्या कर्मापासून (देहधार-णादिकापासून) निवृत्त होतात, आणि मन, संकल्पविकल्पांपासून निवृत्त होतें ह्मणजे स्वप्न राहतें.

युगपत्तु प्रलीयंते यदा तस्मिन्महात्मनि ॥

तदाऽयं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

आतां महाप्रलय सांगतो—ज्या काळीं एकाच काळीं ह्या परमात्म्याचेठायीं सर्व भूतें लय पावतात त्याकाळीं सर्व भूतांचा हा आत्मा जागृत्वप्रव्यापार ठाकून सुखेंकरून निद्रा करितो ह्मणजे सुषुप्तासारिखा राहतो.

तयोऽयं तु समाश्रित्य चिरंतिष्ठति सैद्धियः ॥

न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तिः ॥ ५५ ॥

आतां प्रलयाच्या प्रसंगेंकरून जीवाचा मरणप्रकार दोन श्लोकांनीं सांगतो—ज्याकाळीं प्राण्याचा जीव, ज्ञानेन्द्रिये आणि कर्मेन्द्रिये यांसह वर्तमान बहुकालपर्यंत तम ह्मणजे अज्ञानांत निमग्न होऊन आपलें स्वाभाविक जें श्वास, प्रश्वास इत्यादिक कर्म तो करित नाही त्याकाळीं जीव पूर्ण शरीरांतून निघून अन्य शरीरीं प्रवेश करितो.

यदाणुमान्निको भूत्वा बीजं स्थासु चरिष्णु च ॥

समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुंचति ॥ ५६ ॥

कोणत्या काली जीव अन्य देह धारण करितो तें सांगतो— ज्याकाली हा जीव अणुरूप क्षणजे भूतें, इंद्रियें, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु आणि अज्ञान ह्या आठ पुरींनी युक्त होऊन वृक्षादिहेतुभूत स्थावर व जंगम बीजांत प्रवेश करितो ज्याकाली पूर्वोक्त आठ पुरींनी युक्त होस्ताता कर्मानुरूप वृक्षादि शरीर आणि मनुष्यादि शरीर धारण करितो

एवं स जाग्रत्स्वप्राभ्यामिदं सर्वं चराचरं ॥

संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

या रीतीनें हा अविनाशी ब्रह्मा आपल्या जाग्रदवस्थेनें व निद्रावस्थेनें हें सर्व स्थावर जंगमरूप जगत् वारंवार उत्पन्न करितो आणि नष्ट करितो.

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ॥

विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

ब्रह्मदेवानें हें शास्त्र करून सृष्टीच्या पूर्वी प्रथमतः यथाविधि मलाच शिकविलें, नंतर तें मी मरीच्यादिक ऋषींला शिकविलें.

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ॥

एतद्विऽमत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥

आतां हें संपूर्ण शास्त्र माझा पुत्र भृगुमुनि तुझाला कथन करील, कारण कीं, हा भृगुमुनि हें सर्व शास्त्र माझ्यापासून शिकला आहे.

ततस्तथा सतेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ॥

तान्नवीदृषी सर्वोन्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

यानंतर ज्याकाली हें शास्त्र शिकविण्याविषयीं मनूनें भृगूला आवा केली ज्याकाली भृगु प्रसन्न होऊन ऋषींस श्रवण करा, असें बोलता झाला.

स्वायंभुवस्यास्य मुनेः पद्वंश्या मनवोऽपरे ॥

सृष्टवंतः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ ६१ ॥

ब्रह्मदेवाचा पुत्र जो मनु याचे वंशामध्ये उत्पन्न झालेले, उदार, महापराकमी असे सहा मनु दुसरे झाले, यांनीं आपापल्या अधिकारकाली उत्तरोत्तर आपापल्या प्रजा उत्पन्न केल्या.

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ॥

चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुतएव च ॥ ६२ ॥

त्या सहा मनुंचीं नांवें— स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, महातेजस्वी चाक्षुष आणि सूर्याचा पुत्र विवस्वत.

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ॥

स्वर्खेऽतरे सर्वमिदं मुत्पाद्यापुश्चराचरं ॥ ६३ ॥

महातेजस्वी असे स्वायंभुवादिक जे हे सात मनु यांनी आपापल्या मन्वंतराचेठायी ह्मणजे आपापल्या अधिकारकारी हे स्थावरजंगमरूप सर्व जगत् उत्पन्न करून याचे पालन केले.

निमेषा दश चाष्टौच काष्ठा त्रिंशन्तु ताः कलाः ॥

त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अठरा निमेषांची एक काष्ठा, तीस काष्ठांची एक कळा, तीस कळांचा एक मुहूर्त (दोन घटिका), आणि तीस मुहूर्तांचे एक अहोरात्र जाणावे.

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ॥

रात्रिः स्वप्राय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

मनुष्य आणि देव यांच्या रात्रिदिवसांचा विभाग सूर्य करितो, सर्व प्राण्यांस निद्रेसही रात्र नेमली, आणि नानाप्रकारचे व्यापार करण्याकरितां दिवस नेमिला.

विज्ञे रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ॥

कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्राय शर्वरी ॥ ६६ ॥

मनुष्यांचा एक मास ह्मणजे पितरांचे अहोरात्र होतें, महिन्याचे जे दोन पक्ष त्यांमध्ये कृष्णपक्ष हा पितरांचा काम करण्याचा दिवस, आणि शुक्लपक्ष हा निद्रेकरितां त्यांची रात्रि आहे.

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ॥

अहस्तत्रोदगमनं रात्रिः स्याद्वक्षिणायनं ॥ ६७ ॥

मनुष्यांचे एक वर्ष ते देवांचे रात्रिदिवस होतात, आणि मनुष्यांचे उत्तरायण ते देवांचा दिवस, व दक्षिणायन ती देवांची रात्रि. दैवार्मांचे अनुष्ठान बहुधा उत्तरायणांत करावे.

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ॥

एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

आतां ब्रह्मदेवाचे रात्रिदिवसांचे आणि प्रत्येक युगाचे जे प्रमाण ते संक्षेपाने क्रमेकरून सांगतो, श्रवण करा.

चत्वार्यहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगं ॥

तस्य तावच्छती संख्या संख्याश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥

मन्वादिक असे ह्मणतात की, चार हजार वर्षे कृतयुग, चारशे वर्षे त्राची संध्या, चारशे वर्षे त्याचा संध्याश. (युगाचे आरंभापूर्वी संध्या व युगाचे समाप्तीनंतर संध्याश असे

१ नेत्राचे पात्यांचा स्नायाधिक जो उन्नेष तत्सहकारी काळ तो निमेष जाणावा. २ मकरसंक्रांतीपासून मिथुन संक्रांतीपर्यंत ते उत्तरायण. ३ कर्कसंक्रांतीपासून वस्तुसंक्रांतीपर्यंत ते दक्षिणायन.

असतात.) या ठिकाणी सांगितलेली जी वर्षांची संख्या ती दिव्यवर्षांची संख्या समजावी; कारण, मागून सर्व तिचाच उपक्रम आहे. आणि कृत, त्रेता, द्वापर व कलि हीं चार युगे बारा हजार दिव्यवर्षांनीं होतात.

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु ॥

एकापायेन वर्तते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

इतर जीं त्रेता, द्वापर, कलि हीं युगे, त्यांचीं सहस्रें आणि त्यांच्या संध्या व संध्यांश यांचीं शतें हीं या या युगाच्या पूर्वीच्या युगाच्या सहस्रकांत व शतकांत एकेक बजा दिल्यानें समजतात.— क्षणजे तीन हजार वर्षे त्रेतायुग, तीनशें वर्षे त्याची संध्या, व तीनशें वर्षे त्याचा संध्यांश, दोन हजार वर्षे द्वापरयुग, दोनशें वर्षे त्याची संध्या, आणि दोनशें वर्षे त्याचा संध्यांश; असेंच एक हजार वर्षे कलियुग, एकशें वर्षे त्याची संध्या आणि एकशें वर्षे त्याचा संध्यांश.

यदेतत्परिसंख्यात मादावेव चतुर्युगं ॥

एतद्ब्रह्मदश साहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

या चार युगांचें जें पूर्वी परिमाण सांगितलें त्याच्या बारा हजार वर्षांनीं देवांचें युग होतें.

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ॥

ब्राह्ममेकमहर्षेयं तावतीं रात्रिमेवच ॥ ७२ ॥

देवांचीं सहस्रयुगे क्षणजे ब्रह्मदेवाचा एक दिवस होतो, आणि तितक्या (देवांचीं सहस्रयुगरूप) कालानें ब्रह्मदेवाची रात्रिहि जाणावी.

तद्वै युगसहस्रांतं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ॥

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥

देवांच्या हजार युगांच्या समाप्तीपर्यंत ब्रह्मदेवाचा एक दिवस असतो आणि त्या कालामध्ये बहुत पुण्यकर्में होतात, व त्याच्या रात्रीचा काळहि दिवसाइतकाच असतो. याप्रमाणें कालविभाग जे लोक जाणतात तेच मात्र रात्रिदिवसाचा विभाग खरोखर जाणणारे होत.

तस्य सोहर्निशस्यांते प्रसुप्तः प्रतिबुद्धयते ॥

प्रतिबुद्धश्च सृजति सतः सदसदात्मकं ॥ ७४ ॥

पूर्वी (वर) सांगितल्याप्रमाणें स्वकीय अहोरात्राची समाप्ति झाल्यानंतर ब्रह्मदेव जागा होतो. नंतर जागृत होत्साता आपलें सदसद्रूपी मन उत्पन्न करितो.

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ॥

आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

पेरमात्म्यास सृष्टि उत्पन्न करण्याची इच्छा झाली असता ती इच्छा मनाला (अहंतत्वाला) पेरणा करिले, नंतर मन सृष्टि उत्पन्न करितें. मनापासून प्रथम आकाश उत्पन्न होतें, आकाशाचा गुण शब्द असे मन्नादिक जणतात.

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगंधवहः शुचिः ॥
बलवान् जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

विकार उत्पन्न करणाच्या आकाशापासून सुगंध, दुर्गंध धारण करणारा, पवित्र, बलवान् असा वायु उत्पन्न होतो, व त्याचा गुण मन्वादिकांला मान्य स्पर्श आहे.

वायोरपि विकुर्वाणाद्दिरोचिष्णु तमोनुदं ॥
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

विकार उत्पन्न करणाच्या वायूपासून सर्व वस्तूला प्रकाश करणारे, अंधकाराचा नाश करणारे, आणि प्रकाशक असे तेज उत्पन्न होते, त्याचा गुण रूप आहे.

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ॥
अद्भ्यो गंधगुणा भूमिरित्वेषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

विकार उत्पन्न करणाच्या तेजापासून जल उत्पन्न होते, त्याचा गुण रस. आणि जलापासून पृथ्वी उत्पन्न होते, तिचा गुण गंध. महाप्रलयाच्या अंती लणजे सृष्टीच्या आरंभी प्रथमतः उत्पत्तीचा अनुक्रम या रीतीप्रमाणे आहे.

यत्प्राग्दशसहस्रमुदितं दैविकं युगं ॥
तदेकसप्ततिगुणं मन्वंतरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

पूर्वी जे बारा हजार वर्षांचे देवांचे एक युग सांगितले ते एकाहत्तरांनीं गुणित झाले लणजे मन्वंतर होतें, लणजे एका मनूचे राज्य अथवा अधिकार तेथपर्यंत राहतो.

मन्वंतराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ॥
त्रीडम्बिवैतत्कुरुते परमेशी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

मन्वंतरांचे संख्येचा पार नाही. तसेच नगवाची उत्पत्ति आणि संहार हेहि अगणित आहेत. ब्रह्मदेव क्रीडा करित होत्साता प्रयत्नावांचून हे सर्व वारंवार करितो.

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ॥
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रतिवर्तते ॥ ८१ ॥

सत्ययुगाचे ठायीं धर्म चतुष्पाद लणजे सर्वांगसंपूर्ण राहतो, आणि अधर्मकरून कोणत्याहि मनुष्याला धन विला इत्यादिकांची प्राप्ति होत नाही.

इतरेष्वगमाद्धर्मः पादशस्त्वरोपितः ॥
चौरिकानृतपायाभिर्धर्म्यश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

त्रैता, द्वापर, आणि कलि ह्या तीन युगांचे ठायीं अधर्माने धनविवादिकांचे संपादन करण्याने प्रतियुगीं क्रमाने यागादि धर्म एकेकापाय हीन केलेला असा जो धर्म चालतो तो चौर्य, असत्य आणि कपट यांहीकरून कर्मेकरून प्रतियुगीं एकेक पायाने हीन होतो. लणजे त्रैतायुगीं त्रिपाद धर्म, द्वापरयुगीं द्विपाद धर्म आणि कलौत एकपाद धर्म राहतो.

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्विंशतायुषः ॥
कृते त्रैतादिषु होषामायुर्हसति पादशः ॥ ८३ ॥

कृतयुगाचे ठायीं अधर्म नसल्याकारणाने सर्व मनुष्य अरोगी, मनांतील सर्व संकल्प-
सिद्धि पूर्ण पावणारे, आणि चारशे वर्षे वांचणारे असे असतात. त्रेतादिक तीन युगांचे
ठावीं क्रमाने, मनुष्यांचे आयुष्य एकचतुर्थांश हीन होतें. ह्यणजे त्रेतायुगीं तीनशे वर्षे
आयुष्य, द्वापरयुगीं दोनशे वर्षे आणि कलीमध्ये शंभरवर्षे आयुष्य.

वेदोक्तमायुर्मैत्र्यानामाशिषश्चैव कर्मणां ॥

फलं त्वनुषुंगं लोके प्रभावश्च शरीरिणां ॥ ८४ ॥

वेदांत सांगितलेले (शतवर्षपरिमित) मनुष्यांचे आयुष्य, काम्य कर्मांचे फळ, आणि
देहधारी ब्राह्मणादिकांची शाप व अनुग्रह करण्याविषयी शक्ति हीं सर्व फळे जसें युग
असेल तदनुरूप होतात.

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ॥

अन्ये कलियुगे नृणां युगन्हासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

कृतयुगाचेठावीं मनुष्यांचे धर्म निराळे, त्रेतायुगाचेठावीं त्याहून निराळे, व द्वापर
युगाचेठावीं निराळे आणि कलियुगाचेठावीं निराळे, याप्रमाणे युगानुरूप धर्मांचे बळ
हीन होतें.

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ॥

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

तप, ज्ञान, यज्ञ आणि दान हीं जरी सर्व युगांचेठावीं करण्यास योग्य आहेत तथापि
सत्ययुगाचेठावीं तप प्रधान, त्रेतायुगाचेठावीं आत्मज्ञान प्रधान, द्वापरयुगीं यज्ञ प्रधान,
आणि कलियुगीं दान प्रधान असे मन्वादिक सांगतात.

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाबुद्धिः ॥

मुखबाहू रथज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

महातेजस्वी अशा ब्रह्मदेवाने या सर्व सृष्टीच्या संरक्षणाकरितां मुख, बाहु, ऊरु,
आणि पाद यांपासून अनुक्रमाने जे चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र) उ-
त्पन्न केले त्यांचीं निरनिराळीं कर्मे दृष्टादृष्टार्थ निर्माण केलीं.

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ॥

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानायकल्पयत् ॥ ८८ ॥

अध्यापन (वेद पठविणे), अध्ययन (स्वतां वेद पढणे), यज्ञकरणे व करविणे, दान
देणे व घेणे असीं हीं सहा कर्मे ब्राह्मणांसाठीं स्थापन केली आहेत.

प्रसानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ॥

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥

प्रसादें संरक्षण करणे, दान देणे, यज्ञ करणे, अध्ययन करणे, आणि गीत, नृत्य,
खीसभोग इत्यादि विषयांचे ठायीं चारवार आसक्ति नसणे हीं कर्मे क्षत्रियांसाठीं स्थापन केलीं.

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ॥

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

पशूनां रक्षणं करणें, दान करणें, यज्ञ करणें, अध्ययन करणें, स्थलमार्गानें व जळ्या-
गानें व्यापार करणें, व्याजानें इत्य मिळवणें आणि कृषि (शेतकी) करणें हीं वैश्याचीं
कर्में होत.

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ॥

स्तेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

ब्रह्मदेवानें शूद्रासाठीं एकच कर्म उत्पन्न केलें. तें हें कीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य
ह्या तीन वर्णांची सेवा, गुणांची निंदा न करतां करावी.

उर्ध्वं नाभ्येभ्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ॥

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

पुरुष (ब्राह्मण) सर्वच अवयवांचेठावीं पवित्र आहे, परंतु नाभीच्या वरचा भाग
तर अतिशयैकलून पवित्र, आणि याचें मुख तर पवित्रांमध्ये पवित्र होय असें ब्रह्मदेवानें
सांगितलें.

उत्तमांगोद्भवाज्यैष्ठ्याद्ब्राह्मणश्चैव धारणात् ॥

सर्वसौवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण, उत्तम अंग जें मुस यापासून उत्पन्न झालेल्या आहे, व सर्वांच्या (क्षत्रियादि-
कांच्या) पूर्वीं याची उत्पत्ति आहे, आणि अव्यापनानें व व्याख्यानादिकानें युक्त असल्या-
मुळे अतिशयैकलून वेद धारण करीत आहे, यास्तव ह्या सर्व जगताला धर्मानुशासनकर्ता
असल्याकारणानें ब्राह्मण श्रेष्ठ होय.

तहि स्वयंभुः स्वादास्यान्तपस्वप्नवादिताऽसृजत् ॥

हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

ब्रह्मदेवानें आपल्या मुसापासून प्रथमतः ब्राह्मण उत्पन्न केला. तो अशासाठीं कीं,
जानें देवकर्म व पितृकर्म करून देवपितरांचा संतोष करावा आणि तपश्चर्या करून ह्या सर्व
जगताचे संरक्षण करावें.

यस्यास्येन सदाश्रंति हव्यानि त्रिदिवौकसः ॥

कव्यानि चैव पितरः किंभूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

ह्या ब्राह्मणाच्या मुखेकलून सर्व काळ देवता हव्ये, भक्षण करितात आणि पितर
कव्ये भक्षण करितात असा जो ब्राह्मण साहून अधिक श्रेष्ठ प्राणी कोण आहे ?

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिबीजिनः ॥

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

१. देवांच्या उद्देशानें जें अन्नादिक ते हव्य. २. पितरांच्या उद्देशानें जें अन्नादिक ते कव्या.

स्यावर व जंगम यांमध्ये प्राणी (कीटकादिक) श्रेष्ठ होत, प्राण्यांमध्ये बुद्धिजीवी ज्ञानजे बुद्धिमान् (पश्यादिक) श्रेष्ठ, बुद्धिमान् प्राण्यांमध्ये मनुष्यजाति श्रेष्ठ, आणि मनुष्यांमध्ये मोक्षाधिकाराला योग्य व सर्वांस पूज्य आहेत यास्तव ब्राह्मण श्रेष्ठ होत.

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ॥

कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

ब्राह्मणामध्ये विद्वान् श्रेष्ठ, आणि विद्वानांमध्ये कृतबुद्धि (शास्त्रोक्त अनुष्ठान करण्याविषयी बुद्धिधारणारे) श्रेष्ठ होत, कृतबुद्धीहून शास्त्रोक्त कर्म करणारे श्रेष्ठ, आणि शास्त्रोक्तकर्म करणाराहून मोक्षलाभास्तव ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होत.

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ॥

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणाचें केवळ जन्म हीच कोणीएक धर्माची अखंड मूर्ति आहे; कारण, ब्राह्मण धर्मासाठीं झाला आहे अतएव धर्मापासून प्राप्त झालेल्या आत्मज्ञानानें तो मोक्षाप्रत प्राप्त होतो.

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिष्णयते ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

ब्राह्मण, जन्म पावतो त्या दिवसापासूनच तो पृथ्वीवर श्रेष्ठ होतो. आणि सर्व प्राण्यांच्या धर्मरूपी भांडाराचें रक्षण करण्यासाठीं प्रभु तोच आहे.

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतं ॥

श्रेष्ठेनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

जें काहीं पृथ्वीवरील धन, तें सर्व ब्राह्मणाचेंच स्वतांचें होय. कां कीं, हा ब्रह्मदेवाच्या मुखापासून प्रथम उत्पन्न झाला व सर्वाहून श्रेष्ठ असल्यामुळे सर्व धनाचा स्वामी होण्यास ब्राह्मणच योग्य आहे.

स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ॥

आनुशस्याद्ब्राह्मणस्य भुंजते हीनरे जनाः ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण जें दुसऱ्याचें अन्न भक्षण करितो, दुसऱ्याचें वस्त्र परिधान करितो, आणि दुसऱ्याचें घेऊन इतराला देतो तें सर्व ब्राह्मणाचें धन. ज्ञानजे आपलेंच अन्न भक्षण करितो, आपलेंच परिधान करितो आणि आपलेंच देतो, तस्मात् ब्राह्मणाच्या दयेंकरून इतर लोक उपजीविका करितात.

तस्य कर्मविवेकार्थं दोषाणामनुपूर्वशः ॥

स्वार्थंभुषो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमेकमवयत् ॥ १०२ ॥

ब्राह्मणाची, व क्षत्रियादिक इतर वर्णांचीं कर्म कमानें कसकशी आहेत तीं समजण्याकरितां ब्रह्मदेवाचा पुत्र, महानुद्धिमान् (सर्व विषय जाणणारा) जो मनु याने हें शास्त्र रचिलें.

१ स्वबुद्धीनें आपली उपजीविका करणारे. २ हा शोक आणि याच्या परवा शोक यांत जें ब्राह्मणाचें महत्त्व प्रदर्शित केलें तें स्तुत्यार्थ आहे असें पुढील मंड सांगतो.

विदुषा ब्राह्मणेनेदमभ्येतव्यं प्रयत्नतः ॥

शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यक् नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥

विद्वान् ब्राह्मणाने मोठ्या प्रयत्नेकरून व्याख्यान व अध्यापन यांविषयी योग्य असे या शास्त्राचे अध्ययन करावे, उत्तम प्रकारेकरून शिष्याला पठवावे, इतर (क्षत्रियादिक) कोणत्याहि जातीने पठवू नये, क्षत्रिय व वैश्य यांनी व्याख्यान व अध्ययन एतद्विरहित अध्ययन मात्र करावे.

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥

मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

जो ब्राह्मण या शास्त्राचे अध्ययन करून खातील अर्थ जाणून तदनुरूप व्रतानुष्ठान करितो तो मन, वाणी, आणि देह एतज्जनित पातकांनी लिप्त होत नाही.

पुनरिति पंक्तिं वंश्याश्च सप्त सप्त परावरान् ॥

पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥

या शास्त्राचे अध्ययन करणारा पंक्ति (जनसमूह) आणि वंशज (सात मागचे पित्रादिक व सात पुढचे पुत्रादिक असे) यांचा पवित्र करितो, आणि सकल धर्मज्ञापणाने पात्रत्वे करून सर्व पृथ्वीहि घेण्याविषयी तो योग्य होतो.

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनं ॥

इदं यशस्यमायुष्यामिदं निःश्रेयसं परं ॥ १०६ ॥

या शास्त्राचे अध्ययन कल्याणकारक, श्रेष्ठ, बुद्धिवर्धन, कीर्तिकारक, आयुष्याची वृद्धि करणारे आणि मोक्ष देणारे असे आहे.

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनेत्तो गुणदोषौ च कर्मणां ॥

चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

या शास्त्राचेद्वारी सर्व वर्णांचे सर्व धर्म, यांच्या विहित निषिद्ध कर्मांचे गुणदोष, आणि चारही वर्णांचा शाश्वत (परंपरागत) आचार हे सर्व सांगितले आहेत.

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्तैव च ॥

तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्मादात्मवान् द्वितः ॥ १०८ ॥

वेदामध्ये व स्मृतीमध्ये सांगितलेला आचार हाच उत्तम धर्म आहे, यास्तव आपले हित न्हावे अशी इच्छा ज्या द्विजाला असेल त्याने आचाररूप धर्म पाळण्याविषयी सर्वदा यत्नवान् असावे.

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ॥

आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलमाप्नुवेत् ॥ १०९ ॥

आचारभट्ट ब्राह्मणाला वेदाचे फळ प्राप्त होत नाही, आचाराने जो संयुक्त असेल त्याला वेदाचे संपूर्ण फळ प्राप्त होतें.

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो मतिं ॥

सर्वस्य वयसो धूलमाचारं जगृहुः परं ॥ ११० ॥

पूर्वोक्त प्रकाराने आचारापासून धर्माची प्राप्ति होते असे ऋषींनी ज्या काली जाणले तेव्हा सर्व तपश्चर्येचें मूळ आचार आहे असे पाहून त्यांनी आचार धारण केला.

जगतश्च समुत्पत्ति संस्कारविधिमेव च ॥

व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिं ॥ १११ ॥

(आतां शिष्यांला सुखेकरून ग्रंथस्फूर्ति होण्याकरितां ह्या ग्रंथांत जे विषय आहेत त्यांची अनुक्रमणिका संगतो.) जगताची उत्पत्ति, संस्कारविधि (गर्भाधानादिकांचा विधि), ब्रह्मचर्यव्रतांचे आचरण, उपचार, स्नानाचा उत्तम विधि.

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणं ॥

महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥

विवाह, विवाहांचे लक्षण, वैश्वदेवादि पंचमहायज्ञांचा विधि, आणि शाश्वत असा श्राद्धविधि.

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ॥

भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

उपजीविकांचें लक्षण, गृहस्थाश्रमी याचे नियम, भक्ष्याभक्ष्यविचार, मरणादिकाच्याठायीं दशाहादि आशौच, द्रव्यशुद्धि लक्षण जे मांडी इत्यादिक उदकादिकाने पवित्र करण्याची रीति.

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ॥

राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयं ॥ ११४ ॥

स्त्रियांचा धर्मयोग (धर्मोपाय), वानप्रस्थाश्रमधर्म, मोक्ष, संन्यास, राजांचे धर्म, कार्ये लक्षण जे कर्ज देणे घेणे इत्यादि कार्ये यांचा निर्णय.

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ॥

विभागधर्मं सूनं च कंटकानां च शोधनं ॥ ११५ ॥

साक्षी यांला प्रश्न करण्याची रीति, स्त्रीपुरुषांचे धर्म, वारसाचे नियम, जुमाराचा प्रतिबंध (अटकाव) आणि चौर इत्यादि गुन्हेंगारांला दंड.

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभव ॥

आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥

वैश्य व शूद्र यांचे धर्म, संकीर्णजातींची उत्पत्ति, वर्णांच्या विपत्तिकालाचे धर्म, आणि प्रायश्चित्तविधि.

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवं ॥

निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणं ॥ ११७ ॥

जीवांचे संसारगमन लक्षण जे एक शरीर सोडून दुसरे शरीर धारण करणे ते उत्तम, मध्यम आणि अधम असे तीन प्रकारचे; आत्मज्ञान; आणि विहितनिषिद्ध कर्मांचे गुणदोषांची परीक्षा.

१ गुह इत्यादिकांस नमस्कार करणे व त्यांची अशुभता इत्यादि करणे तो उपचार. २ गुहगृहापासून कृतविद्य होऊन माघारें आलेल्याचा एक प्रकारचा तस्कार (समावर्तन) ते ज्ञान होय.

देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्माश्च शाश्वतान् ॥

पाषंडगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

देशधर्म, जातिधर्म, शाश्वत असे कुलधर्म, आणि पाषंडी (वेदवाह्यशास्त्रांचे अवलंबन करून तदनुरूप आचरण करणारे) आणि वणिजादिक या सर्वांचे धर्म मनूनं ह्या शास्त्रांत सांगितले आहेत.

यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ॥

तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पूर्वी मी मनुजवळ हे शास्त्र विचारिले असतां त्याने जसें सर्व मला पदविलें, तसें तुझीहि हे सर्व माझ्यापासून श्रवण करा.

इति श्रीमानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां महाराष्ट्रभाषांतरे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

• अध्याय दुसरा.

ब्रह्मचर्यधर्मनिरूपण.

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ॥

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

अति उत्तम परयात्परूप धर्माचें ज्ञान होण्याकरितां, जगत्कारण ब्रह्माचें प्रतिपादन करून आतां ब्रह्मज्ञानाचा अंगभूत जो संस्कारादिरूप धर्म त्याचें प्रतिपादन करणारा भृगु धर्माचें सामान्य (साधारण) लक्षण प्रथमतः सांगतो—वेद जाणणारे, आणि नित्य रागद्वेषरहित अशा पुरुषांनीं आचरित, आणि हृदयाने श्रेयःसाधनत्वेकरून जाणलेला असा जो धर्म तो सांगतो, श्रवण करा.

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ॥

कामो हि वेदाधिगम्यः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

कामात्मता हाणजे कर्मफलाची निरंतर इच्छा करणे प्रशस्त नाही, आणि कर्मफला-विषयीं निरिच्छयता हाहि ह्या जगतांत दिसत नाही; कारण वेदांचा अभ्यास करणे व वेदोक्त कर्म करणे यांमध्येहि इच्छाविषय आहे.

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ॥

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

अमुक हे कर्म केल्याने हे माझे इष्ट फल साधेल अशा प्रकारची जी बुद्धि तिला संकल्प असें म्हणले आहे, काम हाणजे इच्छा ही संकल्पमूलक आहे, आणि सर्व यज्ञ तेंहि संकल्पापासून उत्पन्न झालेले असे आहेत, व व्रते, यमरूप धर्म हे सर्व संकल्पापासून उत्पन्न झालेले असे आहेत.

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कश्चित् ॥

यद्यद्वि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितं ॥ ४ ॥

निरिच्छ पुरुषास या लोकांत भोजन, गमन इत्यादिक कोणत्याहि क्रिया (कर्म) आहेत असे कदापि पाहण्यांत येत नाही असे असून तो त्या करितो त्यापेक्षां मनुष्य जे जे कर्म (लौकिक, वैदिक) करितो ते ते सर्व इच्छाकार्य होय, झणजे फलाच्या इच्छेने कर्म करितो.

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकतां ॥

यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्रुते ॥ ५ ॥

याकरितां शास्त्रांत सांगितलेलीं कर्मे फलेच्छेवांचून तत्परतेनें करणारा अमरलोक झणजे अमरधर्मक जो ब्रह्मभाव (मोक्ष) आप्त पावतो, व या लोकींहि इच्छिलेले मनो-रथ सर्व पावतो.

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशिले च तद्विदां ॥

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

आतां धर्माविषयीं प्रमाणें सांगतो-सर्व वेद, मन्वादिक वेदवेद्या ऋषींचीं स्मृतिशास्त्रें, व ब्रह्मण्यतादिरूप शील, धार्मिक पुरुषांचा कवलवल्कलादिधारण करण्याचा आचार; आणि आत्मसंतोष (जेथे शास्त्राने विकल्प सांगितला तेथे जो पक्ष आपणास प्रिय तो) हीं इतकीं धर्माचीं प्रमाणें आहेत.

यः कश्चित्कस्यचित्त्वर्गो मनुना परिकीर्तितः ॥

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयोहि सः ॥ ७ ॥

मनुने जो कांहीं कोणत्याहि वर्णाचा धर्म सांगितला तो सर्व (धर्म) वेदांतहि सांगितलेला आहे, कारण, मनु सर्वज्ञ आहे.

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ॥

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत् वै ॥ ८ ॥

विद्वान् पुरुषाने वेदार्थ जाणण्याला योग्य असा मीमांसाव्याकरणादिक सकल शास्त्रें ज्ञानदृष्टीनें संपूर्ण विशेषेकरून पाहून श्रुतिप्रमाणाने जे जे धर्म आचरण्यास योग्य सांगितले आहेत ते ते जाणून स्वधर्माचेठायीं स्थिर राहावे.

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ॥

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखं ॥ ९ ॥

कारण की, श्रुति व स्मृति यांचेठायीं सांगितलेल्या धर्मांचे आचरण करणारा मनुष्य इहलोकीं कीर्ति, व परलोकीं अत्युत्तम स्वर्गापवर्गादि सुख पावतो. (येणेकरून श्रुतिस्मृतींनीं सांगितलेला धर्म आचरण करावा असा विधि प्राप्त होतो.)

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ॥

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वर्तते ॥ १० ॥

१. स्वर्गमोक्षादि.

‘श्रुति’ हणजे वेद असें झटले आहे, आणि मन्वादिकांचे जे शास्त्र खाला ‘स्मृति’ असें झटले आहे. तीं दोनहि प्रतिकूल तरांनीं विचार करण्यास योग्य नाहीत; कारण कीं, या दोहोंपासूनच सर्व धर्म प्रकट झालेला आहे.

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ॥

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदान्दिकः ॥ ११ ॥

जो कोणी द्विज (हणजे ब्राह्मण, क्षत्रिय किंवा वैश्य) धर्माचीं केवळ दोन मूले जीं श्रुति आणि स्मृति त्यांची, वेदविरुद्ध तर्कशास्त्राचे आश्रयाने अवगणना करील तो नास्तिक व वेदान्दिक होय, आणि खाला शिष्टांनीं आपल्या वेदाध्ययनादिक कर्मापासून बाहेर घालवावा.

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ॥
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणं ॥ १२ ॥

वेद, स्मृति, सदाचार (शिष्टांचा आचार), व जेवे शास्त्राने विकल्प सांगितला तेथे जो पक्ष आपणास प्रिय तो, याप्रमाणे चार प्रकारचे धर्माचे साक्षात् लक्षण सांगितले आहे.

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मं ज्ञानं निधीयते ॥

धर्मं विज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ (द्रव्य), काम (निष्पन्न) यांविषयीं जे सक्त नाहीत त्यांस ज्ञान हा धर्म होय, आणि धर्म जाणण्याची इच्छा करणारे यांस उत्तम प्रमाण श्रुति हीय, हणजे स्मृतीपेक्षा श्रुतिप्रमाण कलवचर आहे.

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्वात्तत्र धर्मावयवौ स्मृतौ ॥

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

ज्या कोणत्या कर्माविषयीं परस्पर विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन करण्याच्या दोन श्रुति प्रमाणभूत येतील तेथे दोनहि धर्म करण्याविषयीं मनूने सांगितले. कारण कीं, मन्वादिकां-हूनहि प्राचीन अशा विद्वानांनीं दोनहि ते धर्म उत्तम असे झटले आहेत. याच न्यायाने परस्पर स्मृतींचा विरोध आत्म असतां विकल्प जाणावा.

उदितेऽनुदिने चैव समपाधुषिते तथा ॥

सर्वथा वर्तते यत्र इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

याविषयीं दृष्टान्त सांगतो—वेदांत असे सांगितले आहे कीं, सूर्याचा उदयकाळ अथवा अनुदित काळ, किंवा सूर्य व नक्षत्रे यांहीं विरहित काळ अशा काळीं अग्निहोत्र होम द्यावा. या स्थलीं होमाचे काळ तीन सांगितले, यारुप या तीन काळांतून कोणत्याहि काळीं, किंवा तीनहि काळीं होम करावा अशीही वेदश्रुति आहे.

निषेकादिप्रशान्तो मंत्रैर्वस्योदितो विधिः ॥

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

गर्भाधानापासून अंत्येष्टीपर्यंत विधि (अनुष्ठानकलाप) वेदमंत्रांनीं करण्याविषयीं ज्या द्विजातीला (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांला) सांगितला त्याला ह्या मानवधर्मशास्त्राच्या अध्ययनाविषयीं अधिकार आहे, इतर शूद्रादिक कोणत्याहि वर्णांला नाही. परंतु यांत सांगितलेला विधि यथाधिकार सर्वांनीं करावा.

सरस्वतीदृषद्वयोर्देवनदीर्यदंतरं ॥

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

ग्राप्रमाणें धर्मांचें स्वरूप, प्रमाण आणि परिभाषा हीं सांगून आतां धर्मानुष्ठा-
नास योग्य देश कोणता ते सांगतो—सरस्वती आणि दृषद्वती या दोन देवनादींच्या मध्यभागस्थ जो देवनिर्मित देश त्याला ब्रह्मावर्त असें ह्मणतात.

तस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ॥

वर्णानां सांतरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

प्रायः ह्या ब्रह्मावर्त देशाचे ठायीं उच्च जातीचे लोक राहतात त्यामुळे ब्राह्मणादि वर्णांचा आणि वर्णसंकरजातींचा वंशपरंपरेच्या अनुक्रमानें चालत आलेला जो आचार तो सदाचार असा ह्मटला आहे.

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचालाः शूरसेनकाः ॥

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनंतरः ॥ १९ ॥

ब्रह्मावर्ताच्या आसपासचे देश— ते हे कां, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल, आणि शूरसेन या देशांलाहि ब्रह्मर्षिदेश असें ह्मणतात. हा ब्रह्मावर्ताहून किंचित् कमी आहे.

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ॥

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्रादि देशांत उत्पन्न झालेल्या ब्राह्मणापासून पृथ्वीवरील सर्व मनुष्यांनीं आपापला आचार शिक्षावा.

हिमवद्विध्ययोर्मध्यं यत्राग्निनशनदापि ॥

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

उत्तरेकडे हिमालय आणि दक्षिणेकडे विंध्याद्रि ह्या दोन पर्वतांच्या मध्यभागस्थ, आणि विनशन ह्मणजे सरस्वतीच्या पूर्वेकडील आणि प्रयागाच्या पश्चिमेकडील जो देश तो मध्यदेश ह्मटला आहे.

आसमुद्रान्तु वै पूर्वादासमुद्रान्तु पश्चिमान् ॥

तपोरेवांतरं मिश्रोराण्यवर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

पूर्व समुद्रापासून तो पश्चिम समुद्रापर्यंत देश आणि हिमालय व विंध्याद्रि यांच्या मध्य-
भागस्थ देश याला विद्वान् लोक आर्यावर्त असें ह्मणतात. (आर्य ह्मणजे श्रेष्ठ लोक येथे वास्तव्य उत्पन्न होतात अतएव तो आर्यावर्त.)

१. यमुना नदीच्या पश्चिम बाजूचा देश, जो उत्तर दिशेकडे सरस्वती नदीपासून तो वृंदावन, मथुरादेश पर्यंत पसरलेला. २. बंगालदेश. ३. कान्यकुब्जदेश. ४. मथुरेच्या सवळचा देश.

कृष्णसारस्तु चराति मृगो यत्र स्वभावतः ॥

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

ज्या ठिकाणीं कृष्णसार मृग स्वाभाविक रीतीने राहतो तो देश यज्ञिय (यज्ञास योग्य) नाणावा. ह्यावांचून जे देश, ते म्लेच्छ देश, ते यज्ञास योग्य नाहीत.

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेन् प्रयत्नतः ॥

शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥ २४ ॥

ह्या पूर्वोक्त देशांमध्ये ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य यांनी मोठ्या यत्नेकरूनहि राहावे. शूद्राने तर, (ह्या देशीं उपजीविका न चालल्यास) घंदा, रोजगार करण्याकरितां दुसऱ्या कोणत्याहि देशांत राहावे.

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ॥

संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

याप्रमाणें धर्मांचें लक्षण संक्षेपें करून बुद्ध्याला सांगितलें आणि जगताची उत्पत्तिहि सांगितली. आतां वर्णधर्म लक्षण जें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म आणि नैमित्तिक धर्म सांगतो, श्रवण करा.

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनां ॥

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

वेदांत सांगितलेल्या शुभ कर्मेकरून ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य यांचा गर्भाधानादिक शरीरसंस्कार करावा. हा संस्कार इहलोकां आणि परलोकां पुण्यकारक आहे.

गार्महोमैर्जतिकर्म चोदमौजानिवंधनैः ॥

तैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृश्यते ॥ २७ ॥

गार्महोम (गर्भशुद्धीकरितां केले जातात जे होम ते), जातकर्म, चूडाकर्म, आणि उपनयन हे संस्कार केल्याने ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य यांचे बीजसंबंधी, व गर्भसंबंधी पातक दूर होतें.

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैश्चैविद्यैर्नेत्यथा सुतैः ॥

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

वेदाध्ययन, व्रतें (मनुष्यासवर्जनादिक नियम), होम (सावित्रचरुहोम व सायं प्रातर्होम), वेदत्रयविहितकर्म, ईज्या, गृहस्थावस्थेत पुत्रोत्पादन, ब्रह्मयज्ञादि पंचमहायज्ञ, आणि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ यांतीकरून हे शरीर लक्षण जे शरीरावच्छिन्न आत्मा ब्रह्मप्राप्तीला योग्य होतो, लक्षण जे मोक्षाला पावतो.

१ उपनयन. २ शिक्षा, देहप्रदण. ३ संजतृणाची सेवा. ४ राजानें अनापालन करणें. ५ निमित्तप्राप्त प्रायश्चित्तविधि. ६ प्रतिषिद्ध भैक्षुनांकल्यादिकर्मे पित्याने रेतोदोषापासून घडलेले पातक. ७ अशुचि मातृ-वर्माधाने प्राप्त झालेले पातक. ८ ब्रह्मचर्यावस्थेत देव, कार्य आणि पितर यांचे तर्पण करणें.

प्राह्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ॥

मंत्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषां ॥ २९ ॥

नालच्छेदनाचे पूर्वी पुत्राचा जातकर्मनामक संस्कार करावा, आणि त्यासमयी आपल्या गृह्यसूत्रोक्त मंत्रांनी सुवर्ण, मध, व घृत हीं (मिश्र करून) त्याला प्राशन करवावीं.

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ॥

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

जन्मदिवसापासून दहाव्या अथवा बाराव्या दिवसीं पुत्राचा नामकरणसंस्कार करावा. स्वतः असंभव असल्यास दुसऱ्याकडून करवावा. पूर्वोक्त दिवसाचा असंभव असतां ज्योतिःशास्त्रोक्त प्रशस्त तिथि, प्रशस्त मुहूर्त व गुणयुक्त नक्षत्र यांचे ठायीं करावा.

मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितं ॥

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितं ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणाचें मंगलवाचक, क्षत्रियाचें बलवाचक, वैश्याचें धनवाचक आणि शूद्राचें निंदावाचक याप्रमाणें नांवें ठेवावीं, ह्मणजे शुभ, बल, वसु, दीन इत्यादि नांवें ठेवावीं.

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्वाज्ञो रक्षासमन्वितं ॥

वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेप्यसंयुतं ॥ ३२ ॥

आतां उपपदाचे नियम सांगतो— ब्राह्मणाचें नाम 'शर्मवाचक' असावें. क्षत्रियाचें 'रक्षावाचक,' वैश्याचें 'पुष्टिवाचक,' आणि शूद्राचें 'प्रेप्यवाचक' याप्रमाणें नांवें ठेवावीं, व त्या नांवांचे ठायीं शर्म, वर्म, भूति आणि दास इत्यादिक उपपदें ठेवावीं. उदाहरणें—शुभ शर्मा, बलवर्मा, वसुभूति, आणि दीनदास.

स्त्रीणां सुखोद्यमकूरं विस्पष्टार्थं मनोहरं ॥

मंगल्यं दीर्घवर्णातमाशीर्वादभिधानवत् ॥ ३३ ॥

मुखेंकरून उच्चारण्यास शक्य, कोमलार्थ, स्पष्टार्थयुक्त, मनोहर, मंगलवाचक, दीर्घस्वरांत (दीर्घस्वर ज्याच्या अंती आहे असें) आणि आशीर्वादशब्दानें युक्त असें स्त्रियांचें नांव ठेवावें. उदाहरण—यशोदा, देवी.

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ॥

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले ॥ ३४ ॥

चतुर्थमासाचे ठायीं बालकाचा निष्क्रमणसंस्कार (घरांतून बाहेर सूर्यदर्शन करण्याकरितां नेणे तो) करावा. साहाय्या मासी अन्नप्राशनसंस्कार करावा. अथवा आपल्या कुळामध्ये जें इष्ट मंगलकार्य असेल ते करावें.

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ॥

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

१ येथे दाहावा दिवस अतिशय दारुण असतां अकराव्या दिवसीं नामकर्म करावें असें कुल्लूकभट्ट सांगतो.

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य या सर्वांचा चूडाकरणसंस्कार धर्मासाठी प्रथमवर्षी अथवा तृतीयवर्षी (कुलधर्मानुसार) करावा, असी श्रुतीची आज्ञा आहे.

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनं ॥

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

गर्भापासून आठव्या वर्षी ब्राह्मणाचे, गर्भापासून अकराव्या वर्षी क्षत्रियाचे, गर्भापासून बाराव्या वर्षी वैश्याचे उपनयन (मौजी) करावे.

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे ॥

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

ब्रह्मवर्चस इच्छणाऱ्या ब्राह्मणाचे उपनयन गर्भापासून पाचव्या वर्षी, बलाची इच्छा करणाऱ्या क्षत्रियाचे सहाव्या वर्षी, कृषी इत्यादि व्यापाराची इच्छा करणाऱ्या वैश्याचे आठव्या वर्षी उपनयन करावे.

आषोढशाढ्याह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ॥

आद्वाविंशत्क्षत्रबंधोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणाचा सोळा वर्षेपर्यंत, क्षत्रियाचा बेवीस वर्षेपर्यंत आणि वैश्याचा चोवीस वर्षेपर्यंत उपनयनकाल अतिक्रान्त होत नाही.

अतस्त्वं त्रयोप्येते यथाकालमसरुताः ॥

सावित्रीपतिता ब्राह्मणं धवंत्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

याप्रमाणे ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य हे सोळा वर्षेपर्यंत इत्यादि जे काळ सांगितले तावपर्यंत संस्कारहीन राहतील तर ते उपनयनहीन, शिष्टांनी निंदित ब्राह्मणसंज्ञक असे होतात.

नैतैर्युचैर्विधिवदापरापि हि कर्हिचित् ॥

ब्राह्मणं यौनांश्च संबंधान्नाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

हे जे अपवित्र झालेले ब्राह्मण त्यांनी ज्यावकालपर्यंत यथाविधि प्रायश्चित्त केले नाही तावपर्यंत त्यांच्याशी ब्राह्मणाने आपत्तिकालीं हि कदापि अध्यापन व कन्यादान इत्यादिसंबंध करू नयेत.

कार्ण्यैरिवंवास्तानि चर्मणि ब्रह्मचारिणः ॥

वसीरन्मानुपूर्वेण शाणक्षौमादिकानि च ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य या ब्रह्मचार्यांनी क्रमेकरून लष्णसार, रुरुमृग आणि बोकड यांच्या चर्मांची उत्तरीये घारण करावी, आणि शाण (तागाचे वस्त्र), क्षौम (अतसीवस्त्र), आणि मेळ्याचे लेकरीचे वस्त्र असीं क्रमाने अधोवस्त्रे घारण करावी.

मौजी त्रिवृत्समा श्रद्धया कार्या विप्रस्य मेखला ॥

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य घाणतान्वी ॥ ४२ ॥

(वेदाने अध्ययन व त्यांना अर्थ यांपासून होणारे जे तेज ते २ हत्ती, सोडे इत्यादि राज्यबळ.

- मुंज (मोळ) तृणाची, तिपेड, सारखी, मृदु असी ब्राह्मणाची मेखला करावी. क्षत्रियाची मेखला मूर्वातृणाची धनुष्याचे दोरीसारखी करावी, वैश्याची मेखला तागाचे सुताची करावी.

मुंजालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मंतकबल्वजैः ॥

त्रिवृता ग्रंथिनैकेन त्रिभिः पंचभिरेव वा ॥ ४३ ॥

मुंजतृण न मिळेल तर कुश, अश्मंतक आणि बेल्वज ह्यांच्या क्रमेंकरून मेखला तिपेड एक, तीन अथवा पांच अशा ग्रंथींनी युक्त ब्राह्मणादिकांनी कराव्या.

कापसमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृतं ॥

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकं ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणानें कापसाचे सुताचें, क्षत्रियानें तागाचे सुताचें, वैश्यानें मेंढ्याचे लोंकरीचे सुताचें याप्रमाणें यज्ञोपवीत त्रिगुण करून प्रथम ऊर्ध्ववृत (दक्षिणावर्त) वळलेले असे धारण करावे.

ब्राह्मणो बेल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटस्त्रादिरौ ॥

पैलवौदुंबरौ वैश्यो दंडानर्हति धर्मतः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणानें वेलाचा अथवा पळसाचा दंड, क्षत्रियानें वटाचा किंवा खैराचा दंड, वैश्यानें पीलूचा (अक्रोडाचा) किंवा डंबराचा याप्रमाणें दंड यथाधर्मानें धारण करावे.

केशांतिको ब्राह्मणस्य दंडः कार्यः प्रमाणतः ॥

ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासांतिको विशः ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य यांनी क्रमेंकरून केश, ललाट, व नासिका एतत्पर्यंत परिमाणाचे दंड, धारण करावे.

राजवस्त्रे तु सर्वे स्युरवणाः सौम्यदर्शनाः ॥

अनुरोधकरा नृणां सत्वचो नाम्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

ते दंड सरळ, व्रणरहित, सुशोभित, मनुष्याला भय उत्पन्न न करणारे, त्वचेनें युक्त आणि दग्ध न झालेले असे असावे.

प्रतिगृह्येप्सितं दंडमुपस्थाप्य च भास्करं ॥

प्रदक्षिणं परीत्यार्धं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

याप्रमाणें प्राप्त होण्याला दृष्ट असा दंड घेऊन सूर्याचे उपस्थान करून अग्नीला प्रदक्षिणा करून यथाविधि भिक्षा मागावी.

भवसूर्वं चरेद्भैक्षमुपवीतो द्विजोत्तमः ॥

भवनमभ्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरं ॥ ४९ ॥

१ तृणविशेष. २ लव्हाळा. ३ येथें ऊर्ध्ववृत त्रिगुण करावे असें मनूनें सांगितले तथापि ते पुनः अधोवृत त्रिगुण करून तीन तंतु मिळवून एक अर्ध घावा असें छंदोग परिशिष्टान्या अनुरोधानें कुलकभट्ट सांगतो.

ब्राह्मणाने 'भक्ष' हा शब्द पूर्वी आहे ज्यास असे वाक्य, ह्मणजे 'भवति भिक्षां देहि' असे वाक्य बोलून भिक्षा मागावी. क्षत्रियाने 'भवत्' हा शब्द मध्ये बोलून ह्मणजे 'भिक्षां भवति देहि,' असे वाक्य बोलून भिक्षा मागावी, आणि वैश्याने 'भवन्' हा शब्द अंती बोलून ह्मणजे 'भिक्षां देहि भवति' असे वाक्य बोलून मागावी.

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजां ॥

भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

माता, तिच्या अमाची मावशी, तिच्या अमाची आपली सोदर भगिनी आणि जी ब्रह्म-चाऱ्याचा अपमान करणार नाही ती यांजपासी उपनयनाची अंगभूत प्रथम भिक्षा मागावी.

समाहृत्य तु तद्वैक्षं यावदर्धममायया ॥

निवेद्य गुरुवेऽश्रीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

ती भिक्षा बहुतांपासून मागून आणून तृप्ति होईल इतके अन्न निष्कपटाने गुरूला निवेदन करून गुरूच्या आज्ञेने, आचमन करून शुचिर्भूत होऱ्याता प्राङ्मुख भोजन करावे.

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ॥

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुंक्ते ऋतं भुंक्ते द्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥

आतां काम्य भोजन सांगतो—आयुष्यवृद्धि इच्छिणाराने पूर्वाभिमुख वसून भोजन करावे, यशवृद्धि इच्छिणाराने दक्षिणाभिमुख वसून भोजन करावे, संपत्तीची इच्छा करणाराने पश्चिमाभिमुख वसून भोजन करावे. सत्ताची इच्छा करणाराने उत्तराभिमुख वसून भोजन करावे.

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नप्रदात्समाहितः ॥

भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यग्द्विः क्षान्तिं च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

नित्य द्विजाने (ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य याने) आचमन करून स्वस्थांतःकरणे करून भोजन करावे, व भोजन केल्यानंतर उदकाने यथानिधि हस्तपादादि प्रक्षालन करून आचमन करून नासिका, नेत्र, कर्ण ह्या साहा स्थानी उदकस्पर्श करावा.

पूजयेदशमं नित्यमद्याक्षैतदकुत्सयन् ॥

दंष्ट्रा हृण्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनंदेच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

सर्वदा अन्नाची पूजा करावी, ह्मणजे प्राणार्थत्वेकरून त्याचे ध्यान करावे, ते पाहून आनंद घ्यावा, व प्रसन्नवृत्ति व्हावे, व हे अन्न नित्य आक्षाला प्राप्त असो असे जाणून खाला नमस्कार करावा, आणि त्याची निंदा न करितां ते भक्षण करावे.

पूजितं ह्यशमं नित्यं बलपूर्जं च यच्छति ॥

अपूजितं तु तदुक्तमुधयं नाशयेदिव ॥ ५५ ॥

कारण कीं, अन्नाची पूजा केल्याने ते अन्न सामर्थ्य, आणि वीर्य पाते देते, आणि अपूजित अन्न भक्षण केले असतां सामर्थ्य, वीर्य यांचा नाश करिते.

नोच्छिष्टं कस्याचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथांतरा ॥

न चैवाह्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः कचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥

भोजन करून दोष राहिलेले उच्छिष्ट अन्न कोणाला (शूद्रालाहि) देऊ नये, आणि दिवसाभोजन व सायंकालभोजन यांच्यामध्ये भोजन करू नये, व द्विवार भोजन करणे तेहि अतिरिक्त करू नये, आणि उच्छिष्ट असतां कोठें जाऊ नये.

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनं ॥

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अतिरिक्त भोजनाचा दोष सांगतो—अतिरिक्त भोजन रोगोत्पादक, आयुष्याची हानि करणारें, अस्वर्ग्य (स्वर्ग न देणारें), अपुण्यकारक, आणि लोकांत निंदा उत्पन्न करणारें असे आहे यास्तव अतिरिक्त भोजन सर्वथा वर्ज्य करावें.

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ॥

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाच न ॥ ५८ ॥

ब्राह्मणानें नित्य ब्राह्मतीर्थानें अथवा प्रजापतितीर्थानें किंवा देवतीर्थानें आचमन करावें, पित्र्य तीर्थानें कदापि करू नये.

अंगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ॥

कायमंगुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

ब्राह्मादिक तीर्थे सांगतो—अंगुष्ठमूळाच्या अधोभागीं ब्राह्मतीर्थ, कनिष्ठांगुलीच्या मूलप्रदेशीं प्रजापतितीर्थ, अंगुलीचे अग्रभागीं देवतीर्थ, आणि अंगुष्ठ व तर्जनी यांच्या अधोभागीं पित्र्यतीर्थ, याप्रमाणें मन्वादिक सांगतात.

त्रिराचामेदपः पूर्वं दिःप्रमृज्यात्ततो मुखं ॥

त्वानि चैव स्पृशेदद्विरात्मानं शिरएव च ॥ ६० ॥

ब्राह्मणानें प्रथम ब्राह्मादि तीर्थेंकरून उदकानें त्रिवार आचमन करावें. त्यानंतर अंगुष्ठमूलानें दोनवेळ ओष्ठ प्रक्षालन करावें. नंतर मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण, हृदय आणि शिर यांला उदकेंकरून स्पर्श करावा.

अमुष्णाभिरफेनाभिरग्निस्तीर्थेन धर्मवित् ॥

शौचेप्सुः सर्वदाऽऽचामेदेकांते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

धर्म जाणणारा व पवित्रतेची इच्छा करणारा अशा पुरुषानें पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख शुचिस्थानी वसून फेनरहित शीतळ अशा उदकेंकरून नित्य ब्राह्मादि तीर्थेंकरून आचमन करावें.

हव्राभिः पूयते विप्रः कंठगाभिस्तु भूमिपः ॥

वैश्योऽग्निः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरंततः ॥ ६२ ॥

आचमनाच्या उदकाचें परिमाण सांगतो—हृदयापर्यंत पोचणाऱ्या उदकानें ब्राह्मण पवित्र होतो. कंठगत उदकानें क्षत्रिय पवित्र होतो, मुखांत प्रविष्ट झालेल्या उदकानें

वैश्य पवित्र होतो, आणि जिह्वा, ओष्ठ यांच्या भांत उदकस्पर्श झाल्याने शूद्र पवित्र होतो. झणजे आचमनाचे उदक त्यात्यास्थानी पोचेल अशा परिमाणाने ब्राह्मणादिकांनी आचमन करावे असा विधि सांगितला.

उद्धृते दक्षिणे पाणानुपवीत्युच्यते द्विजः ॥

सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कंठसज्जने ॥ ६३ ॥

उजवा हात वर उंच करून डाव्या स्कंधावरून यज्ञोपवीत धारण करणारा जो द्विज तो उपवीती होय, आणि डावा हात वर करून उजव्या स्कंधावरून यज्ञोपवीत धारण करणारा तो प्राचीनआवीती, कंठाचेठाशीं सरळ मालेसारखे यज्ञोपवीत धारण करणारा तो निवीती होय.

मेखलायजिनं दंडमुपवीतं कमंडलुं ॥

अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृण्हीतान्यानि मंत्रचतुः ॥ ६४ ॥

मेखला, अजिन (चर्म), दंड, यज्ञोपवीत, आणि कमंडलु हीं नष्ट झालीं किंवा तुटलीं फुटलीं असतां तीं उदकांत टाकून दुसरीं नूतन, आपापल्या गृह्यसूत्रोक्त मंत्रेकरून धारण करावीं.

केशांत; षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ॥

रावन्यबंधोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

गृह्यसूत्रांत सांगितलेला केशांतनामक संस्कार ब्राह्मणाचा गर्भापासून सोळाव्या वर्षी, क्षत्रियाचा गर्भापासून वेविसाव्या वर्षी, आणि वैश्याचा गर्भापासून चौविसाव्या वर्षी करावा.

अयंश्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद्धोषतः ॥

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमं ॥ ६६ ॥

स्त्रियांचे हे नातकर्मादि सर्व संस्कार, शरीरसंस्काराकरितां यथाकालीं यथाक्रमेंकरून अमंत्रक करावे.

वैवाहिको विधिः स्त्रिणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ॥

पतिसेवा गुरौ वासो गृहायौऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

स्त्रियांचा विवाहविधि हाच उपनयनसंस्कार असें मन्वादिकांनीं सांगितले, पतीची सेवा ही गुरुकुली वेदाध्ययनाकरितां वास करण्याऐवजी आहे, आणि घरांतील प्रापंचिक कामे करणे हे सार्वभौमिक कर्माचे होय अग्निसेवा आहे, यास्तव विवाह हा उपनयनस्थानापन असल्यामुळे स्त्रियांस उपनयनसंस्कार नाही.

एषः प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ॥

उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

याप्रमाणें ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य यांचा हा उपनयनाचा विधि सांगितला, हा पुण्यकारक असून दुसऱ्या जन्माचा व्यञ्जक (सूचक) आहे. आतां यांचीं कर्मे कोणकोणतीं तीं भवण करा.

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ॥

आचारमधिकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

गुरूने शिष्याचे उपनयन करून प्रथम लिंगाचे ठायीं एकवेळ मृत्तिका लावावी इत्यादि शौच, स्नानाचमनादि आचार, सायंप्रातः अग्निहोम, आणि संध्योपासनविधि हे सर्व शिकवावे.

अध्येष्यमाणस्त्वाचांतो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ॥

ब्रह्मांजलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेंद्रियः ॥ ७० ॥

• यथाविधि आचमन करून उत्तर दिशेस मुख करून बसलेला, ब्रह्मांजलि केलेला झणजे हात जोडलेला व पवित्र वस्त्र धारण करणारा, जितेंद्रिय अशा अध्ययन करणाऱ्या शिष्याने गुरूच्या सन्निध बसावे, व गुरूने त्याला अध्ययन शिकवावे.

ब्रह्मारंभेऽवसाने च पादौ प्राक्षौ गुरोः सदा ॥

संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्मांजलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

वेदाध्ययनाच्या आरंभी व अंती शिष्याने गुरूचे पाय धरावे, झणजे पादग्रहणपूर्वक नमस्कार करावा, व हात जोडून अध्ययन करावे याला ब्रह्मांजलि असें झटलें आहे.

अप्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ॥

सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

गुरूच्या संमुख उभा राहून गुरूचे पाय व्यस्त हातांनी धरावे, झणजे. डाव्या हस्ताने डावा पाय, व उजव्या हस्ताने उजवा पाय, याप्रमाणें गुरूचे पाय धरणे याला उपसंग्रहण झणतात, व हे उताणे हातांनी करावे.

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमंतद्वितः ॥

अधीष्वा भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेतु ॥ ७३ ॥

निरालस अशा गुरूने अध्ययन करणाऱ्या शिष्याला 'अधीष्वा भो' (अध्ययन कर) असें सांगावे. आणि अल्प शेष राहिल्यानंतर 'विरामोऽस्तु' (विराम अतो) असें सांगून अध्ययन बंद करून निश्रान्ति द्यावी.

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ॥

ज्वरत्यनोरुतं पूर्वं परस्ताच्च विधीर्यति ॥ ७४ ॥

वेदाध्ययनाच्या आरंभी आणि अंती सार्वकाल ओंकार झणावा; कारण की, पाठाच्या पूर्वी ओंकार न झटला तर ते अध्ययन हळूहळू विरलें जातें, आणि पाठ समाप्त झाल्या-नंतर ओंकार न झटला तर अध्ययन मनांत न ठसतां शिकलेले विसरतो.

प्राकूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ॥

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

पूर्व दिशेस अग्रे होतील असे दर्भ विस्तृत करून त्या दर्भावर नसून दोन हातांत पवित्र-
दर्भ धारण केल्याने शुद्ध झालेला असा विद्यार्थ्याने पंधरा मात्रापरिमाण आसननिरोधरूप तीन
प्राणायाम करावे, तेणेकरून पवित्र होत्साता नंतर ओंकार ह्मणण्यास तो योग्य होतो.

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ॥

वेदत्रयान्निरदुहद्रूभुवः स्वरितीति च ॥ ७६ ॥

प्रणवाचे अवयव असे—अकार, उकार आणि मकार हे तीन वर्ण, तसेच भूः, भुवः, स्वः
ह्या तीन व्याहृति हे सर्व क्रमेकरून ब्रह्मदेवाने तीन वेदांपासून उत्पन्न केले, ह्मणजे ऋग्वेदापा-
सून अकार, व भूः ही व्याहृति; यजुर्वेदापासून उकार व भुवः ही व्याहृति आणि सामवेदा-
पासून मकार व स्वः ही व्याहृति याप्रमाणे उत्पन्न केले.

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदुहन् ॥

तदित्यूचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

परमेष्ठी (श्रेष्ठस्थानी राहणारा) ब्रह्मदेवाने 'तत्' ह्या प्रतीकेकरून युक्त जी गायत्रीमन्त्र-
चा तिचे तीन पाद तीन वेदांपासून उत्पन्न केले.

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकां ॥

संध्योर्वेदविदिप्रो वेदपुण्येन पुण्यते ॥ ७८ ॥

वेद जाणणारा ब्राह्मण उभय संध्याकाली ओंकार व तीन व्याहृति एतत्पूर्वक त्रिपाद
गायत्रीचा जप करील तर झाला तीन वेदांच्या अध्ययनाचे पुण्य प्राप्त होतें, या हेतूस्तव
उभय संध्याकाली प्रणवव्याहृतित्रययुक्त गायत्रीचा जप करावा असा विधि प्राप्त होतो.

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ॥

महतोऽप्येनसो मासान्वचेवाहिरिमुञ्चति ॥ ७९ ॥

जो द्विज संध्याकाळावाचून अन्यकाली, ग्रामाच्या बाहेर नदीतटाक, अरण्य इत्यादि
स्थानी जाऊन ओंकार, तीन व्याहृति एतत्सहित गायत्रीचा प्रत्यही सहस्र जप करील
तो महापातकापासूनहि एका महिन्याने मुक्त होतो. जसा सर्प आपली लश्चा टाकून मुक्त
होतो तद्वत् तस्मात् पापक्षयास्तव गायत्रीचा जप करावा.

एतर्चेया विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ॥

ब्रह्मक्षत्रियविद्योनिर्गहणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य यांतून जो कोणी गायत्रीचा जप टाकील, तसेच सार्व-
पातःकाली होम देणे इत्यादि स्वकर्म करणार नाही, तो साधूंचेठावी निंदेस पात्र होतो.
तस्मात् स्वकाली गायत्रीजप आणि स्वकर्म यांचा त्याग कदापि करू नये.

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ॥

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणी मुखं ॥ ८१ ॥

ओंकारपूर्वक, अक्षरब्रह्मप्राप्तिकलक यास्तव अव्यय अशा तीन महाव्याहृति (ओं
मूर्धुवःस्वः), आणि त्रिपदा गायत्री ह्या ब्रह्माचे (वेदाचे) मुख होत यास्तव

प्रथम त्या ह्मणून नंतर वेदाध्ययनाला आरंभ करावा. अथवा ब्रह्म ह्मणजे परमात्मा याच्या प्राप्तीचें हें द्वार होय, कारण, यांचें अध्ययन, जप इत्यादिकानें जो निष्पाप झाला त्याला ब्रह्मज्ञानाच्या उत्कर्षानें मोक्षप्राप्ति होते.

योऽधीनेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतंद्रितः ॥

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

जो पुरुष निरालस्यपणानें दररोज ओंकार, व्यावृत्ति यांहीं युक्त गायत्रीचें अध्ययन तीन वर्षे करील तो परब्रह्माप्रत पावेल, आणि तो वायुभूत ह्मणजे वायूसारिखा पाहिजे तेथें संचार करणारा होतो, व शरीराचा नाश झाल्यानंतर खमूर्तिमान् ह्मणजे ब्रह्म-मूर्तिच होतो.

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परंतपः ॥

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विधिष्यते ॥ ८३ ॥

ओंकार हा साक्षात् परब्रह्म आहे; कारण, ओंकाराच्या जपेकरून त्याचा अर्थ जें परब्रह्म त्याची भावना प्राप्त होते व तद्वारा ब्रह्मप्राप्ति होते. प्रणव, व्यावृत्ति, आणि शिर यांहीं युक्त गायत्रीचा एकवेळ जप करावा तो प्राणायाम, असे तीन प्राणायाम प्रत्यहीं अवश्य करावे, व तेंच उत्तम तप. गायत्रीहून दुसरा श्रेष्ठ मंत्र नाही, आणि मौनाहूनहि सत्य भाषण हें श्रेष्ठ आहे. ह्या ओंकारादि चौघांची स्तुति केली यास्तव या चौघांची उपासना करावी असा विधि कल्पित होतो.

क्षरंति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः ॥

अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

होम, यागादिरूप वेदविहित क्रिया ह्या सर्व स्वतां नाशवंत असून यांचीं फळे जीं स्वर्गादिक तींही नाशवंत आहेत. परंतु प्रजांचा अधिपति जें ब्रह्म तेंच हा ओंकार आहे. यास्तव यागादिरूपक्रियारहित जो ओंकार तो स्वरूपतः अविनाशी आहे. कारण ब्रह्म-प्राप्तीला हेतु आहे, आणि याच्या जपानें ब्रह्मरूप होणे ते नाशवंत नाही यास्तव फळेकरून-हि तो अविनाशी आहे.

विधियज्ञाजपयज्ञो विविष्टो दशभिर्गुणैः ॥

उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

दर्शयज्ञमासादिक जे विधियज्ञ त्याहून प्रणवादिकांच्या जपरूप यज्ञाचें फळ दशगुणित विशेष होतें. तो जपयज्ञ उपांशु (ह्मणजे समीप वसलेल्या दुसऱ्यासहि अश्रुत) केला असतां शतगुण अधिक होतो, मानसिक (मनांत केलेला) जप सहस्रगुण अधिक होतो.

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ॥

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नाहंति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

पाकयज्ञ ह्यणजे ब्रह्मयज्ञादून इतर जे पंचमहायज्ञांतील वैश्वदेवहोम, बलिहरण, नित्य-
श्राद्ध आणि अतिथिभोजन एतद्रूप चार यज्ञ ते आणि विधियज्ञ ह्यणजे दर्शपौर्णमीसा-
दिक हे सर्व यज्ञ जपयज्ञाच्या सोळाव्या हिशानेहि समान नाहीत.

जप्येनैव तु संसिद्धचेद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ॥

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

गायत्रीचा जप केल्यानैच ब्राह्मण सिद्धि पावतो, ह्यणजे मोक्षप्राप्तीला योग्य होतो,
यांत संशय नाही. नंतर तो इतर वैदिक (यज्ञादिक) कर्म करो अथवा न करो; कारण
हा ब्रह्मसंबंधी आहे ह्यणून सर्वांचा मैत्र (मित्र) असा लटला आहे.

इंद्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ॥

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यंतेव वाजिनां ॥ ८८ ॥

आतां सर्व वर्णांनीं करण्यास योग्य व सकल पुरुषार्थास उपयुक्त असें इंद्रियांचें
दमन (नियमन) सांगतो— क्षयित्वादिविषयदोष जाणणाऱ्या अशा पुरुषानें आप-
ल्याकडे ओढून घेणाऱ्या विषयांचेठायीं निरंतर राहणारीं जीं इंद्रियें त्यांचे दमन
करणाविषयीं यत्न करावा, जसे रयाला जुंपलेले घोडे सारखे आपल्या आधीन ठेवितो
तद्वत् इंद्रियें आपल्या स्वाधीन ठेवावीं.

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ॥

तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

प्राचीन पंडितांनीं जीं अकरा इंद्रियें सांगितलीं तीं, अर्वाचीन लोकांस समजण्याक-
रितां कर्मेकरून व नामेकरून क्रमानें सांगतां.

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पंचमी ॥

पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

इंद्रियें— श्रोत्र (कर्ण), त्वचा, चक्षु (नेत्र), जिह्वा, आणि पांचवी नासिका व पायु
(गुद), उपस्थ (शिश्न), हस्त, पाद, आणि दहावी वाक् (वाणी) हीं दहा इंद्रियें
नामेकरून सांगितलीं.

बुद्धीन्द्रियाणि पंचैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ॥

कर्मेन्द्रियाणि पंचैषां पायवादीनि प्रवक्षते ॥ ९१ ॥

हीं जीं दहा इंद्रियें यांमध्ये पहिलीं श्रोत्रादिक पांच, कर्मेकरून ज्ञानेन्द्रियें होत, आणि
पायु इत्यादिक पांच कर्मेन्द्रियें होत असे शास्त्रज्ञेते सांगतात.

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकं ॥

यस्मिन् जिने जितावेतौ भवतः पंचकौ गणौ ॥ ९२ ॥

१ ह्यणजे यागचेठायीं पशु, वीजें इत्यादिकांची हिंसा घडते, परंतु जपयज्ञांत कोणाची हिंसा होत नाही,
त्याकरितां जपयज्ञ करणारा सर्वांची प्रीति संपादन करितो अतएव मैत्र. एवें जपाची प्रशंसा सूचित केली,
याचा निषेध केला असें नाही; कारण, यागहि भर्मसाक्षसिद्ध आहेत.

मन हे अकरावे अंतरिंद्रिय जाणावे. हे मन संकल्परूप आपल्या गुणाने पंच ज्ञानेन्द्रिये व पंच कर्मेन्द्रिये यांचा प्रवर्तक आहे, अतएव मन जिंकले असतां दोनहि इंद्रियगण जिंकले असे होतात.

इंद्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयं ॥

सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

ज्या हेतूस्तव इंद्रिये विषयांचे ठायीं आसक्त झाल्याने जीवास दृष्टादृष्ट दोष निःसंशय प्राप्त होतो व त्याच इंद्रियांचे नियमन केले असतां त्यापासून मोक्षादि पुरुषार्थयोग्यत्वरूप सिद्धि पावतो, तस्मात् इंद्रियांचे नियमन करावे.

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ॥

हविषा कृष्णवर्त्येव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ९४ ॥

विषयांचा उपभोग केल्याने काम (इच्छा) कधीहि निवृत्त होत नाही, तर घृताने जसा अग्नि अधिक प्रदीप्त होतो, तद्वत् विषयसेवनाने काम पुनः वृद्धिगत होतो.

यश्चैतान् प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ॥

प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागी विविष्यते ॥ ९५ ॥

जो द्या सर्व विषयांचे सेवन करणारा व जो सर्व विषयांचा त्याग करणारा या दोहों-मध्ये विषयांचा आगकर्ता श्रेष्ठ होय; कारण, सर्व कामांच्या प्राप्तीपेक्षां विषयांचा त्याग करावा हे विशेष आहे.

न तथैतानि शक्यंते सन्नियंतुमसेवया ॥

विषयेषु प्रभुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

आतां इंद्रियांचे दमनाचा उपाय सांगतो— विषयांचे ठायीं आसक्त झालेल्या इंद्रियांचे दमन, जसे विषयांचे बारवार क्षयित्वादिकोष जाणल्याने, आणि शरीराचे अस्थि स्थूल आहे इत्यादि वक्ष्यमाण दोषचित्तनाने होतें, तसे त्या इंद्रियांचा विषयांच्या सन्निध जाण्याचे वर्ज्य केल्याने होत नाही, कारण ते दुर्निवार आहे. तस्मान् विषयांचे ठायीं दोष बहुत ओहेत असे समजून बहिरिंद्रिये व मन यांचे दमन करावे.

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ॥

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छति कश्चित् ॥ ९७ ॥

आतां मनाचे नियमन न केले तर ते विकाराला कारण होतें कसे ते सांगतो— भोगादिक विषयसेवासकल्प करणाऱ्या पुरुषाचे वेदाभ्ययन, दान, यज्ञ, नियम आणि तपश्चर्या हीं कदापि फलसिद्धीकारणें होत नाहीत.

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ॥

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

जितेन्द्रियांचें लक्षण सांगतो— स्तुतिवाक्य, किंवा निंदावाक्य श्रवण केल्याने, सुखकारक स्पर्श अथवा दुःखकारक स्पर्श अशीं मृदु वस्त्रें आणि कंबल वस्त्रें यांचा स्पर्श केल्याने; सुरूप व कुरूप पाहिल्याने; गोड, कडू भक्षण केल्याने; आणि सुगंधी, दुर्गंधी पदार्थ हुंगल्याने ज्याला हर्ष अथवा विषाद उत्पन्न होत नाही तो पुरुष जितेंद्रिय जाणावा.

इंद्रियाणां तु सर्वेषां यथेकं क्षरतींद्रियं ॥

तेनास्य क्षरतिं प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकं ॥ ९९ ॥

चर्ममय उदकपात्राला एक जरी छिद्र असेल तथापि त्या छिद्रातून जसें सर्व उदक निघून जातें, तद्वत् सर्व इंद्रियांतून एक जरी इंद्रिय विषयासक्त होईल तरी तिष्ठक्याने जीव विषयासक्त होऊन त्याचें तत्त्वज्ञान इतर इंद्रियेकडूनहि नष्ट होतें.

वशे कृत्वेन्द्रियप्रामं संयम्य च मनस्तथा ॥

सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

इंद्रियांचें दमन केल्यानें सर्व पुरुषार्थ प्राप्त होतात असें दाखवितो— सर्व इंद्रिये आपल्या स्वाधीन करून व मनाचें नियमन करून उपायेंकरून शरीराला पीडा न देता सर्व पुरुषार्थ साधवे.

पूर्वा संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कण्डेयानात् ॥

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

प्रातःकालच्या संध्येच्याठायीं सूर्यदर्शन होईपर्यंत गायत्रीचा जप करीत होत्साता जप राहावे, आणि सायंकाली गायत्रीचा जप करीत होत्साता नक्षत्रदर्शनपर्यंत बसावे.

पूर्वा संध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति ॥

पश्चिमां तु समासीनो मलं हंति दिवाकृतं ॥ १०२ ॥

प्रातःकालच्या संध्येचेठायीं उभा राहत होत्साता जप केला असता रात्रिसंबंधी पात नष्ट होतें, आणि सायंकालच्या संध्येचा ठायीं बसून जप केल्यानें दिवसा केले पातक नष्ट होतें.

न तिष्ठति तु यः पूर्वा सोपास्ते पश्च पश्चिमां ॥

स शूद्रवन् बहिष्कार्यः सर्वस्मान् दितकर्मणः ॥ १०३ ॥

जो द्विज प्रातःकाली आणि सायंकाली संध्या करीत नाही अणजे त्या त्या काली सांगितलेले जपादि करीत नाही त्याला शूद्रप्रमाणे मानून ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांच्या कर्मापासून आणि अतिथिसत्कारादिकापासूनहि बाहेर टाकावा. त्याच प्रत्येकाचेकडून संध्येपासून निघ अहि असे सांगितले.

अथां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ॥

सावित्रीमध्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

१ संध्या केल्याने पातक नष्ट होतें असे जें सांगितले तें अज्ञानादिकृत पापविषयक आहे. या विषयी यज्ञवल्क्य सांगतो— दिवा वा यदिवा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत् ॥ त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं विमोक्षयति ॥ अर्थ— दिवसा अथवा रात्री जें अज्ञानजनित पातक तें त्रिकालसंध्या केल्यानें सर्व नष्ट होतें.

ब्रह्मयज्ञरूप नित्यविधि करणारा यानें अरण्यादि निर्जनस्थानीं जाऊन इंद्रियदमन, वचन एकाग्र करून उदकाच्या समीप प्रणव व तीन व्यावृत्ति यांहीं युक्त गायत्रीचेंहि अध्ययन करावें. पुष्कळ वेदाध्ययन करण्याला सामर्थ्य नसेल तर गायत्रीचें अध्ययनहि करावें असा विधि प्राप्त होतो.

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ॥

नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममंत्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

वेदांचीं अंगें (शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद), नित्यकर्तव्य ब्रह्मयज्ञ, आणि होमाचे मंत्र, यांविषयीं अनध्याय नाही.

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तस्मृतम् ॥

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

नित्य कर्तव्य जपयज्ञ करण्याविषयीं अनध्याय नाही, कारण तें नित्य होणारें असल्यामुळे मन्वादिकांनीं तें ब्रह्मसत्र असें झटलें आहे. ब्रह्मरूप हवीचें हुत ह्मणजे अनध्यायाचे ठायीं अध्ययनरूप जें हवन तें अनध्यायाचे दिवसीं नरी केलें तथापि पुण्यच होतें.

यः स्वाध्यायमधीतिऽहं विधिना नियतः शुचिः ॥

तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

जो कोणी वर्षपर्यंत ही इष्ट्रिये वश करीत होत्साता पवित्र राहून दररोज वेदाध्ययन विधिपूर्वक करितो त्याला तें वेदाध्ययन दूध, दही, घृत, आणि मध यांतें देतें, नंतर वेदाध्ययनकर्ती त्या दूध इत्यादिकांनीं देवपितरांला संतुष्ट करितो, नंतर ते देवपितर संतुष्ट होत्साते वेदाध्ययनकर्त्याचे सकल मनोरथ परिपूर्ण करितात.

अग्नीधनं भिक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ॥

आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

उपनयन झालेला द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) यानें सायंप्रातः समिधाहोम, भिक्षा धागणें, अधःशय्या (पलंग इत्यादिविरहित निद्रा) आणि गुरूंचें हित (उदकुंभ भरून आणणें इत्यादिक), हीं समावर्तनापर्यंत करावीं.

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ॥

आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वध्याप्या दश धर्मतः ॥ १०९ ॥

ज्याला वेदाध्ययन सांगावयाचें तो कसा असावा ते सांगतो. — आचार्याचा पुत्र, सेवा करणारा, व्यवहारसंबंधी ज्ञान सांगणारा, धर्मवेत्ता, शुचिर्भूत, बांधव, ग्रहणधारणा-विषयीं समर्थ, धनदाता, हितेच्छु, आणि स्वज्ञाति, हे जे दहा यांला धर्मशास्त्राप्रमाणे गुरूनें अध्ययन शिकवावें.

नापृष्टः कस्यचिद्दूयान्नचान्यायेन पृच्छतः ॥

ज्ञाननपि हि मेधावी जडवह्नौक आचरेत् ॥ ११० ॥

जरी कोणी दुसऱ्याने अशुद्ध अध्ययन केलें तथापि विचारल्यावांचून बुद्धिमान् गुरूनें शुद्धाशुद्ध सांगूं नये, परंतु आपला शिष्य असेल तर त्याला न विचारतांहि सांगावें. तसेंच अन्यायानें (ह्मणजे भक्तिश्रद्धा इत्यादिक जे प्रश्न करण्याचे धर्म ते सोडून) विचारणास त्याला सांगूं नये. स्वतां ज्ञाता असतांहि लोकांत मुक्याप्रमाणें व्यवहार ठेवावा.

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ॥

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेचं वाऽधिगच्छति ॥ १११ ॥

वरच्या श्लोकांत सांगितलेल्या दोन प्रतिषेधांचें उल्लंघन झालें असतां दोघ 'सांगतो'—विचारल्यावांचून जो ज्याला सांगतो, आणि अधर्मकत्वन जो ज्याला विचारितो या दोहोंतून एक, नियमाचें उल्लंघनकर्ता मृत होतो, अथवा व्यासहवर्तमान द्वेष पावतो.

धर्माधीं यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विद्या ॥

तत्र विद्या न वक्तव्या दुर्धं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

ज्या शिष्याला अध्ययन सांगितलें असतां धर्म, अर्थ, अथवा अध्ययनसदृश (अध्ययनास योग्य) असी गुरुशुश्रूषा, यांतून कोणतेंहि ज्याला होत नाही त्याला विद्या सांगूं नये. सांगितली असतां ती विद्या उषरभूमीत उत्तम बीज पेरिल्याप्रमाणें व्यर्थ होते. गुरूनें शिष्यापासून इव्य घेतलें असतां 'मौल्य घेऊन अध्ययन सांगणारा दोषी होतो' असें जें दोषनिदर्शन त्याची प्राप्ति नाही; कारण, जर अमुक इतकें मल्य रूप देईल तर मी अध्ययन सांगेन असा नियम दृष्ट नाही.

विद्यैव समं कामं परतर्क्य ब्रह्मवादिना ॥

आपदापि हि घोरायां नखेनाभिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

वेदाचें अध्ययन शिकविणारानें आपल्या निर्वाहानिषयी जरी घोर आपत्ति प्राप्त झाली तथापि विद्वेला आपल्याबरोबर घेऊन मृत व्हावें हें बरें, परंतु उषरभूमीत विद्येचें बीजारोपण करूं नये. तात्पर्य असें कीं, अध्ययनाला योग्य शिष्य न मिळाला तथापि अपात्राला कदापि विद्या शिकवूं नये.

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेषधित्तोऽस्य रक्ष मां ॥

असूयकाय मां माऽदास्तथा त्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

विद्याधिष्ठात्री देवता वेदाध्ययन सांगणाऱ्या कोणीएका ब्राह्मणाजबळ घेऊन असें बोलते कीं, हे ब्राह्मणा, मी तुला निधि ह्मणजे संपत्ति आहे, माझे रक्षण कर, आणि ईर्ष्यादिदोषयुक्त अशा पुरुषाला मातें देऊं नको, अशा रीतीनें तूं माझे संरक्षण केलें असतां मी अतिशय बलिष्ठ होईन.

१ प्रश्नावांचून सांगणें व अन्यायानें प्रश्न करणें असे दोन प्रतिषेध. २ शुचिभूतपणा इत्यादि. ३ अध्ययनसमयां अध्ययनापेक्षा शुश्रूषा अधिक असावी. ४ ज्या भूमीत उत्तम बीज पेरिलें असतां हि अंकुरादि उत्पन्न होत नाहीत ती भूमि.

यमेव तु शुचिं विद्यान्वितं ब्रह्मचारिणम् ॥

तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥११५॥

जो शिष्य पवित्र, जितेंद्रिय, ब्रह्मचारी, असा तुला दिसेल तो विद्यारूप निधीचें रक्षण करण्याविषयी समर्थ आहे असें जाणून त्या प्रमादरहित ब्राह्मणाकारणें तूं मातें अर्पण कर.

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ॥

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

जो कोणी अभ्यासार्थ वेदाध्ययन करितो त्यापासून किंवा दुसऱ्याला अध्यापन करितो त्यापासून त्याचे आज्ञेविरहित, वेदज्ञान संपादन करील तर त्याणें वेदचौर्य केलें असें होऊन तो नरकाप्रत जातो, तस्मात् तसें करूं नये.

लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽध्यात्मिकमेव च ॥

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

लौकिकज्ञान (अर्थशास्त्रादिकज्ञान), वैदिकज्ञान (वेदार्थज्ञान), अथवा आध्यात्मिक ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) यांतून कोणतेंहि ज्या गुरूपासून संपादन करतो त्याला प्रथम अभिवादन करावें. लौकिकादिज्ञानगुरू तीन एकसमयी प्राप्त असतां उत्तरोत्तराला मान्यत्व आहे याकरितां त्या क्रमानें तिघांचा सन्मान करावा.

सावित्रिसारमात्रीऽपि वरं विप्रः सुयंत्रितः ॥

नार्यंत्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वांशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

उत्तम प्रकारेंकरून शास्त्रनियमानें राहणारा, आचारसंपन्न परंतु गायत्री मात्र जाणणारा असेल तथापि तो चांगला. निषिद्धभोजन करणारा, सर्व निषिद्ध पदार्थांचा विक्रय करणारा असून तीन वेद जाणणारा असेल तथापि तो सन्मानास योग्य नाही.

शय्यासनंऽप्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ॥

शय्यासनस्थश्चैव न प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

जर आपणाहून विद्यादिकानीं श्रेष्ठ असा अन्य, किंवा आपला गुरू ज्या आसनावर अथवा शय्येवर बसला असेल तर त्या आसनादिकावर तत्कालींहि आपण बसूं नये. आणि शय्या अथवा आसन यांवर आपण बसला असतां गुरू इत्यादिक येईल तर उठून त्याला अभिवादन करावें.

ऊर्ध्वं प्राणा सुत्क्रामन्ति पुनः स्थविर आसति ॥

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

ज्या हेतूस्तव वृद्ध पुरुष आपल्या घरी आला असतां तरुण पुरुषाचे प्राण शरीरांतून बाहेर येण्याविषयी इच्छितात, परंतु तो ज्या काली उत्थापन व अभिवादन करितो त्या काली ते प्राण स्वस्थानी जातात, म्हणून वृद्धाला उत्थापन देऊन अभिवादन करावें.

अभिवादनशीलस्य निर्यं वृद्धोपसेविनः ॥

चत्वारि तस्य वर्ज्ये आयुर्विद्या यमो बलम् ॥ १२१ ॥

उत्पापन देऊन सर्वदा वृद्धाला अभिवादन करणारा व वृद्धाची सेवा करणारा अशा पुरुषाची आयुष्य, विद्या, कीर्ति आणि बल हीं वृद्धिंगत होतात.

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ॥

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

आतां अभिवादानाचा विधि सांगतो—ब्राह्मण वृद्धाला नमस्कार करित असेल त्या कालीं अभिवादये (नमस्कार करितो) असा शब्द पूर्वी उच्चारून नंतर 'अमुकनामाहमस्मि' (अमुकनामक मी आहे) याप्रमाणे आपले नामाचा उच्चार करावा.

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ॥

तान्प्राज्ञोहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

जे कोणी संस्कृत भाषेचे अज्ञान असल्यामुळे अभिवादानाचा अर्थ जाणत नाहीत त्याला अभिवादन करणे असतां अभिवादन करणाऱ्या प्राज्ञ पुरुषाने 'अभिवादये' (अभिवादन करितो) इतकेच बोलवे, व सर्व वडील स्त्रियांला अभिवादन करणे त्या कालीहि तसेच बोलवे.

भोः शब्दं कीर्तयेदंते स्वस्य नाम्नोऽभिवादाने ॥

नाम्नां स्वरूपभावी हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

अभिवादन करावयाचे समयी आपल्या नांवाच्याअंती 'भोः' असा शब्द उच्चारवा. कारण की, 'भो' शब्द सर्व अभिवाद्य नामाच्या स्वरूपाचा भाव (सत्ता) ऋषींनी सांगितला आहे, यास्तप 'अभिवादये शुभशर्माहमस्मि भोः' (मी शुभशर्मा नमस्कार करितो) याप्रमाणे वाक्य उच्चारवे.

आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने ॥

अकारश्चास्य नाम्नोऽंते वाच्यः पूर्वक्षरः कुतः ॥ १२५ ॥

अभिवादन करणारा ब्राह्मणादिक याने, अभिवादन केल्यानंतर आशीर्वाद देणारा याने 'आयुष्मान् भव सौम्य' (हे सौम्य बहुत कालपर्यंत वांच) असे वाक्य बोलवे. आणि अभिवादकाच्या नामाच्या अंती जो अकारादि स्वर तो कुतः (त्रिमात्रात्मक) उच्चारवा.

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ॥

नाभिवाद्यः स विदुषा पथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

जो ब्राह्मण अभिवादानास योग्य असै प्रत्यभिवादन जाणत नाही त्याला, अभिवादन जाणणाऱ्या ब्राह्मणाने, आपले नामोच्चारण इत्यादिक उक्त विधीने अभिवादन करूं नये, कारण, जसा शूद्र तसाच तो जाणावा. त्याचे पायांस स्पर्श केल्यावाचून केवळ 'मी अभिवादन करितो' असे हणण्यास निषेध नाही.

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रवंधुमनामप्यम् ॥

वैश्यं क्षेमं समामन्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

१ ज्याला अभिवादन करावयाचे त्याची शक्ति (विद्यासामर्थ्य) जाणणारा तो प्राज्ञ.

आपल्याहून कनिष्ठ, किंवा समानवयाचा अथवा अभिवादन न करणारा असा ब्राह्मण भेटला असता त्याला कुशल (तुम्ही खुशाल आहाना ?) असे विचारून नंतर दुसरी गोष्ट विचारावी. क्षत्रिय भेटला असता अनामय (आरोग्य) आहे ? असे विचारावे. वैश्य भेटला असता क्षेम (कुशल) आहे ? असे विचारावे. शूद्र भेटला असता आरोग्य आहे ? असे विचारावे.

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ॥

भो भवत्पूर्वकत्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

धर्मवेत्त्या पुरुषाने अभिवादनकाली किंवा अन्यकाली यज्ञदीक्षा ज्याने ग्रहण केली असेल तो कनिष्ठ असला तथापि दीक्षा घेतल्यापासून अवभृथस्नानापर्यंत त्याचे नांव घेऊन त्याला बोलावू नये, तर 'भो दीक्षित इदं कुरु' (हे दीक्षितहो, हे करा. भवता यज्ञमानेन इदं क्रियतां आपण यज्ञमानानीं हे करावे) इत्यादि उत्कर्षदायक शब्दांनी त्याप्रत बोलावे.

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबंधा च योनितः ॥

तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

परपत्नी अथवा जिच्याशी कोणताहि योनिसंबंध (नाते) नाही असी स्त्री तिच्याशी भाषण करणे तर ' हे भवति सुभगे, हे भगिनि ' असे प्रथम बोलून भाषण करावे. श्लोकांत ' परपत्नी ' असे छटछे आहे त्यापेक्षां कन्या इत्यादिक असेल तर तीविषयी हा विधि नाही, कारण, भगिनी, कन्या इत्यादिकांविषयी तर ' हे आयुष्मति, ' इत्यादिक शब्दयोजना करून भाषण करावे असे उक्त आहे.

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरुन् ॥

असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

वयान कनिष्ठ असे मातुळ, पितृव्य (चुलते—पिलाचे भाते), श्वशुर, ऋत्विज, आणि ज्ञानवृद्ध किंवा तपोवृद्ध असा गुरु यांला उत्थापन घेऊन ' असौ अहं ' (अमुक नामधारी मी) असे बोलवे, अभिवादन करू नये.

मातृष्वसा मातुलानीं श्वशूरथ पितृष्वसा ॥

संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यवा ॥ १३१ ॥

मातृष्वसा (मावशी), मातुलानी (मातुळपत्नी), श्वशू (सासू), आणि पितृष्वसा (पितृभगिनी—आत) ह्या सर्व गुरुपत्नीसमान आहेत यास्तव जसी गुरुपत्नीची उत्थापन, आसन, नमस्कार इत्यादि प्रकारे पूजा (सन्मान) करावी तद्वत् यांचीहि करावी.

भ्रातृभार्योपसंप्राया सवर्णाऽहन्यहन्यपि ॥

विप्रोष्य तूपसंप्राया ज्ञातिसंबंधिपोषितः ॥ १३२ ॥

१ कुशल व क्षेम, अनामय व आरोग्य यांचे अर्थ जरी सारखे आहेत तथापि शब्दविज्ञानाच्या रचने पूर्वे विवक्षित आहे.

आत्यांची स्त्री आपल्या वर्णातील आणि ज्येष्ठा असेल तर दररोज तिच्या चरणांप्रत वंदन करावे. आणि चुलते इत्यादिक ज्ञाति व सासरा इत्यादिक संबंधी यांच्या स्त्रियांला प्रवासांतून आला असतां नमस्कार करावा. दररोज करण्याविषयी नियम नाही.

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्पयि ॥

मातृवदृन्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३२ ॥

आत, मावशी, आणि ज्येष्ठ भगिनी यांचे ठायीं मातेप्रमाणें वृत्ति (आचरण) ठेवावी, परंतु त्यांमध्ये सर्वांहून माता श्रेष्ठ जाणावी.

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पंचाब्दाख्यं कलाभृतां ॥

त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

एकनगरांत राहणारे असून विद्यादिगुणांनीं विरहित जे सामर्थ्ये एक दहा वर्षांनीं जरी अधिक-असेल; गायन, नृत्य इत्यादि कला जाणणाऱ्यांमध्ये एक पांच वर्षांनीं अधिक; श्रोत्रिय (वेदाध्ययन केलेले) त्यांत एक तीन वर्षांनीं अधिक आणि आपल्या सपिंडांत एक अल्पकाळानें अधिक असला तथापि त्या परस्परांशीं सख्यव्यवहार होतो, ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार होत नाही. सांगितल्या कालाहून (वर्षांनीं) अधिक असला तर ज्येष्ठ व्यवहार होतो.

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ॥

पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

ब्राह्मण दहा वर्षांचा असेल आणि क्षत्रिय शंभर वर्षांचा असेल तथापि त्याला पिता-पुत्र असे मानावे. त्या दोहोंमध्ये दहा वर्षांचा ब्राह्मण असेल तथापि शंभर वर्षांच्या क्षत्रियाचाहि पिता होतो असे समजावे. यास्तव तो ब्राह्मण, क्षत्रियाला पित्याप्रमाणें मान्य होय.

वित्तं बंधुर्यः कर्म विद्या भवति पंचमी ॥

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यदादुस्तरम् ॥ १३६ ॥

वित्त (न्यायसंपादित धन), बंधु (पितृव्यादिक), वय (अधिक वयस्कता), कर्म (वैदिक व स्मृत्युक्त) आणि पांचवी विद्या (वेदार्थतत्त्वज्ञान) हीं मान्यतेला कारण आहेत, यांमध्ये जे जे पुढचे ते ते मान्याहून श्रेष्ठ होय असे जाणावे.

पंचानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ॥

यत्र स्युः सोऽत्र मानाः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य ह्या तीन वर्णांतून कोणत्याहि पुरुषाचे ठायीं ह्या पांच गुणांपैकी अधिक गुण समवतील तर तोच पुढच्याहूनहि मान्य आहे. क्षणजे वित्त व बंधु यांहीं युक्त जो तो व्योधिकारून मान्य, विद्यादि तीन गुणांनीं युक्त तो कर्मवन्ताहून मान्य, विद्यादि चार गुणांनीं युक्त तो विद्वानाहून मान्य, पांच गुणांनीं युक्त दोघेहि असल्यास त्याच्या गुणांचा उत्कर्ष तो मान्य असे जाणावे, आणि जर शूद्रहि दहाव्या अवस्थेत गत असेल क्षणजे नव्वद वर्षांहून अधिक वयाचा असेल तर तोहि त्या मानाला योग्य आहे.

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ॥

स्नातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

रथ, गाडी इत्यादि वाहनांवर बसलेला, नव्वद वर्षाहून अधिक वयाचा, रोगपीडित, ओझे घेतलेला, स्त्री, स्नातक (नुकताच समावर्तन संस्कार झालेला), राजा, आणि विवाहाकरितां निघालेला वर हे आपल्यासमोर येत असतां यांला मार्ग द्यावा; ह्मणजे मार्ग सोडून आपण पलीकडे व्हावे.

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ॥

राजास्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

ते सर्व एकत्र मिळाले असतां त्यांमध्ये राजा व स्नातक यांला अधिक मान द्यावा, राजा, स्नातक एकत्र मिळाले तर राजाहून स्नातक विशेष मान्य जाणावा.

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः ॥

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

या शास्त्रांत बहुधा व्यवहार आचार्यादि शब्देकरून आहे याकरितां आचार्यादि शब्दांचा अर्थ सांगतो— जो ब्राह्मण शिष्याचें मौजीबंधन करून त्याला कल्प (यज्ञविद्या), रहस्य (उपनिषदे) एतत्सहित वेदाचें अध्ययन सांगतो तो आचार्य होय असें ह्मणतात.

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः ॥

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

जो ब्राह्मण उपजीविकेसाठीं वेदाचा एक देश ह्मणजे मंत्र आणि ब्राह्मण यांचें अध्ययन सांगतो, अथवा वेदाचीं अंगें जीं व्याकरणादिक त्यांचें अध्ययन सांगतो तो उपाध्याय असा झटला आहे.

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥

संभावयति चान्त्रेण स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

गर्भाधानादिक संस्कारकर्म पियाला सांगितलेलीं तीं यथाशास्त्र करितो, आणि अन्नपान हेऊन जो वाढवितो तो ब्राह्मण, गुरु असा झटला आहे.

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्ग्रहान् ॥

यः करोति वृतो यस्य स तस्यैविगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

यजमानानें वरला होत्साता जो ब्राह्मण अग्न्याधेय (आहुवनीयाद्यभ्युत्पादक कर्म), पाकयज्ञ (अष्टकादिक यज्ञ), आणि अग्निष्टोमादि यज्ञ, हीं ज्याचीं करितो त्याचा तो ऋत्विक् होय असें या शास्त्रांत झटलें आहे.

य आवृषीत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणाबुधौ ॥

स माता स पिता ज्ञेयस्तं न दुयोक्तव्यम् ॥ १४४ ॥

जो ब्राह्मण अवितथ (वर्णस्वरवैगुण्य न होतां) सत्यरूप वेदघोषाने कान भरितो, तो माता व पिता जाणावा, ह्मणजे मातापितृसमान त्याला मान द्यावा, व त्याच्याशी द्वेष कदापि करूं नये.

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ॥

सहस्रं तु पितृन् माता गौर्ध्वेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

उपाध्यायाहून दशगुणित उपनयनपूर्वक गायत्री मात्र पढविणारा आचार्य अधिक श्रेष्ठ, आचार्याहून शतगुणित पिता श्रेष्ठ, आणि पित्याहून सहस्रगुण माता अधिक आहे.

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीषान् ब्रह्मदः पिता ॥

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

जनक (उत्पन्न करणारा) आणि आचार्य (वेदाध्ययन सांगणारा) हे दोनही जन्म देणारे आहेत यास्तव ते पिते होते. परंतु त्यांमध्ये उत्पादक पित्यापेक्षां ब्रह्मदाता (आचार्य) हा श्रेष्ठ आहे; कारण, ब्राह्मणास वेदग्रहणाकरितां उपनयनसंस्काररूप जें दुसरें जन्म सांगितलें तें प्राप्त झाल्यानंतर त्यापासून इहलोकीं व परलोकीं ब्रह्मप्राप्तिरूप फल आहे.

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ॥

संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

ज्या हेतूस्तव माता आणि पिता हे दोघे परस्पर कामवश होऊन बालकातें उत्पन्न करितात आणि मातृकुक्षीत अंगप्रसंगें वृद्धिंगत होतात; त्या हेतूस्तव त्या बालकाचें तें जन्ममात्र होय.

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्देदपारगः

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥ १४८ ॥

वेदपारग (वेद ज्ञाणणारा) आचार्य या बालकाची जी जाति (जन्म) यथाशास्त्र उपनयनपूर्वक गायत्रीउपदेशेकरून उत्पन्न करितो ती जाति ब्रह्मप्राप्तिफलत्वास्तव सत्य, नरारहित व अविनाशी होय.

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ॥

तमपीह गुरुं विद्या छतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

जो उपाध्याय अल्प किंवा बहुत अशा वेदाचे अध्ययनेकरून शिष्यावर उपकार करतो तोहि त्या उपकाराने शास्त्राचेठायी त्याचा गुरु होय असे जाणावे.

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ॥

बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

ब्राह्म जन्म देणारा (उपनयन करणारा), स्वधर्माचा शासिता ह्मणजे वेदार्थ कथन करणारा असा कदाचित् अल्पवयस्क जरी असेल तथापि तो ब्राह्मण वृद्धासहि धर्मेकरून पित्याप्रमाणें मान्य होय, यास्तव पितृधर्म त्याचेठायीं आचरण करावे.

अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः कविः ॥

पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

पूर्वी अंगिरा ऋषीचा पुत्र वयानें लहान असून विद्वान् होता, त्यानें आपले पितृव्यादिक वडील व त्यांचे पुत्रादिक हे वयानें अधिक असतां त्यांला वेदाध्ययन सांगितलें आणि ज्ञान सांगून आपले शिष्य केले व त्यांला हे पुत्रकाः (हे पुत्रहो) असी हाक मारिली.

ते तमर्थमपृच्छंत देवानागतमन्यवः ॥

देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

याप्रमाणें हाक मारिल्यामुळें ते पितृव्यादिक क्रोधायमान होत्साते देवांप्रत जाऊन त्यांनीं पुत्रकशब्दाचा अर्थ विचारिला. तेव्हां देवांनीं सांगितलें कीं, तुझाला पुत्रका ह्मणून जी बालकांनं हाक मारिली ती यथार्थ आहे.

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मंत्रदः ॥

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मंत्रदम् ॥ १५३ ॥

कारण कीं, जो अज्ञानी तोच बालक होय, वेदाचें अध्ययन सांगणारा अल्पवयस्क असेल तथापि तो पिता होय, यास्तव प्राचीन ऋषींनीं अज्ञानाला बालक आणि वेदाध्ययन सांगणाराला पिता असें झटलें आहे.

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बंधुभिः ॥

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

याविषयीं हेतु सांगतात—पुष्कळ वय असल्यानें, अथवा केश, दाढी, मिशा हीं पिकून पांढरीं झाल्यानें, अथवा द्रव्यानें, पितृव्यादिक बहुत बंधुभावानें, किंवा हीं सर्व एकत्र असल्यानें पुरुष मोठा होत नाहीं, तर ऋषींनीं मोठेपणाविषयीं असा धर्मनिश्चय केला आहे कीं ज्यानें गुरूजवळ सांग वेदाचें अध्ययन केलें तो खरोखर आझाला महान् आहे.

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ॥

वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेवजन्मतः ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणांला, ज्ञान ह्मणजे विद्या तिणेंकरून श्रेष्ठत्व, क्षत्रियांला पराक्रमेंकरून श्रेष्ठत्व, वैश्यांला धन्यधान्य वस्त्रादिक संपत्तीनें श्रेष्ठत्व आणि शूद्राला मात्र जन्मेंकरून (अधिकवयानें) श्रेष्ठत्व प्राप्त होतें.

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ॥

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

ज्या वयाच्या योगानें पुरुषाच्या मस्तकाचे केश पांढरे होतात अशा बहुत वयानें पुरुष वृद्ध होतो असें नाहीं; तर, तरुण असतांही जो उत्तम विद्वान् तोच वृद्ध असें देव मानितात.

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ॥

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

जसा काष्ठनिर्मित हत्ती, जसा चर्ममय मृग, आणि विद्याहीन ब्राह्मण हे तीन केवळ नामधारी मात्र जाणावे, कारण, ते हस्त्यादिक शत्रुवधादिक कार्य करण्याला असमर्थ होत.

यथा षंडोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ॥

यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

जसा स्त्रियांला नपुंसक निष्फल, जसी गार्ईला गाय निष्फल, जसें मूर्ख ब्राह्मणाला दान देणें निष्फल त्याप्रमाणें विद्याहीन ब्राह्मण निष्फल जाणावा; कारण कीं, श्रौत व स्मार्त कर्माविषयी त्याला योग्यता नसल्यामुळें त्यांचें (श्रौतस्मार्त कर्मांचें) फल त्याला प्राप्त होत नाही.

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम् ॥

वाक् चैव मधुरा श्लक्षणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

धर्मबुद्धि इच्छिणाऱ्या गुरूनें शिष्यांला अति ताडन केल्यावांचून त्यांच्या कल्याणार्थ वेदाध्ययन सांगावें, आणि शिष्यांला शिक्षणार्थ भाषण करणें तें मोठ्यानें न ओरडतां मधुर करावें.

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्पगुप्तेच सर्वदा ॥

स वै सर्वमवाप्नोति वेदांतोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

आतां साधारण सर्व पुरुषांला फलदायक व धर्मरूप असा वाणी व मन यांचा निग्रह सांगतो.—ज्याची वाणी आणि मन हीं दोन शुद्ध (हणजे अनृतभाषण इत्यादिकांनीं वाणी दुष्ट नसणें व रागद्वेषादिकांनीं मन दूषित नसणें) असतात व ज्या पुरुषाची वाणी आणि मन सर्वकाल निषिद्ध विषयांविषयी सुरक्षित होतात त्याला वेदांतापासून प्राप्त झालेलें असें सर्वज्ञत्व, सर्वेशानादिरूप फल मोक्षाच्या लाभेंकरून प्राप्त होतें.

नास्तुदः स्यादातोंपि न परद्रोहकर्मधीः ॥

ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

मनुष्य आपण कितीहि पीडत असला तथापि त्यानें जेणेंकरून दुसऱ्याचे मर्माचा भेद होईल असें मर्मभाषण कदापि करूं नये. तसेंच दुसऱ्याला द्रोह (अपकार) उत्पन्न होईल असें कर्म करण्याविषयी कदापि बुद्धि करूं नये. ज्या वाणीपासून दुसऱ्याचें मन दुखवेल तसें अल्पहि वचन बोलूं नये. कारण, दुसऱ्याचें मर्म भेदणारी असी वाणी मुखापासून निघाली असता ती स्वर्गप्राप्तीचा नाश करिते.

समानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ॥

अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

ब्राह्मणानें सन्मानाला विषाप्रमाणें समजून त्यापासून नित्य दूर राहावें, हणजे सन्मानाविषयी प्रीति करूं नये. सर्व लोकांपासून अपमानाची इच्छा अमृताप्रमाणें करावी. दुसऱ्यानें अपमान केला असता क्षमा करीत होतसता त्यानें त्याविषयी खेद करूं नये; हणजे या

संसाराचे ठायीं मान, अपमान; सुख, दुःख; हीं प्राप्त असतां सर्व सहन करावीं असा विधि यणेकरून प्राप्त होतो.

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्धयते ॥

सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमंता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अपमान सहन करण्याविषयीं हेतु सांगतो.—दुसऱ्यानें अपमान केल्या असतां त्या-विषयीं जो खेद मानीत नाही तो सुखेकरून निद्रा करितो, व सुखाने जागृत होतो. आणि या लोकाचे ठायीं सुखेकरून सर्व कार्ये करितो व अपमानकर्ता मात्र त्या पातकेकरून नाश पावतो.

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ॥

गुरौ वसन् संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

पूर्वी सांगितला जो हा क्रमयोग क्षणजे जातकमांपासून उपनयनपर्यंत संस्कार त्यांकरून संस्कृत अशा द्विजाने (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांनीं) गुरूचे गृहीं राहून त्वरेवांचून वेदाची प्राप्ति होण्याकरितां तपश्चर्या करावी, क्षणजे मार्गे सांगितलेले व पुढें सांगावयाचे असे सर्व नियम धारण करावे.

तपोविशेषैर्विविधैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः ॥

वेदः कृत्स्नोऽधिगंतव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

ब्राह्मणाने तपोविशेष (नियमकलाप), नानाप्रकारचीं मार्गे सांगितलेलीं व पुढें सांगावयाचीं असीं ब्रते क्षणजे उपनिषन्महानाभ्यादिब्रते, आणि आपल्या गृह्यसूत्रांत सांगितलेलीं ब्रते हीं सर्व आचरण करून मंत्र, ब्राह्मण, उपनिषदे एतद्रूप सर्व वेदांचें अध्ययन करावें.

वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तपस्यन् द्विजोत्तमः ॥

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

ज्या द्विजोत्तमाला तप करण्याची इच्छा असेल त्याने वेदाचाच सर्वदा अभ्यास करावा. कारण कीं, वेदाभ्यास हें ब्राह्मणाचें इहलोकीं उत्तम तप असे ऋषींनीं सांगितलें आहे.

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ॥

यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ १६७ ॥

जो द्विज पुष्पांची माला धारण करित होत्साताहि दररोज यथाशक्ति वेदाचें अध्ययन करितो त्यानें मस्तकापासून चरणनखांपर्यंत सर्वदेहव्यापक असीच उत्तम तपश्चर्या केली अशी होले.

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ॥

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशूचच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

जो द्विज वेदाचें अध्ययन केल्यावांचून इतर अर्थशास्त्रादिकांचे अध्ययनाविषयीं श्रम करितो तो जीवंत होत्साताच पुत्रपौत्रादिकांसहवर्तमान शीघ्र शूद्रत्वाला पावतो. (वेदाचें अ-

ध्ययन केल्यावांचूनहि स्मृति, वेदाचीं अंगें यांचें अध्ययन केलें असतां दोष नाही, असें शांखलिखितांचें वचन आहे.)

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौंजीबंधने ॥

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

मातेपासून जें जन्म होतें तें द्विजाचें प्रथम जन्म जाणावें, उपनयनसंस्कारापासून होतें तें दुसरें जन्म जाणावें, आणि यज्ञदीक्षाग्रहणापासून होतें तें तिसरें जन्म असें श्रुतिप्रमाण आहे.

तत्र यद्वृक्षजन्मास्य मौंजीबंधनचिन्हितं ॥

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

त्या तीन जन्मांतून वेदग्रहणासाठीं जें जन्म, उपनयनसंस्काररूप असून मेखलाबंधनानें युक्त त्या जन्मामध्ये सावित्री ही माता आणि आचार्य हा पिता असें झटले आहे.

वेदप्रदानादाचार्य पितरं परिचक्षते ॥

नह्यस्मिन्पुज्यते कर्म किंचिदामौंजीबंधनात् ॥ १७१ ॥

आचार्य, वेदाचें प्रदान ह्मणजे अध्ययन (शिष्याला) सांगतो याकरितां तो पिता होय असें मन्वादिक ह्मणतात. कारण कीं, मौंजीबंधन होईपर्यंत ह्या बालकाला श्रौत अथवा स्मार्त कर्म यांचा कोणताहि अधिकार नाही.

नाभिव्याहारयेद्वृक्ष स्वधानिनयनादृते ॥

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्दे न जायते ॥ १७२ ॥

स्वधाशब्दयुक्त श्राद्धकर्मांत येणाऱ्या वेदमंत्रांवांचून अन्यत्र ठिकाणीं, मौंजीबंधन होईपर्यंत वेदाचा उच्चार करू नये. कारण कीं, जोंपर्यंत वेदाध्ययनास योग्य झाला नाही तोंपर्यंत तो शूद्रसमान आहे.

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ॥

ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

उपनयन झालेला अशा माणवकाला (बालकाला) व्रतोपदेश (अर्घांत समिधा देणें, दिवसा निद्रा न करणें इत्यादि), वेदाचें अध्ययन, हीं क्रमैकरून विधिपूर्वक सांगितली आहेत यास्तव उपनयनाचे पूर्वी माणवकालानें वेदाचा उच्चार करू नये.

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं वा च मेखला ॥

यो दंडो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

ब्रह्मचाऱ्याला उपनयनकाली जें चर्म, जें सूत्र, जी मेखला, जो दंड, जें वस्त्र विहित सांगितले तें मोदनादि व्रताचेठायीं तें तेंच नूतन धारण करावें.

सेवेतेमास्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुतै वसन् ॥

सन्नियमैर्विद्ययां तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

ब्रह्मचारी गुरूचे समीप राहत असतां त्यानें इंद्रियदमन करून, आपल्या पुण्याची वृद्धि होण्यासाठीं वक्ष्यमाण (पुढें सांगावयाचे) नियम पाळावे.

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवीर्षपितृतर्पणम् ॥

देवताभ्यर्चनं चैव सभिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

ब्रह्मचारी यानें नित्य स्नान करून शुचिर्भूत होत्साता त्यानें देव, ऋषि, आणि पितर यांचें तर्पण करावें, व प्रतिमादिकांचेठायीं विष्णु, शिव इत्यादि देवांचें पूजन आणि अग्नीचेठायीं सायंप्रातःसमिधाहोम हें सर्व करावें.

वर्जयेन्मधु मांसं च गंधं माल्यं रसान् स्त्रियः ॥

शुक्लानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

मधु, मांस भक्षण करूं नयेत. गंध (कर्पूर, चंदन, कस्तूरी इत्यादि), पुष्पमाला धारण करूं नयेत. गूळ इत्यादि रस भक्षण करूं नयेत. व स्त्रीसमागम करूं नये आणि शुक्ल (स्वभावेकरून मधुरादि रस असून कालवशानें व उदकवासूदिकानें आम्ल झालेले असे) पदार्थ भक्षण करूं नयेत, प्राण्यांची हिंसा करूं नये.

अभ्यंगमंजनं चाक्षणीरूपानच्छत्रधारणम् ॥

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गतिवादनम् ॥ १७८ ॥

तैलाभ्यंग; नेत्रांत काजळ; पादुका, छत्री यांचें धारण; काम; लोभ; नृत्य; गीत; वादें नाजैविणें; हीं सर्व वर्ज्य करावीं.

शूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ॥

स्त्रीणां च प्रेक्षणांलंभमुपघातं परस्परं च ॥ १७९ ॥

शूत, जुगार इत्यादि; लोकांसीं व्यर्थ कलह; दुसऱ्याचे दोष बोलणें; असत्य भाषण; स्त्रियांला विषयबुद्दीनें अवलोकन करणें व आलिंगन करणें आणि दुसऱ्याला अपकार करणें हीं वर्ज्य करावीं.

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कंदयेत्क्वचित् ॥

कामाद्धि स्कंदयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

सर्वत्र एकाकी (पलंगविरहित) शयन करावें. इच्छेनें रेतस्खलन करूं नये. कामवासनें करून रेतस्खलन केलें असतां स्वकीय व्रताचा नाश होतो. व्रतलोप झाला असतां प्रायश्चित्त करावें.

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ॥

स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

अनिच्छेनें स्वप्नावस्थेमध्ये रेतस्खलन होईल तर ब्रह्मचारी द्विजानें स्नान करून सूर्याची पूजा करून “पुनर्मामित्विद्विंशं०” ह्या ऋचेचा त्रिवार जप करावा.

उदकुंभं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ॥
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

उदकार्ने भरलेला कुंभ, पुष्पे, गोमय, मृत्तिका, आणि कुश हे पदार्थ गुरूला जितके पाहिजे असतील तितके आणावे, व आणखीहि आचार्याला उपयुक्त पदार्थ आणावे. आणि प्रत्यहीं भिक्षा मागून आणावी.

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ॥
ब्रह्मचार्याहरेद्वैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

वेद, यज्ञ यांहीं युक्त; स्वकर्मांमध्ये दक्ष राहणारे अशांच्या गृहांपासून ब्रह्मचारी याने प्रयत्नेकरून दररोज सिद्धान्नभिक्षा मागून आणावी.

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबंधुषु ॥
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

गुरूचे कुळ, ज्ञाति (सपिंड), बंधु (मातुळादिक), यांचे घरीं ब्रह्मचारी याने भिक्षा मागूं नये. भिक्षा घेण्याला योग्य अशा इतर गृहांचा अभाव असेल व गुरू इत्यादिकांचीं गृहें असतील तर त्या पूर्वोक्तांतून पहिले पहिले सोडावे. झणजे प्रथम बंधुगृहीं भिक्षा मागावी, त्याच्या अभावीं ज्ञाति, ज्ञातींच्या अभावीं गुरूचे ज्ञाति यांचे गृही भिक्षा मागावी.

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे ॥
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

पूर्वोक्त गृहांचे ठायीं भिक्षा न मिळाल्यास शुचिर्भूत मौनी होत्सता त्यानें सर्व गांवांत भिक्षा मागावी, परंतु महापातकादिकांनीं अभिशस्त (पतित) यांचे घरीं मात्र मागूं नये.

दूरादाहत्य समिधाः सन्निदध्याद्विहायसि ॥
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतं द्वितः ॥ १८६ ॥

दूर दिशांहून यज्ञियवृक्षाच्या समिधा आणून उच्चप्रदेशी ठेवाव्या. नंतर निरालसः पणाने सायंप्रातःकाली अग्नीचे ठायीं त्या समिधांचा होम करावा.

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ॥
अनानुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

भिक्षा मागणें व सायंप्रातःकाली अग्नींत होम देणें हे रोगरहित ब्रह्मचारी ज्ञात, रात्रीपर्यंत न करील तर तो लुप्तव्रत होतो, यास्तव त्यानें अवकीर्णप्रापश्चित्त करावे.

भैक्षेण वर्तयेन्नित्य नैकान्नादी भवेद्भूती ॥
भैक्षेण व्रतितो वृत्तिरपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

ब्रह्मचारी यानें एक अन्न (एकाच घरीं भिक्षा मागून आणलेलें असें) भक्षण करूं नये, तर बहुत गृहीं भिक्षा मागून आणलेलें अन्न प्रत्यहीं भक्षण करावें. कारण कीं, भिक्षा-जानें उपजीविका ही ब्रह्मचारी याला उपोषणासमान असी झटली आहे.

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्विवत् ॥

काममभ्यर्थितोऽश्रीयद्भूतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

पूर्वीं निषिद्ध सांगितलें जें एकान्नभोजन त्याचा प्रतिप्रसव सांगतो.— दैवकर्म व पित्र्यकर्म यांच्या निमित्तें करून ब्रह्मचारी याला निमंत्रण केलें असेल तर त्यानें यतीप्रमाणें व्रतविरुद्ध जें मधुमांसादिक निषिद्ध अन्न त्यावांचून एकाचेंहि अन्न यथेष्ट भक्षण करावें. याप्रमाणें एका घरचें अन्न भक्षण केलें असतां ब्रह्मचार्याचें भैक्षवृत्तिनियमरूप व्रत लुप्त होत नाहीं.

ब्राह्मणस्यैव कर्मतदुपदिष्टं मनीषिभिः ॥

राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

परंतु एका घरचें अन्न भक्षण करणें हें जें कर्म तें विद्वानांनीं ब्राह्मणालाच सांगितलें, क्षत्रिय व वैश्य यांला हें कर्म उक्त नाहीं.

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ॥

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

गुरूनें आज्ञा केलेली असो किंवा नसो तथापि वेदाध्ययनाविषयीं आणि गुरूच्या हित-कार्याविषयीं सर्वदा आपणच प्रत्यहीं यत्न करावा.

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ॥

नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्दीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

शरीर, वाणी, बुद्धि, इंद्रियें, आणि मन हीं स्वाधीन करून कृतांजलि (हात जोडला) होत्साता ब्रह्मचारी यानें गुरूच्या मुखाकडे पाहात संमुख उभें राहावें.

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ॥

भास्यतामितिचोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

नित्य उत्तरीय वस्त्रांतून बाहेर काढलेला आहे उजवा हात ज्यानें असा असून, उत्तम आचारसंपन्न, सर्वांगाचे ठायीं वस्त्र धारण केलेला असा ब्रह्मचारी असावा. नंतर गुरूनें भास्यतां (बसावें) असी आज्ञा केली असतां गुरूच्या संमुख बसावें.

हीनानवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ॥

उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

१ प्रतिप्रसव झणजे एकाद्या कार्याचा जो सामान्यतः निषेध केला त्याचा विरोधें करून पुनः जो विधि करावा तो.

सर्वदा गुरुच्या समीप गुरुपेक्षां हीनाजवस्त्रवेष राहावें, ह्मणजे गुरूनें जें वस्त्र पट्टि धान केलें असेल त्याहून अल्प किमतीचें वस्त्र विद्यार्थी यानें धारण करावें, आणि गुरु जें अन्न भक्षण करतो त्याहून आपण कदान भक्षण करावें. पांढटेस गुरुच्या पूर्वी निद्रेंतून उठावें, व रात्रीं गुरु निजल्यानंतर पश्चात् आपण निद्रा करावी.

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ॥

नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन् पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

गुरूनीं कोणती आज्ञा केली असतां तिचा अंगीकार करणें अथवा प्रत्युत्तर देणें अथवा गुरूजवळ संभाषण करणें हीं निजून, बसून, अथवा भोजन करीत करीत किंवा पराङ्मुख अशा अवस्थेत करूं नयेत.

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ॥

प्रत्युद्गम्य त्वान्नजतः पश्चाद्भावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

तर कोणत्या प्रकारें करावीं तें सांगतो— गुरु आसनावर बसून आज्ञा करीत असतां आपण आसनावरून उठून आज्ञा श्रवण करावी अथवा प्रत्युत्तर द्यावें. गुरु उभा असतां अथवा चालत येत असतां आज्ञा करील तर गुरुच्या संमुख कांहीं पावलांपर्यंत जाऊन विचारावें. गुरु धांवत जात असतां आज्ञा करील तर ब्रह्मचार्यानें धांवत जाऊन आज्ञा-श्रवण, प्रत्युत्तर, किंवा भाषण करावें.

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चांतिकम् ॥

प्रणम्य तु शयानस्य दिनेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

गुरु पाठमोरा असतां आज्ञा करील तर त्याच्या संमुख जाऊन उभें रहावें. गुरु दूर असतां आपण जवळ जाऊन, गुरु निजलेला असतां नम्र होऊन, गुरु समीप असतां नम्र होऊनच, आज्ञा इत्यादि श्रवण करावी.

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ॥

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

सर्वदा गुरुच्या जवळ ब्रह्मचार्याची शय्या, बैठक हीं असावीं परंतु, गुरुच्या शय्येहून, अथवा बैठकीहून नीच असावी. जेथें ब्रह्मचारी बसला असतां गुरूची दृष्टि पोचेल तेथें पाह लांब पसरून बसणें इत्यादि प्रकारें बसूं नये.

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ॥

न चैवास्थानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

गुरूचे नामाचा परोक्ष सुद्धा उच्चार करूं नये, तथापि उपाध्याय, आचार्य इत्यादि पूजा- (मानदायक) वचनांनीं नामाचा उच्चार करावा. गुरूसारखें चालणें, बोलणें, आचरण, हीं उपहासबुद्धीनें करूं नयेत.

गुरोर्वन परीवादो निंदा वापि प्रवर्तते ॥

कणौ तत्र पिधातव्यौ मंतव्यौ वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

जेथे गुरूचा परीवाद (विद्यमानदोषकथन) किंवा निंदा (अविद्यमानदोषकथन) होत असेल तेथे राहणाऱ्या शिष्याने आपले कर्ण हस्तादिकेकडून आच्छादावे, अथवा त्या प्रदेशांतून अन्यस्थानी निघून जावे.

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निंदकः ॥

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

आतां शिष्याने गुरूची निंदा केली असतां तिचे फल सांगतो—गुरूचा परीवाद केल्या असतां शिष्य (मृत शाल्यानंतर) गर्दभ होतो. निंदा करणारा श्वा (कुत्रा) होतो. अयोग्य अशा गुरुधनाने उपजीविका करणारा कृमि होतो. गुरूचा उत्कर्ष सहन न करणारा कीट होतो.

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नांतिके स्त्रियाः ॥

यानासनस्थश्चैवैनमवच्छयाभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

शिष्याने आपण दूर राहून अन्याला आज्ञा करून गुरूची पूजा करवू नये. आपण क्रोधायमान असतां अथवा गुरु, स्त्रीच्या सन्निध असेल त्यावेळीं स्वतांही पूजा करू नये. शिष्य वाहनावर किंवा आसनावर बसला असेल तर त्याने वाहनादिकांवरून खाली उतरून गुरूला नमस्कार करावा.

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ॥

असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

गुरूच्या संमुख शिष्य असतां गुरूच्या प्रदेशाकडून शिष्याच्या प्रदेशां येणारा वायु तो प्रतिवात, आणि शिष्याच्या प्रदेशाकडून गुरूच्या प्रदेशां येणारा वायु तो अनुवात, अशा प्रदेशां गुरूसहवर्तमान शिष्याने बसू नये. गुरूला श्रुत न होईल अशा स्थली गुरूची किंवा दुसऱ्या कोणाची गोष्ट बोलू नये.

गोश्वोष्ट्रयानप्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु च ॥

आसीत गुरुणा सार्द्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

बैल, घोडा अथवा उंट हे ज्याला जोडलेले असतील असा रथ किंवा गाडी; प्रासाद; दगडाची फरसबंदी; लाकडाचा बांक; चढई; आणि नौका यांचेठायीं गुरूसह बसावे.

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥

न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरुनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

गुरूचा गुरु समीप असेल तर तो आपलाच गुरु आहे असे समजून त्याला अभिवादनादिक (नमस्कारादिक) करावे, तसेच गुरूच्या घरी शिष्य असतां त्याने गुरूच्या आज्ञे वाचून आपल्या माता, पितृव्य इत्यादिक गुरूला नमस्कारादिक करू नये.

१ कृमीपक्षां जो स्थूल तो कीट होय.

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ॥

प्रतिषेधस्तु चाधर्मान् हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०९ ॥

विद्यागुरु, पितृव्यादिक, अधर्माचा प्रतिषेध करणारे आणि हितोपदेश (तत्त्वोपदेश) करणारे यांचेठायीं आचार्याप्रमाणें सार्वकालिक वृत्ति ठेवावी, ह्मणजे आचार्याप्रमाणें त्यांचा सत्कार करावा.

श्रेयस्तु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ॥

गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबंधुषु ॥ २०७ ॥

विद्येनें व तपानें श्रेष्ठ, समानजाति गुरुपुत्र, गुरुचे ज्ञाति ह्मणजे पितृव्यादिक-बंधु यांचेठायीं गुरुप्रमाणें वृत्ति (वर्तन) ठेवावी.

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ॥

अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

गुरुचा पुत्र बालक असो अथवा समानवयस्क असो, विद्यार्थी असो, परंतु तो जर वेद पदविण्याविषयीं समर्थ असेल तर, मग तो यज्ञकर्मामध्ये ऋत्विक् असो किंवा नसो, तो यज्ञ पाहण्याकरितां आला असतां गुरुप्रमाणें सत्काराला पात्र होतो.

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ॥

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

आचार्यासारिखी सामान्यतः गुरुपुत्राची पूजा प्राप्त झाली असतां त्याविषयीं विशेष सांगतो—गुरुपुत्राचे शरीरीं उद्धर्तन करणें, साला स्नान घालणें, उच्छिष्टभक्षण, आणि पादप्रक्षालन हीं करूं नयेत.

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ॥

असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनाः ॥ २१० ॥

गुरुच्या स्त्रिया सवर्ण असतां त्या गुरुप्रमाणें पूज्य होत, आणि असवर्ण असतां उत्थापन, नमस्कार यांहींकरून त्यांचा सत्कार करावा.

अभ्यंजनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ॥

गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

गुरुच्या स्त्रियेला तैलाम्यंग, स्नान, शरीरोद्धर्तन, आणि केशांचे ठायीं पुष्पमाला घालणें, वेणीफणी इत्यादि हीं करूं नयेत.

गुरुपत्नी तु युवती नाभिवाद्येह पादयोः ॥

पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विज्ञानता ॥ २१२ ॥

अभिवादनाचे गुणदोष जाणणारा, पूर्ण वीस वर्षांच्या वयाचा अशा ब्रह्मचार्यानें तरुण गुरुपत्नीचे चरण धरून नमस्कार करूं नये.

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ॥

अतोऽर्थान्न प्रमादंति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

ह्या संसारामध्ये स्त्रियांचा हा स्वभाव आहे कीं, पुरुषांला शृंगाराचे हावभाव दाखवून मोहित करून दूषण लावावे, या कारणास्तव विद्वान् पुरुष स्त्रियांचे ठायीं असावधपणाने राहात नाहीत.

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ॥

प्रमदाद्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

मीं विद्वान्, जितेंद्रिय आहे तस्मात् स्त्रीसामिध्य मला बाधक नाही असें कदापि समजूं नये, कारण कामक्रोधांच्या स्वाधीन झालेला, अविद्वान् अशा पुरुषाला मात्र स्त्रिया कुमार्गाप्रत नेतात इतकेंच नाही; तर विद्वानालाहि कुमार्गाप्रत नेण्याविषयी त्या समर्थ आहेत.

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासन्मे भवेत् ॥

बलवानिन्द्रियप्राप्तो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

या कारणास्तव सांगतो—कोणत्याहि पुरुषाने माता, भगिनी, अथवा कन्या यांसहवर्तमानहि एकांतस्थानीं वास करू नये. कारण कीं, इन्द्रियगण अतिबलवान् आहे, याकरितां शास्त्रेंकरून आत्मनियम करणाऱ्या पुरुषालाहि तो पराधीन करितो.

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ॥

विधिवद्वंदनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

तरुण शिष्यानें तरुण अशा गुरुपत्नीला अमुकशर्माहं भोः (अहो मी अमुक नांवाचा) असें झणून तिचे चरण धरिल्यावांचून भूमीवर वंदन करावे.

विप्रोप्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ॥

गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

शिष्य तरुण असेल तथापि प्रवासांतून येईल त्यावेळीं त्यानें गुरूच्या स्त्रियेला पादग्रहणपूर्वक अभिवादन करावे, आणि प्रत्यही भूमीचे ठायीं पादग्रहणरहित नमस्कार करावा, व हा शिष्टांचा आचार असा आहे असें सर्व जाणोत.

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधि गच्छति ॥

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

पूर्वोक्त गुरुशुश्रूषाविधीचें फल सांगतो—जसा कोणी मनुष्य कुदळीनें भूमि खणीत होताता, त्याला उदक प्राप्त होतें, तद्वत् ब्रह्मचारी याने गुरूची सेवा केली असता त्याला गुरूपासून विद्या प्राप्त होते.

मुंडो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ॥

नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्यो नाभ्युदियात् कचित् ॥ २१९ ॥

ब्रह्मचान्याचे तीन प्रकार सांगतो—मस्तकावरचे केश मुंडन करणारा अथवा जटा वाढविणारा किंवा शिखा (शेंडी) ह्याच जटा धारण करणारा असे तीन प्रकार आहेत त्यांतून कोणत्याहि प्रकारे करून ब्रह्मचान्यानं असावें. ब्रह्मचारी यानें सूर्योदयापर्यंत अथवा सूर्य अस्ताला जाईपर्यंत कधीहि निद्रा करूं नये.

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ॥

निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

निजला असतां त्याविषयीं प्रायश्चित्त सांगतो—कदाचित् न जाणतां स्वेच्छेन निजला असून सूर्याचा उदय होईल तर दिवसास सावित्रीचा जप करीत होत्साता उपोषण करून रात्रीस भोजन करावें. अथवा अस्त होईल तर दुसऱ्या दिवसी सावित्रीजपपूर्वक उपोषण करून रात्री भोजन करावें.

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्चयः ॥

प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

सूर्याच्या उदयापर्यंत अथवा अस्तापर्यंत ब्रह्मचारी निद्रा करील आणि त्याचें प्रायश्चित्त न करील तर तो महामापी होतो, तस्मात् त्यानें यथोक्त प्रायश्चित्त करावें.

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ॥

शुचौ देशे जपन् जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

आचमन करून पवित्र, एकाग्रमन, शुचिर्भूत स्थानी सावित्रीचा जप करीत होत्साता दोन संध्या यथाविधि कराव्या.

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ॥

तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

कदाचित् कोणी स्त्री अथवा शूद्र कांहीं सत्कर्म आचरण करील तर उत्सुक होत्साता तें सर्व करावें, अथवा कोणतेहि कर्म शास्त्रविरुद्ध नसेल आणि तें कर्म केल्यानें मन संतोष पावेल तर तेंहि करावें.

धर्मार्थानुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च ॥

अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

कितीएक आचार्य असे मानितात कीं, धर्म व अर्थ हेच, सुखाला कारण असल्यामुळे श्रेय आहेत. कोणी आचार्य अर्थ, काम हेच सुखाला कारण होत असें मानितात. कोणी धर्म हाच सुखाला कारण आहे असें मानितात. कोणी अर्थ हेंच श्रेय असें मानितात. आतां आपलें समत सांगतो—सर्वांचा विचार करून पाहतां शास्त्राचा निश्चय असा दिसतो कीं, परस्पर अविरुद्ध असे धर्म, अर्थ, आणि काम एतद्रूप त्रिवर्ग हाच पुरुषार्थ.

करून या लोकीं श्रेय होय. याप्रमाणें विषयोपभोगी यांला हा उपदेश सांगितला, मुमुक्षु (मुक्तीची इच्छा करणारे) यांला नव्हे; कारण, त्यांला मोक्ष हाच पुरुषार्थ असें सहाव्या अध्यायांत सांगेल.

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ॥

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥

आचार्य हा परमात्म्याची मूर्ति (शरीर) आहे. पिता हा ब्रह्मदेवाची मूर्ति, माता (धारण करिते झणून) पृथिवीची मूर्ति आणि सोदर भ्राता हा आत्म्याची (क्षेत्रज्ञाची) मूर्ति आहे, तस्मात् हे देवतारूपी आहेत यास्तव यांचा अवमान करूं नये.

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ॥

नार्तेनाप्यवमंतव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥

आपण पीडित असेल तथापि त्यानें आचार्य, पिता, माता, आणि ज्येष्ठभ्राता यांचा अवमान करूं नये, ब्राह्मणानें तर सर्वथा करूं नये.

यं मातापितरौ क्लेशं सहेतुं संभवे नृणाम् ॥

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

अपत्ये झणजे कन्या, पुत्र यांच्या उत्पत्तीचे ठायीं जे क्लेश माता पिता सहन करितात त्यांची निष्कृति (ऋणाचे दूरीकरण) शतशः वर्षांनीं व अनेक जन्मांनींहि अशक्य आहे.

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ॥

तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

यास्तव माता पिता आणि आचार्य यांचा जेणेंकरून संतोष होईल असें सर्वदा कर्म करावें. कारण माता, पिता आणि आचार्य हे तीन ज्या कालीं संतुष्ट होतील तेव्हां चांद्रायणादिक सर्व (केलेल्या) तपाची सिद्धि प्राप्त होते.

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ॥

न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

माता, पिता आणि आचार्य ह्या तिघांची सेवा करणें हेंच उत्तम तप असें झटलें आहे; कारण, यांच्या सेवेपासूनच सर्व तपाची फलप्राप्ति आहे. यास्तव जर कांहीं इतर धर्म आचरण कर्तव्य असेल तर तो तिघांच्या संमतीवांचून करूं नये.

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ॥

त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्रयः ॥ २३० ॥

१ मातेला क्लेश कुक्षीत धारण करणें, प्रसववेदना, जन्मानंतर रक्षण करणें, वाढविणें इत्यादिकष्ट पित्याहून अधिक. पित्याला क्लेश रक्षण करणें, वाढविणें, मौजी करणें, वेद व वेदांचीं अंगें इत्यादिकांचें अध्ययन सांगणें इत्यादिक.

माता, पिता, आणि आचार्य हे, तीन लोक होत; कारण, ते लोकत्रयाचे प्राप्तीस हेतु आहेत; तीन आश्रमहि तेच होत, कारण, गृहस्थादिक तीन आश्रम देणारे तेच आहेत; ऋग्वेद, यजुर्वेद, आणि सामवेद हे तीन वेद तेच होत; कारण, तीन वेदांच्या जपाच्या फलाचे उपायभूत तेच आहेत; तसेच दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य आणि आहवनीय हे तीन अग्नि तेच होत, कारण, तीन अग्नीं पासून संपादन होणारें जें यज्ञादिकल तें देणारे ते आहेत.

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः ॥

गुरुराहवनीयस्तु सामिन्नेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

पिता हाच गार्हपत्य अग्नि ह्मणजे पिता गार्हपत्य अग्निसमान आहे. माता दक्षिणाग्नि ह्मणजे दक्षिणाग्निसमान आणि गुरु (आचार्य) हा आहवनीय अग्नि ह्मणजे आहवनीय अग्निसमान, याप्रमाणें हे तीन अग्नि अति श्रेष्ठ आहेत.

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीन् लोकान् विजयेद्वृद्धी ॥

दीप्यमानः स्ववपुषा देववह्निवि मोदते ॥ २३२ ॥

गृहस्थाश्रमी हा ह्या तिघांच्या सेवेविषयीं अनवधान न करील तर तोंजेंकरून त्याला त्रिलोक्याचें आधिपत्य प्राप्त होतें, आणि शरीरकातीकडून प्रकाशमान होतसाता सूर्यादि देवतांप्रमाणें स्वर्गलोकीं आनंदित रहातो.

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ॥

गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समभुते ॥ २३३ ॥

मातृभक्तीकरून हा लोक (भूलोक), पितृभक्तीकरून मध्यलोक (अंतरिक्षलोक), आणि आचार्यांच्या सेवेकडून ब्रह्मलोक (हिरण्यगर्भलोक), याप्रमाणें लोक प्राप्त होतात.

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ॥

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

माता, पिता आणि आचार्य या तिघांचा जो सत्कार करितो त्याला सर्व धर्म फलदायक होतात. आणि या जो तिघांचा सत्कार करित नाही त्याचीं श्रौतस्मार्तादिक सर्व कर्मे निष्फल होतात.

यावत्त्रयस्ते जीवियुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ॥

तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियदिते एव ॥ २३५ ॥

माता, पिता आणि आचार्य हे तीन ज्यावत्कालपर्यंत जीवंत असतील तावत्पर्यंत स्वातंत्र्यानें इतर धर्म आचरण करूं नये, तर त्यांचें प्रिय व हित होईल अशा रीतीनें प्रत्यही त्यांची शुश्रूषा करावी.

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यदाचरेत् ॥

तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

१ त्याला संतोषानें औषधादि देणें तें प्रिय. २ आपत्तिकालीं इष्ट साधन करणें तें हित.

त्यांच्या सेवेमध्ये अंतर न करितां त्यांच्या आज्ञेनें मन, वाणी आणि कर्म यांहकिरून परलोकफलक-कर्म आचरण करावें, नंतर तें 'मी अमुक हें असें कर्म केलें' याप्रमाणें त्यांला निवेदन करावें.

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ॥

एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

माता, पिता, आणि आचार्य या तिघांची यथासांग शुश्रूषा केल्यानें पुरुषाचें श्रौत-स्मार्तादि सकल कर्तव्य कर्म संपूर्ण आचरण केलें असें होतें, यास्तव साक्षात् सर्व पुरुषा-यांला साधन असा उत्तम धर्म हाच आहे. स्वर्गप्राप्तीला कारण असा अभिहोत्रादिक जो धर्म तो याहून न्यून असा लढला आहे.

श्रद्धाधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ॥

अंत्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

श्रद्धायुक्त पुरुषानें शुभ (प्रत्यक्ष अनुभवाला येणारी) अस्त्रि विद्या (गारुडादिविद्या) शूद्रापासूनहि ग्रहण करावी. आणि चांडालापासूनहि उत्तम धर्म (मोक्षोपाय) ग्रहण करावा, व सुंदर स्त्री, आपल्यापेक्षां नीच कुळांतील असेल तथापि ती वरण्याकरितां ग्रहण करावी.

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ॥

अभिन्नादपि सदृत्तममेध्यादपि कांचनम् ॥ २३९ ॥

जरी विष अमृतसंयुक्त आहे तरी त्यांतील विष टाकून अमृत ग्रहण करावें, बालकापासूनहि हितकारक वचन घ्यावें, शत्रूपासूनहि सदाचरण ग्रहण करावें, अशुद्ध पदार्थातून सुवर्णादिक ग्रहण करावें.

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ॥

विविधानि च शिल्पानि समादियानि सर्वतः ॥ २४० ॥

स्त्रिया, रत्नें, विद्या, धर्म, पवित्रता, हितकारक वचन आणि नानाप्रकारचीं कलाकौशल्ये हीं सर्वांपासून ग्रहण करावीं.

अब्राह्मणादध्ययनमाप्तकाले विधीयते ॥

अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

विद्यार्थ्याला ब्राह्मणवर्णाचा गुरू न मिळेल तर आपत्तिकाळांत त्यानें अब्राह्मण ल्हणजे क्षत्रिय, त्याच्या अभावीं वैश्य त्यापासूनहि वेदाध्ययन शिकावें, आणि जोंपर्यंत अध्ययन करीत असेल तोंपर्यंत त्या गुरूची आज्ञा पाळणें इत्यादि शुश्रूषा करावी. गुरूचें पाद-प्रक्षालन, उच्छिष्टभक्षण, इत्यादि मात्र करू नये.

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यंतिकं वसेत् ॥

ब्राह्मणे चाननूचाने कांक्षन्गति मनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

उत्तम (मोक्षलक्षण) गतीची इच्छा करणाऱ्या विद्यार्थ्याने क्षत्रियादि जातीच्या गुरूच्या घरी, अथवा सांग वेदाध्ययन न केलेल्या ब्राह्मणाच्या घरी यावज्जीव ब्रह्मचर्य धारण करून राहू नये.

यदि त्वात्यंतिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ॥

युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

जर कदाचित् ब्रह्मचारी ब्राह्मणजातीच्या गुरूच्या कुलाचेठापी यावज्जीवपर्यंत नैष्ठिक होत्साता वास करण्याची इच्छा करील तर त्याने यावज्जीवपर्यंत मोठ्या तत्परतेने गुरूची शुश्रूषा करावी.

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ॥

स गच्छत्यंजसा विप्रो ब्रह्मणः सद्यः शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

गुरुशुश्रूषेवे फल सांगतो— जो ब्रह्मचारी शरीराचा नाश होईपर्यंत गुरूची शुश्रूषा करितो तो ब्रह्माचे अविनाशिस्थानाप्रत जातो, ह्मणजे अंती ब्रह्माचेठापी लय पावतो.

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित् ॥

स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

धर्म जाणणारा ब्रह्मचारी याने समावर्तनाचे पूर्वी गुरूला गार्ह, वस्त्र, इत्यादि धन अवश्य द्यावे असे नाही. जर कदाचित् आकस्मिक मिळेल तर द्यावे. समावर्तनाची इच्छा करील आणि गुरू आज्ञा करील तर दुसऱ्याकडून याचनेने किंवा प्रतिग्रहादिकाने इत्थं मिळवून यथाशक्ति गुरुदक्षिणा अवश्य द्यावी.

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ॥

धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

गुरुदक्षिणेचे पदार्थ सांगतो— क्षेत्र (भूमि), सुवर्ण, गार्ह, घोडा, छत्र, उपानह, आसन, धान्य, शाक, आणि वस्त्रे हीं सर्व, अथवा पातून एकादें यथाशक्ति देऊन गुरूची प्रीति संपादावी.

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ॥

गुरुदारे सर्पिडे वा गुरुवदृष्टिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

आचार्य मृत होईल आणि गुरूचा पुत्र विद्यादिगुणांनी युक्त असेल तर त्याला गुरूप्रमाणे मानावा. गुरुपुत्राच्या अभावी गुरुपत्नी, तिच्या अभावी गुरूचे सर्पिड, (दिव्यादिक) यांची गुरूप्रमाणे शुश्रूषा करावी.

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनाविहारवान् ॥

प्रयुजानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देवमात्मनः ॥ २४८ ॥

गुरु मृत असून गुरुपुत्र, गुरुपत्नी, अथवा गुरूचे संपिंड विद्यमान नसतील तर आचार्याच्याच अग्नीजवळ स्नान, आसन आणि विहार यांहींकरून व सायंकाळीं आणि प्रातःकाळीं समिधांचा होम इत्यादिक देऊन अग्नीची शुश्रूषा करित होत्साता त्यानें आपला देह ह्मणजे देहावच्छिन्न जीव ब्रह्मप्राप्तियोग्य करावा.

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविभुतः ॥

स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहा जायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

याप्रमाणें जो ब्राह्मण अखंडितव्रत होत्साता ब्रह्मचर्यधर्म पाळितो तो उत्तम स्थान जें परब्रह्म त्याप्रत पावतो, व या संसारामध्ये पुनः त्याला जन्म प्राप्त होत नाही.

इति श्रीमानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां महाराष्ट्रभाषांतरे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अध्याय तिसरा.



गृहस्थाश्रमधर्मनिरूपण.

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ॥

तदार्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणांतिकमेव वा ॥ १ ॥

किती वर्षेपर्यंत ब्रह्मचर्यव्रत धारण करावें तें सांगितो—ऋग्वेद, यजुर्वेद आणि सामवेद हे जे तीन वेद तद्विषयक ब्रह्मचर्यव्रत, ह्मणजे आपल्या सूत्रांत सांगितलेले नियम छत्तीस वर्षेपर्यंत गुरुगृहीं राहून आचरण करावे; ह्मणजे प्रत्येक वेदशाखेला बारा वर्षेपर्यंत व्रत आचरण करावें. अथवा अठरा वर्षेपर्यंत ह्मणजे प्रत्येक वेदशाखेला सहा सहा वर्षे व्रताचरण करावें. किंवा नऊ वर्षेपर्यंत व्रताचरण करावें, ह्मणजे प्रत्येक वेदशाखेला तीन तीन वर्षे, अथवा उक्त कालाच्या अवधीत किंवा अधिक जितक्या वर्षांनीं सांग वेदाध्ययन येईल तावत्पर्यंत व्रताचरण करावें.

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ॥

✓ अविभुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

. अखंडितब्रह्मचर्यव्रत अशा विद्यार्थ्यानें स्वशाखाध्ययनपूर्वक तीन, दोन अथवा एक असे यथाक्रमेंकरून वेद पढून नंतर गृहस्थाश्रम (गृहस्थविहित कर्मकलाप) आचरण करावा.

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ॥

स्मिन्नं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्यधर्माच्या आचरणेकरून प्रसिद्ध झालेला आणि पित्यापासून वेद पढलेला (अर्थात् पित्यापासून वेद पढणे हे मुख्य होय, आचार्यादिकांपासून पढणे हे गौण होय. पिता पढविण्याविषयी असमर्थ असल्यास आचार्यादिकांपासून वेद पढावा.) अशा ब्रह्मचान्याला पित्याने किंवा आचार्याने पुष्पमालांनी अलंकृत करून उत्तम शय्येवर (उच्चासनावर) बसवून गोसाधन मधुपर्काने विवाहाच्या पूर्वी त्याची प्रथम पूजा करावी.

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ॥

उद्धेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

गुरूची आज्ञा ग्रहण केलेला अशा ब्रह्मचारी द्विजाने यथाविधि आपला समावर्तनसंस्कार करून आपल्या वर्णातली, लक्षणांनी युक्त अशी स्त्री बरावी.

असपिंडाच्च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ॥

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

मातेच्या सपिंडांतील ह्यणजे मातामहादि वंशातील नव्हे आणि मातृगोत्रांतील नव्हे व सपिंडांतील ह्यणजे पितृव्यादि संततीपासून झालेली नाही ती व पित्याचे गोत्रांतली नाही अशी कन्या ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य या तीन वर्णांला, दारत्वसंपादकविवाह, मैथुन-साध्य (स्त्रीपुरुषसाध्य) अभ्याधानकर्म, पुत्रोत्पत्ति यांविषयी प्रशस्त आहे.

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ॥

स्त्रीसंबंधे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

वक्ष्यमाण दहा कुळे गाई, बकरी, मेंढी, धन आणि धान्य या संपत्तींनी युक्त व उत्कृष्ट असतील तथापि तीं स्त्रीसंबंधाविषयी (विवाहाविषयी) वर्ज्य करावीं.

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छंदो रोमशार्शसम् ॥

क्षय्यामयाव्यपस्मारिभ्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

दहा कुळे कोणतीं तीं सांगतो- १ ज्या कुळांत जातकर्मादि संस्कार कोणी करीत नाहीत. २ ज्या कुळांत पुरुषउत्पन्न होत नाही व सर्व कन्याच उत्पन्न होतात ते. ३ ज्या कुळांत वेदाचे अध्ययन व अध्यापन नाही ते. ४ ज्या कुळांत स्त्रीपुरुषांच्या शरीरांवर दीर्घ केश उत्पन्न होतात ते. ५ ज्या कुळांत अर्श (मूलव्याध) रोग असतो ते. ६ क्षयरोगयुक्त. ७ अग्निमारोगयुक्त. ८ अपस्माररोगयुक्त. ९ कुष्ठयुक्त. १० रक्तपिती-रोगयुक्त कुळ. याप्रमाणे दहा कुळे वर्ज्य करावीं. कारण, या हीनक्रियादि कुळांतून कन्या वरिली असतां तदनुरूप संतति होते.

नोद्धेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम् ॥

नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिंगलाम् ॥ ८ ॥

कुलसंबंधी निषेध सांगून यापुढे कन्यासंबंधी निषेध सांगतो-कपिलकेशा (पिंगटकेशयुक्त); अधिकअवयवयुक्त; निस्त्रिरोगिष्ठ; लोमरहित (केशरहित); अतिरोमयुक्त; अवाच्य, अतिकर्कश भाषण करणारी; विगटनेत्रयुक्त अशी कन्या बरे नये.

नक्षवृक्षनदीनाम्नीं नांत्यपर्वतनामिकाम् ॥

न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

ऋक्ष ह्यणजे नक्षत्र तन्नामक ह्यणजे आर्द्रा रेवती एतन्नामक; वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पर्वत, पक्षी, सर्प, दास, आणि भयानक या नामाची कन्या वरुं नये. ह्यणजे हीं नांवें जीला असतील ती कन्या वरुं नये.

अव्यंगांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ॥

तनुलोमकेशदशनां मृद्वंगीमुद्रहेत् स्त्रियम् ॥ १० ॥

अव्यंगांगी (जिच्या शरीरांत व्यंग नाही ती); मृदुनामयुक्त; हंस व गज यांसारखी मृदु चालणारी; लोम, केश, दांत हे जीचे स्थूल नाहीत ती; आणि कोमलांगी असी कन्या बरावी.

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ॥

नोपयच्छेत तां प्रातः पुत्रिकाधर्मशंकया ॥ ११ ॥

या विवाहशास्त्रांत विधि व निषेध यांचें कथन अनिषिद्ध विहित अशा कन्येसीं विवाह केला असतां तो कल्याणकारक होतो असें दाखविण्याकरितां सांगतो.— ज्या कन्येला भ्राता नसेल अथवा जिच्या पित्याचें नाम माहीत नसेल तिच्याशीं जात्या पुरुषानें विवाह करूं नये; कारण कीं, भ्राता नसल्यास, त्या कन्येस जो पुत्र होईल तो आपली और्ध्वदैहिक क्रिया करणारा होईल अशा अभिप्रायानें दिलेली जी कन्या तीविषयीं पुत्रिकाशंका उत्पन्न होते. पित्याचें नाम अज्ञात असतां अधर्म होतो.

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्म्मणि ॥

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य या तीन वर्णांनीं प्रथम विवाह करणें तो आपापल्या जातीकन्या कन्येसीं करावा तो प्रशस्त पक्ष. कामाच्या योगानें दुसरा विवाह कर्तव्य असेल तर खालीं सांगितल्या क्रमानें स्त्रिया बराव्या.

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ॥

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

शूद्रानें शूद्रकन्याच बरावी, आपणाहून जातीनें उत्कृष्ट अशा वैश्यादिक (वैश्या, क्षत्रिया, ब्राह्मणी) तीन वरुं नयेत. वैश्यानें वैश्या, शूद्रा, ह्या बराव्या. क्षत्रियानें क्षत्रिया, वैश्या आणि शूद्रा ह्या बराव्या. ब्राह्मणानें ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा याप्रमाणें कन्या बराव्या.

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापश्यि हि तिष्ठतोः ॥

✓ कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

गृहस्थाश्रम इच्छित्तारे ब्राह्मण व क्षत्रिय यांला सर्वथा जरी सवर्ण स्त्री न मिळेल तथापि आपत्तिकालींही यांनीं शूद्रवर्णातील स्त्री बरावी असें कोणत्याहि प्राचीन इतिहासांत सांगि-

तलें नाहीं. हा निषेध प्रातिलोभ्येकरून विवाह करण्याविषयीं जाणावा. कारण, सवर्णानुक्रमानें आनुलोभ्येकरून विवाह करण्यास शास्त्राज्ञा आहे.

हीनजातिं स्त्रियं मोहादुद्वहंतो द्विजातयः॥

कुलान्येव नयंत्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य ह्या तीन वर्णांतील कोणी पुरुष सवर्ण स्त्रियेला न वरतां कदाचित् अविचारानें हीनजाति अशी शूद्रा स्त्री वरतील तर ते त्या स्त्रियेचेठायीं उत्पन्न झालेल्या पुत्रपौत्रांसह स्वकीयकुळें शूद्रत्वाप्रत पाववितात.

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ॥

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

शूद्रकन्येचीं विवाह केल्यानें विवाह करणारा ब्राह्मण तात्काल पतितासारखा होतो, असें अत्रि व उतथ्याचा पुत्र गौतम यांचें मत आहे. क्षत्रिय, शूद्रकन्येचीं विवाह करील तर तो त्या कन्येचेठायीं पुत्र उत्पन्न झाल्यानें पतित होतो, असें शौनकाचें मत. आणि वैश्य शूद्रकन्येचीं विवाह करील तर तो त्या कन्येच्या पुत्राला पुत्र झाल्यानें पतित होतो, असें भृगूचें (माझें) मत आहे.

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यास्यधोगतिम् ॥

✓ जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

ब्राह्मण, सवर्ण कन्येचीं विवाह केल्यावांचून शूद्रा स्त्रीचीं विवाह करून या स्त्रीप्रत गमन करील तर तो नरकाप्रत जातो, आणि शूद्रास्त्रीचेठायीं पुत्र उत्पन्न झाल्यानें तो सर्वथा ब्राह्मण्यांतूनच भ्रष्ट होतो, झणजे फार दोषी होतो असें जाणावें.

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ॥

नाश्रंति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

प्रथम सवर्ण स्त्री वरावी, नंतर ऐच्छिक दुसऱ्या स्त्रिया वराव्या, याप्रमाणें जो कम सांगितला तेणेंकरून कदाचित् शूद्रा स्त्रीहि वरिली आणि तिच्या सहवर्तमान दैव (होमादि), पित्र्य (श्राद्धादि) आणि अतिथिमोजनादिक कर्मे (ब्राह्मण) करील तर शूद्रस्त्रीकडून झाल्यामुळे पितर, देव तीं ग्रहण करीत नाहींत, आणि या कर्मेकरून तो गृहस्थाश्रमी स्वर्गांत पावत नाहीं.

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासीपहतस्य च ॥

✓ तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

शूद्रकन्येचें अधरपान करणारा, व शयनादिकांचेठायीं त्या शूद्रकन्येच्या-मुखभ्रासानें हत झालेला, आणि पुत्ररूपानें आपण तिचेठायीं उत्पन्न झालेला (अर्थात् पुत्र जो होतो तो आपलें स्वरूप आहे असें मानून आपणच उत्पन्न होतो) अशा ब्राह्मणाला प्रायश्चित्त (या पातकापासून मुक्त होण्याचा उपाय) शास्त्रांत नाहीं.

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ॥

अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

ब्राह्मणादि चारहि वर्णांला परलोकीं व इहलोकीं कितीएक हितकारक आणि किती-
एक अहितकारक हे (वक्ष्यमाण), भार्याप्राप्तीला हेतु, असे आठ विवाह संक्षेपानें सांगतां,
श्रवण करा, असें भृगु सांगतो.

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्धः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ॥

गांधर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

या आठ विवाहांचीं नांवे सांगतो.— ब्राह्म, दैव, आर्ध, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व,
राक्षस, आणि आठवा पैशाच तो अधम होय.

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ॥

तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

जो विवाह ज्या वर्णांला धर्मकरून युक्त होतो, आणि ज्या विवाहाचे जे गुण, दोष
आणि त्या विवाहापासून उत्पन्न झालेल्या पुत्रांमध्ये जे गुण व अवगुण उत्पन्न होतात
ते सर्व तुझाला सांगतो.

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरो वरान् ॥

विद्यूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यन्नराक्षसान् ॥ २३ ॥

या आठ विवाहांमध्ये ब्राह्मादिक सहा विवाह ब्राह्मणांला प्रशस्त होत. आसुरादिक
चार विवाह क्षत्रियांला प्रशस्त होत आणि वैश्य व शूद्र यांला आसुर, गांधर्व, पैशाच हे
प्रशस्त. याप्रमाणें (वर्णविभागेंकरून) धर्म्यविवाह जाणावे.

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ॥

राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

ब्राह्मादि चार विवाह ब्राह्मणांला अति श्रेष्ठ, क्षत्रियांला राक्षस विवाह हाच एक अति
श्रेष्ठ, आणि वैश्य व शूद्र यांला आसुर विवाह अति श्रेष्ठ, याप्रमाणें कितीएक विद्वान्
सांगतात. मुख्यविवाहाचा असंभव असतां जघन्याचा (गौणाचा) हि स्वीकार करावा
असें प्रदर्शित केले.

पंचानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ॥

पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

परंतु या धर्मशास्त्रामध्ये तर शेवटचे जे पांच (प्राजापत्यादि) विवाह त्यांमध्येहि
प्राजापत्य, गांधर्व व राक्षस हे तीन विवाह धर्म्य असे झटले आहेत व ते सामान्यतः चार-
हि वर्णांला युक्त आहेत, बाकी दोन अधर्म्य असे झटले आहेत. पैशाच व आसुर विवाह
कदापि करूं नयेत. क्षत्रियांला पूर्वी सांगितलेल्या विवाहांमध्ये प्राजापत्य विवाह त्यास उक्त
नव्हता तो एथे विहित झणून सांगितला, आणि वैश्य व शूद्र यांला राक्षस उक्त नव्हता

तोहि त्यांला विहित असा सांगितला. या शास्त्रामध्ये ज्या वर्णांला विवाहाचे जे विधि, निषेध सांगितले त्या विवाहाचा विकल्प त्या वर्णांला आहे; परंतु तो विहितविवाहाच्या असंभवी जाणावा.

पृथक् पृथक् वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदिनी ॥

गांधर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यो क्षत्रस्य नौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

निरनिराले किंवा मिश्र असे जे गांधर्व व राक्षस दोन विवाह पूर्वी सांगितले ते क्षत्रियाला धर्म्य असे मन्वादिकांनीं हटले आहेत.

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतियालवते स्वयम् ॥

आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥

आतां आठहि विवाहांचीं लक्षणें सांगतो. विद्या व सदाचार यांहीं युक्त असून कन्येची याचना न करणारा अशा वराला सत्कारपूर्वक बोलावून वस्त्रे, अलंकार यांहीं करून वर व कन्या यांची पूजा करून वराला (उदकपूर्वक) कन्यादान करावें तो ब्राह्मविवाह मन्वादिकांनीं हटला आहे.

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्मकुर्वते ॥

अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

ज्योतिष्ठोमादि यज्ञ होत असतां यथाविधि ऋत्विक्कर्म करणाऱ्या ब्राह्मणाला अलंकार-युक्त कन्यादान करावें तो दैवविवाह असें मुनि ह्मणतात.

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ॥

कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

वरापासून, धर्मासाठीं ह्मणजे यागादिसिद्धार्थ किंवा कन्येला देण्यासाठीं एक गोमिथुन (एक गाय व बैल), अथवा दोन गोमिथुने घेऊन खाला यथाविधि कन्यादान करणें हा आर्षविवाह हटला आहे.

सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ॥

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

तुह्मी उभयतां मिळून धर्माचरण करावें असा कन्यादानसमयी पूर्वी नियम करवून पूजा करून जें यथाविधि कन्यादान करणें हा प्राजापत्यविवाह हटला आहे.

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ॥

कन्याप्रदानं स्वाच्छंदादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

कन्येच्या पित्रादि ज्ञातींला आणि कन्येला यथाशक्ति स्वेच्छेनें द्रव्य देऊन ती कन्या स्वीकार करणें हा असुरविवाह हटला आहे.

१ ज्या काली स्त्रीपुरुषांचे परस्पर प्रीतिपूर्वक संभाषण होऊन वरपारानें युद्धादिकानें जिकून त्या कन्येची विवाह करावा तो मिश्र विवाह. २ ते जें गोमिथुन घेणें तें निश नाही, कारण, ते कन्येच्या पूजेकरितां घ्यावें असें सांगितले आहे यास्तव, त्यापासून कन्येचा विक्रय होतो असें नाही.

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ॥

गांधर्वः स तु विज्ञेयः मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

कन्या आणि वर यांच्या परस्पर प्रीतीने जो परस्पर आलिंगनादिरूप संयोग तो गांधर्व विवाह जाणावा. हा विवाह कन्यावरांच्या प्रीतीकडून संभवतो यास्तव मैथुन्य (मैथुनाला हितकर) होय.

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशंतीं रुदंतीं गृहात् ॥

प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

कन्येच्या पक्षाचे लोकांचा नाश करून अथवा त्यांचे शरीराला जखमा करून व प्राकारादि फोडून, रोदन करणारी, धांवा धांवा, सोडवा सोडवा हणून आपल्या पियाला व भ्रात्यांला आक्रोशपूर्वक हाका मारणारी अशी कन्या गृहांतून बलात्काराने हरण करणे हा राक्षसविवाह झटला आहे.

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ॥

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

निजलेली, मादक द्रव्यमदाने व्याकुळ झालेली, अथवा शीलसंरक्षणाने विरहित अशा स्त्रियेप्रत एकांतस्थानीं मैथुनधर्मेकरून प्रवृत्त होणे तो पैशाचविवाह. हा सर्व विवाहांमध्ये अधम असा झटला आहे.

अग्निरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ॥

इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

कन्यादानविधि ब्राह्मणांला उदकपूर्वकच प्रशस्त आहे. इतर क्षत्रियादिक वर्णांचे कन्यादान उदकावांचूनहि परस्परांच्या इच्छेने हणजे वाणीमात्रानेहि होतें.

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ॥

सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

या सर्व विवाहांमध्ये ज्या विवाहाचा जो गुण मनुने सांगितला आहे तो सर्व मी तुहांला सांगतो, हे ऋषिहो, श्रवण करा.

दशपूर्वांनपरान् वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ॥

ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितृन् ॥ ३७ ॥

ब्राह्मविवाहाने वरलेल्या स्त्रीचा पुत्र जर सुकृतकारी होईल तर पित्रादि दहा पूर्वीचे व पुत्रादि दहा पुढचे आणि एकविंसावा आपण अशा एकवीस पुरुषांचा उद्धार नरकापासून करितो.

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ॥

आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन् षट् षट् कायोढजः सुतः ॥ ३८ ॥

दैवविवाहेकरून वरलेल्या स्त्रीचा पुत्र सात मागचे व सात पुढचे अशा चवदा पुरुषांला तारितो, आणि आर्षविवाहेकरून वरलेल्या स्त्रीचा पुत्र तीन मागचे व तीन पुढचे

अशा सहा पुरुषांला तारितो, व प्राजापत्यविवाहककून वरलेल्या स्त्रीचा पुत्र सहा मागचे व सहा पुढचे अशा वारा पुरुषांला तारितो.

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्णैवानुपूर्वशः ॥

ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायंते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मादिक चार विवाहांपासून जे पुत्र ते वेदाध्ययनेककून मोठे तेजस्वी, निद्यासंपन्न व शिष्टांला मान्य असे होतात.

रूपसत्त्वगुणोपेता धनव्रतो यशस्विनः ॥

✓ पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शनं समाः ॥ ४० ॥

आणि ते.सुरूप; सत्त्वगुणसंपन्न; धनवान्; यशस्वी; यथारुचि वस्त्र, माला, गंधलेपन इत्यादि उपभोग भोगणारे; आणि धार्मिक असे होःसाते शंभर वर्षे वाचतात.

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ॥

जायंते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मादि चार विवाहांहून इतर जे आसुरादि दुष्ट चार विवाह त्यांपासून झालेले पुत्र क्रूरकर्म करणारे, असत्यवादी, वेदद्वेष्टे आणि यागादि धर्माचा द्वेष करणारे असे होतात.

अनिदितैः स्त्रीविवाहैरनिर्वा भवति प्रजा ॥

निदितैर्निदिता नृणां तस्मान्निद्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

भार्याप्राप्तीला हेतु अशा निर्दोष विवाहांपासून निर्दोष प्रजा (संतति) होते, आणि निदित विवाहांपासून निदित प्रजा होते, यास्तव निद्या विवाह सर्वथा वर्ज्य कराने.

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ॥

असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥

विवाहसमयी पाणिग्रहणसंस्कार गृह्यसूत्राने जो सांगितला तो स्वकीय वर्णांतील स्त्रियांविषयी करावा, आणि असवर्ण स्त्रिया वरल्या असता त्याविषयी (उत्तर लोकांतील) वक्ष्यमाण विधि जाणावा.

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ॥

वसनस्य वशा ग्राह्या शूद्रयोस्तुल्यवेदने ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणाकरोक्षर क्षत्रियकन्या विवाह करील तर या क्षत्रियकन्येने, ब्राह्मणाने आपल्या हस्तांत धारण केलेला जो शर (बाण) त्याचा एक प्रदेश पाणिग्रहणस्थानी धरावा. ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय यांच्याशी वैश्यकन्येचा विवाह असता त्याने स्वहस्तांत धारण केलेला जो प्रतोद (चावुक) त्याचा एक देश वैश्यकन्येने धरावा. आणि ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य यांशी शूद्रकन्येचा विवाह असता त्याने धारण केलेल्या वस्त्राच्या दशा धराव्या.

ऋतुकालाभिगात्री स्यात्स्वदारनिरतः सदा ॥

पर्ववर्ष्यं व्रजेच्चैव तद्गती रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

स्वस्त्रियेचेठायीं निरंतर संतुष्ट होत्साता ऋतुकालीं पर्व दिवस (कृष्णपक्षांतील अष्टमी, व चतुर्दशी, अमावास्या, पौर्णिमा, सूर्यसंक्रांति हे दिवस) वर्ज्य करून स्त्रीगमन करावें, भार्याप्रीति करीत होत्साता संभोगाची इच्छा झाल्यास ऋतुकालविरहित दिवसींहि स्त्रीगमन करावें.

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ॥

चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

शिष्टींनीं निंद्य मानलेले असे रजोदर्शनापासून चार दिवस आणि पुढचे बारा दिवस, मिळून सोळा दिवस इतका स्त्रियांचा प्रतिमासी स्वाभाविक ऋतुकाल सांगितला आहे.

तासामाद्याश्वतसस्तु निंदितैकादशी च या ॥

त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

ह्या सोळा दिवसांमध्ये रजोदर्शनापासून पहिल्या चार रात्रि, अकरावी रात्रि आणि तेरावी रात्रि इतक्या रात्रि स्त्रीगमनाविषयीं निंदित होत. अवशिष्ट दहा रात्रि स्त्रीगमनाविषयीं प्रशस्त आहेत.

युग्मासु पुत्रा जायंते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ॥

तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

पूर्वी सांगितलेल्या दहा रात्रींचेठायीं समरात्रींचेठायीं झणजे रजोदर्शनापासून सहावी, आठवी, दहावी इत्यादि रात्रींचेठायीं स्त्रीगमन केलें असतां पुत्र होतात, आणि विषम रात्रि झणजे पांचवी, सातवी इत्यादि रात्रींचेठायीं स्त्रीगमन केलें असतां कन्या होतात, असा फलादेश आहे यास्तव जो पुत्रार्थी त्यानें ऋतुकालीं समरात्रींचेठायीं स्त्रीगमन करावें.

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ॥

समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

पुरुषाचें वीर्य अधिक झालें असतां विषमरात्रींचेठायींहि पुत्र होतो, आणि स्त्रीचें बीज अधिक झालें असतां समरात्रींचेठायींहि कन्या होते, स्त्रीपुरुषांचें बीज समसमान झालें असतां नपुंसक प्रजा होते, अथवा पुत्र व कन्या असें जुळविले, उभयतांचें वीर्य निःसार अथवा अल्प असतां गर्भसंभव होत नाही.

निंदास्वप्नासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ॥

ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

निंद्य अशा पूर्वी सांगितलेल्या सहा रात्रि, व इतर अनिंद्य कोणत्याहि आठ रात्रि यांचे ठायीं स्त्रीगमन वर्ज्य करीत होत्साता अवशिष्ट दोन रात्रींत पर्वदिवस वर्ज्य करून स्त्रीगमन करील तरे त्याचें ब्रह्मचर्यव्रत खंडित होत नाही, झणजे तो ब्रह्मचारी असाच होतो, मग तो कोणत्याहि आश्रमांत झणजे वानप्रस्थाश्रमांत राहत असेल तरी बाध नाही.

१ ऋतु झणजे (प्रतिमासी) सांगितलेल्या दोन पक्षांत, गर्भधारणाला योग्य असा जो स्त्रीचा अवस्थाविशेष तो.

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयात् शुल्कमण्वपि ॥
गृह्णंश्शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥

विद्वान् (कन्याविक्रयाचा दोष जाणणारा) पित्यानें (वरापासून कन्यादाननिमित्त) कन्येचें अल्पसुद्धां मौल्य घेऊं नये. जर कदाचित् लोभानें मनुष्य, कन्येचें मौल्य घेईल तर तो आपल्या कन्येचा विक्रय करणारा असा होतो.

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बांधवाः ॥
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यांत्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥

पति, पिता, भ्राता इत्यादिक जे कोणी अज्ञानानें स्त्री, कन्या इत्यादिकांचीं धनें, स्त्री, अश्वदिक वाहनें, वस्त्रें हीं ग्रहण करितात ते पापी होतात नरकाप्रत जातात.

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ॥
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेवसः ॥ ५३ ॥

आर्षविवाहाचे ठायीं गोमिथुन (एक गाई व एक बैल) शुल्क (मौल्य) जें तें उत्कोच-रूप लणजे उपदारूप होय असें कोणी आचार्य लणतात, परंतु मनुला तर हें मान्य नाही. कारण, शास्त्रानें नियमित असें ज्या जातीचें व ज्या संख्येचें धन घेण्याविषयीं सांगितलें तें कन्येचें मौल्य होतं नाही. यज्ञादिकांच्या अनुपयोगी असें थोडें किंवा बहुत जें कन्येचें मौल्य घेणें तो विक्रय होतो. तर कुलपरंपरागत आर्षविवाह होण्यासाठीं आणि अवश्य कर्तव्य यागादिकांची सिद्धि होण्यासाठीं किंवा कन्येला तें द्रव्य देण्याकरितां शास्त्रोक्त गोमिथुन घेणें हें धर्मार्थच होतें.

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ॥
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

वर आपण संतुष्ट होऊन कन्येला धन देतो आणि तें पिता इत्यादिक कन्येचे ज्ञाति आपल्या उपयोगार्थ घेत नाहीत, तर कन्येलाच सत्कारार्थ देतात, तोहि विक्रय नव्हे; कारण, तें धन कन्येचे पूजनार्थ केवळ घेतात झणून तें दयारूप होय.

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैव पतिभिर्देवैस्तथा ॥
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्पाणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

आपणास बहुत धन संपत्ति प्राप्त व्हावी अशा कल्याणाची इच्छा करणारे कन्येचे पिता, माता, भ्राते, पति आणि दीर यांनीं केवळ विवाहकालीं दिलेलें धनच कन्याला द्यावें असें नव्हे; तर विवाहानंतरहि पित्रादिकांनीं अन्न, वस्त्र, अलंकार इत्यादिक देऊन यांचें पालन, पोषण करावें.

यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः ॥
यत्रैतास्तु न पूज्यंते सर्वास्तत्राफसाः क्रियाः ॥ ५६ ॥

ज्या कुलामध्ये पिता इत्यादिकांकडून स्त्रियांचा सन्मान राखला जातो तेथे देवता सार्वकाल प्रसन्न होतात. आणि जेथे स्त्रियांचा सन्मान केला जात नाही तेथे देवतांचा प्रसाद नसल्याकारणाने यागादि सर्व कर्मे निष्फल होतात.

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ॥

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धन्ते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

भगिनी, अथवा गृहस्वामी यांनी पोषण करण्यास योग्य अशा आपल्या कुळांतल्या अथवा सपिंडांतल्या पत्नी, कन्या, सुना इत्यादिक स्त्रिया ज्या कुळांत दुःखादिकाने शोकयुक्त होतात ते कुळ शीघ्र दरिद्री होत, व दैववशेकरून राजादिकांपासून पीडित होत, आणि जेथे पूर्वोक्त स्त्रिया दुःखित होत नाहीत ते कुळ द्रव्यादिसंपत्तीने संपन्न होत.

जामयो यानि गेहानि शपंत्यप्रतिपूजिताः ॥

तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समंततः ॥ ५८ ॥

भगिनी, पत्नी, कन्या आणि सुना, इत्यादिक स्त्रियांचा सन्मान न मिळाल्याकारणाने त्या स्त्रिया ज्या गृहांला शाप देतात त्यांतील धन, पशु या सर्वांचा नाश, शत्रूला मारण्याकरितां जसें अभिचारविधान (जारणमारणविधि) करावे व त्यापासून जसा शत्रूचा नाश होतो त्याप्रमाणे होतो.

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥

भूतिकायैर्नैरित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

या कारणास्तव ऐश्वर्याची इच्छा करणाऱ्या पुरुषांनी सणाच्या दिवसीं व लग्न, मौंजी इत्यादि दिवसीं स्त्रियांचा अलंकार, वस्त्रे, मिष्टान्ने देऊन त्यांचा निरंतर सन्मान करावा.

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ॥

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

ज्या कुळांत स्त्रीपासून भर्ता संतुष्ट होतो, परस्त्रीची इच्छा करीत नाही, तशीच स्त्री पतीपासून संतुष्ट होते त्या कुळांत सार्वकाल निश्चये कल्याण राहत.

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ॥

अप्रमोदात्पुनः पत्युः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

असे आहे कीं, जर स्त्री वस्त्रे, अलंकार यांहीकरून शोभायमान होणार नाही तर ती आपल्या पतीला सुप्रसन्न करणार नाही, आणि पतीची सुप्रसन्नता नसल्यामुळे पतीपासून ती गर्भधारण पावत नाही.

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्वोचते कुलम् ॥

तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

जर स्त्री वस्त्रे, अलंकार यांहीकरून सुशोभित, भर्त्याचेठायीं सुप्रसन्नचित्त, परपुरुष-संपर्करहित अशी असेल तर सर्व कुळ प्रकाशमान होत. आणि ती स्त्री वस्त्रादिकाने हीन, भर्त्यासीं द्वेष करणारी, व परपुरुषासक्त अशी असेल तर सर्व कुळ मलिन होत.

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वैदानध्ययनेन च ॥

कुलान्यकुलतां यांति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥*

आसुरादि निषिद्ध विवाह ह्मणजे ज्या वर्णांला जे निषिद्ध सांगितले ते, जातकर्मादिक कर्मांचा लोप, वेदपाठ न करणें, आणि ब्राह्मणांचा अतिक्रम ह्मणजे अपमान, यांहींकरून प्रसिद्ध असीं सत्कुळें अकुळतेप्रत ह्मणजे हीनकुळाचे दशेला पावतात.

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ॥

गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ॥

कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ ६५ ॥

तसेंच चितारी, सुतार यांचा धंदा केल्यानें; व्याजबद्ध इत्यादि व्यापार केल्यानें; केवळ शूद्रसंतति उत्पन्न केल्या; गार्ई, घोडे, गाड्या, रथ यांचा व्यापार केल्यानें; कृषिकर्म केल्यानें; राजाची चाकरी केल्यानें; यज्ञ करविण्यास अयोग्य अशांकडून यज्ञ करविण्यानें; आणि श्रौतस्मार्तादि कर्मांच्या नास्तिकपणानें, वेदाध्ययनशून्य कुळें शीघ्र नाशाप्रत पावतात. येथें विवाहप्रकरणीं विवाहनिदेच्या प्रसंगेंकरून क्रियालोपादिक निदित केले, यावरून जें जें निदित त्या सर्वांचा निषेध कल्पित होतो.

मन्त्रस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ॥

कुलसंख्यां च गच्छन्ति कथंति च महद्यशः ॥ ६६ ॥

आतां क्रियालोपादिकेंकरून प्राप्त झालेली प्रासंगिक कुलनिंदा सांगून तत्प्रसंगानें कुलाचा उत्कर्ष सांगतो— संपत्तीनें कुळ प्रसिद्धीला पावतें असें जरी लोकप्रसिद्ध आहे तथापि कुळें संपत्तीनें न्यून असतां हि वेदाध्ययन, वेदार्थज्ञान, आणि वैदिककर्मांचें आचरण यांत जीं कुळें तत्पर तीं उत्तम कुळांच्या संख्येंत गणलीं जाऊन मोठ्या कीर्तीला पावतात. याप्रमाणें विवाहप्रकरण समाप्त झालें.

वैवाहिकेभ्यो कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ॥

पंचयज्ञविधानं च पस्ति चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

आतां विवाहाधीन कर्तव्य असा महायज्ञाचा विधि, व पंचमहायज्ञादिक यांचें अनुष्ठान सांगतो— गृह्यसूत्रांत सांगितलेला असा सायंप्रातःहोम, अष्टकादिकसंस्था, यथाशास्त्र अभिसंपाद्य असे पंचमहायज्ञांतर्गत वैश्वदेवादिक यज्ञ, आणि प्रतिदिवसीं करावयाचा पाक हीं कर्मे गृहस्थाश्रमी यानें विवाहजन्य अधीचे ठारपीं करावी.

पंचसूना गृहस्थास्य चुल्लीपेषण्युपस्करः ॥

कंडनी चोदकुंभश्च बध्यते वास्तु बाहयन् ॥ ६८ ॥

चुल्ली ह्मणजे चूल, अहाळइत्यादि पाक करण्याचे साधन; पेषणी म्हणजे जातें, पाटा, वरवंटा इत्यादि पिष्ट करण्याचे साधन, उपस्कर म्हणजे केरसुणी, खराटा, कुंचा इ-

त्यादि कुंडें व गृह यांची शुद्धि करण्याचें साधन; कंडनी म्हणजे उखळ, मुसळ इत्यादि कांडण्याचें साधन; आणि उदकुंभ ह्मणजे घट, हांडा इत्यादि उदक ठेवण्याचें साधन ह्या पांच सूना ह्मणजे बधस्थानें आहेत, यास्तव यांचा उपयोग गृहस्थाश्रमी यानें आपल्या गृहकार्याकडे केला असतां यांपासून जीवांची अलक्षित हिंसा घडते आणि त्या पापेंकरून गृहस्थाश्रमी दोषी होतो.

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ॥

पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

त्या पंचसूनांपासून उत्पन्न होणाऱ्या पापाच्या निष्कृतीसाठीं गृहस्थाश्रमी यांनीं पंचमहायज्ञ प्रतिदिवसीं अवश्य करावे असें मन्वादिकांनीं सांगितलें. श्लोकांत निष्कृत्यर्थ असें म्हटलें आहे यास्तव, पंचसूना ह्या हिंसास्थानें होत असें सांगितलें आणि सूनादोषांनीं लिप्त होत नाही, असें पुढें सांगावयाचें आहे यास्तव पंचसूना ह्या, पापाला कारण आहेत, आणि पंचमहायज्ञ हे त्या पंचसूनांसंबंधी पातकाचे नाशक आहेत. प्रत्यहं असें श्लोकांत म्हटलें आहे त्यापेक्षां त्या पातकाचा क्षय प्रतिदिवसीं होणें अवश्य आहे यास्तव जसें संध्यावंदन नियम तद्वत् पंचमहायज्ञहि नियम करावे असा विधि सूचित होतो.

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तुतर्पणम् ॥

होमो दैवबलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

ते पंचमहायज्ञ असे,—वेदाचें अध्यापन व अध्ययन करणें तो ब्रह्मयज्ञ, अन्नादिकांनीं किंवा उदकानें तर्पण करणें तो पितृयज्ञ, अग्नीचे ठायीं जो होम करणें तो देवयज्ञ, भूतबलि तो भूतयज्ञ, आणि अतिथीचें पूजन करणें तो मनुष्ययज्ञ. अध्यापनादिकांचे ठायीं यज्ञशब्द व महच्छब्द स्तुत्यर्थ गौण आहे.

पंचैतान् यो महायज्ञान्महापयति शक्तिः ॥

✓ स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्नलिप्यते ॥ ७१ ॥

जो गृहस्थाश्रमी हे पंचमहायज्ञ यथाशक्ति आचरण करितो, कदापि टाकीत नाही, तो गृहस्थाश्रमांत राहत असतां पंचसूनादोषांनीं लिप्त होत नाही.

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ॥

✓ न निर्वपति पंचानामुच्छुसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

देवता, अतिथि, भृत्य (वृद्ध मातापितर इत्यादिक), पितर आणि आपण यांला जो अन्नदानेंकरून संतुष्ट करित नाही तो जीवंत असतां मृतसमान आहे. तस्मात् यांला अवश्य संतुष्ट करावे.

अहुतंच हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ॥

ब्राह्मं हुतं प्राशितं च पंच यज्ञान् प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत, आणि प्राशित असीं दुसरीं नामें अन्य ऋषींच्या मते पंचमहायज्ञांचीं आहेत. •

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ॥

ब्राह्मं हुतं द्विजाश्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

अहुत ह्मणजे ब्रह्मयज्ञाख्य जपयज्ञ; हुत ह्मणजे देवयज्ञनामक होम; प्रहुत ह्मणजे भूतयज्ञनामक भूतबलि; ब्राह्महुत ह्मणजे मनुष्ययज्ञनामक ह्मणजे श्रेष्ठ ब्राह्मणाचे पूजन, आणि प्राशित ह्मणजे पितृयज्ञनामक नित्यश्राद्ध.

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादैवे चैवेह कर्मणि ॥

दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

या गृहस्थाश्रमाचे ठायीं जरी दारिद्र्यादि दोषामुळे अतिथीला भोजन देण्यास शक्ति नसेल तथापि ब्रह्मयज्ञ, अग्निहोम हे प्रत्यहीं करावे. कारण, दैवकर्मतत्पर (अग्नीत होम देणारा) मनुष्य हें स्थावरजंगम जगत् धारण करितो.

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ॥

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

यजमानानें अग्नीमध्ये टाकलेली आहुति रसाकर्षणशक्ति असल्यामुळे सूर्याला पोचते, मग त्या आहुतीचा रस सूर्यापासून वृष्टिरूपानें पृथ्वीवर येतो आणि त्यापासून अन्न उत्पन्न होतें, व त्या अन्नापासून प्रजा उत्पन्न होतात.

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तते सर्वजंतवः ॥

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥

प्राणवायूच्या आश्रयेंकरून जसे सर्व प्राणी सजीव राहतात, तद्वत् गृहस्थाश्रमीच्या आश्रयेंकरून सर्व आश्रमी निर्वाह करितात.

यस्मात्प्रयोऽध्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ॥

गृहस्थेनैव धार्यते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

गृहस्थाश्रमी हा सर्व आश्रमी यांला प्राणासारखा श्रेष्ठ आहे असें जें सांगितलें तेंच पुनः उपपादन करितो—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, आणि संन्यासी हे तीन आश्रमी यांचें प्रत्यहीं पोषण गृहस्थाश्रमी ज्ञान (वेदार्थव्याख्यान) आणि अन्नदान यांहींकरून करितात, यास्तव सर्वांहून गृहस्थाश्रमी श्रेष्ठ आहे.

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमश्नयमिच्छता ॥

सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलैर्द्वियैः ॥ ७९ ॥

या कारणास्तव जो अक्षय स्वर्गसुखाची इच्छा करणारा, व इहलोकीं स्त्रीसंभोग, मिष्टान्नादिभोजनसुख निरंतर इच्छणारा त्यानें, जो गृहस्थाश्रम इंद्रियदमनरहितांस धारण करण्याला शक्य नाही तो मोठ्या यत्नेकरून धारण करावा.

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ॥

आशासते कुटुंबिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥

ऋषि, पितर, देव, भूतें आणि अतिथि हे सर्व, गृहस्थाश्रमी यांपासून आपणाला अन्न, उदक मिळावें असें इच्छितात, यास्तव शास्त्रज्ञ गृहस्थ पुरुषानें त्या ऋष्यादिकांला संतुष्ट करावें.

स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि ॥

पितॄन् श्राद्धैश्च नृनन्नेर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

संतुष्ट करण्याचा प्रकार सांगतो—ब्रह्मयज्ञेकरून ऋषींची पूजा करावी, अग्नीत होम करून देवांची पूजा, श्राद्धेकरून पितरांची पूजा, अन्नदानेकरून अतिथींची पूजा, आणि बलिकर्मेकरून भूतांची पूजा, याप्रमाणें यथाशास्त्र पूजा करावी.

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नादेनोदकेन वा ॥

पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

पितृयज्ञ सांगतो—प्रतिदिवसीं जसा संभव असेल तदनुरूप अन्न, तिल, व्रीहि, यव, अधवा उदक, किंवा, दूध, मूले, फळे यांहींकरून पितरांचा संतोष करीत होत्साता श्राद्ध करावें.

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पांचपाक्षिके ॥

न चैवात्राशयेत्किंचिद्वैश्वदैवंप्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥

पंचमहायज्ञांतील जो पितृयज्ञ त्याचे ठायीं एका ब्राह्मणाला तरी भोजन द्यावें, संभव असतां बहुतांसहि द्यावें. ब्राह्मणास वैश्वदेवनिमित्त, भोजन देऊं नये.

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ॥

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मणानें (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांनीं) आपल्या गृह्याग्नीवर आपल्या गृहसूत्रांत सांगितल्याप्रमाणें परिसमूहन, पर्युक्षणादि इतिकर्तव्यतापूर्वक द्या (पुढें सांगावयाच्या) देवतांकारणें प्रतिदिवसीं सिद्धाग्नाचा होम करावा.

अग्नेः सोमस्य चैवादो तयोश्चैव समस्तयोः ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वंतरय एव च ॥ ८५ ॥

कुड्दै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ॥

सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽततः ॥ ८६ ॥

अग्नि, सोम, अग्नीषोम, विश्वेदेव, धन्वंतरि, कुडू, अनुमती, प्रजापति, द्यावापृथिवी आणि स्विष्टकृत् या देवतांकारणें चतुर्थ्यंत विभक्तीकरून स्वाहाकारांत (अग्नये स्वाहा, इत्यादिक) होम करावा.

एवं सम्यग्यविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ॥

इंद्रांतकाव्यतींद्रिभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे सम्यक् (देवतांचे ध्यान करीत होताता) होम करून पूर्वादिक चार दिशांचे ठायीं प्रदक्षिणावर्त अशा आहुति इंद्रादिक, व इंद्रपुरुषादिक या देवतांना द्याव्या. त्या अशा— पूर्वादिशीस 'इंद्राय नमः, इंद्रपुरुषेभ्यो नमः'; दक्षिणदिशीस 'यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः'; पश्चिमदिशीस 'वरुणाय नमः वरुणपुरुषेभ्यो नमः'; उत्तर-दिशीस 'सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः' याप्रमाणे जाणाव्या.

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेद्वस्वद्भ्य इत्यपि ॥

वनस्पतिभ्य इत्येवं मुशलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

'मरुद्भ्यो नमः' याप्रमाणे द्वाराचे ठायीं, 'अद्भ्यो नमः' असी उदकांत, आणि मुसळ व उखळ यांच्या स्थानीं 'वनस्पतिभ्यो नमः', याप्रमाणे आहुति द्याव्या.

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ॥

ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उरिक्षेपेत् ॥

दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

वास्तुपुरुषाच्या शिरोभागीं उत्तरपूर्वदिशींचे मध्यभागीं (ईशानदिशीस) 'श्रियै नमः' असी आहुति द्यावी, वास्तुपुरुषाच्या पादप्रदेशीं दक्षिणपश्चिम दिशीस 'भद्र-काल्यै नमः'; आणि 'ब्रह्मणे नमः वास्तोष्पतये नमः' अशा दोन आहुति गृहाचे मध्यप्रदेशीं द्याव्या. 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' याप्रमाणे आहुति आकाशाप्रत द्यावी. दिवसा 'दिवाचारिभ्यः', रात्री 'नक्तंचारिभ्यः' याप्रमाणे आहुति द्याव्या.

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ॥

पितृभ्यो बलिशेषंतु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

गृहाच्या उपरिभागीं जे गृह त्याचेठायीं अथवा दात्याचे पृष्ठभागस्य भूप्रदेशीं 'स-र्वात्मभूतये नमः', असे हणून आहुति द्यावी. पूर्वोक्त आहुति देऊन अवशिष्ट राहिलेले सर्व अन्न घेऊन दक्षिणदिशेचे ठायीं दक्षिणामुख होऊन प्राचीनावीति करून 'स्वधापितृभ्यः' असे हणून आहुति द्यावी.

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोमिणाम् ॥

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥

दुसरे अन्न पात्रांत घेऊन ते कुत्रे, पतित, श्वपच, पापरोमी (कुष्टी), कावळे, आणि कृमि यांना भूमीवर (केरकचरा त्या अन्नाला न लागेल अशा युक्तीने) द्यावे.

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ॥

स गच्छति परं स्थानं तेजोयूर्तिपथर्जुना ॥ ९३ ॥

याप्रमाणे जो ब्राह्मण सर्वभूतांची अन्नदानादिकाने नित्य पूजा करितो तो ब्रह्मरूप, स्वयंप्रकाश जे उत्तम स्थान त्याप्रत सरळ अशा अचिरादिमार्गेकरून जातो, लणजे ब्रह्माचेठायीं लय पावतो.

कृत्वैतद्वलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ॥

भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

पूर्वोक्त प्रकारेकरून हे बलिकर्म करून घरांतील मनुष्यांचे भोजन होण्याचे पूर्वी अतिथीला भोजन घालवे, आणि भिक्षा मागण्याकरितां आलेले संन्यासी, ब्रह्मचारी यांला यथाविधि प्राप्तप्रमाण (संभव असतां अधिक) भिक्षा घालावी.

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः ॥

तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥

गुरूला यथाविधि गोदान करून जे पुण्यफल प्राप्त होतें ते पुण्यफल भिक्षादानेकरून गृहस्थाश्रमी द्विजाला प्राप्त होतें.

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

कदाचित् पुष्कळ अन्न नसेल तर तत्त्वेकरून वेद व वेदार्थ जाणणाऱ्या ब्राह्मणाला प्राप्तप्रमाण अन्नहि व्यंजनादिकांसह (कोशिबिरी, कढी इत्यादिकांसह) सत्कारपूर्वक यथाविधि द्यावे. प्राप्तप्रमाण अन्नहि नसल्यास उदकाने भरलेले पात्र फलपुष्पादिकांनीं सत्कार करून यथाविधि द्यावे.

नश्यति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ॥

भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाहत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

जे ब्राह्मण वेदाध्ययन, वेदार्थ व वेदानुष्ठानतेज यांहीकरून हीन ते भस्मासारिखे निस्तेज होत, यास्तव दात्यांनीं अन्नानेकरून त्या ब्राह्मणाला देवपितरांच्या उद्देशाने दिलेलीं अशीं हव्यकव्यअन्ने निष्फल होतात.

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ॥

निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषान् ॥ ९८ ॥

विद्या व तप यांच्या तेजेकरून संपन्न जे ब्राह्मण त्यांचीं मुखें अग्नीसारखीं होत, यास्तव त्यांचे मुखांत हव्यकव्यादिकांच्या आहुति टाकल्या असतां दाता इहलोकीं दुस्तर व्याधि, शत्रु, राजपीडादिभय, यांपासून मुक्त होतो, आणि परलोकीं नरकापासून मुक्त होतो.

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ॥

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

स्वसंतोषाने अतिथि घरीं आला असतां त्याला आसन, उदक हीं द्यावीं, आणि विधिपूर्वक सत्कार करून यथाशक्ति अन्नदानहि करावे.

शिलानप्युञ्जतो नित्यं पंचाग्नीनपि जुह्वतः ॥

सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चिनो वसन् ॥ १०० ॥

शिलोञ्जित, अथवा पांचे अग्नीचेठायीं होम करणारा असा जरी गृहस्थाश्रमी असेल आणि त्याचे घरीं आलेला अतिथि पूजाविरहित राहील तर त्या गृहस्थाश्रम्याचें सर्व पुण्य तो हरण करितो, यास्तव अतिथीची पूजा (सत्कार) अवश्य करावी.

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ॥

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यते कदाच न ॥ १०१ ॥

कदाचित् अन्नाच्चा असंभव असेल तथापि तृणासन (चटई), विश्रामभूमि (विश्रान्तिस्थान), पादप्रक्षालनादिकांकरितां उदक, आणि प्रियभाषण हीं अतिथीला धार्मिक गृहस्थाश्रमी यांचे घरीं प्राप्त होतात. यास्तव हीं अतिथीला अवश्य द्यावीं असा विधि प्राप्त होतो.

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिब्रह्मणः स्मृतः ॥

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

अतिथीचें लक्षण सांगतो- परक्याचे घरीं पाहुण्याप्रमाणें केवळ एकच रात्र राहणारा जो ब्राह्मण तो अतिथि होय. सतत राहणारा नव्हे ह्मणून अतिथि. अतिथि झणजे ज्याला दुसरी तिथि (दिवस) नाही तो.

चैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकं तथा ॥

उपस्थितं गृहे विद्याद्वार्या यत्राग्रयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

भार्या आणि अग्नि यांनीं युक्त अशा घरींहि एका गांवांत राहणारा; अथवा थड्याविनोदाच्या गोष्टी सांगून स्नेहसमागमेंकरून आश्रय मागणारा; असा ब्राह्मण वैश्वदेवसमयीं जरीं येईल तथापि त्याला अतिथि असें मानूं नये. भार्या, अग्नि एतद्विरहित आणि प्रवासी आपल्या घरीं आलेला जो तो अतिथि नव्हे असें समजावें, असें येणेंकरून बोधित होतें.

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ॥

तेन ते प्रेत्य पशुतां ब्रह्मन्त्यादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

जे गृहस्थाश्रमी अतिथ्याच्या (अतिथिसत्काराच्या) लोभेंकरून अन्यग्रामी जाऊन पराचरेन्ना करितात ते निषिद्ध पशुचदोषातें अन्नभिन्न होतात त्या परान्नभोजनेंकरून ब्रह्मांतरी वा अन्नदात्याचे गृही पशु होऊन राहतात. तस्मात् हे करूं नये असा निषेध कल्पित होतो.

अग्रणोदोऽतिथिः सायं सूर्योदो गृहमोधिना ॥

कावे प्राप्तुंकावे वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥

१. साग्रीनं हेतुं सारुं पेल्लनंर अन्नं पडलेले दागें निवडून आणून त्याहींकरून उपजीविका करणारा. २. दक्षिणाभि, माहोत्सव, माहोत्सव, आनंदस्य आणि सस्य असे पांच अग्नि.

गृहस्थाश्रमी याने सायंकाळीं आलेला अतिथि कदापि विमुख घालवूं नये; कारण, रात्रीं स्वगृही जाण्यास शक्ति नसल्यामुळे तो सूर्याने पाठविलेला असतो असे समजावे. तो अतिथि दुसऱ्या वैश्वदेवसमयी येवो, अथवा सायंकाळीन भोजन झाल्यानंतर येवो तथापि गृहस्थाश्रमीच्या गृही अतिथि क्षुधित राहूं नये, तस्मात् अवश्य त्याला भोजन द्यावे. विमुख गेला असतां मोठे प्रायश्चित्त आहे हें सांगण्याकरतां हा आरंभ आहे.

न वै स्वयं तदश्रीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ॥

धन्यं यदास्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

भूत, दही इत्यादि जे जे उत्तम पदार्थ असतील ते ते अतिथीला समर्पण करून आपण भक्षण करावे, जे अतिथीला समर्पण केले नाहीत ते भक्षण करू नयेत. अतिथीचे पूजन धन, यश, आयुष्य, आणि स्वर्ग यांत देणारें होतें.

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ॥

उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

एककालीं बहुत अतिथि आले असतां आसन, विश्रामस्थल, शय्या (बिछाना, खाटले इत्या०), येणान्याच्या मागून चालणें, सेवा हे सर्व उषचार करणें ते उत्तमाला उत्तम, मध्यमाला मध्यम आणि हीनाला हीन या रीतीनें करावे, सर्वाला समान करू नयेत.

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ॥

तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्नबलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

अतिथिभोजनपर्यंत वैश्वदेव केल्यानंतर जर दुसरा अतिथि येईल तर त्याकरितां पुनः पाक करून त्याला यथाशक्ति अन्न द्यावे, बलिहरण करू नये.

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ॥

भोजनार्थं हि ते शंसन्वांताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

भोजन मिळण्यासाठीं ब्राह्मणानें आपले गोत्र, कुळ हीं सांगू नयेत. कां की, भोजनासाठीं जो कोणी ब्राह्मण कुलगोत्रें सांगतो तो वांताशी (वांतिभक्षक) असा पंडितांनीं झटला आहे.

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ॥

वैश्यशूद्रौ सखा सैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

ब्राह्मणाच्या घरी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, ज्ञाति (आपले कुलज), गुरु हे अतिथि नव्हत. कां की, क्षत्रियादिक तीन वर्ण ब्राह्मणाहून नीच आहेत, आणि मित्र, ज्ञाति यांला ओपला संबंध आहे, व गुरु तो आपला प्रभु आहे, याकरितां जो आपणाहून मोठा आणि संबंध व प्रभुता पाहून मित्र असेल तो अतिथि सर्व वर्णांमध्ये सांगितला आहे. याच न्यायानें क्षत्रियाला ब्राह्मण, व सजातीय क्षत्रिय हे अतिथि होत, वैश्य, व शूद्र हे अपरुष्ट असल्यामुळे अतिथि नाहीत, याप्रमाणें वैश्यालाहि द्विजाति अतिथि, शूद्र नाही.

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ॥

भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

जर परगांवाहून अतिथिकालीं अतिथीच्या धर्मेकरून क्षत्रिय ब्राह्मणाच्या घरीं येईल तर पूर्वी ब्राह्मणाच्या घरीं आलेल्या ब्राह्मणांला भोजन घालून स्वेच्छेकरून त्यालाहि भोजन घालावे.

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुंबेऽतिथिधर्मिणौ ॥

भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

अतिथिधर्मशाली असे वैश्य, शूद्र हेहि परगांवाहून (अतिथिसमयी) ब्राह्मणाचे घरीं येतील तर क्षत्रियाचे भोजनानंतर यजमान व यजमानपत्नी यांचे भोजनाच्या पूर्वी सेवकांबरोबर सत्कारपूर्वक, दयापुरःसर त्यांलाहि भोजन घालावे.

इतरानपि सख्यादीन् संप्रीत्या गृहमागतान् ॥

सत्कृत्यान् यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥

यांशिवाय इतर जे कोणी मित्र, सहाध्यायी इत्यादिक घरीं आले असतील त्यांला मोठ्या प्रीतीने सत्कारपूर्वक यथाशक्ति अन्न देऊन नंतर यजमानानें स्त्रियेसहवर्तमान भोजन करावे.

सुवासिनीं कुमारीश्च रोगिणीं गर्भिणींस्त्रियः ॥

अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेद्विचारयन् ॥ ११४ ॥

सुवासिनी (नूतन विवाहित स्त्रिया) सुना, कन्या, कुमारी, गर्भिणी या स्त्रियांला अतिथींला भोजन घालण्याच्या पूर्वीच भोजन घालावे, अतिथि उपोषित असतां यांला भोजन कसें द्यावे, असा विचार करू नये.

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुंक्तेऽविचक्षणः ॥

स भुंजानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

अतिथीपासून सेवकापर्यंत जितके भोजन देण्याला योग्य सांगितले त्यांला भोजन दिल्यावांचून व्यतिक्रमभोजनदोष न जाणत होत्साता जो भोजन करितो तो मृत झाल्यानंतर कुत्रे, गृध्र हे आपणांला भक्षण करितात, हे तो जाणत नाही.

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ॥

भुंजीयातां ततः पश्चाद्वशिष्टं तु दंपती ॥ ११६ ॥

ब्राह्मण (अतिथि), ज्ञाति, भृत्य (दासादिक) हे सर्व भोजन केल्यानंतर अवशेष राहिलेल्या अन्नाचे दंपती (यजमान व तत्पत्नी) यांनी भोजन करावे.

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ॥

भूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

गृहस्थाश्रमी यांने देव, ऋषि, मनुष्य, पितर, आणि गृह्यदेवता (वासुदेवादिमूर्ति) यांची पूजा करून वैश्वदेवादिकांचे शेष अन्न भक्षण करावे.

अथं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात् ॥

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

जो मनुष्य आपणाकरितांच स्वयंपाक करून भोजन करितो, देवादिकांला देत नाही; तो (पापहेतुत्वास्तव) पापच केवळ भक्षण करितो, अन्न नाही; कारण, पाकयज्ञ (वैश्वदेवादि यज्ञ) करून त्यांचें अवशिष्ट राहिलेलें अन्न भक्षण करावें तें साधूंचें अन्न असें झटलें आहे.

राजर्त्विक्स्नातकगुरुन्प्रियश्वशुरमातुलान् ॥

अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात् पुनः ॥ ११९ ॥

अतिथिपूजाप्रसंगेंकरून, राजा इत्यादिक घरीं आले असतां त्यांच्या पूजेचा विशेष सांगतो— राजा, ऋत्विक्, स्नातक (गुरुच्या घरीं वेदाध्ययन करून आलेला विद्वार्थी), गुरु, जांवई, सासरा, मातुळ, हे सात, घरीं आले असतां गृह्यसूत्रांत सांगितलेल्या मधुपर्कविधीकरून त्यांची पूजा करावी. आणि पूजा करून वर्ष शाल्यानंतर पुनश्च ते येतील तर पुनः त्यांची मधुपर्कपूजा करावी.

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ॥

मधुपर्केण संपूज्यौ नत्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥

राजा आणि स्नातक यांचे पूजेविषयीं संकोचार्थ सांगतो—राजा, स्नातक हे एक वर्षानंतर जर पुनः प्राप्त होतील आणि यज्ञकर्म असेल तरच त्यांची मधुपर्कपूजा करावी, यज्ञव्यतिरिक्त पूजा करू नये. जांवई इत्यादिक वर्षानंतर जरी येतील व यज्ञ जरी नसेल तथापि ते मधुपर्कपूजेला पात्र आहेत. वर्षामध्ये तर यज्ञ व विवाह यांमध्येच सर्वांची मधुपर्कपूजा करावी.

सायंतवन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमंत्रं बलिं हरेत् ॥

वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

सायंकालीं पक्ष शालेच्या अन्नाचें बलिहरण स्त्रियेनें मंत्रविरहित करावें. स्त्रियेला मानसिक देवतोद्देश करण्याचा निषेध नाही. होम, बलिदान, अतिथिभोजन एतद्रूप हें अन्नसाध्य वैश्वदेव कर्म गृहस्थाश्रमी यानें सायंकालीं व प्रातःकालीं अवश्य करावें.

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चैदुक्षयेऽग्निमान् ॥

पिंडान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥

पुर्वी अनुक्रमणिकेंत प्रतिज्ञात अशा श्राद्धकल्पाचा उपक्रम करितो— सामिक द्विजानें (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांनीं) अमावास्याचेठायीं पिंडपितृयज्ञ करून प्रतिमासी कतर्व्य असें पिंडान्वाहार्यक श्राद्ध करावें.

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ॥

तच्चाभिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन समंततः ॥ १२३ ॥

पितरांचें प्रतिमासी करावयाचें जें श्राद्ध त्याला पंडित जन अन्वाहार्य असें क्षणतात. तें श्राद्ध शुद्ध, दुर्गंधिरहित अशा उत्तम मांसेंकरून करावें.

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः ॥

यावंतश्चैव यैश्चान्यैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

त्या श्राद्धीं कोणते ब्राह्मण विहित, कोणते वर्ज्य करावे, कितीसंख्याक ब्राह्मण असावे, आणि त्यांला कोणकोणते पदार्थ श्राद्धीं द्यावें तें सर्व सांगतों.

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ॥

भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

श्राद्धीं ब्राह्मण किती असावे तें सांगतो— दैवस्थानीं दोन आणि पितृत्रयीचे ठायीं तीन याप्रमाणें पांच ब्राह्मण श्राद्धीं जेववावे. अथवा देवस्थानीं एक व पितृस्थानीं एक असे दोन जेववावे. उक्तसंख्येहून अधिक ब्राह्मण सांगण्यास समर्थ असलेला तथापि श्राद्धीं विस्तार करण्याविषयीं प्रवृत्त होऊं नये. मेधातिथीचें मत. पितृस्थानीं तीन, पितामहस्थानीं तीन आणि प्रपितामहस्थानीं तीन असे नऊ व देवस्थानीं दोन एकंदर अकरा ब्राह्मण असावे असें आहे.

सक्तियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः ॥

पंचैतान्विस्तरो हंति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

सक्तिया (ब्राह्मणाची पूजा), देश (दक्षिणदिशेकडे उतरती भूमि असावी इत्यादि पुढें सांगावयाचा तो), काल (अपराण्ह), शौच (कर्ता, भोक्ते इत्यादि नियम) आणि गुणवान् ब्राह्मण न मिळणें या सर्वांचा नाश विस्तार करितो, क्षणजे श्राद्धीं विस्तार केल्यानें तें यथासांग होत नाहीं, यास्तव विस्तार करूं नये.

प्रथिता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ॥

तस्मिन्पुक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥

श्राद्धरूप जें हें पित्र्यकर्म तें प्रथम प्रसिद्ध प्रेतकृत्य क्षणजे पितरांवर उपकार करणें हें ज्याचें प्रयोजन असें आहे, यास्तव अमावास्याच्या दिवसीं पितरांच्या उद्देशानें जो श्राद्ध करितो त्याचें तें स्मृत्युक्त पित्र्यकर्म पितरांवर उपकार करून पितृद्वारेकरून गुणवान् पुत्र, पौत्र व धनादि संपत्ति हीं देतें, तस्मात् हें अवश्य करावें.

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ॥

अर्हत्तमाय विप्राय तस्यै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

देव आणि पितर एतत्संबंधेंकरून दात्यांनीं द्यावयाचीं जीं हव्यकव्ये तीं श्रोत्रिय (वेदाध्ययनकर्ता), अर्हत्तम (विद्या, आचार, सन्मान यांहींकरून अतिपूज्य) अशा ब्राह्मणालाच द्यावी. तथा ब्राह्मणाला दिल्यानें महाफल मिळतें.

एकैकमपि विद्वांसं देवै पित्र्ये च भोजयेत् ॥

पुष्कलं फलमाप्नोति नामंत्रज्ञान् बहूनपि ॥ १२९ ॥

दैवकर्म व पित्र्यकर्म यांचेठायीं, वेदतत्त्व जाणणाऱ्या अशा एकेक तरी ब्राह्मणाला भोजन द्यावें, तेणेंकरूनहि विशिष्ट श्राद्धफळ मिळतें, वेद न जाणणारे अशा अविद्वान् बहुत ब्राह्मणांला भोजन घातल्यानें तें फळ प्राप्त होत नाहीं.

दूरादेव परीक्षित ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥

तीर्थं तद्व्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

पिता, आज्ञा इत्यादि संभावित पुरुषांच्या शुद्धिनिरूपणेंकरून सर्व शाखेचें अध्ययन केलेल्या ब्राह्मणाची परीक्षा करावी; कारण, सत्कुळांत उत्पन्न झालेला विद्वान् ब्राह्मण हव्यकव्यांचें पात्र होय, ह्मणजे देवपितरांच्या उद्देशानें जें काहीं द्यावयाचें तें त्याला द्यावें, व दानाविषयीं तो अतिथि असा झटला आहे.

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुंजते ॥

एकस्तान्मंत्रविप्रतिः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

उया श्राद्धीं, वेद न जाणणारे अशा दहा लक्ष ब्राह्मणांस भोजन घातल्यानें जें फळ मिळतें, तेथें एक वेदवेद्या ब्राह्मणाला भोजन दिलें असतां तो संतुष्ट होऊन धर्मकरून दहा लक्ष ब्राह्मण भोजन केल्याचें फळ उत्पन्न करितो.

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ॥

न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरैणैव शुद्ध्यतः ॥ १३२ ॥ ✓

ज्ञानानें (विद्येनें) जो उत्कृष्ट झाला हव्यें, कैव्यें द्यावीं. कां कीं, रुधिरानें भरलेले जे हस्त ते जसे रुधिरानें धुतले असतां शुद्ध होत नाहींत, तसें मुखाला भोजन दिल्यानें झालेला दोष मूर्खभोजनानें जात नाहीं, तर विद्वान् भोजन केल्यानें तो जातो.

यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमंत्रवित् ॥

तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलैर्योगुडान् ॥ १३३ ॥

अविद्वानाची निंदा करून विद्वानालाच दान द्यावें असें जें सांगितलें त्याची वक्रोक्तीनें स्तुति करितो. वेद न जाणणारा ब्राह्मण, देवपितरांला अर्पण केलेल्या अन्नाचे जितके ग्रास भक्षण करितो तत्संख्याक असे शूलऋष्टिनामक आयुधाचे तप्त गोळे, श्राद्धकर्ता मृत शाल्यानंतर (परलोकीं) भक्षण करितो. अविद्वानाला दान केलें असतां कार्यालाच याप्रमाणें फल होतें असें एथें सांगितलें.

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्सपोनिष्ठास्तथाऽपरे ॥

तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥

कित्येक ब्राह्मण आत्मज्ञाननिष्ठ, कित्येक प्राजापत्यादिकतपोनिष्ठ, कित्येक तपश्चर्या, वेदाध्ययन एतन्निष्ठ, आणि दुसरे कित्येक यागादिककर्मनिष्ठ, असे चार प्रकारचे ब्राह्मण जाणावे.

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ॥

हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्वर्षि ॥ १३५ ॥

कव्ये आत्मज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणाला यत्नेकरून दावीं. हव्ये तर, यथान्याय ह्मणजे पहिला न मिळेल तर दुसरा या रीतीने चारहि ब्राह्मणांला दावीं.

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ॥

अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥

ज्याचा पिता अश्रोत्रिय (वेदाध्ययनशून्य) व आपण पुत्र वेदपारग होतो. अथवा पिता वेदपारग असतां पुत्र अश्रोत्रिय होतो.

ज्यायांसमनयोर्विद्यादस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ॥

मंत्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

त्या दोहोंमध्ये श्रेष्ठ कोण तें सांगून विशेष सांगतो—पूर्वीच्या श्लोकांत सांगितलेल्या दोहोंमध्ये ज्याचा पिता श्रोत्रिय (वेदाध्यायी) असेल तो (पुत्र अश्रोत्रिय असताही) ज्येष्ठ जाणावा. पिता अश्रोत्रिय असून पुत्र श्रोत्रिय असेल तथापि पुत्रानें अध्ययन केलेल्या वेदाचे पूजनार्थ अश्रोत्रिय पिता पूजेला योग्य होतो. तात्पर्य, वेदच पितृशरानें पूज्य आहे. तस्मात् वचनभेदेकरून असे सिद्ध झालें कीं, श्राद्धकर्ता श्रोत्रिय असेल तर त्यानें श्रोत्रियाचा पुत्र (अश्रोत्रिय असताही) श्राद्धी भोजनाला सांगावा; श्राद्धकर्ता अश्रोत्रिय असेल तर त्यानें श्रोत्रियपुत्र श्राद्धी सांगूं नये.

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ॥

नारिं न मित्रं यं विद्यान्तं श्राद्धे भोजयेद्विजम् ॥ १३८ ॥

श्राद्धी मित्राला भोजन देऊं नये ह्मणजे मित्राला ब्राह्मण सांगूं नये. इतर धन देऊन मित्राची मैत्री संपादावी. जो शत्रु अथवा मित्र नसेल तो ब्राह्मण श्राद्धी भोजनास सांगावा.

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ॥

तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥

जो मनुष्य देवपितृसंबंधी कार्यामध्ये मैत्री प्रधान मानून स्वकीय मित्राला भोजन देतो त्याला त्या श्राद्धकर्माचें पारलौकिक फल मिळत नाही.

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ॥

सः स्वर्गादप्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

जो मनुष्य श्राद्धी भोजनाचे निमित्तानें मित्रता करितो तो श्राद्धमित्र व ब्राह्मणांमध्ये अधम होत्साता स्वर्गलोकापासून भ्रष्ट होतो, ह्मणजे त्याला स्वर्ग प्राप्त होत नाही.

संभोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ॥

इहैवास्ते तु सा लोके गौरधैवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

जेथें बहुत मित्रपुरुष एकत्र मिळून भोजन करितात असी जी दक्षिणा हणजे दान-क्रिया ती (पिशाचधर्म असल्यामुळे) पैशाची असी मन्वादिक ऋषींनीं ह्मटली आहे; कारण कीं, ती मित्रभावासाठीं आहे, परलोकार्थ नाही. जसी आंधळी गाय एकाच गृहीं राहण्यास शक्य असते, तसें तें भोजन या लोकीं फलदायक होतें, परलोकीं फलदायक नाही.

यथेरिणे बीजमुत्त्वा न वप्ता लभते फलम् ॥

तथाऽनुचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥

जसें उषरभूमीत बीज पेरून पेरणारास फळ मिळत नाही, तसें अविद्वान् ब्राह्मणाला हविष्याचें दान केल्यानें दात्याला श्राद्धदानफळ प्राप्त होत नाही.

दातृन् प्रतिग्रहीतृंश्च कुरुते फलभागिनः ॥

विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

वेदतत्त्व जाणणाऱ्या ब्राह्मणाला यथाशास्त्र दक्षिणा दिली असतां ती दक्षिणा दाते आणि प्रतिग्रहीते (दान घेणारे) यांना ऐहिक (इहलोकाचीं), पारलौकिक (परलो-कस्थ) फळे देते. दात्याला या लोकीं आयुष्य, प्रजा, धन, विद्या हीं प्राप्त होऊन पर-लोकीं स्वर्गमोक्षादि सुखें मिळतात. आणि प्रतिग्रहीत्याला, त्या धनैकरून झालेल्या यागादिकमैकरून परलोकीं फळे मिळतात, व इहलोकीं, कृष्यादिफळे प्राप्त होतात.

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ॥

दिषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥

विद्वान् ब्राह्मण न मिळेल तर श्राद्धीं गुणवान् मित्रालाहि भोजन द्यावें, शत्रु विद्वान् असेल तथापि त्याला श्राद्धीं भोजन देऊं नये. कां कीं, शत्रूला श्राद्धीं भोजन घात-ल्यानें श्राद्ध परलोकीं निष्फल होतें. यथोक्त पात्राचा असंभव असतां मित्रप्रतिप्रसवार्थ हें सांगितलें.

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ॥

शाखांतगमथाभ्वर्युं छंदोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

मंत्रब्राह्मणात्मक शाखाध्ययन केलेला अशा ऋग्वेदी ब्राह्मणाला श्राद्धीं यत्नैकरून भोजन घालावें, अथवा मंत्रब्राह्मणात्मक सकल शाखाध्ययन केलेला यजुर्वेदी याला भो-जन द्यावें. किंवा सकल शाखाध्ययन केलेला छंदोग (अथर्वणवेदी) ब्राह्मण याला भोजन द्यावें.

एवामन्यतमो यस्य भुंजीत श्राद्धमर्चितः ॥

पितृणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥

पूर्व श्लोकीं सांगितलेलें, श्राद्धीं भोजन केलें असतां त्यांचें अधिक फल सांगतो—संपूर्ण आपापल्या शाखेचें अध्ययन केलेले ऋग्वेदी इत्यादिक ब्राह्मण यांतून कोणत्याहि एकाची यथाविधि पूजा करून श्राद्धीं त्याला भोजन दिल्यानं त्याच्या पिता इत्यादि सात पुरुषपर्यंत पितरांची अविच्छिन्न तृप्ति होते.

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ॥

अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

हव्य आणि कव्य यांच्या दानाविषयीं (श्रोत्रियादिकांला द्यावें झणून) जो सांगितला तो हा मुख्य कल्प (पक्ष) जाणावा. आतां मुख्य पक्षाच्या अभावीं साधु लोकांनीं आश्रयण केलेला असा हा (वक्ष्यमाण) अनुकल्प (गौणपक्ष) जाणावा.

मातामहं मातुलं च स्वस्त्रीयं श्वशुरं गुरुम् ॥

दौहित्रं विट्पतिं बंधुमृत्विक्काज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

मातामह (मातेचा पितृ), मातुल, स्वस्त्रीय (भगिनीचा पुत्र), श्वशुर, गुरु (विद्यागुरु, आचार्यादिक) दौहित्र (कन्येचा पुत्र), विट्पति (कन्येचा पति), बंधु (मावशीचा पुत्र इत्यादिक), ऋत्विक्, आणि यजमान या दहांला (मुख्य श्रोत्रियादिकांचा असंभव असतां) श्राद्धीं भोजन द्यावें.

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ॥

पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

धर्म जाणणाच्या पुरुषानें दैवश्राद्धीं भोजनासाठीं ब्राह्मणाची परीक्षा करू नये, तर लोकांत प्रसिद्धि असल्यानं हा योग्य आहे असें जाणून त्याला भोजन द्यावें. पितृकर्म प्राप्त असतां या ब्राह्मणाचे पिता, पितामह इत्यादिक कसे होते इत्यादिक अवश्य त्याची परीक्षा करावी.

ये स्तेनपतितक्रीडा ये च नास्तिकवृत्तयः ॥

तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हन्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

स्तेन (चोर), पतित (महापातकी), नपुंसक, आणि नास्तिकवृत्ति हे ब्राह्मण दैवपित्र्य कृत्यांविषयीं अयोग्य होत असें मनु बोलता झाला.

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ॥

याजयंति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

जटिल (ब्रह्मचारी), वेदाध्ययनरहित, दुर्बल (दुश्कर्मा), कितव (जुगारी इत्यादि), आणि पूगयाजक (बहुतांकाडे होमादि करणारे) यांला श्राद्धीं भोजनास सांगू नये.

१ स्तेन झणजे सुवर्णचोरणाराहून निराळा जाणावा. २ दुर्बल झणजे खलति (ज्याचे मस्तकास खरवाट पडलें आहे तो), लोहितकेश अथवा दुश्कर्मा असे तीन अर्थ मेधातिथीने केले आहेत.

चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा ॥

विपणेन च जीवंतो वड्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥

वैद्य, देवलक (वेतन घेऊन देवपूजा करून उपजीविका करणारे), मांसविक्रय करणारे, आणि वाणिज्यानें उपजीविका करणारे हे दैवपित्र्य कर्माविषयीं वर्ज्य जाणावे.

प्रेष्यो ग्रामस्य रात्रश्च कुनखी श्यावदंतकः ॥

प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वाधुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

वैतन घेऊन गांवचें आणि राजाचें दूतकर्म (जासूदगिरी) करणारा; कुनखी; कृष्ण-दंत; गुरूविषयीं प्रतिकूल आचरण करणारा; श्रौतस्मार्ताग्नीचा त्याग करणारा, कलाकौशल्याने उपजीविका करणारा.

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ॥

ब्रह्मद्विष्ट परिवित्तिश्च गणाभ्यंतर एव च ॥ १५४ ॥

क्षयरोगी; उपजीविकेसाठीं बोकड, मेंढे पाळणारा; परिवेत्ता व परिवित्ति (यांचीं लक्षणें पुढे १७१ व्या श्लोकांत सांगावयाचीं आहेत); पंचमहायज्ञ न करणारा; ब्राह्मणादिकांचा शत्रु; सर्व लोकांच्या उपयोगार्थ काढलेल्या धनाने उपजीविका करणारा.

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ॥

पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपत्तिर्गृहे ॥ १५५ ॥

नृत्यानें उपजीविका करणारा; स्त्रीसंपर्काने ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट झालेला (ब्रह्मचारी, आणि संन्यासी); वृषलीपति (सवर्णस्त्रीशीं विवाह न करितां शूद्रास्त्रीशीं विवाह करणारा); पुनर्भूस्त्रीचा पुत्र; काण; ज्याच्या गृहीं स्त्रियेचा उपपत्ति (जार) असतो तो.

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ॥

शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुंडगोलकौ ॥ १५६ ॥

वैतन घेऊन अध्ययन सांगणारा; वैतन देऊन अध्ययन शिकलेला; शूद्रशिष्य; शूद्रगुरु; कठोर भाषण करणारा; कुंड व गोलक (यांचीं लक्षणें पुढे १७४ व्या श्लोकांत सांगावयाचीं आहेत).

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ॥

ब्राह्मैर्योनैश्च संबंधैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

माता, पिता, गुरु यांचा बिनाकारण त्याग करणारा; पतितांसह अध्ययन, कन्यादान इत्यादि संबंधानीं संपर्क घडलेला.

अगारदाही गरदः कुंडाया सोमविक्रयी ॥

समुद्रयायी बंदी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥

घरे जाळणारा; विष देणारा; कुंडाचें (कुंडगोलकाचें) अन्न भक्षण करणारा; सोमल-तेचा विक्रय करणारा; तारवांत बसून द्वीपांतरीं जाणारा; बंदी (स्तुतिपाठक); तेलकरितां तिल यंत्रांत घालून पेषण करणारा; खोटी साक्ष देणारा.

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ॥

पापरोग्यभिषास्तश्च दांभिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥

पित्याशीं शास्त्रार्थाविषयीं अथवा लौकिक वस्तुविषयीं विनाकारण कलह करणारा; आपण अनभिज्ञ असतां स्वार्थाकरितां दुसऱ्यांकडून द्यूत (जुगार इ०) करविणारा; सुरा-
व्यतिरिक्त मद्यपान करणारा; कुष्टी; महापातकाचा आरोपी; दांभिक (कपटानें धर्म कर-
णारा); रसविक्रय करणारा.

धनुःशराणां कर्त्ता च यश्चाग्नेदिधिषूपतिः ॥

मित्रधुक् द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

धनुष्ये, बाण घडणारा; अग्नेदिधिषूपति; मित्रघ्नोही; द्यूतानें उपजीविका करणारा; पुत्रापासून वेदाध्ययन केलेला.

भामरी गंडमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ॥

उन्मत्तोऽधश्च वज्र्याः स्युर्वेदनिंदक एव च ॥ १६१ ॥

भामरी(अपस्मारी); गंडमळारोगयुक्त; श्वेतकुष्टी; दुर्जन; उन्मत्त; आंधळा; वेदनिंदक.

हस्तिगोश्वोष्टदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ॥

पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

हत्ती, गवे, उंट, घोडे यांला गति शिकविणारा; नक्षत्रविद्येने उपजीविका करणारा; पक्षी पाळणारा; युद्धाचार्य ह्मणजे युद्धार्थ शस्त्रविद्या शिकविणारा.

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ॥

गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

वाहणाऱ्या उदकांचे पाट, बंधारणे फोडणारा; व वाहत्या उदकाला अडविणारा; सुतार-
काम करणारा; दूत; वेतन घेऊन वृक्षांची लावणी करणारा.

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ॥

हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याज्ञकः ॥ १६४ ॥

क्रीडेसाठी कुत्रे पाळणारा; पक्षी विकून उपजीविका करणारा; कन्यागामी; हिंसा
करणारा; शूद्रवृत्ति; विनायकादिगणांचा याग करणारा.

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ॥

कपिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निंदित एव च ॥ १६५ ॥

आचारानें ह्मणजे गुरु अतिथि यांला प्रत्युत्थापनादि आचारानें हीन; क्लीब ह्मणजे
धर्मकृत्यादिकांविषयीं निरुत्साह; नित्ययाचक; रुषिकर्मानें उपजीविका करणारा; श्लीपदी
(वायूनें स्थूलचरण झालेला); कोणत्याहि निमित्तेंकरून साधूंनीं निंदित.

१ ज्येष्ठ सोदर बहीण अविवाहित असून ज्या कनिष्ठ भगिनीचा विवाह केला ती कनिष्ठभगिनी अग्नेदि-
धिषूपतिचा पति.

औरभ्रिको माहिषिको परपूर्वापतिस्तथा ॥

प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

मेंढे, टीणगे यांहींकरून उपजीविका करणारा; पुनर्विवाहित स्त्रीचा पति; द्रव्य घेऊन प्रेतें वाहणारा; हे सर्व हव्यकव्याविषयीं अवश्य वर्ज्य करावे.

एतान् विगर्हिताचारानपांक्तेयान् द्विजाधमान् ॥

द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

हे सर्व निदिताचार, ब्राह्मणांमध्ये अधम, आणि साधूसहवर्तमान एका पंक्तीत भोजनास अयोग्य होत, यास्तव शास्त्रज्ञ अशा श्रेष्ठ ब्राह्मणानें दैवकर्म व पित्र्यकर्म यांविषयीं विशेषें करून ते वर्ज्य करावे.

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणामिरिव शाम्यति ॥

तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥ ✓

जसा तृणाचा अग्नि हवनीय द्रव्याच्या आहुति दहन करण्याला समर्थ नाही, व आहुति टाकिली असतां तो शांत होतो ह्मणजे विज्ञतो, मग तो होम निष्फळ होतो. तद्वत् वेदरूप अग्नीनें जो शून्य ब्राह्मण तो तृणामिसमान होय यास्तव देवतांचे उद्देशानें द्यावयाचें हवि त्याला देऊं नये. कारण, जसें भस्मामध्ये हवन करूं नये, तद्वत् वेदशून्य ब्राह्मणाला देऊं नये; कारण तें निष्फळ होतें. वेदाध्ययन केलेला असून जरी त्याला काणादि शारीर दोष असतील तथापि तो ग्राह्य आहे, चौर्यादिदोषयुक्त ग्राह्य नाही.

अपांक्तदाने यो दातुर्भवत्पूर्व फलोदयः ॥

दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥

जो ब्राह्मण पंक्तिभोजनाला योग्य नाही त्याला हव्य किंवा कव्य दिलें असतां दायाला त्या दानापासून परलोकीं जें फळ मिळतें तें सर्व सांगतों.

अन्नैर्यद्विजैर्भुक्तं परिवेत्तादिभिस्तथा ॥

अपांक्तैर्यैर्दन्वैश्च तद्वै रक्षांसि भुजते ॥ १७० ॥

वेदग्रहणार्थं जीं सांगितलेलीं व्रतें तद्विरहित, परिवेत्तादिक, अपांक्त्य (पंक्तिभोजनास अयोग्य), आणि चौर इत्यादिक अशा ब्राह्मणांनीं हव्यकव्यें भक्षिलीं असतां तें राक्षस भक्षण करितात, ह्मणजे तें श्राद्ध निष्फळ होतें.

द्वाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ॥

परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

परिवेत्ता व परिवित्ति यांचें लक्षण सांगतो— ज्येष्ठ सोदर भ्राता अविवाहित व अनभिक्ष असतां जो कनिष्ठ सोदर भ्राता विवाह, श्रौतस्मार्ताग्नि करितो तो कनिष्ठ परिवेत्ता जाणावा आणि ज्येष्ठ परिवित्ति होतो.

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ॥

सर्वे ते नरकं यांति दातृयाजकपंचमाः ॥ १७२ ॥

प्रसंगेकरून परिवेदनसंबंधी यांलाहि अनिष्टफल सांगतो— परिवेत्ता, परिविचि, ज्या कन्येशीं विवाह झाला ती कन्या, कन्यादाता, आणि विवाहहोम करविणारा उपाध्याय हे सर्व नरकाप्रत जातात.

भ्रातृमृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ॥

धर्मेणापि नियुक्तायां स त्रेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

मृत सोदर भ्रात्याची स्त्री नियोगधर्मानें नियुक्त असतां तिचेठायीं कामातुर होत्साता अविधीनें जो आलिंगन, चुंबन इत्यादि करितो अथवा पुनः पुनः आसक्त होतो तो दिधिषूपति जाणावा. श्राद्धाला निषिद्ध जे ब्राह्मण सांगितले खांमध्ये याचेंहि परिगणून केलें आहे यास्तव हव्यकव्य कर्माविषयी याचाहि निषेध कल्पावा असें सिद्ध होतें.

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुंडगोलकौ ॥

पत्यौ जीवति कुंडः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥

परस्त्रीचेठायीं दोन प्रकारचे पुत्र होतात. एक कुंड आणि दुसरा गोलक. पति जीवत असतां जारापासून होतो तो कुंड होय. आणि पति मृत असतां जारापासून होतो तो गोलक जाणावा.

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ॥

दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥

कुंड व गोलक असे हे दोन परक्षेत्रीं झालेले असल्यामुळें सामान्य प्राणी होत, यांला दाखानीं हव्यकव्यें दिलीं असतां तीं इहलोकीं, परलोकीं निष्फल होतात.

अपांत्यो यावतः पांत्यान् भुजानाननुपश्यति ॥

तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥

आपांत्य (सदाचरणसंपन्नांसहवर्तमान एक पंक्तीचेठायीं भोजन करण्याला अयोग्य) असा चोर इत्यादि ब्राह्मण, भोजन करणाऱ्या जितक्या ब्राह्मणांला पहातो तितक्या ब्राह्मणांच्या भोजनाचें फल परलोकीं मूर्ख दात्याला प्राप्त होत नाही, यास्तव चोर इत्यादि ब्राह्मणांच्या दृष्टीं न पडेल असें कर्म (श्राद्धादिक) करावें.

वीक्ष्यांधो नवतेः काणः षष्ठेः श्वित्री शतस्य तु ॥

पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥

पांत्य (पंक्तिपावन) ब्राह्मण भोजन करित असतां तेथें सन्निध अंध असेल तर तो नव्वद ब्राह्मणांचे भोजनाचें फळ नष्ट करितो, काणा पाहील तर तो साठ ब्राह्मणांचे भोजनाचें फळ नष्ट करितो, श्वेतकुष्ठी पाहील तर शंभर ब्राह्मणांचे भोजनाचें फळ नष्ट करितो, गळकुष्ठी पाहील तर सहस्र ब्राह्मणांचे भोजनाचें फळ नष्ट करितो, यास्तव जेथें

१ नियोगधर्म अध्याय ९, श्लोक ५९-६३ यांत सांगितला आहे. २ जातानि ब्राह्मण असतां त्याचे अंगी ब्राह्मणकार्याचा अभाव आहे झणून सामान्य प्राणी असे झटले आहेत.

हव्यकव्य होत असेल त्या प्रदेशांत अंधादिक सन्निध नसावे हे सांगण्याकरितां हे वचन आहे.

यावतः स स्पृशेदंगैर्ब्राह्मणान् शूद्रयाजकः ॥

तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौनिकम् ॥ १७८ ॥

शूद्राकडून पक्ष करविणाऱ्या ब्राह्मणास भोजनाला बलाविले असतां तो आपल्या अंगेकरून जितक्या ब्राह्मणांला स्पर्श करील तितक्या ब्राह्मणांला दान दिल्याचें फळ दाखाला प्राप्त होत नाहीं, आणि जितक्या ब्राह्मणांला भोजन घालील तितक्या सर्वांला भोजन घातल्याचें फळ दाखाला प्राप्त होणार नाहीं. यावरून शूद्र याजकाला हव्यकव्यकर्माविषयी घेऊं नये व भोजनही देऊं नये असा निषेध कल्पित होतो.

वेदविज्ञापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ॥

विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवांभसि ॥ १७९ ॥

प्रसंगेकरून शूद्रयाजकापासून प्रतिग्रह घेण्याविषयीं निषेध करितो— वेदवेत्ता जरी ब्राह्मण आहे आणि तो लोभास्तव शूद्रयाजकापासून जर प्रतिग्रह घेईल तर, हिरवें मृन्मयपात्र जसे उदकांत बुडवितांच नाश पावतें तद्वत् तो वेदवेत्ता ब्राह्मणहि नाश पावतो. वेदशून्य तर अतिशय नाश पावतो.

सोमविक्रयिणे विष्टा भिषजे पूयशोणितम् ॥

नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

सोमवल्लीचा विक्रय करणाऱ्या ब्राह्मणाला जें दान द्यावें तें दात्याला जन्मांतरीं विष्टा होतें, क्षणजे दाता जन्मांतरीं विष्टा भक्षण करणाऱ्या प्राण्यांच्या जातीमध्ये जन्म पावतो. उदरनिर्वाहार्थ वैद्यक्रिया करणाऱ्या ब्राह्मणाला दिल्यानें पू, रक्त प्राशन करणाऱ्या प्राण्यांमध्ये दाता जन्म पावतो. वेतन घेऊन (तीन वर्षपर्यंत) देवपूजा करणारा आणि कलाकौशल्यानें अथवा लोकांस कर्ज देऊन त्याच्या व्याजावर उपजीविका करणारा या ब्राह्मणाला दान दिलें असतां तें निष्फळ होतें.

यत्तु वाणिज्यके दत्तं नेह नामुत्र तद्वचेत् ॥

भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

व्यापार करणाऱ्या ब्राह्मणाला दान दिल्यानें इहलोकीं व परलोकीं तें निष्फळ होतें, तसेंच पुनर्भूत्विषेपासून झालेल्या ब्राह्मणाला दिलेलें दान भस्मांत होम केल्याप्रमाणें निष्फळ होतें.

इतरेषु त्वपांत्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ॥

मेदोऽसृक्मांसमज्जास्थि वदंत्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

पंक्तिभोजनाला अयोग्य असे चोर इत्यादिक जे पूर्वी सांगितलेले दुर्ब्राह्मण त्यांला दिलेलें अन्न तें दात्याला भोजनासाठीं मेद, रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि एतद्रूप होतें

असें पंडित सांगतात. हणजे मेद, रुधिरादिक भक्षण करणाऱ्या प्राण्यांमध्ये दाता जन्म पावतो.

अपांस्त्योपहता पंक्तिः पाठ्यते यैर्द्विजोत्तमैः ॥

तान्निबोधत कात्स्न्येन द्विजाध्यान् पंक्तिपावनान् ॥ १८३ ॥

एकापंक्तीत वसण्याला अयोग्य अशा चोर इत्यादि दुर्ब्राह्मणांच्या योगाने दूषित झालेली पंक्ति (पंगत) ज्या ब्राह्मणांहीं करून पवित्र होते ते पंक्ति पवित्र करणारे ब्राह्मण कोणकोणते ते सर्व सांगतो, श्रवण करा.

अध्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ॥

श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

चार वेद, वेदाचीं अंगें, आणि शास्त्रें यांचे अध्ययनामध्ये जे श्रेष्ठ ते आणि ज्यांच्या कुळांमध्ये दहा पुरुषांपर्यंत अविच्छिन्न वेदाध्ययनसंप्रदाय चालत असेल त्या कुळांत झालेले हे सर्व पंक्तिपावन जाणावे.

त्रिणाचिकेतः पंचाग्निस्त्रिसुपर्णः षडंगवित् ॥

ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥

त्रिणाचिकेत हणजे अध्वर्युवेदभाग व त्या वेदभागाचें व्रत हीं ज्याला अवगत असतील तो ब्राह्मण; पंचाग्नि (अग्निहोत्री) ; त्रिसुपर्ण हणजे ऋग्वेदी यांचा वेदभाग, व त्या वेदभागाचें व्रत हीं ज्याला अवगत असतील तो; शिक्षादिक सहा अंगें जाणणारा; ब्राह्मविवाहेंकरून वरलेल्या स्त्रियेपासून झालेला आणि ज्येष्ठसामग (आरण्यकांत सांगितलेल्या ज्येष्ठ सामांचें अध्ययन केलेला) हे सहा ब्राह्मण पंक्तिपावन जाणावे.

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ॥

शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः ॥ १८६ ॥

वेदाचा अर्थ जाणणारा, वेदाचें व्याख्यान सांगणारा, ब्रह्मचारी, सहस्र गोदानें करणारा, आणि शंभरवर्षांचे वयाचा तो, हे सर्व ब्राह्मण पंक्तिपावन जाणावे. श्रोत्रियालाच हव्यकव्य द्यावें असा नियम आहे याकरितां ते श्रोत्रिय असतील तर पूर्वोक्त गुणयोगाने त्याला पंक्तिपावनत्व आंहे असें जाणावें.

पूर्वेनुरपरेणुर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ॥

निमंत्रयेत व्यवराण् सम्यग्विप्रान् यथोदितान् ॥ १८७ ॥

पितरांचें श्राद्धकर्म प्राप्त झालें असतां श्राद्धदिवसाच्या पूर्वदिवसीं अथवा श्राद्धदिवसीं श्राद्धकर्त्यानें उक्तलक्षण तीन ब्राह्मणांला सत्कारपूर्वक निमंत्रण द्यावें, तितके न. मिळाल्यास दोन, एकहि निमंत्रित करावे.

१ दक्षिणाग्नि, गर्हपत्य, आहवनीय, गृह्णाग्नि आणि सम्याग्नि हे पांच अग्नि धारण करणारा जो ब्राह्मण तो पंचाग्नि. २ शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, छंद, ज्योतिष, आणि निरुक्त हीं सहा.

निमंत्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ॥

न च छंदांस्पधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्ववेत् ॥ १८८ ॥

ब्राह्मणानें श्राद्धाचें आमंत्रण घेतल्यावेळेपासून श्राद्धाचे अहोरात्रपर्यंत मैथुनकर्म करूं नये, नियमवान् असावें, अवश्य कर्तव्य जपादिक करावें, तद्विरहित वेदाध्ययन करूं नये. श्राद्धकर्त्तानेंहि तसेंच नियमवान् राहावें.

निमंत्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ॥

वायुवच्चानु गच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

ब्राह्मण निमंत्रित झाले असतां त्या ब्राह्मणांचे जवळ पितर अदृश्यरूपानें येऊन राहतात, ब्राह्मण चालायला लागले असतां प्राणवायुरूपी होऊन त्यांचे पाठीमागून चालतात, तसेच ब्राह्मण आसनावर बसले असतां त्यांच्या सन्निध येऊन बसतात, याकरितां ब्राह्मणांनीं नियमस्थ राहावें.

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ॥

कथंचिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

दैवकर्म व पित्र्यकर्म यांचे ठायीं ब्राह्मणाला निमंत्रण केलें असतां तें निमंत्रण घेऊन कोणत्याहि प्रकारेंकरून तो ब्राह्मण येऊन भोजन न करील तर तो पापी होत्साता दुसऱ्या जन्मीं सूकरयोनीप्रत जातो.

आमंत्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ॥

दातुर्पुण्ड्रकं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

नियमवान् राहावें असें पूर्वीं सांगितलें तितक्यानें मैथुनाचा निषेध झाला, तथापि वृषलीगमन अधिक दोषकारक आहे हें सूचित करण्याकरितां सांगतो— श्राद्धीं आमंत्रित केलेला ब्राह्मण जो शूरीसहवर्तमान सुरतादिकेंकरून रममाण होतो त्याला दात्याचें जें पाप तें सर्व प्राप्त होतें. मेधातिथि तर सामान्येंकरून ब्रह्मचर्यविधि आहे यास्तव वृषस्पतीं ह्मणजे अत्यंत मैथुनाची इच्छा करणारी स्त्री असा योगार्थ स्वीकारून श्राद्धभोक्त्याची विवाहित ब्राह्मणी स्त्री तीच वृषली असा अर्थ करितो.

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ॥

न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

क्रोधरहित, शौचपर, सर्वदा ब्रह्मचारी, त्यक्तशस्त्र, दयादिक आठ गुण धारण करणारे, आणि अनादिदेवतारूपी असे पितर आहेत यास्तव श्राद्धकर्ता व भोक्ता यांनीं क्रोधा-
दिकेंकरून रहित असावें.

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ॥

ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

ह्या सर्व पितरांची उत्पत्ति ज्यापासून झाली ते व ते पितर कोण आहेत ते, व ज्या ब्राह्मणादिकांनी कोणतीं शास्त्रोक्त कर्मे करून त्या पितरांचा सत्कार करावा ते हे सर्व सविस्तर सांगतो, श्रवण करा.

मनोर्हेरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ॥

तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥

ब्रह्मदेवाचा पुत्र जो मनु त्याचे मरीच्यादिक जे पूर्वी (प्रथमाध्वर्या) सांगितलेले पुत्र त्या सर्व ऋषींचे जे पुत्र ते सोमपादिक पितृगण, असे मन्वादिकांनीं ह्मटले आहेत.

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ॥

अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा श्लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥

सोमसदनामक असे विराटाचे जे पुत्र ते साध्यगणाचे पितर, आणि मरीचिऋषीचे लोकविख्यात (प्रसिद्ध) जे अग्निष्वात्तनामक पुत्र ते देवांचे पितर जाणावे.

दैत्यदानवयक्षाणां गंधर्वोरगरक्षसाम् ॥

सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

अत्रिऋषीचे बर्हिषदनामक जे पुत्र ते दैत्य, दानव, यक्ष, गंधर्व, उरग, राक्षस, सुपर्ण, आणि किन्नर या सर्वांचे पितर जाणावे.

सोमपानामाविप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ॥

वैश्यानामाज्यपानाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥

ब्राह्मणांचे सोमपनामक पितर, क्षत्रियांचे हविर्भुज (हविष्मंत) पितर, वैश्यांचे आज्यपनामक पितर आणि शूद्रांचे सुकालिनामक पितर, याप्रमाणे जाणावे.

* सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मंतोऽंगिरःसुताः ॥

पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥

सोमपनामक पितर हे भृगुऋषीचे पुत्र, हविष्मंत हे अंगिराऋषीचे पुत्र, आज्यपपुलस्त्यऋषीचे पुत्र, आणि सुकाली हे वसिष्ठऋषीचे पुत्र.

अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ॥

अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेवनिर्दिशेत् ॥ १९९ ॥

अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद, अग्निष्वात्त, आणि सौम्य हे सर्व, ब्राह्मणांचे पितर जाणावे.

य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः ॥

तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनंतकम् ॥ २०० ॥

हे जे पितरांचे मुख्य गण सांगितले त्यांचेहि पुत्र, पौत्र असंख्य आहेत व तेहि पितृगण होत असे जाणावे.

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ॥

देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥

मरीच्यादिक ऋषींपासून पूर्वोक्त क्रमानें पितर उत्पन्न झाले; पितरांपासून देव, मनुष्य झाले; आणि देवांपासून हे स्थावरजंगम जगत् झालें. तस्मात् आपले पितृपितामहादिक हे सोमपादिपितृगणांपासून उत्पन्न झाले आहेत ह्मणून पितृश्राद्धां सोमपादिकांची पूजा केल्यानें ते श्राद्धफल देण्याविषयीं समर्थ होतात. ब्राह्मणादिकांनीं आवाहनसमयीं आपले पितृपितामहादिक हे, सोमपादिपितृरूपी आहेत अशी भावना करावी.

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ॥

वार्यपि श्रद्धयादत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥

या सर्व पितरांला रुप्याचीं पात्रे अथवा रुप्यानें युक्त पात्रे यांहींकरून केवळ उदकमात्र भक्तीकरून दिलें असतां हि ते त्यांच्या अक्षयसुखाला कारण होतें, मग उत्तम पायसादिक दिलें असतां ते सुखाला कारण होईल हें सांगणें नको.

देवकार्याद्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ॥

दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य यांनीं देवकार्याहून पितृकार्य विशेषेंकरून करावें, येणेंकरून पितृश्राद्ध हें प्रधान, व देवकार्य हें त्याचें अंग आहे असें सांगतो. कारण, दैव कर्म हें पितृकृत्याचे पूर्वीं परिपूर्ति करणारें असें ह्मटलें आहे.

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ॥

रक्षांसि हि विलुप्यन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

त्या पितृकार्याचें संरक्षण करणारें दैव कार्य आहे यास्तव प्रथम देवकार्य करावें कारण, रक्षाविरहित (देवकार्यविरहित) श्राद्ध केलें असतां ते राक्षस हरण करितात.

दैवाद्यंतं तदीहेत पित्राद्यंतं न तद्देवत् ॥

पित्राद्यंतं त्वीदमानः क्षिप्रं नश्यति सान्द्रयः ॥ २०५ ॥

याकरितां श्राद्धाचा आरंभ आणि समाप्ति हीं दैवकार्याचेठायीं होतील असें श्राद्ध करावें, ह्मणजे ब्राह्मणाला निमंत्रण देवपूर्वक द्यावें, देवांचें विसर्जन करणें तें शेवटीं करावें, पितृपूर्वक करू नये, पितृपूर्वक आरंभ व विसर्जन करील तर आपल्या वंशासहित श्राद्धकर्ता शीघ्र नाश पावतो.

दुर्गं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ॥

दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

अस्थि, कोळसे, राखाडी इत्यादिकांनीं विरहित; एकांत; पवित्र; अशी मोठ्या प्रयत्नानें भूमि दक्षिण दिशेकडे उतरती पाहून ती गोमयानें सारवावी.

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ॥

विविक्तेषु च तुष्यंति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥

स्वभावतः शुद्ध असे अरण्यादि प्रदेश, नद्यादिकांचीं तीरे, निर्जनप्रदेश यांचेठायीं श्राद्ध केले असतां सर्वदा पितर संतुष्ट राहतात.

आसनेषूपकृष्टेषु बहिष्पन्सु पृथक् पृथक् ॥

उपस्पृष्टोदकान् सम्यक् विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

पूर्वीं निमंत्रित असून यथाविधि स्नान, आचमन केलेल्या ब्राह्मणांला पूर्वोक्त प्रदेशीं निरनिराळ्या दर्भयुक्त आसनावर बसवावे, देवब्राह्मणाच्या आसनीं दोन दर्भ, व पितृब्राह्मणाच्या आसनीं एकेक दर्भ द्यावा.

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगोप्सितान् ॥

गंधमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

यथोक्तलक्षणसंपन्न अशा त्या निमंत्रित ब्राह्मणांला आसनांवर बसवून केशरगंध, सुगंधि पुष्पे, माला, धूप, दीप इत्यादि उपचारांनीं देवपूर्वक त्यांची पूजा करावी.

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ॥

अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥

त्या ब्राह्मणांला अर्घ्योदक, दर्भ, तिल देऊन त्यांची प्रार्थना (करिष्ये, करवाणि) असी आपल्या गृह्यसूत्रानुसार करून त्यांची आज्ञा (ओं तथा कुरुष्व) असी घेऊन श्राद्ध-कर्त्या ब्राह्मणाने अग्नीचेठायीं वक्ष्यमाण होम करावा.

अग्नेः सोमयमाभ्यांच कृत्वाप्यायनमादितः ॥

हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥

यथाविधि परिसमूहन, पर्युक्षण करून अग्नि, सोम, यम यांला अन्नादिकाने आहुति देऊन नंतर अन्नादिकाने पितरांचे तर्पण करावे.

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ॥

यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मंत्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

अग्नि नसेल तर ब्राह्मणांच्या हस्तावरच पूर्वोक्त तीन आहुति द्याव्या; कारण, जो अग्नि तोच ब्राह्मण असा वेदवेद्या ब्राह्मणांनीं ह्मटला आहे.

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदंत्येतान् पुरातनान् ॥

लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥

क्रोधरहित, प्रसन्नमुख, प्राचीन, लोकांच्या वृद्धीसाठीं उत्सुक, श्राद्धाचे देव, असे ब्राह्मण आहेत असे मन्वादिक ऋषि सांगतात. तस्मात् श्राद्धीय ब्राह्मण देवतुल्य आहे असे जाणून त्याच्या हस्तावर पूर्वोक्त होम करावा.

१ देवस्थानीं दोन दर्भांनीं युक्त, ग्राह्मुक्त आसने द्यावी, पितृस्थानीं एक दर्भानें युक्त, दक्षिणामुक्त आसने द्यावी.

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ॥

अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

पर्युक्षणादिक पूर्वीक अंगभूत कर्म व अग्नौकरणहोमाचा अनुष्ठानक्रम हीं अग्नीचे ठायीं अपसव्य ह्मणजे दक्षिणसंस्थ करून नंतर अपसव्येकरून दक्षिण हस्तानें पिंडाधार (पिंड दावयाच्या) भूमीवर उदक दावें.

त्रींस्तु तस्माद्विशेषातिपिंडान् कृत्वा समाहितः ॥

औदकेनैव विधिना निर्वपेदक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

अग्नि इत्यादिकांचे ठायीं होम करून जें शेष राहिलेलें अन्न त्याचे तीन पिंड करून एकाग्रचित्तानें दक्षिणामुख होत्साता दक्षिण (उजव्या) हस्तानें दर्भावर ते तीन पिंड दावे.

न्युप्य पिंडांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ॥

तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्यालेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

आपल्या गृह्यसूत्रांत सांगितल्या विधीनें दर्भावर ते पिंड देऊन प्रपितामहाच्या (पिता इत्यादिक) त्रयीची तृप्ति होण्याकरितां, पिंडाच्या खालीं जे दर्भ त्याच्या मूलप्रदेशीं तो हस्तनिर्लेप करावा, ह्मणजे दर्भाच्या मूळांला हात पुसून खांवर लेप सांडावा. तेणेंकरून वृद्धप्रपितामहादिक त्रयी (ती लेपभागी असल्यामुळे) संतुष्ट होते.

आचम्योदक् परावृत्य त्रिराचम्य शनैरसून् ॥

षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितृनेव च मंत्रवित् ॥ २१७ ॥

नंतर आचमन करून उत्तरामुख होऊन यथाशक्ति तीन प्राणायाम करावे, आणि ' वसंताय नमस्तुभ्यं ' इत्यादि मंत्रांनीं सहा ऋतूंचा नमस्कार करावा. नंतर हातांत उदक घेऊन तें भूमीवर टाकीत बर्तुळाकार फिरून दक्षिणामुख होत्साता ' नमो वः पितरं ' इत्यादि मंत्र ह्मणून पितरांचा नमस्कार करावा.

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिंडांतिके पुनः ॥

अवजिघ्रेच्च तान् पिंडान् यथा न्युत्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

पिंडदानाच्या पूर्वी पिंड दावयाच्या भूमीवर ज्या पात्रांतलें उदक दिलें त्यांतील शेष राहिलेलें उदक क्रमेंकरून प्रत्येक पिंडाच्या जवळ दावें. नंतर ते पिंड ज्या क्रमानें पूर्वी दिले त्याच क्रमानें एकाग्रचित्त करून हुंगावे.

पिंडेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः ॥

तानेव विप्रानासीनान् विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

त्या प्रत्येक पिंडांतून थोडथोडें अन्न यथाक्रमानें घेऊन तें श्राद्धीं वसलेल्या पित्रादि ब्राह्मणांकडून, भोजनकालाचे पूर्वी यथाविधि भक्षण करावें, ह्मणजे पितृपिंडांतील अन्न पितृस्थ ब्राह्मणांकडून, पितामहपिंडांतील अन्न पितामहस्थ ब्राह्मणांकडून, आणि प्रपितामहपिंडांतील अन्न प्रपितामहस्थ ब्राह्मणांकडून याप्रमाणें भक्षण करावें.

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ॥
विप्रवद्वापितं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

पिता जीवंत असेल तर त्याने आपल्या पितामहादिकऋषींचे श्राद्ध करावे. अथवा पितृब्राह्मणस्थानी आपल्या पित्यालाच वसवून भोजन घालावे, व पितामह, प्रपितामहस्थानी ब्राह्मणांला वसवून भोजन घालावे. पिंड मात्र दोन द्यावे.

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ॥
पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥

ज्याचा पिता मृत असून पितामह जीवंत असेल त्याने पिता व प्रपितामह यांचे श्राद्ध करावे. गोविंदराज तर, ज्याचे पितृपितामह मृत असतील त्याने पित्याला पिंड देऊन पितामहाच्या पलिकडचे जे दोन त्याला द्यावे असे विष्णुवचन आहे ह्मणून प्रपितामह, वृद्धप्रपितामह या दोघांला पिंड द्यावे असे सांगतो.

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुंजीतेत्यब्रवीन्मनुः ॥
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥

पिता जीवंत असतां जसे पितृब्राह्मणस्थानी आपल्या पित्याला वसवून भोजन घालावे, तद्वत् पितामहब्राह्मणस्थानी पितामहालाहि वसवून भोजन घालावे. आणि पिता व प्रपितामह यांचे ब्राह्मणभोजन, पिंडदान हीं करावीं. अथवा जीवंत पितामहाने 'तूच यथा-रुचि कर' अशी आज्ञा दिली असतां आपल्या इच्छेकरून पितामहाला भोजन द्यावे, अथवा पितृप्रपितामहांचीं दोन श्राद्धे करावीं असे विष्णुवचन आहे यास्तव पिता, प्रपितामह आणि वृद्धप्रपितामह यांचीं तीन श्राद्धे करावीं असे मनु बोलता झाला.

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ॥
तर्पिडाग्रं प्रयच्छेत स्वयैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥

श्राद्धीं वसलेल्या ब्राह्मणांच्या हस्तांवर दर्भ, तीळ, उदक देऊन पिंडांतून पूर्वी काढलेला अग्रभाग घेऊन 'पित्रे स्वधा अस्तु,' असे ह्मणत होताता तो, पित्रादि तीन ब्राह्मणांला यथाक्रम द्यावा.

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वादितम् ॥
विप्रांतिके पितृन् ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

नंतर श्राद्धकर्त्याने स्वयंप्राकृषांतून अन्नाची भरलेली माडी स्वतां आपले हातांनी आणून पितरांचे चिंतन करित होताता ती ब्राह्मणांच्या समीप, पदार्थ वाढण्याकरितां हळू हळू स्थापन करावी.

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ॥
तद्विप्रलंपत्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

ज्या अन्नाचें पात्र दोन हातांनीं न धरलेलें असें अन्न ब्राह्मणांजवळ आणून ठेवावें तें दुष्टबुद्धि राक्षस चोरून नेतात, तस्मात् एका हस्तानें अन्नपात्रें आणूं नयेत, तर दोन हातांनीं धरून आणावीं, व वाढणें तेंहि दोहों हस्तांनीं वाढावें.

गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु ॥

विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

शुचिर्भूत होताता श्राद्धकर्त्यानें एकाग्रचित्त करून गुण (कोशिंबरी इत्यादि पदार्थ), अथवा गुणयुक्त असे शाका, वरण दूध, दही, घृत, मध इत्यादि पदार्थ, खालीं न पडतील अशा बंदोबस्तानें आपल्या पात्राच्या स्थानीं भूमीवरच ठेवावे.

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ॥

हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

भक्ष्य ह्मणजे चावून खाण्यास योग्य असे लाडू, मोदक इत्यादि; भोज्य (पायसादिक); नाना प्रकारचीं फळे; मूले; मनाला प्रिय असीं मांसे, आणि सुगंधि पाने. (पन्ही) हे पदार्थ भूमीवरच ठेवावे.

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ॥

परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

ते पूर्वोक्त अन्नादि सर्व पदार्थ ब्राह्मणांच्या समीप आणून शुचिर्भूत, एकाग्रमन होताता श्राद्धकर्ता यानें हा (पदार्थ) मधुर, हा आंवट आहे इत्यादि प्रकारानें पदार्थांचे सर्व माधुर्यादि गुण कथन करून क्रमानें पदार्थ वाढावे.

नास्त्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ॥

न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

रोदन, क्रोध, मिथ्याभाषण, हीं (श्राद्धसमयीं) कदापि करूं नयेत. पायानें अन्नाला स्पर्श करूं नये. तसेंच अन्न वर उसळून उसळून पात्रावर टाकूं नये.

अस्त्रं गमयति प्रेतान् कोपोऽरीननृतं शुनः ॥

पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

अश्रु पडल्यानें श्राद्धानें प्रेत (पिशाच) भक्षण करितात, तीं पितरांला उपकारक होत नाहीत. क्रोधायमान शाल्यानें शत्रु भक्षण करितात. मिथ्या भाषण केल्यानें तें अन्न कुत्र्यांला प्राप्त होतें. अन्नाला पाय लागल्यानें तें राक्षस भक्षण करितात, अन्न उसळून पात्रावर टाकिल्यानें तें पाण्याच्या मुखामध्यें जातें, यास्तव श्राद्धीं रोदनादि करूं नये.

यद्यत्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ॥

ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

जो जो पदार्थ ब्राह्मणांला अपेक्षित असेल तो तो मत्सरविरहित वाढावा, आणि परमात्म्याचें निरूपण ज्यांत असेल अशा कथा बोलाव्या. कारण कीं, पितरांला ह्याच कथा प्रीतिकारक आहेत.

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ॥

आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ २३२ ॥

वेद; मानवादि धर्मशास्त्रे; आख्याने लक्षणजे सौपर्ण, मैत्रावरुण इत्यादि आख्याने; इतिहास लक्षणजे महाभारतादिक; पुराणे; आणि खिल लक्षणजे श्रीसूक्त, शिवसंकल्पादिक हीं श्राद्धीं ब्राह्मणाकडून श्रवण करवावीं.

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ॥

अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

आपण संतुष्ट होत्साता ब्राह्मणांला प्रिय भाषणादिकांनीं संतुष्ट करावें, व त्वरा न करितां सावकाश भोजन करवावें, ही क्षीर गोड आहे, हा लाडू फार उत्तम आहे, ग्रहण करावा इत्यादि प्रकाराने अन्नाचे गुण वर्णन करून पदार्थ घेण्याविषयी ब्राह्मणांला प्रेरणा करावी.

व्रतस्यमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ॥

कुतपं त्वासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

दौहित्र (कन्यापुत्र) ब्रह्मचारी असो अथवा नसो तथापि त्याला यत्नेकरून श्राद्धीं भोजन घालावें. नेपाळ देशांत उत्पन्न झालेलें कांवळें आसन द्यावें, आणि श्राद्धभूमीवर तिळ टाकावे.

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ॥

त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥

दौहित्र, नेपाळांत उत्पन्न झालेलें कांवळें, आणि तिळ हे तीन पदार्थ श्राद्धाचेठायीं पवित्र आहेत. तसेंच पवित्रपणा, अक्रोध (शांतपणा), आणि स्थिरता ह्या तीन गुणांची प्रशंसा पंडित करितात.

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्यादुज्जरिंस्ते च वाग्यताः ॥

न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

सर्व अन्न लक्षणजे एक पदार्थ अति उष्ण असावे, आणि ब्राह्मणांनीं वांणीचे नियमन करून भोजन करावें. हा पदार्थ मधुर, किंवा आंबट, अथवा तिखट आहे असे दात्यानें अन्नाचे गुण विचारिले असतां ब्राह्मणांनीं खुणादिक करूनहि अन्नगुण सांगू नयेत.

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्रन्ति वाग्यताः ॥

पितरस्तावदश्रन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७ ॥

ज्यावत्कालपर्यंत अन्न उष्ण आहे, ज्यावत्कालपर्यंत ब्राह्मण मौनी होत्साते भोजन करितात, ज्यावत्पर्यंत पदार्थाचे गुण सांगत नाहीत, तावत्पर्यंत पितर भोजन करितात. याप्रमाणे पूर्वीक अर्थाची प्रशंसा सांगितली.

यदेष्टवशिरा भुंक्ते यदुंक्ते दक्षिणामुखः ॥

सोपानत्कश्च यदुंक्ते तद्वै रक्षांसि भुंजते ॥ २३८ ॥

मस्तकाला वस्त्र गुंडाळलेला ब्राह्मण जें अन्न भक्षण करितो, दक्षिणामुख होत्साता जें अन्न भक्षण करितो, आणि पायांत पादुका घातलेला जें भक्षण करितो, तें राक्षस भक्षण करितात, पितर भक्षण करित नाहीत. तस्मात् अशा प्रकारें ब्राह्मणानें भोजन करूं नये.

चांडालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ॥

रजस्वला च षंडश्च नेक्षेरन्नश्रतो द्विजान् ॥ २३९ ॥

चांडाल, गांवडुकर, कोंबडा, कुत्रा, रजस्वला आणि नपुंसक हे सर्व भोजनकालीं ब्राह्मणांला न पाहतील तसें श्राद्ध कर्म करावें.

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ॥

दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्वच्छत्पयथातथम् ॥ २४० ॥

होम (अभिहोत्रादिक), दान (गोदान, सुवर्णदान इत्यादि), आपल्या अभ्युदयार्थ करावयाचें असें ब्राह्मणभोजन, दर्शपौर्णमासादिक दैवकर्म, आणि पित्र्य ह्मणजे श्राद्धादिक हीं कर्म चांडालादिक पाहतील तर ज्या उद्देशानें तो कर्म करितो त्याची सिद्धि प्राप्त होत नाही.

घ्राणेन सूकरो हंति पक्षवातेन कुक्कुटः ॥

श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

गांवडुकरानें तें अन्नादिक हुंगलें असतां कर्म निष्फळ होतें, कोंबड्याच्या पक्षांचा वारा त्या अन्नादिकाला लागला असतां कर्म निष्फळ होतें, कुत्र्यानें तें कर्म अवलोकन केलें असतां निष्फळ होतें, आणि शूराचा स्पर्श झाल्यानें कर्म निष्फळ होतें, तस्मात् श्राद्धप्रदेशांतून या सर्वांला दूर करावें.

खंडो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ॥

हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

पांगळा, अथवा काणा, श्राद्धकर्त्याचा दास किंवा अन्य कोणी शूद्र, अथवा हीनातिरिक्तगात्र ह्मणजे ज्याचे शरीरावयव (बोटें इत्यादि) न्यूनाधिक असतील तो, या सर्वांलाहि श्राद्धभूमीतून दूर करावें.

ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् ॥

ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तिः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

कोणी ब्राह्मण अथवा भिक्षुक भोजनाकरितां श्राद्धकालीं आला असतां श्राद्धकर्त्यानें निमंत्रित ब्राह्मणांची आज्ञा घेऊन यथाशक्ति अन्न अथवा भिक्षा देऊन त्याचा सत्कार करावा.

सर्व्वर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाद्वाव्य वारिणा ॥

समुत्सृजेन्मुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि ॥ २४४ ॥

सर्व प्रकारचें अन्न आणि कौशिकरी, इत्यादिक व्यंजनपदार्थ एकत्र मेळवून त्यांत उदक घालून भोजन केलेल्या ब्राह्मणांचे अग्रभागीं भूमीचेठायीं दर्भावर तें विकिर असें द्यावें.

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ॥

उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

अग्निदाहाला योग्य शाल्यावांचून मृत झालेले असे बालक, आणि निर्दोषी कुलस्त्रियांचा त्याग करणारे या सर्वांचा, पात्रांतील अन्नाचा दर्भावर दिलेला विकिर भाग होतो.

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ॥

दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

श्राद्धकर्माचेठायीं भूमीवर पडलेलें जें उच्छिष्ट अन्न तें अकुटिल, अवक्र, अनलस अशा दासवर्गाचा भाग आहे असें मन्वादिक ऋषि सांगतात.

असर्पिडक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ॥

अद्वैतं भोजयेच्छ्राद्धं पिंडमकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य यांतून कोणी मृत असतां त्याची सर्पिडीक्रिया होईपर्यंत त्याचें श्राद्ध देवहीन करावें, आणि पिंड एक दावा, ह्मणजे एकोद्विष्ट श्राद्ध करावें.

सहर्षिडक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ॥

अनयैवावृता कार्यं पिंडनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

पूर्व श्लोकामध्ये ज्याचें एकोद्विष्ट श्राद्ध करण्याविषयीं सांगितलें त्याचें आपल्या गृह्यसूत्रांत सांगितलेल्या विधीनें सर्पिडीकरणश्राद्ध झाल्यानंतर, अमावास्याश्राद्धाचा जो इतिकर्तव्यता-विधि सांगितला त्याप्रमाणें पार्वणविधीकरून मृततिथीचेठायीं पुत्रांनीं त्याचें श्राद्ध करावें.

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ॥

स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्षिराः ॥ २४९ ॥

ब्राह्मणांचें भोजन होऊन शेष राहिलेलें उच्छिष्टाला शूद्राला जो देतो तो मूढ अधोमुख होत्साता कालसूत्रनरकाप्रत जातो.

श्राद्धभुक् वृषलीतल्पं तद्दहयोऽधिगच्छति ॥

तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

जो ब्राह्मण श्राद्धीं भोजन करून त्या अहोरात्रामध्ये स्त्रीसंग करतो त्याचे पितर एक-मासपर्यंत त्या स्त्रियेच्या विष्टेमध्ये शयन करितात, तस्मात् तें करूं नये.

षृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ॥

आचांतांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

भोजन झाल्यानंतर ब्राह्मण तृप्त झाले असें जाणून त्याला 'स्वदितं' (यथेच्छ भोजन केलें ?) असें विचारून त्यांकडून आचमन करावें. आचमन केल्यानंतर 'भो' असें संबोधन करून नंतर 'अभितो रम्यतां' (एथें अथवा गृहीं सुखानें वास करा) याप्रमाणें सांगावें.

स्वधास्त्रित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनंतरम् ॥

स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

तदनंतर ब्राह्मणांनीं श्राद्धकर्त्याला ' स्वधास्तु ' (आशीर्वाद असो) असें बोलावें; कारण, सर्व पितृकर्माचेठायीं स्वधाशब्दाचा उच्चार हा परम आशीर्वाद असा झटला आहे.

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ॥

यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

याप्रमाणें स्वधाशब्दाचा उच्चार ब्राह्मणांनीं केल्यानंतर भोजन केलेल्या ब्राह्मणांला शेष अन्न इतकें आहे असें सांगून ते अन्न आणून निवेदन करावें. नंतर ते ब्राह्मण त्या अन्नाचा जसा विनियोग करायला सांगतील त्याप्रमाणें करावा.

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ॥

संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचिनमित्यपि ॥ २५४ ॥

आतां प्रसंगेंकरून अन्य श्राद्धांविषयीं विशेष विधि सांगतो.— पित्र्य ह्मणजे माता अथवा पिता यांच्या श्राद्धामध्ये तृप्तिप्रभार्य ' स्वदितं ' असें बोलावें, गोष्ठी-श्राद्धाचेठायीं तृप्तिप्रभार्य ' सुश्रुतं ' असें बोलावें, वृद्धिश्राद्धाचेठायीं तृप्तिप्रभार्य ' संपन्नं ' असें बोलावें. आणि देवांच्या उद्देशानें जें श्राद्ध त्याचे ठायीं ' रुचितं ' असें बोलावें.

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ॥

सृष्टिर्मृष्टिर्दिजाग्रयाश्च श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥

अपराह्णकाल, दर्भ, गोमयादिकानें श्राद्धभूमीची शुद्धि, तीळ, औदार्येंकरून अन्न ब्राह्मणांला देणें, अन्नादिकांचा विशेष संस्कार, आणि श्रेष्ठ (पंक्तिपावन) ब्राह्मण, ह्या श्राद्धकर्माचे ठायीं संपत्ति जाणाव्या. येणेंकरून इतर जीं श्राद्धाचीं अंगें त्यांहून ह्या श्रेष्ठ आहेत असें बोधित केलें.

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ॥

पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥

दर्भ, मंत्र, पूर्वाह्णकाल, हविष्यें ह्मणजे नीवार इत्यादिक मुनींचीं अन्न, आणि पूर्वोक्त भूमिशुद्धीकरण इत्यादिक ह्या दैवकर्मांच्या संपत्ति जाणाव्या.

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ॥

अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविष्यते ॥ २५७ ॥

मुनींचीं ह्मणजे वानप्रस्थांचीं अन्न (नीवारादिक), दूध, सोमवल्लीचा रस, अनुपस्कृत (खराब न झालेले व दुर्गंधादिकानें विरहित असें) मांस, आणि कृतीनें न केलेले असें सैधवादिक मीठ हीं स्वभावतः हवि होत असें मन्वादिकांनीं झटले आहे.

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ॥

दक्षिणां दिशमाकांक्षन्याचेतेमान्वरान् पितृन् ॥ २५८ ॥

१ विश्वामित्रांनीं बारा प्रकारचीं श्राद्धें सांगितली आहेत त्यामध्ये शुद्धीकरतां ह्मणून जें आठवें श्राद्ध सांगितलें तें गोष्ठीश्राद्ध.

श्राद्धीं निमंत्रित केलेल्या ब्राह्मणांचें विसर्जन करून एकाग्रमन केलेला, मीनी, पवित्र होस्ताता दक्षिण दिशेकडे अवलोकन करीत हात जोडून हे (पुढें सांगावयाचे) वर पित-
रांजवळ मारावे.

दातारो नोऽभिवर्द्धतां वेदाः संततिरेव च ॥

श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुधेयं च नोऽस्त्विति ॥ २९९ ॥ ✓

ते वर असे—आमच्या कुळांत दाते पुरुष वृद्धिगत होवोत; अध्ययन, अध्यापन, तदर्थ-
ज्ञान आणि तदर्थ यागादिक अनुष्ठानें यांहींकरून वेद आमच्या कुळांत वृद्धि पावोत;
पुत्रपौत्रादिक वृद्धिगत होवोत; वेदार्थश्रद्धा नष्ट न होवो; आणि धनादिसंपत्ति बहुत
प्राप्त होवो.

एवं निर्वपणं कृत्वा पिंडांस्तांस्तदनंतरम् ॥

गां विप्रमज्जमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २९० ॥

पूर्वोक्त प्रकारानें पिंडप्रदान करून प्रकृत वर मागितल्यानंतर ते पिंड गाय, ब्राह्मण
अथवा बोकड यांकडून भक्षण करवावे, अथवा अग्नीत किंवा उदकांत टाकावे.

पिंडनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ॥

वयोभिः खादयंत्यन्ये प्राक्षिपंत्यनलेऽप्सु वा ॥ २९१ ॥

कितीएक आचार्य ब्राह्मणभोजनानंतर पिंडप्रदान करितात. कितीएक आचार्य पक्षा-
कडून पिंड भक्षण करवितात, दुसरे कित्येक तर अग्नीत अथवा उदकांत टाकतात.

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ॥

मध्यमं तु ततः पिंडमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २९२ ॥

पतिव्रता, धर्मपत्नी, पितृपूजनाविषयी श्रद्धा धारण करणारी असी आपली स्त्री पुत्राची
इच्छा करणारी असेल तर तिणें मध्यमपिंड (पितामहपिंड) घेऊन आद्यस्त पितरोगर्भ-
इत्यादि गृह्योक्त मंत्रेंकरून भक्षण करावा.

आयुष्मंतं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ॥

धनवतं प्रजावंतं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २९३ ॥

तो पिंड भक्षण केल्यानं ती स्त्री दीर्घायु; कीर्तिमान्; बुद्धिमान्; धनपुत्रादिसंतति,
धर्मानुष्ठान, सत्वगुण यांहींकरून युक्त असा पुत्र प्राप्तवते.

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ॥

ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बांधवानपि भोजयेत् ॥ २९४ ॥

तदनंतर हस्तप्रक्षालन करून आचमन करून ज्ञातीला भोजन घालावें; ज्ञातीला.
पूजापूर्वक भोजन घालून मातृपक्षाकडील बांधवांसहि पूजापूर्वक भोजन घालावें.

उच्छेषणं तु तत्क्षिपेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ॥

ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २९५ ॥

ब्राह्मणांचें विसर्जन होईपर्यंत तें ब्राह्मणांचें उच्छिष्ट ठेवावें. विसर्जन होऊन ब्राह्मण गेल्यानंतर उच्छिष्ट पात्रें काढून ती भूमि शुद्ध करावी. नंतर वैश्वदेव, बलिहरण, निख-
श्राद्ध आणि अतिथिभोजन हीं करावी.

हविर्याच्चिररात्राय यच्चानंत्याय कल्प्यते ॥

पितृभ्यो विधिवद्वत्तं नत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

ज्या अन्नांनीं पितर तृप्त होतात तीं अन्नं सांगेन असें जें पूर्वीं प्रतिज्ञात केलेले त्याचा शिष्यांला सुखेंकरून बोध होण्याकरितां तीं पुनः सांगतो— कोणकोणतें हवि पितरांला यथाविधि दिलें असतां तें चिरकाल तृप्तीकारणें व अनंततृप्तीकारणें होतें तें मी सविस्तर सांगतो.

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ॥

दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥

तिल, व्रीहि, यव, काळे उडदि, उदक, मूले, फलें यांतून कोणताहि पदार्थ यथाविधि श्रद्धापुरःसर दिला असतां मनुष्यांचे पितर एक मासपर्यंत तृप्त होतात.

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हरिणेन तु ॥

औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पंच वै ॥ २६८ ॥

पाठीनादि मत्स्यांच्या मांसानें दोन मास, हरिणाच्या मांसानें तीन मास, मेंढ्याच्या मांसानें चार मास, आणि द्विजातीला (ब्राह्मणादि वर्णत्रयाला) भक्ष्य अशा पक्षांच्या मांसानें पांच मास पितरांची तृप्ति होते.

षण्मासांश्छागमांसेन पार्श्वेन च सप्त वै ॥

अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥

बोकडाच्या मांसानें साहा मास, षष्ठ (पुषिव) मृगाच्या मांसानें सात मास, ऐण हरिणाच्या मांसानें आठ मास, आणि हस्तेच्या मांसानें नऊ मास, याप्रमाणें त्या त्या मांसें-
करून पितरांची तृप्ति होते.

दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ॥

शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

आरण्यक असे डुकर व गवे यांच्या मांसानें दहा मासपर्यंत; ससा, कासव यांच्या मांसानें अकरा महिनेपर्यंत तृप्त होतात.

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पापसेन च ॥

वार्धीणस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

गाईचें दूध व गाईच्या दुधाची क्षीर यांहीकरून एक वर्षपर्यंत आणि वार्धीणाच्या मांसानें नारा वर्षपर्यंत तृप्त होतात.

१ ज्याचे नेत्र सुंदर असतात तो ऐण हरिण. २ ज्यास भुवार, रोहें असें झणतात तो. ३ नदी इत्यादि-
कांत उदक प्राशन करीत असतां ज्याचे दोनही कान जळावर पडतात व श्वेतवर्ण असून ज्याचें शरीर निर्बल
असा जो वृद्ध बोकड त्याला वार्धीणस असें झणतात.

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ॥

आनंत्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

कालशाक (कालाख्यशाक), महाशल्क (एकाजातीचे मत्स्य), गेंडा, तांबड्या वर्णाचा बोकड यांचे मांस; माक्षिक मध; आणि नीवारादिक तृणधान्ये यांहीकरून पितरांची तृप्ति अनंतकालपर्यंत होते.

यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यान् त्रयोदशीम् ॥

तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

वर्षाकालीं मघायुक्त त्रयोदशीचे दिवसीं जो कोणता पदार्थ मधुयुक्त, पितरांला द्यावा तोहि अक्षयच होतो.

अपि नः स कुले ज्ञायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ॥

पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुंतरस्य च ॥ २७४ ॥

पितर असी आशा करितात कीं, आमच्या कुळामध्ये जो कोणी पुरुष उत्पन्न होईल त्यानें मघानक्षत्रानें युक्त अशा भाद्रपदचंद्र त्रयोदशीचे दिवसीं आणि ज्या वेळीं हत्तीची छाया पूर्व दिशेस पडेल त्यावेळीं आलाला मधुघृतयुक्त पायस द्यावे.

यद्यह्वयति विधिवत्सम्पक् श्रद्धासमन्वितः ॥

तत्सत्पितॄणां भवति परब्रह्मन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

उत्तम प्रकारच्या श्रद्धेनें युक्त होणाऱ्या जे अप्रतिषिद्ध सर्व अन्न यथाविधि पितरांला देतो ते परलोकीं सर्वकाल अक्षय असें पितरांच्या तृप्तीकारणें होतें. यास्तव ज्याला पितरांच्या तृप्तिफलाची इच्छा असेल त्यानें श्रद्धेनें द्यावे असा येजेकरून विधि प्राप्त होतो.

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्त्तयित्वा चतुर्दशीम् ॥

श्राद्धे प्रयास्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥

कृष्णपक्षाचेठायीं दशमीपासून आरंभ करून चतुर्दशीविरहित तिथि जशा श्राद्धाविषयीं महाफल आहेत तशा इतर प्रतिपदादिक तिथि नाहींत.

पुंसु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समभ्युते ॥

अपुंसु तु पितृन्सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

समतिथि (द्वितीया, चतुर्थी इत्यादिक) आणि समनक्षत्रे (भरणी, रोहिणी इत्यादिक) यांचे ठायीं जो पितरांचे श्राद्ध करितो त्याचे संपूर्ण मनोरथ सिद्ध होतात. विषम (प्रतिपदा, तृतीया इत्यादि) तिथि, आणि विषम (अश्विनी, कृत्तिका इत्यादि) नक्षत्रे यांचे ठायीं पितरांचे श्राद्ध करणारा धन, विद्या यांही परिपूर्ण असी पुत्रादिक संतति लाभेली.

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ॥

तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णे विशिष्यते ॥ २७८ ॥

शुक्लपक्षाहून कृष्णपक्ष जसा श्राद्ध करण्याविषयी विशेष फलदायक आहे, तद्वत् दिवसाच्या पूर्वाह्णकालाहून अपराह्णकाल विशेषफल देणारा आहे. ह्या वचनेकरून पूर्वाह्ण कालीहि श्राद्ध करण्याविषयी बोधित होतें.

प्राचीनावितिना सभ्यगपसव्यमंतद्विणा ॥

पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

प्राचीनावीतीकरून, निरालसपणानें, दर्भपवित्रयुक्त हस्तानें, पितृतीर्थेंकरून यथाशास्त्र सर्व पितृसंबंधि कर्म समाप्तीपर्यंत करावें.

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ॥

संध्योरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

रात्री श्राद्ध करूं नये, कारण, ती वेळा श्राद्धाचा नाश करणारी असल्यामुळे मन्वादि-कांनीं राक्षसी असी ह्मणली आहे. तसेंच उभय संध्याकालीहि करूं नये, सूर्योदयानंतर तीन मुहूर्त (सहा घटिका) पर्यंत करूं नये.

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ॥

हेमंतग्रीष्मवर्षासु पांचयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

ह्या पूर्वोक्त विधीकरून गृहस्थाश्रमी यानें प्रतिमासी श्राद्ध करावें. प्रतिमासी असंभव असतां एका वर्षामध्ये त्रिवार हेमंत, ग्रीष्म आणि वर्षा या ऋतूंचे ठायीं समयाचारेंकरून कुंभ, वृषभ, कन्या या राशिस्थ सूर्य असतां करावें, परंतु पंचमहायज्ञांतर्गत श्राद्ध तर प्रतिदिवसी करावें.

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ॥

न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

पूर्वोक्त पितृयज्ञाचा अंगभूत होम लौकिकाग्नीवर लणजे श्रौतस्मार्तव्यतिरिक्त अग्नीवर करूं नये असे शास्त्रानें सांगितलें आहे यास्तव अग्नीकरणहोम लौकिकाग्नीवर करूं नये. निरभिकानें तर ब्राह्मणांच्या हस्तादिकावर करावा. आहिताग्नि द्विजानें अमावास्या श्राद्ध करावें, कृष्णपक्षीं दशम्यादि तीर्थीचे ठायीं करूं नये. मृताहश्राद्ध तर आवश्यक असल्यामुळे कृष्णपक्षीहि अन्य तिथीचे दिवसीहि करावें.

यदेव तर्पयत्यग्निः पितॄन् स्नात्वा द्विजोत्तमः ॥

तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

पंचमहायज्ञांतर्गत श्राद्धाचा असंभव असेल तर द्विजानें स्नान करून उदकानें पितरांचें तर्पण करावें, तेणेंकरूनच त्याला नित्य श्राद्धाचें सर्व फळ प्राप्त होतें.

वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ॥

प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

पिता वसुरूपी, पितामह रुद्ररूपी आणि प्रपितामह आदित्यरूपी याप्रमाणें पितर देवतारूपी आहेत याविषयी ही श्रुति अनादि प्रमाण आहे असें मन्वादिक ऋषि सांगतात.

तस्मात् श्राद्धामध्ये पिता, पितामह आणि प्रपितामह हे यथाक्रम वसु, रुद्र, आदित्य या रूपैकरून ध्यान करण्यास योग्य आहेत असा विधि कल्पित होतो.

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः ॥

विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ २८५ ॥

सर्वदा विघसभोजन करणारा असें असावे, आणि सर्वदा अमृतभोजन करणारा असें असावे. विघस आणि अमृत या शब्दांचा अर्थ सांगतो— ब्राह्मण इत्यादिकांचें भोजन होऊन जें शेष अज तें विघस, आणि दर्शपौर्णमासादिक यज्ञांचें शेष जें पुरोडांशादिक तें अमृत होय.

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पांचयज्ञिकम् ॥

द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

याप्रमाणे पंचमहायज्ञांचें अनुष्ठान, आणि पार्वणश्राद्धविधि हें सर्व तुह्यांला सांगितलें. आतां द्विजातींमध्ये मुख्य जो ब्राह्मण त्याच्या ऋतादिक वृत्तींचें अनुष्ठान श्रवण करा, याप्रमाणे पुढच्या अध्यायाच्या एकदेशाचा उपन्यास करितो.

इति मानवधर्मशास्त्रे भुगृप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्रीमनुस्मृतिमहाराष्ट्रीय व्याख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अध्याय चवथा.

—०४३०३०३—

गृहस्थाश्रमधर्म, भाग २ रा.

गृहस्थाश्रमी यानें निर्वाह कसा चालवावा आणि घरप्रपंचांत कसें वर्तन

ठेवावें याविषयीं सांगतो.

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ॥

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥

आयुष्याचे चार भागांतून पहिल्या भागामध्ये गुरुसहवर्तमान राहावे, आणि आयुष्याच्या दुसऱ्या भागांत विवाह करून गृहस्थाश्रमांत राहावे.

१ या स्थळीं असीं शंका उत्पन्न होते कीं, आयुदायाचे निश्चित कालाचें परिमाण समजत नाहीं, त्यामुळे चार भागांतून पहिला भाग कोणत्या रीतीनें समजावा. कदाचित् कोणी असें झणेल कीं शतायुर्वैपुरुषः (शंभर वर्षांचा पुरुष) अशी श्रुति आहे, यावरून शंभर वर्षे आयुष्य श्रुतींत सांगितलें आहे तेव्ही पंचवीस वर्षे हा चतुर्थभाग झाला, तथापि मनुनें अध्याय ३ रा, श्लोक १ ला यांत छत्तीस वर्षेपर्यंत ब्रह्मचर्यव्रत धारण करावें असें जें सांगितलें आहे त्याच्याशीं विरोध येतो यास्तव चतुर्थ भाग झणजे यथाशक्ति न्यायवत्कर्मव्रत ब्रह्मचर्य धारण शक्य होईल तोहि आयुष्याचा चतुर्थभाग जाणावा. कुल्लुकभट्ट.

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ॥

या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ ९ ॥

आप्तकालावांचून अन्यकाली कोणत्याहि प्राण्यांचा द्रोह केल्यावांचून, अथवा तसा असंभव असतां अल्पद्रोह करून निर्वाह करावा अशी जी शास्त्रांत वृत्ति (उपजीविका) सांगितली तिचे अवलंबन करून ब्राह्मणाने आपली उपजीविका करावी.

यान्नामात्रप्रसिद्धचर्थ स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ॥

अहेमेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥

शास्त्रीय कुटुंबाचे पोषण, आणि नित्य कर्मानुष्ठान एतत्पूर्वक, शास्त्रविहित अर्जनरूप अर्सां स्वकीय ऋतादि वक्ष्यमाण (पुढे सांगावयाचीं) कर्मे करून व शरीराला हेस दिल्यावांचून द्रव्यसंग्रह करावा.

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ॥

सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

कोणतीं कर्मे करून उपजीविका करावी तें सांगतो—आपत्ति नसतां ब्राह्मणाने ऋत, अमृत; अथवा मृत, प्रमृत; किंवा सत्य अथवा अनृत यांतून कोणत्याहि कर्मेकरून उपजीविका (निर्वाह) करावी. श्ववृत्तीने कदापि निर्वाह करू नये.

ऋतमुंछशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ॥

मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

ऋत इत्यादि अप्रसिद्ध शब्दांची व्याख्या करितो—बाजार, रस्ता इत्यादि ठिकाणी पडलेले घान्याचे कण एकेक मिळवून घेणे तें उंछ; शेतकऱ्याने शेतांत टाकलेलीं कणसे घेणे तें शिल; हीं दोन ऋत जाणावीं. याचनेवांचून मिळाले तें अमृत. बहुत घरी याचना करून मिळारूप जें तें मृत जाणावे. कृषिकर्मापासून जें प्राप्त झालें तें प्रमृत असें झटलें आहे. भूमि नांगरण्याने अनेक प्राणी मरण पावतात त्या योगाने तें बहु दुःफळक होतें सणून तें प्रमृत होय.

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीयते ॥

सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मान्नां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

बहुधा व्यवहार (व्यापार) खऱ्या खोटवाने साध्य आहे यास्तव कांहीं खरे व कांहीं मिथ्या हेच वाणिज्य (व्यापार) होय. आपत्ति नसतां ब्राह्मणाने व्याजवद्वा, देवदेव इत्यादि करूनही उपजीविका करावी. सेवा सणजे चाकरी ही श्ववृत्ति, अशी झटली आहे. दीनदृष्टीने पाहाणें, यजमानाने निर्भर्त्सना करणें, नीच काम करणें इत्यादिक दुःखा-

१ हें मिश्रान्न सामिक गृहस्थाश्रमी याला अपक्व तांबुळ इत्यादिक समजावें, पक्व नव्हे; कारण दुसऱ्याच्या भक्षीने पक्व झालेल्या अन्नाचा आपल्या अग्नीवर होम होत नाही.

स्पद प्रकार चाकरीमध्ये बहुत आहेत हणून आ हणजे कुतऱ्यासारखी जी वृत्ति (जीविका) ती श्रवृत्ति ती सर्वथा वर्ज्य करावी.

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुंभीधान्यक एव वा ॥

ग्रहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥

गृहस्थाश्रमी याने कुसूलधान्यक राहावे, हणजे नित्यनैमित्तिक धर्मकृत्य आणि स्वकीय पोष्यवर्ग यांची उपजीविका तीन वर्षेपर्यंत यथास्थित चालेल इतका धनसंग्रह करावा. अथवा कुंभीधान्य असावे, हणजे पूर्वी सांगितलेल्या सर्वांचा एक वर्षपर्यंत निर्वाह होईल इतका धनसंग्रह करावा. किंवा ग्रहैहिक असावे, हणजे तीन दिवसपर्यंत उपजीविका चालेल इतका संग्रह करावा. अथवा अश्वस्तनिक असावे, हणजे कर्मांत कमी एक दिवस सर्वांस पुरेल इतका तरी धनसंग्रह करावा.

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ॥

ज्यायान् परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८ ॥

कुसूलधान्यक, कुंभीधान्यक, ग्रहैहिक, आणि अश्वस्तनिक हे जे चार गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण सांगितले यांमध्ये पहिल्याहून दुसरा श्रेष्ठ आणि शेवटीं सांगितला हा सर्वांहून श्रेष्ठ जाणावा; कारण, शेवटचा हा, वृत्तिसंकोचधर्मेकरून स्वर्गादि लोकजिक्कणांमध्ये श्रेष्ठ होतो.

षट्कर्मेको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ॥

द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

हे जे गृहस्थाश्रमी यांमध्ये ज्याचा पोष्यवर्ग (कुटुंबातील मनुष्ये) बहुत असतो तो ऋत, अयाचित, भिक्षा, कृषि, वाणिज्य आणि व्याजबद्धा हीं सहा कर्मे करून उपजीविका करितो; ज्याचा परिवार अल्प असतो तो याजन (यज्ञ करविणे), अध्यापन (अध्ययन सांगणे) आणि दान घेणे हीं तीन कर्मे करून निर्वाह करितो; प्रतिग्रह नीच मानणारा, याजन, अध्यापन हीं दोन कर्मे करून निर्वाह करितो; या तिघांहून चवथा तर केवळ अध्यापन करून निर्वाह चालवितो.

वर्तमानं शिलोच्छ्रितं शिरोऽग्निहोत्रपरायणः ॥

इष्टीः पार्यायनांतीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

शिलोच्छ्रितं वृत्तीने उपजीविका करणारा याने द्रव्यसाध्य इतर यागादि कर्मे करण्याचे सामर्थ्य नसल्यामुळे अग्निहोत्रच धारण करून दर्शपौर्णमास व आग्रयण ह्या मात्र नित्य इष्टि कराव्या.

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ॥

अजिज्ञामशत्रुं शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥

उपजीविकेकरितां निश्च, प्रियकथा व चमत्कारिक हसं येन्मसारख्या गोष्टी सांगूं नयेत; अजिज्ञ क्षणजे मृषावर्णनविरहित, दांभिकपणाविरहित, शुद्ध क्षणजे वैश्य व्रतीचा मिश्रीभाव जात नाही अशी ब्राह्मणाची उपजीविका आचरण करावी.

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ॥

संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

यथासंभव पोष्यवर्ग आणि आपण यांचे प्राणांचे संरक्षण व पंचमहायज्ञादिकांचे अनुष्ठान यांविषयी जितके योग्य धन पाहिजे त्याहून अधिक धनाची इच्छा न करणे तो संतोष. तो अतिशयित मानून सुखाची इच्छा करणाऱ्याने पुष्कळ द्रव्य संपादनाविषयी इच्छानिग्रह करावा. कारण, ऐहिकसुख व परलोकी विहितानुष्ठानेकरून होणारे स्वर्गादि सुख ही संतोषाने प्राप्त आहेत. असंतोष हे दुःखाचे मूल होय; कारण, पुष्कळ धन-संपादनाविषयी प्रयत्न केल्याने बहुत दुःख व असंपत्तीने श्लेश प्राप्त होतात.

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ॥

स्वर्गापुण्ययशस्यमनि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥

पूर्वी ज्या उपजीविका सांगितल्या त्यांतून कोणत्या एका जीविकेकरून जीवन करित होताता स्नातक (समावर्तन झालेला) अशा ब्राह्मणाने स्वर्ग, आयुष्य आणि यश यांचे देणारी अशी पुढे सांगावयाची व्रते धारण करावी. अमुक हे मी करणार नाही, अमुक हे मी करीन असा विशेष संकल्प करून जे धारण करणे ते व्रत जाणावे.

बेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतंद्रितः ॥

तद्विकुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १४ ॥

वेदाने आणि स्मृतिशास्त्राने सांगितलेले असे, स्वकीय आश्रमाला विहित कर्म यावे जीवपर्यंत निरालस्यपणाने करावे; कारण यथासामर्थ्य आश्रमविहित कर्म करणारा मोक्ष-गतीप्रत पावतो; क्षणजे नित्यकर्माचे अनुष्ठानाने पापक्षय होऊन निष्पाप अंतःकरणाने ब्रह्मसाक्षात्कार होतो, व तेणेकरून मोक्षप्राप्ति होते.

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ॥

न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्थामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥

जेथे पुरुष आसक्त होतो तो प्रसंग होय, असा गायन, नृत्य इत्यादिक, तेणेकरून द्रव्य मिळविण्याची इच्छा करू नये. शास्त्रनिषिद्ध कर्म (अयाज्ययाजनादिक) करून द्रव्य संपादन करू नये. तसेच द्रव्य असो अथवा नसो, आणि अन्य प्रकाराने द्रव्य मिळण्याचा असंभव असेल तथापि पतितादिकांपासून द्रव्य मिळण्याची केवळ इच्छाहि करू नये.

द्वित्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ॥

अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत् ॥ १६ ॥

इंद्रियांचे सर्व अर्थ (विषय) जे रूप, रस, गंध, स्पर्श इत्यादि त्यांचे ठायीं आसक्त होऊं नये. उपभोगासाठीं अतिसेवनरूप आसक्ति करूं नये, स्वस्त्रीचेठायीं सुरतादिकां-विषयीहि आसक्त होऊं नये. अति आसक्तीचे निवृत्तीविषयीं उपाय सांगतो—इंद्रिय-विषय अस्थिर व स्वर्गमोक्षसुखाचे विरोधी आहेत अशी भावना करून विषयासक्तीपासून मन परावृत्त करावें.

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ॥

यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

वेदपठनाचा विरोधी (शत्रु) अशा सर्व धनाचा त्याग करावा. तर मग पोष्यवर्ग व आपण यांचें पोषण कसें होईल अशी शंका घेऊन सांगतो—जो वेदाध्ययनाला विरोधी न होईल असा कोणताही उपाय करून पोष्यवर्ग व आपण यांचें रक्षण करीत होत्याता मोठ्या यत्नानें अवश्य वेदाध्ययन करावें; कारण निख वेदाध्ययन करणें हीच सात कर्माह्वनाची कृतकृत्यता आहे.

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ॥

वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥ १८ ॥

या संसारामध्ये गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणानें आपलें वय, कर्म, संपत्ति, वेदशास्त्रज्ञान आणि कुल या सर्वांचा यथायोग्य होईल असा वेष, वस्त्रें, बुद्धि, वाणी यांचा उपयोग करून लोकांत राहावें.

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ॥

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥

वेदाला अविरुद्ध व बुद्धीची वृद्धि करणारीं असीं व्याकरण, मीमांसा, स्मृति, पुराणें आणि न्याय इत्यादि शास्त्रें; तसींच धनप्राप्तीला कारण असीं अर्थशास्त्रें ह्मणजे बृह-स्पति व शुक्राचार्य यांनीं केलेलीं अर्थशास्त्रें; तसींच प्रत्यक्षहितकारक वैद्यक आणि ज्योतिष; आणि वेदार्थाचा बोध ज्यांत आहे असे निगमग्रंथ हे सर्व निख पाहावे.

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥

तथा तथा विज्ञानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥

पुरुष जसजसा शास्त्राचा अभ्यास करितो तसातसा विशेषेकरून ज्ञाता होतो, आणि शास्त्राभ्यासी पुरुषाला अन्यशास्त्रीय ज्ञानहि रुचते, ह्मणजे ज्ञानरूप बल प्राप्त होतें.

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ॥

नृत्यज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

ऋषियज्ञ (ब्रह्मयज्ञ), देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, आणि पितृयज्ञ हे पंचमहायज्ञ यथाशक्ति करावे, टाकूं नयेत. पंचमहायज्ञ अवश्य करावे असे तिसऱ्या अध्यायी सांगितलें असतां पुनः एथें जो निर्देश केला तो विशेषविज्ञानार्थ; व हे यज्ञ स्नातकाचीं व्रतें होत हें सूचित करण्याकरितां आहे असें जाणावे.

एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ॥

अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

बाह्याभ्यंतर यज्ञानुष्ठानशास्त्र जाणणारे असे कित्येक गृहस्थाश्रमी, कर्माहून ब्रह्मज्ञान श्रेष्ठ असे जाणून बाह्यात्कारी कांहीं कर्म न करितां हे पंचमहायज्ञ पंचबुद्धीद्विषयांचेठायींच, पंचरूप ज्ञानादिकांचा संयम करित होत्साते संपादन करितात.

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ॥

वाचि प्राणे च पश्यंतो यज्ञनिर्वृतिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

वाणी आणि प्राण या दोहोंचेठायीं यज्ञानुष्ठान अक्षयफल होते असे जाणणारे कित्येक गृहस्थाश्रमी ब्रह्मवेत्ते प्राणाचा होम वाणीचेठायीं करितात, आणि वाणीचा होम प्राणाचे-ठायीं करितात.

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजंत्येतैर्मखैः सदा ॥

ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यंतो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

कित्येक ब्रह्मवेत्ते ब्राह्मण सर्वथा ब्रह्मज्ञानद्वाराच ह्या पंचमहायज्ञांचें अनुष्ठान करितात. पंचमहायज्ञांचें अनुष्ठान ब्रह्मज्ञानद्वारा कसें होतें तें सांगतो— ह्या पंचमहायज्ञांची क्रिया (उत्पत्ति) ब्रह्मापासून आहे असे जाणून सर्वदा ब्रह्माचिंतन करित होत्साते यज्ञ संपादन करितात; ह्मणजे पंचयज्ञांचें फल उपभोगितात. याप्रमाणें तीन श्लोकांहीं करून, ब्रह्मनिष्ठ असे गृहस्थाश्रमी यांलाहि हे नियमविधि होत असे सांगितले.

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यंते द्युनिशोः सदा ॥

दर्शेन चार्धमासांते पौर्णमासेन चैवहि ॥ २५ ॥

औष्ठासन अग्निमथ्ये होम देण्याचे पक्ष दोन आहेत, एक उदित होम आणि दुसरा अनुदित होम. उदित होमपक्ष असेल तर दिवसाच्या आदी (प्रातःकाली) आणि रात्रीच्या आदी (सायंकाली) होम करावा. अनुदित होमपक्ष असेल तर दिवसाच्या अंती (सायंकाली) आणि रात्रीच्या अंती (प्रातःकाली) होम करावा. अथवा उदित होमपक्ष असेल तर दिवसाच्या आदी व अंती होम करावा. अनुदित होमपक्ष असतां रात्रीच्या आदी व अंती होम करावा. अर्धमासाच्या अंती ह्मणजे अमावास्या व पौर्णिमा यांच्या अंती दर्श, पौर्णमास या कर्मकरून यजन करावे.

सस्यांते नवसस्येष्टया तथर्तते द्विजोऽध्वरैः ॥

पशुना त्वयनस्यादौ समांते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥

पूर्वी सादून ठेवलेले धान्यादिक संपले असतां शरदृतूचेठायीं नवीन सस्यांची (धान्यांची) इष्टि करवी, असे सूत्रकाराचे वचन आहे, यास्तव पूर्वीचे धान्य जरी संपले नसेल तथापि नवीन धान्य उत्पन्न झाले असतां द्विजाने (ब्राह्मणादि वर्णत्रयाने) आप्रयणेंकरून यजन करावे. कारण, धान्य संपणे हे अनियत आहे व धनिकांला, बहुत वर्षे उपजीविका

चालेल इतकें धान्य सांठवून ठेवण्याचा संभव आहे. चार. चार मासांचा एकेक ऋतु या मानानें त्या त्या ऋतूच्या अंती चातुर्मास्यनामक यज्ञ करून यजन करावें. उत्तरायण व दक्षिणायन यांच्या आरंभी पशूकरून यजन करावें. ज्योतिःशास्त्रांत चैत्रशुक्लप्रतिपदेपासून वर्षारंभ सांगितला आहे यास्तव शिशिर ऋतूनें वर्ष समाप्त असतां सोमवल्लीरससाध्य असे अग्निष्टोमादिक यागांहीं करून यजन करावें.

नानिष्टा नवसस्येष्टया पशुना चाग्निमान् द्विजः ॥

नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिज्ञीविषुः ॥ २७ ॥

दीर्घ आयुष्याची इच्छा करणारा अग्निहोत्री द्विज यानें आययण केल्यावांचून नवान्न भक्षण करूं नये, व पशुयाग केल्यावांचून मांसभक्षण करूं नये.

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः ॥

प्राणानेवान्तुमिच्छंति नवान्नामिषगार्धिनः ॥ २८ ॥

कां कीं, पशूतारखें आम (हिरवें) जें नवान्न तेणें करून अग्नीची तृप्ति न करतां जो अग्निहोत्री नवान्न भक्षण करण्याची इच्छा करितो त्याचे प्राणच ते अग्नि भक्षण करण्याची इच्छा करितात.

आसनाशनशय्याभिरग्निर्मूलफलेन वा ॥

नास्य कश्चिद्वसेद्रेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥

गृहस्थाश्रमी याचे घरीं कोणी अतिथि आला असतां यथाशक्ति आसन, भोजन, शय्या, उदक, अथवा मूले, फळे, यांहीं करून सत्कार न पावलेला असा घरीं राहूं नये; ह्मणजे यथाशक्ति आसन, भोजन इत्यादिकें करून अतिथीचा अवश्य सत्कार करावा.

पाण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ॥

हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥

पांडेडो, निषिद्ध उपजीविका करणारे, वैडोलव्रतिक, शठ, हैतुक, आणि वकवृत्ति यांची पूजा केवळ भाषणानेंहि करूं नये. पाकनिष्पत्तिविरहित जे साला पुजारहित अन्नदान मात्र करावें.

वेदविद्याव्रतज्ञातान् श्रोत्रियान् गृहमेधिनः ॥

पूजयेद्द्व्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

विद्याज्ञातक, व्रतज्ञातक, आणि उभयज्ञातक, श्रोत्रिय (वेदाध्ययन केलेले) अश

१ वेदवाक्य व्रतें व चिन्हें पारण करणारे जैन, बौद्ध इत्यादिक. २ वैडालव्रतिक, वकवृत्ति यांचीं लक्षणें पुढें या अध्यायीं कोक १२५, १२६ यांत सांगेल. ३ वेदावर भ्रजा न पारणारे. ४ वेदविरोधितुर्कानें चालणारे. ५ व्रतसमाप्ति न करितां वेदाध्ययनाची समाप्ति करून समावर्तन करणारा तो विद्याज्ञातक. ६ जो वेदांची समाप्ति न करतां व्रतसमाप्ति करून समावर्तन करितो तो व्रतज्ञातक. ७ वेद आणि व्रतें या दोहोंची समाप्ति करून समावर्तन करितो तो उभयज्ञातक. व्रत शब्देंकरून उपनयनव्रत, सावित्रीव्रत, आणि वेदव्रतें याप्रमाणें व्रतें जाणावीं. धर्मसिंधु मा.पृ. ३४४ पाहा.

गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणांची दैवकर्म व पित्र्यकर्म यांचेठायीं पूजा करावी. ह्मणजे या प्रकारचे ब्राह्मण भोजनाला सांगावे. यांहून जे विपरीतलक्षण ब्राह्मण ते वर्ज्य करावे.

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ॥

संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

पाकनिष्पत्ति न करणारे असे ब्रह्मचारी, संन्यासी, पाखंडी यांला गृहस्थानें यथाशक्ति अन्न द्यावें, आणि आपल्या कुटुंबाचें भोजन होऊन जें अन्न, उदक शेष राहील तें जंगम व स्थावर (वृक्षादिक) यांलाहि द्यावें.

राजतो धनमन्विच्छेत्संसिद्दन् स्नातकः क्षुधा ॥

याज्यांतिवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥

गृहस्थाश्रमी स्नातकद्विज क्षुधेनें व्याकुळ होईल तर त्यानें क्षत्रियराजापासून धनाचा प्रतिग्रह प्रथम करावा, अथवा आपला यजमान, शिष्य यांपासून प्रथम प्रतिग्रह करावा. त्यांचा असंभव असतां द्विजापासून, त्याच्या असंभवीं सर्वापासून घ्यावा. आपत्ति नसतां प्रथमतः क्षत्रियराजा, यजमान व शिष्य यांपासून प्रतिग्रह घ्यावा असा नियम सूचित करण्याकरितां हें वचन आहे, यास्तवच प्रथम इतरांपासून घेऊं नये असी शास्त्रमर्यादा आहे असें सांगतो.

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन ॥

न जीर्णमलवद्दासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

क्षत्रिय राजापासून दानप्रतिग्रहादिकानें द्रव्य मिळण्याचा संभव असेल तर विद्वान्, स्नातक अशा गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणानें क्षुधेनें व्याकुळ राहूं नये. आपल्याजवळ द्रव्य असेल तर जीर्ण, मलिन अशीं वस्त्रे धारण करूं नयेत.

कृष्णकेशनखश्मश्रुदातः शुक्लांबरः शुचिः ॥

स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥

गृहस्थाश्रमी यानें दाढी, मिशा, नखें हीं छेदावीं, तपश्चर्येचे क्लेश सहन करावे, श्वेत वस्त्रे धारण करावीं. अंतः व बाहेर पवित्र असावें, वेदाभ्यास करावा, रोगादिक प्राप्त असतां औषधादिकांचा उपयोग करून आपल्या हिताविषयी नित्य तत्पर असावें.

वैणवीं धारयेद्वष्टिं सोदकं च कमंडलुम् ॥

यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुंडले ॥ ३६ ॥

वेणुदंड, उदकयुक्त कमंडलु, यज्ञोपवीत, दर्भमुष्टि, वेद, आणि सुशोभित सुवर्णकुंडले हीं धारण करावीं.

नेक्षेतोद्यंतमादित्यं नास्तं यांतं कदाचन ॥

नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यनभसो गतम् ॥ ३७ ॥

उदयकालीं, अस्तकालीं सूर्यालीं अवलोकन करूं नये. राहूनें प्रसूत असतां पाहूं नये. वक्रादिक उपसर्गानें युक्त असतां पाहूं नये. उदकांतील सूर्यप्रतिबिंब पाहूं नये. अकाशाचे मध्यभागस्थ असतां माध्याह्नीं पाहूं नये.

न लंघयेद्दत्तसंतत्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ॥

न चोदके निरीक्षेत स्वरूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

वत्साला बांधण्याची रज्जु उलंघन करूं नये, मेघवृष्टि होत असतां धावूं नये, उदकांत आपलें प्रतिबिंब पाहूं नये, असा शास्त्रांत निश्चय आहे.

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु क्षतुष्पथम् ॥

प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

घरांतून बाहेर प्रयाण करीत असतां संमुख प्राप्त होणारीं उद्धृत मृत्तिका, गाई, देवता, ब्राह्मण, घृत, मधु आणि चवाठयावरील प्रसिद्ध वृक्ष यांला प्रदक्षिणा करावी, हलजें उजवें घालावें.

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ॥

समानशयने चैव न शयीत तथा सह ॥ ४० ॥

पुरुष कामार्त असेल तथापि त्यानें रजोदर्शनापासून तीन दिवस स्त्रियेप्रत गमन करूं नये. एका षलंगावर स्त्रियेसहवर्तमान निद्रा करूं नये.

रजसाभिभुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ॥

प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥

रजस्वला स्त्रीप्रत जो गमन करितो त्याची प्रज्ञा, वीर्य, बल, नेत्र, आणि आयुष्य हीं नष्ट होतात.

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिभुताम् ॥

प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्द्धते ॥ ४२ ॥

रजस्वला स्त्रीप्रत जो गमन करितो नाही त्याची प्रज्ञा, वीर्य, बल, नेत्र आणि आयुष्य हीं वर्द्धित होतात.

नाश्रीयाद्भार्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाश्रयीम् ॥

भुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥

एका पात्रांत स्त्रियेसहवर्तमान भोजन करूं नये; स्त्री भोजन करीत असतां, शिकत असतां, जांभई देत असतां, सुखानें बसली असतां तीप्रत पाहूं नये.

नाजपंतीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ॥

न पश्येत्प्रसवंतीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

आपल्या नेत्रांत काजळ भरणारी, आपल्या अंगाला तैलाभ्यंग करणारी, कंचुकीविरहित, प्रसूत होणारी अशा अवस्थेत स्त्री असतां तेजस्काम (तेजाची इच्छा करणारा) ब्राह्मणानें तिला पाहूं नये.

नान्नमद्यादेकवासा न नम्रः स्नानमाचरेत् ॥

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥

एक वस्त्र धारण केलेला होत्साता भोजन करूं नये; नम्र होत्साता स्नान करूं नये; मार्ग, भस्म, आणि गोठा यांचे ठायीं मूत्रपुरीषोत्सर्ग करूं नये.

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ॥

न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

नांगरलेलें शेत इत्यादिक, उदक, अग्नीकरितां केलेली इटांची राशी, पर्वत, पुरातन देवालय, आणि वारूळ यांचेठायीं मूत्रपुरीषोत्सर्ग कदापि करूं नये.

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ॥

न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

प्राणियुक्त विलें, नदीतटाक, पर्वतशिखर यांचे ठायीं मूत्रपुरीषोत्सर्ग करूं नये. चालत असतां, उभा असतां करूं नये. पूर्व श्लोकांत पर्वतनिषेध केला तितक्यानेच पर्वतशिखराचा निषेध सिद्ध झाला असतां पुनः पर्वतशिखराचा निषेध सांगितला, यावरून पर्वतनिषेध वैकल्पिक, ह्मणजे अत्यंत आर्त असतां पर्वताचेठायीं मूत्रपुरीषोत्सर्ग दोषकारक नाही.

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ॥

न कदाचन कुर्वीत विष्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, आणि गाई यांप्रत पाहत होत्साता कदापि मूत्र-पुरीषोत्सर्ग करूं नये.

तिरस्कृत्योच्चरेत् काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ॥

नियम्य प्रयतो वाचं संवीतांगोऽवगुंठितः ॥ ४९ ॥

शुष्क असीं पानें, तृण, काष्ठें, अथवा मृत्तिकेचें टेकूळ इत्यादिकानें भूमि आच्छादित करून मस्तकास वस्त्र गुंडाळलेला, सर्वांग आच्छादन केलेला आणि मौन धारण केलेला असा होत्साता मूत्रपुरीषोत्सर्ग करावा.

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ॥

दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्योश्च यथा दिवा ॥ ५० ॥

दिवसा, सायंकाळीं, प्रातःकाळीं उत्तराभिमुख होत्साता मूत्रपुरीषोत्सर्ग करावा, रात्रीं तर दक्षिणाभिमुख होत्साता करावा.

छायायामंधकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ॥

यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणवाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥

१ वायु दृष्टिगोचर नसल्या कारणानें पाहण्याचा असंभव आहे ह्मणून वावटळीनें उडणारीं तृणकाष्ठे इत्यादिक पाळा न पाहणें असा अर्थ समजावा.

रात्री, छाया अथवा अंधकार यांचेठायीं ; दिवसा छाया अथवा नीहार (धुकें) इत्यादिक अंधकार यांचेठायीं दिशाचें अज्ञान असतां आणि चोर, वाघ इत्यादिकांपासून प्राण-नाशाचें भय असतां कोणत्याहि दिशेस मुख करून मूत्रपुरीषोत्सर्ग करावा.

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ॥

प्रति गां प्रति वानं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

पूर्वीं ४८ व्या श्लोकांत वायु, अग्नि इत्यादिकांचें दर्शन निषिद्ध सांगितलें, ह्या श्लोकेकरूनतर त्यांच्या संमुखपणाचाहि निषेध सांगतो—अग्नि, सूर्य, चंद्र, जल, ब्राह्मण, गार्ह आणि वायु यांच्या समोर मूत्रपुरीष करणाराची प्रज्ञा नष्ट होते. तस्मात् हें करूं नये.

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् ॥

नाग्नेभ्यं प्रक्षिपेद्ग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥

अग्नि मुखानें फुंकूं नये; तर पंखा, फुंकणी इत्यादिकेंकरून फुंकावा. मैथुनव्यतिरिक्त नम्र स्त्रियेला पाहूं नये. अशुद्ध पदार्थ अग्नीत टाकूं नये. अग्नीवर पाय तापवूं नये.

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलंघयेत् ॥

न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

खट्वा, पलंग इत्यादिकांच्या खालीं अग्नि धारण करूं नये. अग्नीचें उलंघन करूं नये. निजलें असतां पायथ्याशीं अग्नि स्थापन करूं नये. प्राणाला पीडाकारक कर्म करूं नये.

नाश्रीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ॥

न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोऽपहरेत्स्त्रजम् ॥ ५५ ॥

संध्याकालीं भोजन, ग्रामांतरगमन, आणि निद्रा हीं करूं नयेत. रेखादिकांनीं भूमि विदारण करूं नये. आपण माला धारण केलेली स्वतां काढूं नये, दुसऱ्याकडून काढवावी,

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा घ्नीवनं वा समुत्सृजेत् ॥

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

उदकांत मूत्र, अथवा पुरीष, थुंकी, श्लेष्मा, अथवा अपवित्रपदार्थांनें लिप्तबस्त, उच्छिष्ट-रुधिर, रुत्रिम व अरुत्रिम विषे हीं टाकूं नयेत.

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे शयानं न प्रबोधयेत् ॥

नोदक्यामभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥

शून्यगृहीं एकव्यानें निजूं नये; आपणाहून द्रव्य, विद्या इत्यादिकांनीं जो अधिक तो निजला असतां खाला जागृत करूं नये; रजस्वलेशीं संभाषण करूं नये; बलावण्यावांचून यज्ञांत जाऊं नये, दर्शनच्छु असेल तर जावें.

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ॥

स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

१ 'प्रतिवाते' या स्थानीं 'प्रतिसंध्यं' असा पाठ कोणी द्रष्टव्य.

अग्निगृह, गाईचें स्थान, ब्राह्मणांच्या सन्निध, वेदाध्ययन, आणि भोजन यांसमयीं उजवा हात बाहेर काढावा.

न वारयेद्वां धर्यतीं न चाचक्षीत कस्यचित् ॥

न दिवाद्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥

दूध किंवा उदक गाई पीत असतां तिचें निवारण करूं नये. (हा निषेध दोहनाहून अन्यत्र जाणावा.) दुसऱ्याचें दूध अथवा उदक पीत असतां त्याला सांगूं नये. इंद्रधनुष्य आकाशांत पाहून निषिद्ध दर्शनाचा दोष जाणणाऱ्या पुरुषानें तें दुसऱ्याला दाखवूं नये.

नाधार्मिके वसेद्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ॥

नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

ज्या गांवांत अधार्मिक लोक राहतात त्या गांवांत वास करूं नये. अथवा चिकित्सा करण्यास अशक्य अशा व्याधीनें पिडलेले लोक जेथे बहुत राहतात तेथे कदापि राहूं नये. मार्गी एकव्यानें जाऊं नये. बहुत कालपर्यंत पर्वतावर वास करूं नये.

न शूद्रराजे निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ॥

न पाषंडिगणाक्रांते नोपसृष्टेऽत्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

ज्या देशी राजा शूद्र असेल त्या देशी राहू नये. अधार्मिक जनांनीं युक्त, अथवा पाखंडी लोकांनीं व्यास किंवा चांडालादिकांनीं उपद्रुत अशा गांवांत राहूं नये.

न भुंजीतोद्धृतस्नेहं नातिस्त्रौढित्यमाचरेत् ॥

नाति प्रगे नाति सायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

तेल ज्याचें काढलें गेलें असें पिण्याक (पेंड) इत्यादिक भक्षण करूं नये. अतिरिक्त भोजन दोनवेळाहि करूं नये, सूर्योदयकाशी व सूर्यास्तसमयीं भोजन करूं नये. प्रातः-कालीं अतिरिक्त भोजन केले असतां सायंकालीं भोजन करूं नये.

न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्ध्यजलिना पिबेत् ॥

नोत्संगे भक्षयेद्ब्रह्मान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

ऐहिक आणि पारलौकिक अर्थ ज्यांत नाहीं असा व्यापार करूं नये. अंजलीनें उदक प्राशन करूं नये. मांड्यांवर लाडू इत्यादिक पदार्थ ठेवून भक्षण करूं नयेत. हें काय आहे, असी कारणावांचून जाणण्याची इच्छा कदापि करूं नये.

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ॥

नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

नर्तन नये, गाऊं नये, वाद्ये वाजवूं नये. हस्तानें बाहु थोपटूं नये. दांत कडकड वाजवूं नयेत. मोठ्या प्रेमानें गर्दभ इत्यादिकांसारखें ओरडूं नये.

१ जठर पूर्येदर्थ मज्जेर्माण जलेन च ॥ वायोः संचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥ अर्थ—अर्धे उदर अन्नानें भरावें, तृतीयांश उदकानें भरावा, आणि चतुर्थांश वायुसंचारार्थं अवशेष राखावा—विष्णुपुराण.

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ॥

न भिन्नभांडे भुंजीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥

कांस्यपात्रांत कदापि पाय धुवूं नयेत; तांबें, रूपें, सोनें यांच्या पात्राविरहित फुट-
क्या पात्रांत भोजन करूं नये. जेथें आपलें मन शुद्ध नाही तेथें भोजन करूं नये.

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥

उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

उपानह, वस्त्र, यज्ञोपवीत, अलंकार, पुष्पमाला, आणि कमंडलु हे दुसऱ्यानें धारण
केलेले ते आपण धारण करूं नयेत.

नाविनीतैर्व्रजेदुर्यैर्न च क्षुद्याधिपीडितैः ॥

न भिन्नशृंगाक्षिखुरैर्न बालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

अविनीत (न शिकवलेले); क्षुधेनें व रोगानें पीडित; शृंगें, नेत्र, आणि पायांचे खुर हे
ज्यांचे मोडलेले; व पुच्छें कापलेले असे बैल लावलेल्या गाडींत बसून गमन करूं नये.

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ॥

वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

शिकवलेले, त्वरित चालणारे, शुभसूचक लक्षणांनीं युक्त, वर्णांनीं व आकृतींनीं सुशो-
भित अशा बैलांनीं युक्त जो रथ खांत बसून गमन करावें, आणि त्या बैलांला चावकानें
ताडन करूं नये.

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् ॥

न छिद्यान्नखलोमानि दंतैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥

बालातप (सूर्योदयापासून सहा घटिकांपर्यंत जें उष्ण तें), जळत्या प्रेताचा धूम, मोडकें
आसन हीं सर्व वर्ज्य करावीं. नखें व रोम छेदूं नयेत. दातांहींकरून नखें उपटूं
नयेत.

न मृलोष्टं च मृद्रीयात् न छिद्यात्करजैस्तृणम् ॥

न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

मृत्तिकेचें टेकूळ विनाकारण मर्दन करूं नये. नखांनीं तृणाचा छेद करूं नये.
निष्फल कर्म करूं नये. ज्यापासून कदापि सुखप्राप्ति नाही असेंहि कर्म करूं नये.

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ॥

स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

मातीचें टेकूळ मर्दन करणारा, तृणच्छेद करणारा, दातांहीं नखें खाणारा, दुसऱ्याचे
गुणावगुण सुचविणारा आणि आंत व बाहेर अशुचि हे सर्व मनुष्य देह व धन इत्यादिके-
करून लवकर नाश पावतात.

न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्मात्रं न धारयेत् ॥

गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

लौकिक गोष्ठीमध्ये अथवा शास्त्रीय गोष्ठीमध्ये साभिनिवेशाने (आग्रहाने) वार्ता करू नये. केशकलापाहून बाहेर माला धारण करू नये. बैलांच्या पाठीवर बसून गमन करू नये, व हे सर्वथा वर्जनीय जाणावे.

अद्वारेण च नातीयाद्रामं वा वेश्म वा वृतम् ॥

रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

आसमंतात् तटाने युक्त असे घर किंवा ग्राम असेल तर दरवाजा सोडून तटाचे उल्लंघन करून घरांत अथवा गांवांत प्रवेश करू नये. रात्री वृक्षांचे मूलांचेठायीं वास करू नये.

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयंनोपानहौ हरेत् ॥

शयनस्थो न भुंजीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

फाशांनीं कदापि खेळू नये. आपल्या जोडा आपल्या हातांत घेऊन एका स्थानाहून दुसऱ्या स्थानीं जाऊ नये, तर पायांत घालून जावे, शय्येवर बसून भोजन करू नये, हातावर पुष्कळ अन्न घेऊन खातून थोडथोडे भक्षण करू नये, आपल्या बैठकीच्या जागीं भोजनपात्र ठेवून भोजन करू नये.

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तामिने रवौ ॥

न च नम्रः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्भुजेत् ॥ ७५ ॥

तिलमिश्रित पदार्थ सूर्यास्तानंतर (रात्री) भक्षण करू नयेत. नम्र होत्साता निद्रा करू नये. उच्छिष्ट असतां कोठें गमन करू नये.

आर्द्रपादस्तु भुंजीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ॥

आर्द्रपादस्तु भुंजानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

पाय धुवून भोजन करावे. आर्द्र (ओले) पाय असतां निद्रा करू नये. जो पाय धुवून भोजन करितो तो आयुष्यवृद्धि पावतो.

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रमाद्येत कर्हिचिन् ॥

न विष्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥

जो देश कदापि नेत्रांनीं पाहिलेला नाही आणि ज्या देशामध्ये वृक्ष, गुल्म, लता इत्यादि निबिड झाडी असल्या कारणाने सर्प, चोर इत्यादिक गुप्तपणाने राहण्याचा संभव असल्यामुळे मरणदिकेचा संशय असेल त्या देशांत कदापि जाऊ नये. आपल्या मूत्रपुरी-षांला कदापि पाहू नये, बाहूकरून नदी तरू नये.

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ॥

न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥

दीर्घ आयुष्याची इच्छा करणारा जो पुरुष त्यानें केश, भस्म, मातीच्या पात्राच्या खापऱ्या, कापूस, हाडे, तूस हीं ज्या भूमीवर असतील तेथें उभें राहूं नये.

न संवसेच्च पतितैर्न चांडालैर्नपुल्कसैः ॥

न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नांत्यैर्नात्यावसारिभिः ॥ ७९ ॥

दुसऱ्या गांवचे राहणारे पतित, चांडाल, पुल्कस (निषादापासून शूद्राचेठायीं झालेला), द्रव्यादिकानें गर्विष्ठ, मूर्ख, रजकादिक, अत्यावसायी (चांडालापासून निषादस्त्रीचे ठायीं उत्पन्न) यांच्या बरोबर एका वृक्षाच्या छायेस बसूं नये.

न शूद्राय मर्तिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ॥

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥

शूद्राला मति (दृष्टार्थोपदेश) देऊं नये, दासाहून भिन्न जो शूद्र त्याला उच्छिष्ट देऊं नये, होम करून शेष राहिलेले हवि (होमाचें द्रव्य, चरु इ०) देऊं नये, धर्म, आणि प्रायश्चित्तरूप व्रतें यांचा उपदेश शूद्राला साक्षात् करूं नये, तर ब्राह्मण मध्ये करून उपदेश करावा.

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ॥

सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥

या कारणास्तव जो पुरुष धर्म, आणि व्रतें यांचा उपदेश शूद्राला करितो तो त्या शूद्रासहवर्तमान असंवृतनामक गहन नरकाप्रत जातो. पांच जीं पूर्वी (मति इ०) सांगितलीं त्यांतून धर्म व व्रतें यांविषयीं दोषकथन केलें तें प्रायश्चित्तगौरवार्थ आहे असें जाणावें.

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कंडूयेदात्मनः शिरः ॥

न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्दिना ततः ॥ ८२ ॥

संश्लिष्ट अशा दोन हातांनीं आपलें शिर कांडवूं नये. उच्छिष्ट असतां आपल्या मस्तकास स्पर्श करूं नये. शिरावांचून स्नान करूं नये, ह्मणजे गळ्याखालीं निखनैमित्तिक स्नानें करूं नयेत. गळ्याखालीं स्नान करण्याचा निषेध जो सांगितला तो शक्तविषयक, अशक्तानें तर गळ्याखालीं स्नान केलें असतां दोष नाही.

केशग्रहान् प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ॥

शिरःस्नातश्च तैलेन नागं किंचिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥

कोपाधीन होऊन आपल्या शिराला व केशांला प्रहार (ताडन) करूं नये, आणि दुसऱ्याच्याहि करूं नये, सुरतसमयीं स्त्रियेचा केशपाश धरण्याविषयीं निषेध नाही. कारण, तेथें क्रोधाभाव आहे. तेल लावून शिरस्नान केल्यानंतर पुनः दुसऱ्या अंगाला तेलाचा स्पर्श करूं नये. यास्तव रात्री शिष्टजन तेलव्यतिरिक्त शिरस्नान करून तैलानें पायांला अभ्यंग करितात तो योग्य आहे.

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ॥

सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैव च जीविताम् ॥ ८४ ॥

जो राजा क्षत्रियकुलोत्पन्न नाही त्यापासून धनप्रतिग्रह करूं नये. राजापासून धनाची इच्छा करावी असें जे पूर्वी (३३ व्या श्लोकांत) सांगितलें त्याचा हा विशेष प्रकार उक्त केला. सूनावंत (पशु मारून त्यांच्या मांसाच्या विक्रयानें उपजीविका करणारे कसाई), चक्रवंत (बीजांचा वध करून उपजीविका करणारे तेली), ध्वजवंत (मद्याच्या विक्रयानें उपजीविका करणारे कलाल), आणि वेश्येच्या धनानें उपजीविका करणारे यांपासून द्रव्याचा प्रतिग्रह करूं नये.

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ॥

दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥

दहा कसाई यांला जितका दोष तितका एका तैलिकाला दोष, दहा तैलिकांला जितका दोष तितका एका कलालाला दोष, दहा ध्वजवंतांला जितका दोष तितका एका वेशवंताला दोष, दहा वेशवंतांला जितका दोष तितका एका राजाला दोष याप्रमाणें जाणावें. ही जी उत्तरोत्तर निंदा सांगितली ती पूर्व दाख्याचा संभव असतां उत्तराचें वर्जन करण्याविषयीं योजावी असें सांगतो.

दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ॥

तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

जो कसाई स्वार्थाकरितां दहा सहस्र जीवांची हत्या करितो त्यासमान राजा होय असा मत्वादिकांनीं छटला आहे, यास्तव त्याचा प्रतिग्रह नरकाला कारण असल्यामुळें महाभयंकर जाणावा.

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ॥

स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

महालोभी व शास्त्राचा अतिक्रम करणारा अशा राजापासून जो पुरुष प्रतिग्रह करितो तो क्रमेंकरून पुढें सांगावयाचे जे एकवीस प्रकारचे नरक त्यांप्रत जातो.

तामिस्रमंधतामिस्रं महारौरवरौरवौ ॥

नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ॥

संहातं च सकाकोलं कुब्जलं प्रतिमूर्त्तिकम् ॥ ८९ ॥

लोहशंकुमृजीषं च पंथानं शाल्मल्लीं नदीम् ॥

असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

पूर्वश्लोकांत सामान्येंकरून एकवीस नरक सांगितले त्यांचीं नांवां सांगतो— तामिस्र, अंधतामिस्र, महारौरव, रौरव, नरक, कालसूत्र, महानरक, संजीवन, महावीचि,

तपन, संप्रतापन, संहत, काकोल, कुञ्जल, प्रतिमूर्तिक; लोहशंकु, ऋजीष, शाल्मली, नदी, असिपत्रवन, लोहदारक याप्रमाणे एकवीस नांवे जाणावीं.

एतद्विदंतो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोभिकांक्षिणः ॥ ९१ ॥

प्रतिग्रह हा नानाविध नरकांला कारण आहे असे जाणणारे, व धर्मशास्त्रपुराणादिक जाणणारे व परलोकी व जन्मांतरीं कल्याणाची इच्छा करणारे असे जे वेदाध्यायी ब्राह्मण त्यांनीं राजापासून प्रतिग्रह करूं नये.

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्माथीं चानुचितयेत् ॥

कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

पाहाटेस प्रहररात्रीं उठून धर्म व अर्थ यांचें परस्पर अविरोद्धपणानें आचरण घडेल असा विचार करावा. आणि धर्म व अर्थ हे संपादन करण्यास कारण असे जे शारीरक्लेश त्यांचा विचार करावा, जर महाक्लेश असून धर्म, अर्थ हे अल्प असतील तर महाक्लेश करूं नये. वेदाचा तत्त्वार्थ जें कर्मरूप ब्रह्म त्याचें चिंतन करावें, कारण, त्या कार्त्तिकी बुद्धीला विचारशक्ति विशेष येथे.

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ॥

पूर्वी संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥

तदनंतर उषःकालीं शय्येपासून उठून मूत्रपुरीषोत्सर्ग, मुखमार्जन, स्नान इत्यादिक यथाविधि करून निश्चित होत्साता प्रातःकालच्या संध्येमध्ये जप बहुत कालपर्यंत ह्मणजे सूर्यदर्शनपर्यंत करावा. आयुष्यादिकांची ज्याला इच्छा असेल त्यानें उदयानंतरहि जप करावा, आणि सायंकालची संध्या स्वकालीं आरंभून नक्षत्रदर्शनानंतरहि जप करावा, असा विधि सूचित करण्यासाठीं हा आरंभ आहे.

ऋषयो दीर्घसंध्यात्वादीर्घमायुरवाप्नुयुः ॥

प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

ज्या कारणास्तव ऋषींनीं दीर्घकालपर्यंत संध्यानुष्ठान केलें त्या योगानें त्यांला दीर्घायु, बुद्धि, यश, अस्यकीर्ति, आणि वेदाध्ययनादिकानें प्राप्त होणारे तेज हीं प्राप्त झालीं, त्या कारणास्तव ज्याला दीर्घायु इत्यादिकांची इच्छा असेल त्यानें दीर्घकाल संध्या करावी.

श्रावण्यां प्रौष्ठपदां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ॥

युक्तश्छंदांस्पर्धयीतमासान्विप्रोऽर्धपंचमान् ॥ ९५ ॥

श्रावणी किंवा भाद्रपदी पौर्णिमेचे ठायीं आपल्या गृहसूत्रानुसार यथाविधि उपाकर्मनामक कर्म करून साडेचार मासपर्यंत ब्राह्मणानें मोठ्या उत्सुकतेनें वेद ह्मणावें.

पुण्ये तु छंदां कुर्वाद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ॥

माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

साडेचार मासानंतर पुण्यनक्षत्राचे ठायीं ग्रामाचे बाहेर जाऊन आपल्या गृहसूत्रानुसार उत्सर्गाख्य कर्म करावे. अथवा माघशुक्लपक्षाचे प्रथमदिवसीं पूर्वाण्हकालीं करावे. माघशुक्लपक्षांत जो विधि सांगितला तो, ज्याने भाद्रपदपौर्णिमेचेठायीं उपाकर्म केले नाही तद्विषयक आहे.

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छंदासां बहिः ॥

विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

याप्रमाणे पूर्वोक्तशास्त्रानुसार ग्रामाच्या बाहेर वेदांचे उत्सर्गाख्य कर्म करून पक्षिणी रात्रि(उत्सर्गाचा दिवस आणि पुढे येणारा दिवस हे दोन पक्षासारखे आहेत जीला असी जी मध्यवर्ती रात्रि तेथे)पर्यंत वेदाध्ययन करू नये. अथवा उत्सर्गाच्या अहोरात्रपर्यंत वेदाध्ययन करू नये. विद्येत निपुण होण्याची ज्याला इच्छा असेल तद्विषयक हा अहोरात्र अनध्यायविधि जाणावा.

अत ऊर्ध्वं तु छंदांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ॥

वेदांगानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

उत्सर्गाचे अनध्यायानंतर शुक्लपक्षाचे ठायीं मंत्रब्राह्मणात्मक वेद नियमाने पठण करावा आणि कृष्णपक्षाचे ठायीं वेदांचीं अंगे शिक्षा, व्याकरण, कल्पसूत्र, छंद, ज्योतिष, निरुक्त हीं सर्व नियमाने पठण करावी.

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ॥

न निशांते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥

स्पष्ट, यथे इत्यादिकांचा उच्चार स्पष्ट होई असे अध्ययन करावे, शूद्रजनांच्या समीप अध्ययन करू नये, रात्रीच्या शेवटच्या प्रहरीं निजलेला उठून वेदाध्ययन करून थकला असतां पुनः निद्रा करू नये.

यथोदितेन विधिना नित्यं छंदस्कृतं पठेत् ॥

ब्रह्म छंदस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

अध्ययनाचा जसा विधि सांगितला आहे तदनुरूप नित्य गायत्र्यादिक छंदांनी युक्त मंत्रभाग मात्र पठण करावा. आपत्ति नसतां मंत्र, ब्राह्मण असे दोनहि भाग यथोक्तविधीकरून युक्त होत्साता पठण करावे.

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ॥

अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥

यथाविधि वेदांचे अध्ययन व अध्यापन करणारे जे गुरुशिष्य त्यांनीं हे पुढे सांगावयाचे अनध्यायदिवस वेदांचे अध्ययन व अध्यापन याविषयीं नित्य वर्ज्य करावे.

कर्णश्रवणेनिले रात्रौ दिवा धांसुसमूहने ॥

एतौ वर्षास्वनध्यायविध्यापत्ताः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

रात्रीच्या समयी वायूचा शब्द कानाला श्रुत होईल इतका वायुवहात असतां व दिवसास धूळ उडविणारा इतका वायु बाहिला असतां हे दोन वर्षाकालीं तात्कालिक अनध्याय होत असें अध्यापनविधि जाणणारे ऋषि सांगतात.

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संभवे ॥
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुब्रवीत् ॥ १०३ ॥

बीज, गर्जना, आणि वृष्टि हीं तीन एककालीं प्राप्त असतां, आणि मोठा उल्कापात झाला असतां आकालिक (निमित्तकालापासून दुसऱ्या दिवसाच्या त्या वेळेपर्यंत) अनध्याय असें मनु बोलता झाला.

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ॥
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

अग्नीच्या होमसमयीं प्रातःकालीं अथवा सायंकालीं बीज, गर्जना, वृष्टि हीं तीन एककालीं होतील तर वर्षाकालीं अनध्याय जाणावा, सर्व ऋतूंत नाही. कां कीं, हीं सर्व वर्षाकालींच होण्याचा संभव आहे, वर्षाकालाहून भिन्नकालीं मेघदर्शन झाल्यानंच अनध्याय करावा.

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ॥
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥

होमसमयीं केवळ निर्घात ह्मणजे आकाशांत झालेला उत्पातध्वनि; धरणीकंप; सूर्य, चंद्र, तारागण यांचा उपसर्ग (उपद्रव); हे आकालिक (ज्या समयी हे सर्व होतात त्या वेळेपासून दुसऱ्या दिवसीं त्या वेळेपर्यंत) अनध्याय होत असें जाणावे. श्लोकांत 'ऋतावपि' असें आहे, यावरून वर्षाऋतूचे ठायीं भूकंपादिक दोषकारक नाहीत, असें जाणावे.

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ॥
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

होम देण्याकरितां अग्नि प्रदीप्त केल्यानंतर सायंकालीं अथवा प्रातःकालीं वृष्टिविरहित गीन, गर्जना हीं होतील तर सज्योति (दिवसभर) अनध्याय जाणावा, आकालिक अनध्याय नाही. सायंकालीं बीज, गर्जना, वृष्टि हीं तीनहि होतील तर अहोरात्र अनध्याय जाणावा.

नित्यानध्याय एवस्याद्रामेषु नगरेषु च ॥
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिर्गंधे च सर्वदा ॥ १०७ ॥

धर्माच्या निपुणतेची इच्छा करणारे ह्मणजे अतिशय धर्म इच्छिणारे यांला नगरे, ग्राम यांमध्ये सर्वदा अनध्याय होतो, आणि दुर्गंध सर्वत्र असतांहि निद्रा अनध्याय जाणावा.

अंतर्गतगंधे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ॥
अनध्यायो ह्यवसाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

गांवांत प्रेत असतां, अधार्मिक सन्निध असतां, रोदन करीत असतां, आणि अन्य कार्यासाठीं बहुत जनांचा समुदाय मिळाला असतां अनध्याय जाणावा.

उदके मध्यरात्रे च विष्णूत्रस्य विसर्जने ॥

उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिंतयेत् ॥ १०९ ॥

उदक, मध्यरात्री चार मुहूर्त, विष्णूमूत्रांचा त्याग यांचे ठायीं मनंकरूनहि वेदांचें चिंतन करूं नये. उच्छिष्ट असतां, व श्राद्धाचे निमंत्रणकालापासून श्राद्धभोजनाचे अहोरात्रपर्यंत श्राद्धभोक्त्यानें मनांतहि वेदाचिंतन करूं नये.

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ॥

अहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

ब्राह्मण एकोद्दिष्ट (नव) श्राद्धाचें निमंत्रण घेईल तर निमंत्रणकालापासून तीन दिवस, आणि राजाचें जननाशौचादिक व चंद्रसूर्याचें ग्रहण हीं असतां तीन दिवस वेदपठण करूं नये.

यावदेकानुद्दिष्टस्य गंधो लेपश्च तिष्ठति ॥

विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

शास्त्रवेद्या ब्राह्मणाचे शरीरी ज्यावत्कालपर्यंत एकोद्दिष्ट श्राद्धाचा कुंकुमादिक गंध व लेप असेल तितकीं अहोरात्रपर्यंत त्यानें वेद पठण करूं नये.

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसविथकाम् ॥

नाधीपीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

विष्ठान्यावर निजर्णे, आसनावर पाय ठेवर्णे, दोनहि मांड्या खालीं करर्णे आणि मांस, सूतकांन यांचें भक्षण करर्णे अशा अवस्थेंत असणाऱ्यानें वेद पठण करूं नये.

नीहारे बाणशब्दे च संध्योरेव चोभयोः ॥

अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णिमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

नीहार (धूलीनें झालेला अंधकार), बाणाचा ध्वनि, प्रातःसायंसंधिकाल, अमावास्या, चतुर्दशी, पौर्णिमा, आणि अष्टमी या दिवसांचेठायीं वेदाध्ययन करूं नये.

अमावास्या गुरुं हंति शिष्यं हंति चतुर्दशी ॥

ब्रह्माष्टकापौर्णिमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥

विशेष दोष सांगतो— अमावास्या गुरुला मारत्ये, चतुर्दशी शिष्याला मारत्ये, अष्टमी व पौर्णिमा ह्या अध्ययनाचें विस्मरण करितात, तस्मात् अध्ययन व अध्यापन यांविषयी ह्या तिथि वर्ज्य कराव्या.

पांशुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ॥

श्वत्सरोष्ट्रे च रुवति पंक्तौ च न पठेद्द्विजः ॥ ११५ ॥

धूलीची वृष्टि, दिग्दाह, हे झाले असतां; कोल्हा, कुत्रा, उंट, गर्दभ हे ओरडत असतां व पंक्तीचेठायीं अध्ययन व अध्यापन ब्राह्मणानें करूं नये.

नाधीयीत श्मशानांते ग्रामांते गोव्रजेऽपि वा ॥

वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

श्मशान, ग्राम, गाईचें स्थान, यांच्या समीप आणि मैथुनसमयींचें वस्त्र धारण करून व श्राद्धाचे अन्नाचा प्रतिग्रह करून अध्ययन करूं नये.

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् ॥

तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

श्राद्धसंबंधी प्राणि (गाई अश्व इत्यादि) अथवा अप्राणि (वस्त्रमाल्यादि) पदार्थ प्रतिग्रह-कालीं हातानें घेतला असतां अनध्याय जाणावा; कारण, ब्राह्मण पाण्यास्य (पाणि हें ज्या-चें मुख आहे तो) असा हाटला आहे.

चौरैरुपद्रुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ॥

आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

चोरांनीं उपद्रुत गांव, गृहादि दग्ध होणें, आणि सर्व प्रकारचीं अद्भुतें क्षणजे दिव्य भौमांतरिक्षादि उत्पात हीं प्राप्त असतां आकालिक अनध्याय जाणवा.

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ॥

अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वंतासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥

उपाकर्म व उत्सर्जन यांचे ठायीं त्रिरात्र अनध्याय, मार्गशीर्षपौर्णिमेनंतर माघमासपर्यंत कृष्णपक्षांतील अष्टमीचे ठायीं अहोरात्र अनध्याय, आणि ऋतूंच्या अंतीं एकेक अहोरात्र अनध्याय जाणावा.

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ॥

न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२० ॥

घोडा, वृक्ष, हत्ती, नौका, गर्दभ, उंट, उषरभूमि, गाडी आणि रथ यांचे ठायीं आरूढ असतां अध्ययन करूं नये.

न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे ॥

न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वयित्वा न सूतके ॥ १२१ ॥

विवाद (वाक्यलह), कलह (दंढादंड्यादिक), युद्धरहित सेना, युद्ध, भोजनानंतर तात्का-ली, मजीर्ण, वांति, जननाशौच व मृताशौच यांचे ठायीं अनध्याय जाणावा, न आम्ल टेकर आला असतां तत्कालीं अध्ययन करूं नये.

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ॥

हविरे च सुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अतिवायु वाहाव असतां, शरीरांतून रुधिरस्राव होत असतां, शस्त्रानें क्षत पडलें असतां आणि अतिथीची आज्ञा नसतां अनध्याय जाणावा.

सामध्वनावृष्यजुषी नाधीयीत कदाचन ॥

वेदस्याधीत्य वाप्यंतमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥

सामवेदाचा ध्वनि श्रुत झाला असतां ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद कदापि पठण करूं नये. कोणताहि समग्रवेद लढल्यानंतर किंवा आरण्यक लढल्यानंतर एक अहोरात्र अनध्याय जाणावा.

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ॥

सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

ऋग्वेद देवतारूपी आणि त्या ऋग्वेदाची देवता देव आहे, यजुर्वेद मनुष्यरूपी व देवताहि मनुष्य आहे व त्यांत प्रायः मानुषकर्मांचा उपदेश आहे, सामवेदाची देवता पितर आहेत लक्षणून तो पित्र्य होय, यास्तव पितृकर्म केल्यानंतर आचमन करावें असे सांगतात, तस्मात् सामवेदाचा ध्वनि अशुचीसारखा आहे, अशुचि नव्हे.

एतद्विदंतो विद्वांसस्त्रयी निष्कर्षमन्वहम् ॥

क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्देदमधीयते ॥ १२५ ॥

याप्रमाणें तीन वेदांच्या देव, मनुष्य, पितर अशा देवता आहेत हें जाणणारे असे शास्त्रवेत्ते तीन वेदांच्या सारभूत प्रणव (ॐ), व्यावृत्ति (भूः भुवः स्वः इत्यादि), आणि गायत्री ह्या तिहींचें क्रमानें पूर्वी अध्ययन करून नंतर वेदांचें अध्ययन करितात.

पशुमंडूकमार्जारश्वसर्पनकुलाबुभिः ॥

अंतरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

गाई इत्यादिक पशु, बेडूक, मार्जार, कुत्रा, सर्प, मुंगूस, आणि उंदीर ह्यांतून कोणी एक गुरुशिष्यांचे मधून जाईल तर एक अहोरात्र अनध्याय जाणावा.

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ॥

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥

आतां उत्तम प्रकारें विद्या प्राप्त व्हावी असें जो इच्छिणारा त्याला पूर्वोक्त अनध्यायांचा वैकल्पिक अर्थ सांगतो—अध्ययनाची भूमि उच्छिष्टादिक अपवित्र पदार्थांनीं युक्त असतां व आपलें शरीर यथोक्त शुचिर्भूतपणानें रहित असतां अध्ययन करूं नये, हे दोनच अनध्याय महाप्रयत्नानें वर्ज्य करावे, इतर पूर्वोक्त संभव असतां वर्ज्य करावे.

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णिमासीं चतुर्दशीम् ॥

ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥

गृहस्थ द्विजानें ऋतुकालींहि अमावास्या, अष्टमी, पौर्णिमा, आणि चतुर्दशी या तिथींचेठायीं नित्य ब्रह्मचारी असावे, लक्षणजे स्त्रियेप्रत गमन करूं नये. पर्व वर्ज्य करून

गमन करावें, असें पूर्वी सांगितलें तितक्यानेच या तिथींचा निषेध सिद्ध झाला असतां पुनः एथें निषेध स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तार्थ सांगितला.

न स्नानमाचरेद्भुक्ता नातुरो न महानिशि ॥

न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

मीजनानंतर विनाकारण स्नान करूं नये, रोग्यानें नैमित्तिकहि स्नान करूं नये, तर यथासामर्थ्य, ह्मणजे गळ्याखालीं, किंवा ओल्या वस्त्रानें आंग पुसणें, अथवा मार्जन इत्यादि प्रकारें करावें. रात्रीच्या मध्यस्थ दोन प्रहरीं काम्यनैमित्तिकावांचून स्नान करूं नये, नित्य बहुवस्त्रांसहित (नैमित्तिकावांचून) स्नान करूं नये. जो जलाशय (तळाव इत्यादिक) फार खोल असल्यामुळें मकरादिक प्राणी राहत असतील अशा अपरिचित जलाशयांत स्नान करूं नये.

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ॥

नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

देवता (पाषाणरूपी इत्या०), गुरु (पिता इत्या०), राजा, गृहस्थ ब्राह्मण, आचार्य, कपिलवर्णी, आणि यज्ञदीक्षा धारण केलेला यांतून कोणाचेहि छायेवर बुद्धिपूर्वक स्थित राहूं नये, न जाणून स्थित असतां दोष नाही.

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ॥

संध्योरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

मध्यंदिनी, मध्यरात्री, सायंकाली व प्रातःकाली चवाठयावर फार वेळ वसूं नये. श्राद्धीं मांसयुक्त भोजन करूनहि चवाठयावर उभें राहूं नये.

उद्धर्तनमपस्नानं विष्मूत्रे रक्तमेव च ॥

श्लेष्मनिष्ठ्यूतवांतानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

अभ्यंग करून अंगाचा मळ दूर करण्याकरितां लावलेलें उटणें इत्यादिक जेथे पडलें असेल तेथे वसूं नये. स्नीनोदक, मूत्रपुरीष, रुधिर, श्लेष्मा, थुंकी, वांति हीं जेथें असतील त्या भूमीवर बुद्धिपूर्वक वसूं नये.

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ॥

अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥

वैरी, वैरीचा मंत्री, अधार्मिक, चोर आणि परस्त्री यांचे कदापि सेवन करूं नये.

न हीट्टशयनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ॥

यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

या लोकीं पुरुषाल आयुष्यहानि करणारें जसें परस्त्रीसेवन आहे तसें दुसरें कोणतेंहि नाही. तस्मात् हे कदापि करूं नये.

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ॥

नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥

आपले निरंतर कल्याण असावे असी ज्याला इच्छा असेल त्याने क्षत्रिय, सर्प, आणि विद्वान् ब्राह्मण हे जरी दुर्बल असतील तथापि त्यांचा कदापि अवमान करू नये.

एतत्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ॥

तस्मादेतत्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

क्षत्रिय, सर्प आणि ब्राह्मण यांचा अवमान केला असतां अवमान करणारा नाश पावतो. तस्मात् कल्याणेच्छु पुरुषाने या तिघांचा कदापि अवमान करू नये.

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ॥

आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥

प्रथम द्रव्यप्राप्तीसाठी उद्योग केला आणि त्या उद्योगापासून जरी द्रव्यप्राप्ति झाली नाही तथापि 'मी हतभाग्य, माझ्या दैवीं द्रव्य नाही,' असा आपला अवमान आपण करू नये, तर मरणपर्यंत लक्ष्मीसिद्धयर्थ उद्योग करावा, ही लक्ष्मी मला दुर्लभ, असे मानू नये.

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ॥

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

जसे पाहिले असेल अथवा श्रवण केले असेल तसे सत्य बोलावे. तसेच, जेणेकरून संतोष होईल असे बोलावे, हणजे तुला पुत्र झाला इत्यादि संतोषकारक भाषण बोलावे, प्रत्यक्ष पाहिलेले अथवा श्रुत झालेले, परंतु अप्रिय असे बोळू नये, हणजे तुझा पुत्र मृत झाला इत्यादि बोळू नये. प्रिय परंतु मिथ्या असेहि बोळू नये. हा वेदमूलवे-
करून नित्य धर्म जाणावा.

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ॥

शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥

अभद्रालाहि भद्र बोलावे, अथवा भद्र असेहि बोलावे. विनाकारण वैर आणि कलह कोणाशी करू नये.

नातिकल्पं नातिसायं नाति मध्यंदिने स्थिते ॥

नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

अति प्रातःकाली, अति सायंकाली, अथवा अतिदोन प्रहरीं प्रयाण करू नये. अपरिचित पुरुष व शूद्र यांच्या सहवर्तमान प्रयाण करू नये, व एकाक्रीहि जाऊं नये.

हीनांगानातिरिक्तांगान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ॥

रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

हीनांग; अधिकांग; विद्याहीन; वृद्ध; कुरूप; हीनजाति; हीनद्रव्य; यांची निंदा करू नये, हणजे जो काणा असेल त्याला काणा हणून हाक मारू नये.

न स्पृशेत्याणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ॥

न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ॥ १४२ ॥

भोजन केलेला अथवा मूत्रपुरीषादिक केलेला अशा ब्राह्मणानें हस्तपादमुख प्रक्षालन व आचमन इत्यादिक यथाविधि शुचिर्भूतपणा केल्यावांचून हस्तादिकानें गाई, ब्राह्मण, अग्नि यांला स्पर्श करूं नये. आतुर नसून अपवित्र असतां आकाशांतील सूर्य, चंद्र, ग्रह इत्यादिक तारे पाहूं नयेत.

स्पृष्टैतानशुचिर्नित्यमग्निः प्राणानुपस्पृशेत् ॥

गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥

ब्राह्मण अशुचि होताता गाई, ब्राह्मण, अग्नि यांला स्पर्श करील तर त्यानें आचमन करून हस्तांत उदक घेऊन त्या उदकानें चक्षुरादिक इंद्रियें व शिर, स्कंध, जानु, पाय आणि नाभि यांला स्पर्श करावा.

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ॥

रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

आतुर नसेल तर कारणावांचून आपल्या इंद्रियांला स्पर्श करूं नये, आणि रहस्यरोम हाणजे लिंगकाखसंबंधी रोम यांलाहि कारणावांचून स्पर्श करूं नये.

मंगलाचारयुक्तः स्यात् प्रयतात्मा जितेंद्रियः ।

जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतंद्वितः ॥ १४५ ॥

इष्टार्थाची सिद्धि होणें तें मंगल होय, यास्तव तत्प्राप्त्यर्थ गोरोचनादि मंगल पदार्थ धारण करावे, गुरुसेवादिक आचार धारण करावा. बाह्याभ्यंतर शुचिर्भूतपणानें युक्त होताता जितेंद्रिय असतों, नित्य निरालस्यपणानें गायत्र्यादिजप व अग्नीचे ठायीं होम हे करावे.

मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ॥

जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

मंगल व आचार यांहीं युक्त राहणारे, बाह्याभ्यंतर शुचिर्भूत असणारे, आणि जप व होम करणारे यांला देवता आणि मनुष्य यांपासून कोणताहि उपद्रव होत नाहीं.

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतंद्वितः ॥

तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥

वेदाकाली निरालस्य होताता प्रणवगायत्र्यादिक वेदाचाच नित्य अभ्यास करावा, कारण वेदाभ्यास करणें हा ब्राह्मणाचा श्रेष्ठ धर्म असें मन्वादिक ऋषि सांगतात. याहून जी अन्यधर्म तो निकट असा ऋषींनीं लटल आहे.

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ॥

अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

सतत वेदाभ्यास केल्याने, शुचिर्भूतपणाने, तपश्चर्येने, आणि कोणत्याहि प्रकारे पाण्याचा शोध न केल्याने पूर्वजातीचे स्मरण होतें.

पौर्विकीं संस्मरन् जार्ति ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ॥

ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनंतं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥

तदनंतर काय ते सांगतो— गत अशा बहुत जन्मांचे स्मरण करून त्या जन्मांचे ठायीं गर्भ, जन्म, जरा, मरण एतज्जन्य दुःखांचेहि स्मरण करित होत्ताता संसारांत विरक्त होऊन ब्रह्माचा अभ्यास करितो, व श्रवण, मनन, ध्यान यांहीं करून ब्रह्मसाक्षात्कार पावून त्यापासून अनंत, अविनाशि, परमानंदाविर्भाविलक्षण अशा मोक्षसुखाला पावतो.

सावित्रान् शांतिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः ॥

पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

सावित्रीदेवताक होम, आणि अनिष्टनिवृत्त्यर्थे शांतिहोम, पौर्णिमा व अमावास्या यांचे ठायीं नित्य करावे. तसेच मार्गशीर्षपौर्णिमेनंतर कृष्णपक्षातील तीन अष्टमी तिथींचे ठायीं अष्टकाख्य श्राद्धकर्म करून व कृष्णनवमीचे ठायीं अन्वष्टका श्राद्ध करून नित्य परलोकगत पितरांचे यजन करावे.

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ॥

उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

अभिगृहापासून दूरप्रदेशीं (बाणाचा टपापरिमित स्थल सोडून) मूत्रपुरीष, पादप्रक्षालन, उच्छिष्टान्न, वीर्यपात हीं सर्व करावीं.

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दंतधावनमंजनम् ॥

पूर्वाण्ह एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

पुरीषोत्सर्ग (विष्टात्याग), प्रसाधन (शृंगारादिक), प्रातःस्नान, दंतधावन, अंजन, देवपूजा हीं सर्व पूर्वाण्हकालीं (दिवसाच्या पूर्वभागीं) करावीं.

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ॥

ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरुनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

पाषाणमयदेवता, धार्मिक ब्राह्मण, राजा, पिता इत्यादिक गुरु यांचे दर्शन स्वात्म-संरक्षणार्थं पर्वदिवसीं करावे.

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ॥

कृतांजलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

आपल्या घरीं आलेले जे वृद्ध (गुरु) त्यांला नमस्कार करावा, त्यांला बसण्याकरितां आपले आसन द्यावे, हात जोडून गुरुच्या सन्निध सन्मुख उभे रहावे, चालायला लागले असतां त्यांच्या पाठीमागून आपणहि चालावे.

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ॥

धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतद्वितः ॥ १९५ ॥

वेद आणि स्मृतिशास्त्र या दोहोंनीं उत्तमप्रकारानें सांगितल्या व अध्ययनादिक स्वकर्मांचे ठायीं अंगत्वेकरून बद्ध केलेला जो साधूचा आचार तो धर्मास कारण आहे, यास्तव तो सदाचार निरालस्यपणानें सेवन करावा.

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीधिताः प्रजाः ॥

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हंत्यलक्षणम् ॥ १९६ ॥

आचारापासून वेदोक्त (शतायुर्वै पुरुष इत्यादि) आयुष्य; पुत्र, पौत्र कन्या इत्यादिक अभीष्ट संतति; आणि अक्षय्य संपत्ति; हीं प्राप्त होतात, व अशुभफलाचें सूचक असें जें देहस्य अलक्षण (निंद्य लक्षण) त्याचा नाश आचार करितो.

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निंदितः ॥

दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १९७ ॥

दुराचारी पुरुष लोकांत निंदा पावतो, आणि सर्वदा दुःखी व रोगी होऊन अल्पायु होतो. तस्मात् मनुष्यानें सदाचारसंपन्न असावें:

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्तरः ॥

श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १९८ ॥

जो मनुष्य सदाचारसंपन्न, श्रद्धायुक्त व दुसऱ्याचे दोष न बोलणारा तो शुभसूचक लक्षणांनीं जरी शून्य असेल तथापि शंभर वर्षे वांचतो.

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्वत्नेन वर्जयेत् ॥

यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १९९ ॥

जें जें कर्म पराधीन ह्मणजे दुसऱ्याजवळ याचना करून साध्य आहे तें तें कर्म यत्नें करून वर्ज्य करावें, आणि जें जें कर्म, आपल्या स्वाधीन जो देहव्यापार तेणेंकरून साध्य असें आत्मनिग्रहादिक तें तें मोठ्या यत्नानें करावें.

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ॥

एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ २०० ॥

याविषयीं कारण सांगतो— दुसऱ्याजवळ याचनादिक करून साध्य असें जें पराधीन कर्म तें दुःखास कारण आणि जें आपल्या स्वाधीन कर्म तें सुखास कारण, तस्मात् सुख व दुःख यांला कारण कर्म आहे असें समजावें.

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽंतरात्मनः ॥

तद्वत्तत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ २०१ ॥

जें कर्म आपण केलें असतां आपल्या अंतरात्म्याचा संतोष होईल तें कर्म यत्नेंकरून करीत, विपरीत (असंतोषकारक) करूं नये.

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ॥

न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

आचार्य ह्मणजे उपनयन करून वेद पढविणारा, वेदांचें व्याख्यान सांगणारा, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गाई, आणि सर्व तपस्वी यांतून कोणाएकालाहि मारूं नये.

नास्तिक्यं वेदनिंदां च देवतानां च कुत्सनम् ॥

द्वेषं दंभं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥

नास्तिकपणा (परलोक नाही असी बुद्धि), वेद व देवता यांची निंदा, द्वेष, दंभ, अभिमान, क्रोध, आणि क्रूरपणा हे सर्व टाकावे.

परस्य दंडं नोद्यच्छेकुद्धो नैव निपातयेत् ॥

अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्यार्थं ताडयेत्तु तौ ॥ १६४ ॥

कुद्ध होऊन दुसऱ्याला मारण्यासाठीं दंडादिक उक्तागारूं नये, आणि दुसऱ्याच्या शरीराला ताडन करूं नये. पुत्र आणि शिष्य या दोघांला तर शिक्षेसाठीं ताडन करावें.

ब्राह्मणायावगुर्येव द्विजातिर्वधकाम्यया ॥

शतं वर्षाणि तामिस्त्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हे वध करावा अशा इच्छेनें ब्राह्मणावर दंड इत्यादिक उजगारितील आणि जरी मारलें नाहीं तथापि ते तामिस्रादिक नरकांमध्ये शंभर वर्षेपर्यंत वास करितात.

ताडयित्वा तृणेनापि संरंभान्मतिपूर्वकम् ॥

एकविंशतिमा जाताः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

कोर्धेकरून बुद्धिपूर्वक ब्राह्मणाला नुसत्या तृणानें जरी ताडन करील तथापि तितक्यानें तो एकवीस जन्मपर्यंत कुत्रा इत्यादि पापयोनीं चें ठायीं जन्म पावतो.

अगुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगं ततः ॥

दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥

जर कोणी मनुष्य युद्ध न करणारा अशा ब्राह्मणाच्या अंगांतून मूर्खपणानें रुधिरस्त्राव उत्पन्न करील तर तो परलोकीं फार दुःख पावेल.

शोणितं यावतः पांसून् संगृह्णाति महीतलात् ॥

तावतोऽब्दानमुत्रत्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ १६८ ॥

तलवार इत्यादि शस्त्रांच्या प्रहारानें ब्राह्मणाच्या अंगांतून रुधिर निघून भूमीवर पडून तें जितुक्या धूलीचे रजःकण पिंडीभूत करितें तितकीं वर्षेपर्यंत रुधिर उत्पन्न करणाऱ्याला (प्रहार करणाऱ्याला) कुत्रे, कोल्हे इत्यादि क्रूर प्राणी भक्षण करितात.

न कदाचिद्विजे तस्माद्विद्वान्भवगुरेदपि ॥

न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्त्रावयेदसृक् ॥ १६९ ॥

या कारणास्तव ज्ञात्वा पुरुषाने ब्राह्मणाला मारण्याकरितां दंड उजगारूं नये, तृणानेहि ताडण करूं नये. व शरीरापासून रक्तस्त्राव हीं कदापि करूं नयेत.

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ॥

हिसारतश्च यो नित्यं मेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

जो मनुष्य अधार्मिक (अधर्माने व्यवहार करणारा), ज्या मनुष्याचे धन, व्यवहाराचे निर्णयांत खोटी साक्ष देऊन व लांब घेऊन संचित झालेले, आणि जो नित्य दुसऱ्यांची हिंसा करणारा यांला इहलोकीं सुख प्राप्त होत नाही.

न सीदन्नपि धर्मेण मनो धर्मे निवेशयेत् ॥

अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्निपर्ययम् ॥ १७१ ॥

शास्त्रविहित कर्म आचरण करीत असतां धनादिक नसल्या कारणाने जरी कष्ट पावेल तथापि अधर्माचे ठायीं कदापि बुद्धि करूं नये. कारण, अधर्माने व्यवहार करणारे आरंभापासून जरी धनादिक संपत्तीने भाग्यशाली दिसतात तथापि अधर्मरूप चोरादिकांचा व्यवहार करणारे असे जे त्यांची त्यांच्या धनादि संपत्तीचा शीघ्र नाश होतो असे पाहतो, तस्मात् अधर्माचे ठायीं बुद्धिनिवेश करूं नये असा विशेषकरून हिताकरितां प्रत्यक्ष दृष्ट अर्थ एथें दाखवितो.

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ॥

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृतति ॥ १७२ ॥

अधर्म शीघ्र फलरूप होत नाही, यास दृष्टांत. जसी गौ (पृथिवी) बीज पेरतांक्षणींच फल देत नाही, तर कालेकरून फल देते. अथवा गौ (पशु) जसा वाहनदोहनापासून शीघ्र फल देतो तसा अधर्म तत्काल फल देत नाही, तर कालांतराने देतो, ह्मणजे अधर्म करणाराचा नाश होतो, व हें फल अधर्माचे आहे असे जाणावे.

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नमृषु ॥

न त्वेवं तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥

जर अधर्म करणारास अधर्माचे (देहधनादिनाशरूप) फल प्राप्त झाले नाही, तर त्याचे पुत्रांस, प्राप्त होतें. पुत्रांसहि न प्राप्त झाल्यास पौत्रांस होतें. कर्त्याचा केलेला अधर्म कदापि निष्फल होत नाही. पुत्रादिकांचा नाश झाला असतां पित्याला जसे ह्मेश होतात, तद्वत् पित्याने केलेल्या अधर्माचे फल पुत्रपौत्रादिकांस प्राप्त होतें.

अधर्मेणैधते तावन्ततो भद्राणि पश्यति ॥

ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

परशोहादिक अधर्माने प्रथमतः ग्राम, धन इत्यादिकेकरून वृद्धि पावतो, तदनंतर कल्याणे ह्मणजे पुष्कळ सेवक, गाई, संपत्ति हीं प्राप्त होतात, नंतर आपणाहून दुर्बल अशा शत्रूलाहि जिंकितो; परंतु कित्येक दिवसांनीं अधर्मपरिपाकेकरून देह, धन, पुत्र, इत्यादिकांसहित आपण नाश पावतो.

सत्यधर्मायवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ॥

शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥

सत्य, धर्म, साधूंचा आचार, पवित्रता, यांचे ठायीं सार्वकाल प्रीति करावी; भार्या, पुत्र, दास, शिष्य या सर्वास रज्जु, अथवा बांबूची काठी यांहींकरून ताडन शिक्षेकरितां करावें; वाणी, बाहु, आणि उदर यांचा संयम करावा, ह्मणजे वाणीचा संयम सत्य भाषणानें होतो, बाहूच्या बलानें कोणाला पीडा न करणें तो बाहुसंयम होतो, जें अल्प स्वरूप मिळेल तें भोजन केल्यानें उदराचा संयम होतो.

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ॥

धर्मं चाप्यसुखोदकं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

धर्मविरोधी असे जे अर्थ व काम ते सर्वथा टाकावे; जसें चौर्यादिकानें द्रव्य मिळवणें, हे अर्थाविषयींचें उदाहरण. यज्ञदीक्षेच्या दिवसीं यजमानानें स्त्रीगमन करणें, हे कामाविषयीं उदाहरण, हे अर्थकाम धर्मविरुद्ध होत यास्तव त्यांचा त्याग करावा. जो आचरण केल्यानें पुढें दुःख होणार असा धर्म जरी असेल तथापि त्याचा त्याग करावा, जसीं कुटुंबाचीं पुत्रादिक बहुत मनुष्ये असतां सर्वस्वदान, हा धर्म होतो खरा परंतु पुढें यापासून दुःख होणारें आहे. वस्तुतः धर्म आहे खरा परंतु लोकविरुद्ध असल्यामुळे विद्यमानकालीं तो सुखकारक नाही असा जो त्याचाहि त्याग करावा, जसें, कलियुगामध्ये मध्यमाष्टकादिकांचेठायीं गोवधादिक करणें, इत्यादिक जाणावें.

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनुजुः ॥

न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥

अनुपयुक्त वस्तूंचें ग्रहण करणें तें पाणिचापल; निष्प्रयोजन भ्रमणादि करणें तें पादचापल; परस्त्री अवलोकन करणें तें नेत्रचापल; अतिनिब भाषण करणें तें वाक्चापल हीं सर्व वर्ज्य करावीं, कुटिलपणा धारण करू नये, दुसऱ्याची हिंसा घडेल असें कर्म व बुद्धि धारण करू नये.

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ॥

तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यते ॥ १७८ ॥

बहुत प्रकारचे शास्त्रार्थांचा संभव असतां आपले पितृपितामहादिकांनीं जो शास्त्रार्थ संगृहीत केला तोच आपण आचरण करावा. कारण, पितृपितामहादिकांनीं आचरित अशा मार्गानें जाणारा अधर्मी होत नाही.

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥

बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबंधिबांधवैः ॥ १७९ ॥

मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ॥

दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिथि, आश्रित, बाल, वृद्ध, आतुर (रोगी), वैद्य, ज्ञाति (पितृपक्ष), संबंधी (श्यालकादिक), बांधव (मातृपक्ष), माता, पिता, भगिनी सुना, भ्राता, पुत्र, भार्या, कन्या, आणि दासवर्ग यांच्याशीं कलह करूं नये.

एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

एभिर्जितैश्च जयति सर्वान् लोकानिमान् गृही ॥ १८१ ॥

हे जे ऋत्विक् इत्यादिक पूर्वोक्त यांच्याशीं जो गृहस्थ कलह वर्ज्य करितो तो सर्व अज्ञात पातकांपासून मुक्त होतो, आणि ह्या सर्वांशीं कलह वर्ज्य केल्यानें गृहस्थ हे (वक्ष्यमाण) लोक जिंकितो.

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ॥

अतिथिस्त्विद्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥

आचार्य ब्रह्मलोकाचा प्रभु आहे यास्तव त्याच्याशीं विवाद न केल्यानें त्याच्या संतोषद्वारा ब्रह्मलोकाची प्राप्ति होते, ह्मणजे ब्रह्मलोकाचे गौण आधिपत्य प्राप्त होतें; प्राजापत्य लोकाचा प्रभु पिता आहे; अतिथि इंद्र लोकाचा प्रभु; देव लोकाचा प्रभु ऋत्विज जाणावा.

यामर्योऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बांधवाः ॥

संबंधिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

अप्सरा लोकाचे प्रभु यामी (भगिनी, स्त्रुषा इ०); वैश्वदेव लोकाचे प्रभु बांधव; वरुण लोकाचे प्रभु संबंधी (श्यालकादिक); पृथिवी लोकाचे प्रभु माता व मातुल हे होत.

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ॥

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥

बाल, वृद्ध, कृश (आश्रित) आणि आतुर हे चार आकाश लोकाचे स्वामी होत; ज्येष्ठ भ्राता पित्याशीं समान आहे; यास्तव तो प्रजापति लोकाचा स्वामी; भार्या, पुत्र हे साक्षात् आपली तनु होत, याकरितां आपणासह कसा कलह संभवतो.

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता रूपणं परम् ॥

तस्मादेतैरधिष्ठितः सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

आपला दासवर्ग नित्य आपल्या अनुलक्षानें चालणारा असल्यामुळे तो आपल्या छायेसारखा आहे ह्मणून तो विवादास पात्र नाही. कन्या ही रूपापात्र आहे, तस्मात् या सर्वांनीं जरी दुरुचरांनीं अधिष्ठित (निर्भर्त्सित) केला तथापि क्रोध न करितां सर्वांचे सहन करावे, विवाद करूं नये.

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ॥

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

विद्या, तप, सदाचरण यांहींकरून युक्त असल्या कारणानें गृहस्थ दान घेण्याविषयीं जरी समर्थ आहे तथापि पुनः पुनः दानप्रसंग टाकावा. कारण, प्रतिग्रहेंकरून गृहस्थाचे वेदाध्ययनजन्य तेज शीघ्र नाश पावते.

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ॥

प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥

आपत्तिकालीं क्षुधेकरून जरी व्याकुळ होईल तथापि द्रव्यांच्या प्रतिग्रहाविषयीं धर्म्य (हितकारक) विधि, ग्राह्यवस्तूची देवता आणि दानाचे मंत्र इत्यादिकांविषयीं आपण अज्ञा-
णता असेल तर प्राज्ञपुरुषाने प्रतिग्रह घेऊं नये.

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम् ॥

प्रतिगृह्णन्विद्वांस्तु भस्मीभवति दासवत् ॥ १८८ ॥

अविद्वान् ब्राह्मण सुवर्ण, भूमि, अश्व, गाई, अन्न, वस्त्र, तिल आणि घृत यांतून को-
णत्या एका पदार्थाचा प्रतिग्रह करील तर अग्निसंयोगाने जसे काष्ठाचे भस्म होते, तद्वत्
त्याचे भस्म होतें.

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गोश्चाप्योषतस्तनुम् ॥

अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रज्ञाः ॥ १८९ ॥

सुवर्ण, आणि अन्न या दोहोंतून कोणत्याहि एका वस्तूचा प्रतिग्रह अविद्वान् ब्राह्मण
करील तर त्याचे आयुष्याचे दहन होतें, याप्रमाणेच गाई, व भूमि शरीराचे दहन करिता-
त. अश्व नेत्रांचा नाश करितो, वस्त्र त्वचेचा नाश करितें, घृत तेजाचा नाश करितें,
आणि तिल संततीचा नाश करितात.

अतपास्त्वनर्थायानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ॥

अंधस्यश्मश्रुवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

जो ब्राह्मण तपोविद्याशून्य असतां प्रतिग्रहाची इच्छा करितो तो, जसा पाषाणाच्या
नोकेंत तरणारा उदकांत बुडतो, तद्वत् दात्यासहवर्तमान नरकांत बुडतो.

तस्मादविद्वान् विभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ॥

स्वरूपकेनाप्यविद्वान् हि पंके गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥

चिखलांत जसी गाई कष्ट पावते तद्वत् अविद्वान् ब्राह्मण अल्पप्रतिग्रहेकरूनहि नरकांत
कष्ट पावतो, त्या कारणास्तव सुवर्णादिव्यतिरिक्त असे शिसे इत्यादिक हलक्या वस्तूच्याहि
प्रतिग्रहाविषयीं ब्राह्मणाने भीति धारण करावी.

न वार्यपिप्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ॥

न वक्रव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

दान घेणाराचे धर्म सांगून आतां दात्याचे धर्म सांगतो—धर्म जाणणाऱ्या पुरुषाने
वैडालव्रतिक, वक्रव्रतिक आणि वेदवेदार्थ न जाणणारा या तीन ब्राह्मणांला उदकाचेहि दान
करूं नये. येथे अविद्वानाचा जो निषेध सांगितला तो विद्वानाचा संभव असतां जाणावा

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ॥

दानुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

वैडालव्रतिक इत्यादिक तिघांला न्यायसंपादित धन दिलें असतांहि तें दाता आणि प्रतिग्रहीता यांला परलोकीं नरकाला कारण असल्यामुळें अनर्थकारक होतें.

यथोदुपेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ॥

तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

जसा पाषाणाच्या नौकेत वसून उदकांत तरणारा त्या नौकेसह खालीं बुडतो, तसा दान-प्रतिग्रहाचें शास्त्र न जाणणारा दाता व प्रतिग्रहीता हे नरकाप्रत जातात.

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छात्रिको लोकदंभकः ॥

वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसारकः ॥ १९५ ॥

धर्मध्वजी (जो बहुत लोकांच्या समक्ष धर्माचरण करितो आणि स्वतः अथवा लोकां-कडून जगांत प्रख्याति करवितो त्याचा धर्म तो ध्वजासारखा आहे ह्मणून त्याला धर्मध्वजी ह्मणतात), लुब्ध (पराधनाभिलाषुक), छात्रिक (इष्टसिद्धीसाठीं वास्तविक अर्थ गुप्त ठेवून अर्थांतर दाखविणारा), लोकदंभक (ठेवी इत्यादिकांचा अपहार करून लोकांशीं वंचना करणारा), हिंसाशील, परगुणांच्या असहनत्वेकरून सर्वांची निंदा करणारा असा जो तो वैडालव्रतिक जाणावा.

अधोदृष्टिर्नैष्ठिकः स्वार्थसाधनतत्परः ॥

शठो मिथ्याविनीतश्च वक्रव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

आपला नम्रपणा प्रसिद्ध होण्यासाठीं सतत खालींच पाहणारा, निर्दय, स्वकीय अर्थाच्या साधनाविषयीं तत्पर, वक्र, मिथ्या नम्रतेनें राहणारा, असा जो ब्राह्मण तो वक्रव्रतिक ह्मणजे वक्रव्रत आचरण करणारा ह्मणला आहे, वक्रपक्षी बहुधा मत्स्यांला मारण्याकरितां मिथ्यानम्रपणानें राहणारा असतो.

ये वक्रव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः ॥

ते पतंत्यंधतामिस्त्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥

वक्रव्रत आणि विडालव्रत आचरण करणारे ब्राह्मण ते पापांला कारण अशा आपापल्या कर्मानें अंधतामिस्त्रनामक नरकाचे ठायीं पतन पावतात.

न धर्मस्योपदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥

व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदंभनम् ॥ १९८ ॥

पाप करून धर्माच्या मिषानें व्रत ह्मणजे प्रायश्चित्तरूप प्राज्ञापत्यादि व्रत आचरण करून पाप घालविणें, हें प्रायश्चित्त नव्हे, तर तें, धर्मासाठीं मी हें आचरण करितों अस स्त्रिया, शूद्र, मूर्ख इत्यादिक जनांला मोह उत्पन्न करण्यासाठीं करितो.

प्रेत्य चेहेदृशा विप्रा गच्छन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥

उद्यना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥

वेदवेत्ते पुरुष इहलोकीं आणि परलोकीं अशा ब्राह्मणांची निंदा करितात. कपटे-
करून व्रत केले ते राक्षसांला प्राप्त होतें, तस्मात् कपटयुक्त व्रत करूं नये.

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ॥

स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥

जो ब्राह्मण आपण ब्रह्मचारी नसून ब्रह्मचाऱ्याचें चिन्ह (ह्मणजे मेखलाजिनदंडादि-
वेष) धारण करून त्याच्या भिक्षाश्रमणादि वृत्तीकरून उपजीविका करितो तो, ब्रह्मचारी
इत्यादिकांचें पाप आपणावर घेतो, व तेणेंकरून कुकुर (कुत्रा) इत्यादिक तिर्यक्
योनीचे ठायीं जातो. तस्मात् हे करूं नये असा निषेध कल्पित होतो. याप्रमाणें सर्व आ-
श्रमाविषयीं जाणावें.

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ॥

निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥

परकीय (परक्याच्या) अशा पुष्करिणी, विहिरी इत्यादिक जलाशयांचे ठायीं कदा-
पि स्नान करूं नये, स्नान केलें असतां पुष्करिण्यादिकर्त्यांचें जें पाप त्याच्या चतुर्थांशानें
स्नानकर्ता लिप्त होतो, अकृत्रिम नदी नसेल तर परकीय पुष्करिणीतून पूर्वी पांच मृत्तिकेचे
देकूळ काढून टाकून स्नान करावें, व देवपितरांचें तर्पणहि करावें.

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ॥

अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

अदत्त असीं परकीय यानें, शय्या, आसनें, कूप, बाग, मंदिरे यांचा उपभोग कर-
णारा कर्त्याचे चतुर्थांश पातकाचा विभागी होतो. सर्व लोकांकरितां ह्मणून ज्या धर्म-
शाळा, विहिरी, पुष्करिणी, मठ, इत्यादिक स्वसत्तानिवृत्तिपूर्वक केलेल्या तद्विषयक हा
निषेध नाही.

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ॥

स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्त्रवणेषु च ॥ २०३ ॥

नदी, देवतांनीं केलेले तलाव, सरोवरे, गर्त (चार हातांचें धनुष्य, असीं आठ हजार
धनुष्ये ज्यांची गति नाही ते गर्त), आणि निर्झर यांचे ठायीं नित्य स्नान करावें. ह्या
वचनेंकरून परकीय कूपादिकांचा निषेध सिद्ध झाला असतां जें पृथक् वचन सांगितलें ते
स्वकीय कूपादिक असेल किंवा सर्व प्राण्यांसाठीं उत्सर्ग केलेला असेल तर त्याचे ठायीं
स्नान करण्याची जी आज्ञा आहे तीहि नदी इत्यादिकांचा अभाव असतां जाणावी.

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ॥

यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ २०४ ॥

ज्ञात्या पुरुषानें ब्रह्मचर्य, दया, क्षांति (सहन करणें), ध्यान, सत्य, निष्पापता, अहिंसा,
अस्तेय, माधुर्य, आणि दम हे दहा यम होत, हे नित्य धारण करावे आणि स्नान, मौन,

उपवास, पूजा, वेदपाठ, इंद्रियनिग्रह, गुरुसेवा, पवित्रता, अक्रोध, कार्यानुसंधान हे नियम होत; हे सेवन करून यमांचें सेवन न करील तर तो पातित्य पावतो; याकरितां नियमांचें उल्लंघन करूनहि यमांचें सेवन करावें.

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ॥

स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुंजीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥

वेदाध्ययन न केलेल्या यजमानानें आरंभलेल्या यज्ञांत अग्नीषोमीय कर्मानंतरहि भोजन-योग्यसमयीं ब्राह्मणानें भोजन करूं नये. ग्रामयाजक (बहुतांचे घरीं यजन करणारा), स्त्रिया, नपुंसक यांच्या यज्ञामध्ये ब्राह्मणानें कदापि भोजन करूं नये.

अश्वीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः॥

प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

ग्रामयाजी इत्यादिक पूर्वोक्त जेथें होम करितात ते कर्म शिष्टांला संपत्तिनाशक होतें आणि देवांला प्रतिकूल होतें याकरितां ग्रामयाजी इत्यादिकांचा होम करूं नये.

मत्तकुट्टातुराणां च न भुंजीत कदाचन ॥

केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥

मत्त, कुट्ट, रोगी यांचें अन्न भक्षण करूं नये. केश, कीट यांच्या संसर्गानें दुष्ट झालेले व बुद्धिपूर्वक पायांनीं स्पृष्ट झालेले अन्न भक्षण करूं नये.

भ्रूणघ्रावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ॥

पतत्रिणावलीढं च शुना सस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

गर्भहत्या, गोहत्या करणारे इत्यादिक पतित यांनीं अवलोकन केलेलें; रजस्वला, पक्षी, कुत्रा, यांहीं स्पर्श केलेलें अन्न भक्षण करूं नये.

गवा चान्नमुपाघ्रातं घृष्टान्नं च विशेषतः ॥

गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥

गार्डनें अवघ्राण केलेलें, कोण भोजन करणारा आहे असें उच्चस्वरानें बोलून यज्ञादिकांत दिलेले अन्न, शठ ब्राह्मणांचे समुदायाचें अन्न आणि वेश्येचें अन्न हीं अन्न पंडितांस निंदित होत, तस्मात् तीं भक्षण करूं नयेत.

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ॥

दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

चार, गायक, सुतार, व्याजबध्नां उपजीविका करणारा, कृपण, पायांत बिडी घातलेला यांचें अन्न भक्षण करूं नये. आणि यज्ञदीक्षाधारण केलेल्याचें अन्न अग्नीषोमीय कर्माच्या पूर्वी भक्षण करूं नये.

अभिशस्तस्य षंडस्य पुंश्चल्या दांभिकस्य च ॥

शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥

महापातकरूप लोकापवादाने दूषित झालेला, नपुंसक, जारिणी आणि दांभिक ह्यणजे कपटाने धर्माचरण करणारा बैडालव्रती इत्यादिकांच्या योगाने आंघट झालेले अन्न भक्षण करू नये. आणि स्वभावतः मधुर असून दही इत्यादिकांच्या योगाने आंघट झालेले अन्न भक्षण करू नये. पर्युषित (एक रात्र गेलेले) अन्न, शूद्राच हेही भक्षण करू नये. भोजन करून शेष राहिलेले अन्न कोणाचेही भक्षण करू नये. गुरूचे उच्छिष्ट भक्षण करावे. शूद्राने भोजन करून स्थालीत अवशेष राहिलेले अन्नहि भक्षण करू नये असे गोविंदराज सांगतो.

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥

उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्यायांतमहर्निशम् ॥ २१२ ॥

वैद्य, मांसविक्रयाकरिता मृगादि पशु मारणारा, वक्रस्वभावी, उच्छिष्ट भोजन करणारा आणि उग्र (शूद्रीचेठायीं क्षत्रियापासून झालेला), यांचे अन्न भक्षण करू नये. सूतिकेकरिता केलेले अन्न व एका पंक्तीत भोजनाला बसले असता त्यांचा अपमान करून भोजन करून कोणी एकाने भोजनाचे समाप्तीचे आचमन केले त्या वेळचे अन्न आणि सूतिकाच ही भक्षण करू नयेत.

अर्नचितं वृथा मांसमवीरायाश्च योषितः ॥

द्विषदन्नं नगर्थन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥

पूजेला जो योग्य त्याचा अनादर करून दिलेले अन्न; देवता इत्यादिकांला न दिलेले मांस; पतिपुत्ररहित स्त्रीचे अन्न; शत्रु, नगरी, पतित या सर्वांचे अन्न; शिंका पडलेले अन्न ही भक्षण करू नये.

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ॥

शैलूषतुन्नवापान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

दुर्जन, अतिशय मिथ्यावादी, क्रतूचा विक्रय करणारा (मी यज्ञ केला आहे याचे फल तुझाला देतो असे सांगून द्रव्य घेणारा), नट, शिंपी, आणि कृतघ्न यांचे अन्न भक्षण करू नये.

कर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्य च ॥

सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

लोखंड करणारा, निषाद, रंगारी, सोनार, बुद्ध, लोखंड विकणारा यांचे अन्न भक्षण करू नये.

श्ववतां शौडिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ॥

रंजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

शिकारीसाठी कुत्रे पाळणारे, मद्याचा विक्रय करणारे, रंजक, निर्दय, कुसुंभादिक रंग वस्त्रांला देणारा, आणि स्त्रियेने पतीच्या न कळत ज्याच्या गृही जार ठेवलेला असा गृहस्वामी यांच्या गृही भोजन करू नये.

मृष्यति ये चोपपत्तिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ॥

अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

स्त्रियांचे जार गृहीं सहन करणारे, स्त्रियांनीं जिकलेले, यांचें अन्न भक्षण करूं नये. मरणदिवसापासून दहा दिवस न गेलेले असें सूतकान्न, आणि जें संतोष उत्पन्न न करणारें असें अन्न हीं भक्षण करूं नयेत.

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ॥

आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मवर्कतिनः ॥ २१८ ॥

राजा, शूद्र, सोनार, चर्मकार यांचें अन्न क्रमेंकरून तेज, ब्रह्मवर्चस, आयुष्य आणि यश यांचा नाश करितें. येथें दोषदर्शन केलें यावरून तें तें अन्न भक्षण करूं नये असा निषेध कल्पित होतो.

कास्तकान्नं प्रजां हंति बलं निर्णेजकस्य च ॥

गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृतंति ॥ २१९ ॥

कास्तक (सूपकारादिकं क्षणजे डाळी करणारे इ०), रजक यांचें अन्न क्रमेंकरून संतति, बल यांचा नाश करितें. शठ ब्राह्मणसमुदाय, वेश्या यांचें अन्न, अन्यकर्मापासून संपादित जे स्वर्गादि लोक यांपासून आकर्षण करितें.

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ॥

विष्टा वार्षुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २२० ॥

वैद्यांचें अन्न पूयसमान, जारिणींचें अन्न रेतसमान, वार्षुषिकांचें (व्याजानें उपजीविका करणारांचें) अन्न विष्टासमान, आणि शस्त्रविक्रय करणारांचें अन्न मलसमान जाणावें.

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ॥

तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदंत्यन्नं मनीषिणः ॥ २२१ ॥

प्रतिपदव्यतिरिक्त जे सर्व क्रमेंकरून अभोज्यान्न (ज्यांचें अन्न भोजनाला योग्य नाही ते) येथें सांगितले त्यांचें अन्न त्वचा, अस्थि, रोम एतसमान होय, क्षणजे तद्भक्षणांनं त्वचा इत्यादिक भक्षणाचा दोष प्राप्त होतो असें पंडित सांगतात.

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं ग्रहम् ॥

मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ २२२ ॥

यांतून कोणाचेंहि अन्न न जाणून भक्षण करील तर तीन दिवस उपवास करावा, आणि बृद्धिपूर्वक भक्षण करील तर वक्ष्यमाण कृच्छ्रव्रत करावें. रेत, विष्टा, मूत्र भक्षण असतां हि पृथक् पृथक् हेंच व्रत करावें.

नादाच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ॥

आददीताममेवास्यादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥

शास्त्रवेत्या ब्राह्मणाने श्रद्धादिपंचयज्ञाविरहित शूद्रांचे पक्कान् भक्षण करूं नये, कदाचित् गृहीं अन्न नसेल तर एकरात्र निर्वाहाला पुरेल इतके आमन्न त्यापासून घ्यावे, परंतु पक्कान् घेऊं नये.

श्रोत्रियस्य कर्दयस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ॥

मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥

श्रोत्रिय व कृपण, दाता व वार्धुषि (व्याजावर जीवन करणारा), या दोहोंच्या गुणदोषांचा विचार करून या उभयतांचे अन्न तुल्य आहे असें देव सांगते शाले; कारण दोहोंचे गुणदोष समसमान आहेत.

तान् प्रजापतिराहेत्य मा कृध्वं विषमं समम् ॥

श्रद्धापूर्तं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥

ब्रह्मदेव त्या देवांप्रत येऊन सांगतो कीं, विषम अन्न सम करूं नका; कारण, विषमाला सम करणें हें अनुचित. दानशील वार्धुषिकाचे अन्न श्रद्धेने पवित्र होतें, व कृपणाचे अन्न अश्रद्धेच्या योगाने दूषित होतें.

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतद्वितः ॥

श्रद्धाकृते ह्यक्षयेते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

यास्तव इष्ट ह्यणजे यज्ञादिक आणि पूर्त ह्यणजे पुष्करिणी, कूप, वापी, आराम इत्यादिक हीं सर्व निरालस होऊन नित्य निष्कामत्वेकरून श्रद्धापुरःसर करावीं, कारण तीं इष्टापूर्तकर्म न्यायसंपादित ह्याने श्रद्धापुरःसर केलीं असतां तीं मोक्षफल देणारीं होतात.

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ॥

परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥

दाननामक धर्म, अंतर्वेदीचेठायीं कर्तव्य यज्ञादिक, बहिर्वेदीचेठायीं कर्तव्य वापीकूपारामादिक, हीं सर्व नित्य विदातपोयुक्त ब्राह्मण पाहून संतोषकारक अंतःकरणेकरून यज्ञाशक्ति करावी.

यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया ॥

उत्पत्स्यते हि यत्पात्रं तत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

असूयेविरहित ह्यणजे गुणामध्ये दोष प्रकट केल्यावांचून याचना करणाऱ्याला अन्न-हि यथाशक्ति द्यावे; कारण, नित्य दान करणाराला कदाचित् समयीं असाहि पात्रभूत याचक प्राप्त होईल कीं, तो सर्व नरकापासून दात्याचा उद्धार करील.

वारिदस्तुमिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ॥

तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुस्तमम् ॥ २२९ ॥

उदकदान करणारा तृप्ति पावतो, अन्नदान करणारा अक्षय्य सुख पावतो, तिलदान करणारा इष्टसंतति पावतो, ब्राह्मण इत्यादिकांच्या गृही दीप लावणारा निर्दोष चक्षु पावतो.

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ॥

गृहदोऽप्याणि वेश्मनानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

भूमिदानकर्ता भुमीचै अधिपत्य पावतो, सुवर्णदानकर्ता चिरंजीवित्व पावतो, गृहदानकर्ता श्रेष्ठ मंदिरांत पावतो, रूप्यदानकर्ता सर्व लोकांचे नेत्रांत मनोहर अशा रूपांत पावतो.

वासोदश्वदसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ॥

अनहुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

वस्त्रदानकर्ता, चंद्रसमान लोकांत पावतो, झणजे चंद्रासारखा ऐश्वर्यवान् होतो, अश्वदानकर्ता अश्विनीकुमारांसारखा संपत्तिमान् होतो, वृषभदानकर्ता प्रचुर संपत्ति पावतो, गोदानकर्ता सूर्यलोकांत पावतो.

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ॥

धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्द्धताम् ॥ २३२ ॥

रथादिक वाहनै, शय्या यांचे दानकर्ता भार्येत पावतो. अमय देणारा, झणजे प्राण्यांची हिंसा न करणारा प्रमुख पावतो, धान्यदानकर्ता चिरकाल सुखी होतो, वेदांचे अध्यापन व व्याख्या सांगणारा ब्रह्मलोकसमान गतीत पावतो.

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ॥

वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकांचनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

उदक, अन्न, गाई, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण आणि घृत इत्यादि सर्व पदार्थांच्या दानाहून वेदांचे (अध्यापनादि) दान श्रेष्ठ आहे.

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ॥

तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

ज्या ज्या सकाम अथवा निष्काम अभिप्रायाने दान देतो त्या त्या भावेकरून युक्त होत्साता त्या दानाच्या फलद्वाराने जन्मांतरी पूजित होत्साता पावतो.

योऽचितं प्रतिगृह्णाति ददात्यचितमेव च ॥

तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥

जो दाता पूजापूर्वक दान करितो आणि जो प्रतिग्रहीता पूजापूर्वक दान घेतो ते दोघे स्वर्गाप्रत जातात. पूजाव्यतिरिक्त दान दिले व घेतले असतां दोघे नरकाप्रत जातात, तस्मात् पूजेविरहित दानप्रतिग्रह निषिद्ध होत असे जाणावे.

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्टा च नानृतम् ॥

नार्तोप्यवदेद्विप्रास्मदत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

चांद्रायणादि तपश्चर्या करून 'कसी मी ही दुष्कर आचरण केली' असा गर्व करू नये. याग करून असत्य भाषण करू नये. ब्राह्मणांनीं जरी पीडला तथापि त्यांची निंदा करू नये. गाई इत्यादिकांचें दान केलें असतां 'मी हें अमुक दान अमक्याला दिलें' असें दुसऱ्याला सांगू नये.

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ॥

आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥

अनृतभाषणानें यज्ञाचा नाश होतो, गर्वानें तपश्चर्येचा नाश होतो, ब्राह्मणाच्या निंदेनें आयुष्याचा क्षय होतो, आणि दुसऱ्याला सांगितल्यानें दानाचा नाश होतो.

धर्म शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुस्तिकाः ॥

परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्वपीडयन् ॥ २३८ ॥

कोणत्याहि प्राण्याला पीडा केल्यावांचून परलोकीं सहाय होण्याकरितां यथाशक्ति हळू हळू धर्म आचरण करावा. जशा पिपीलिका हळूहळू मातीचे सूक्ष्म रजःकण एकत्र करून मोठें वारूळ बांधितात. हा धर्मसंग्रह परलोकीं सहाय करणारा आहे.

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ॥

न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

पिता, माता, पुत्र, स्त्री, ज्ञाति, यांतून कोणीहि परलोकीं सहाय करणारा नाही, तर एक धर्म मात्र उपकार करणारा होतो, याकरितां पुत्रादिकांहूनहि मोठा उपकार करणारा जो धर्म तो करावा.

एकः प्रजायते जंतुरेक एव प्रलीयते ॥

एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

प्राणी एकठाच उत्पन्न होतो, बांधवांसहित उत्पन्न होत नाही. एकठाच मृत होतो, पुण्याचें फल स्वर्गादिक व पापाचें फल नरकादिक हीं एकठाच भोगतो, पिता माता इत्यादिकांसह भोगीत नाही, तस्मात् पिता, माता इत्यादिकांनीं अनुज्ञात असतांहि धर्मत्याग करू नये.

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ॥

विमुखा बांधवा यांति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

मन, प्राण इत्यादिकांनीं टाकलेले अतएव काष्ठ व मातीचें ढेकूळ यांसारखें अचेतन शरीर भूमीवर टाकून बांधव विमुख होतात जातात, मृत झालेल्या प्राण्याचे मागून जात नाहीत, धर्ममात्र त्याच्यासह जातो.

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ॥

धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

याकरितां सहायभूत अशा धर्मेकरूनच मनुष्य नरकादि दुःखापासून तरतो, यास्तव आपणास परलोकीं सहायकारक असा धर्म निरंतर आचरण करावा.

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ॥

परलोकं नयत्याशु भस्वंतं त्वंशरीरिणम् ॥ २४३ ॥

प्राजापत्यादि तपोरूप प्रायश्चित्ताने नष्ट झालीं आहेत पातके ज्याची अशा धर्मप्रधान पुरुषाला एक धर्मच ब्रह्मस्वर्गादिरूप परलोकाप्रत नेतो, ह्मणजे धर्मकरून ब्रह्मस्वरूपात पावतो, तस्मात् धर्म आचरण करावा.

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबंधानाचरेत्सह ॥

निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

स्वकीय कुलाचा उत्कर्ष व्हावा अशी ज्याला इच्छा असेल त्याने विद्या, आचार, आणि जन्मादिक याहीकरून जे उत्कृष्ट असतील त्यांच्याशी सर्वदा कन्यादानादिक संबंध करावे, अधमसंबंधाचा त्याग करावा. उत्तमांचे विधान केले इतक्यानेच अधमपरित्याग सिद्ध असतां अधमाचा त्याग करावा असे जे कंठरवाने सांगितले ते उत्तमांचा असंभव असतां आपणाशी जे तुल्य असतील त्यांच्याशी करावा अशा अनुमोदनाकरितां जाणावे.

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् ॥

ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥

हीन हीन कुलांशीं संबंध वर्ज्य करून उत्तमोत्तम कुळांशीं संबंध करणारा ब्राह्मण श्रेष्ठत्वाला पावतो, आणि हीनांशीं संबंध करणारा जातीच्या अपकर्षत्वेकरून शूद्रत्वतेला पावतो.

दृढकारी मृदुर्दातः क्रूराचारैरसंवसन् ॥

अहिंस्तो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥

आरंभलेल्या कार्याची समाप्ति करणारा; अनिष्टुर; शीतोष्ण, सुखदुःख सहन करणारा; क्रूराचार पुरुषांशीं संबंध सोडणारा; हिंसा न करणारा; इन्द्रियदमन आणि दान यांत करणारा स्वर्गाप्रत पावतो.

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ॥

सर्वतः प्रतिगृण्हीयान्मव्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥

काष्ठे, उदक, फल, मूल, मध, अन्न, अमयदक्षिणा हे पदार्थ याचनेवांचून मिळतील तर ते, व्यभिचारिणी, नपुंसक, पतित, शत्रु हे वर्ज्य करून इतर सर्वांपासून (शूद्रादिकांपासूनहि) व्यावे.

आतृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ॥

मेने प्रजापतिग्रीह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

घेणाराने आपण अथवा दुसऱ्याकडून न मागितलेली व दात्यानेहि ही तुला देईन अशी पूर्वी कथन न केलेली आणि घेणाराचे समीप आणून ठेवलेली, याचनेवांचून प्राप्त झालेली असी (सिद्धांतव्यतिरिक्त) सुवर्णादि भिक्षा (पतित वर्ज्य करून) पाण्यापासूनहि व्यावी असे ब्रह्मदेव सांगता झाला.

नाभंति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पंच च ॥

न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥

पूर्वोक्त प्रकारची भिक्षा जो ग्रहण करीत नाही, त्याने श्राद्धी दिलेलें कव्य पंधरा वर्षे-पर्यंत पितर भक्षण करीत नाहीत, आणि यज्ञामध्ये दिलेलें पुरोडाशादिक अग्नि ग्रहण करीत नाही.

शय्यां गृहान् कुशान् गंधानपः पुष्पं मणीनपि ॥

धाना मत्स्यान् पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥ २५० ॥

शय्या, गृह, कुश, कर्पूरादिक सुगंध पदार्थ, उदक, पुष्पे, मणि, दही, भजित तांदूळ, मत्स्य, दूध, मांस, आणि शाक हे पदार्थ याचनेवांचून दात्याने दिले असतां ते टाकू नयेत.

गुरुन् भृत्यांश्चोद्भिजहीर्षन् अर्चिष्यन्देवतातिथीन् ॥

सर्वतः प्रतिगृणीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

माता, पिता इत्यादिक गुरु; सेवक आणि भार्यादिक हे क्षुधेने पीडित होतील तर यांचा उद्धार (पोषण) करण्याची इच्छा करणारा याने पतितादिक वर्ज्य करून असाधूंपासून हि धन ग्रहण करावे, पण त्या द्रव्येकरून आपली उपजीविका करू नये.

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ॥

आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृणीयात्साधुतः सदा ॥ २५२ ॥

माता, पिता इत्यादिक वडील मृत असतील अथवा ते जीवंत असतांही त्यांना सोडून दुसऱ्या गृही राहणारा असेल तर त्याने आपल्या उपजीविकेकरितां सर्वदा साधुलोकांपासून धनग्रहण करावे.

आर्थिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ॥

एते शूत्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥

जो शूद्र ज्याचे कृषिकर्म करितो त्या शूद्राचे अन्न त्याला भोजन करण्यास योग्य आहे. आपल्या कुलाचा मित्र, गोपाल, नापित, आणि आत्मनिवेदन हणजे मी दुर्गति आहे, तुमची सेवा करून तुमच्या जवळ वास करीन असे हणून राहणारा शूद्र या सर्वांचे अन्न ग्रहण करण्यास योग्य आहे.

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ॥

यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

शूद्राने आत्मनिवेदन करावे कसे ते सांगतो—ज्या शूद्राचे कुल, शील इत्यादिक करून जसे स्वरूप, आणि जे त्याला इष्ट कर्म करावयाचे असेल ते, व ज्या प्रकाराने सेवा करणे असेल तो प्रकार, या रीतीने शूद्राने आत्मनिवेदन करावे.

योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ॥

स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २९५ ॥

जो कोणी मनुष्य साधूंचेठायीं कुल, शील इत्यादिकांनीं आपणाला छपवितो लणजे जसा आपण आहे तसे सांगत नाही तो लोकांमध्ये मोठा पापी होत्साता चोर आहे, लणजे आपल्या आत्म्याला त्याने चोरले आहे. इतर चोर कोणती एखादी वस्तु चोरतो, आणि याने तर सर्वप्रधान आत्म्यालाच चोरले असे होतें.

वाच्यर्थी नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ॥

तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेनरुन्नरः ॥ २९६ ॥

नितके अर्थ आहेत ते सर्व वाणी लणजे शब्द यांचे ठायीं वाच्यत्वेंकरून नियत होत, आणि त्या शब्दांचें मूल वाणी आहे. ते शब्द वाणीपासून उत्पन्न होतात यास्तव जो पुरुष वाणी चोरितो तो सर्व अर्थांचा चोरी करणारा असा होतो.

महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि ॥

पुत्रे सर्वे समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २९७ ॥

गृहस्थालाच संन्यासाचा प्रकार सांगतो—महर्षि, पितर, देव या तिघांचा ऋणी गृहस्थाश्रमी आहे यास्तव वेदपाठेंकरून ऋषींच्या ऋणापासून, पुत्रोत्पादनाने पितृऋणापासून, यज्ञ करून देवऋणापासून मुक्त होऊन सर्वकुटुंबचिंताभार योग्य पुत्राचे ठायीं ठेवून मध्यस्थ (पुत्र, स्त्री, धन इत्यादिकांची ममता सोडून ब्रह्मबुद्धीकरून सर्वत्र समदर्शन) होऊन गृहाचेठायीं वास करावा.

एकाकी चिंतयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ॥

एकाकी चिंतयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २९८ ॥

पुत्राकडून उपजीविका पावणारा एकाकी असा एकांती (निर्जनप्रदेशी) स्थित होत्साता आत्म्याचें हित लणजे वेदांतशास्त्राने सांगितलेला जो जीवाचा ब्रह्मभाव त्याचा सार्वकाल निचार करावा; कारण, एकाकी तसे ध्यान करणारास ब्रह्मसाक्षात्कार होऊन मोक्षलक्षण उत्तम श्रेय प्राप्त होतें.

स्फोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ॥

स्नातकव्रतकल्पश्च सत्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २९९ ॥

याप्रमाणे गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणाचीहि ऋतादिक वृत्ति नित्य सांगितली, आणि सत्वगुणाची वृद्धि करणारा असा उत्तम स्नातकव्रतांचा विधिहि सांगितला. आपत्तिकाळीन वृत्ति पुढें सांगेल.

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित् ॥

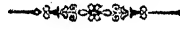
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३०० ॥

जो वेदशास्त्र जाणणारा ब्राह्मण या शास्त्रांत सांगितलेल्या आचारानें चालतो तो नि-
त्यकर्मानुष्ठानें करून क्षीणपाप होताता ब्रह्मज्ञानाच्या उत्कर्षानें ब्रह्मलोकाचे ठायीं ली-
न होतो.

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रस्य महाराष्ट्रीयभाषायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अध्याय पांचवा.



गृहस्थाश्रम, भाग तिसरा.

भक्ष्याभक्ष पदार्थ, आशौच आणि स्त्रियांचे धर्म इत्यादि.

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् स्नातकस्य यथोदिताम् ॥

इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

ऋषींनीं याप्रमाणें स्नातकाचे यथोक्त धर्म श्रवण करून अग्नीपासून उत्पन्न झालेले जे
महात्मा भृगु त्यांप्रत हें (वक्ष्यमाण) विचारिते झाले. (येथें असी शंका आहे कीं, प्रथ-
माध्यायीं मनुपासून भृगूची उत्पत्ति सांगितली आणि एथें अग्नीपासूनहि उत्पन्न झालेला असें
सांगितलें हें कसें? याचा निर्णय असा आहे कीं, कोणत्या एका कल्पामध्ये भृगु
अग्नीपासूनहि उत्पन्न झालेला आहे असें ऋषींनीं जाणून तसें विशेषण दिलें.)

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥

कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

हे प्रभो, याप्रमाणें यथाविधि स्वधर्माचरण करणारे व वेदशास्त्रांत जाणणारे अशा
ब्राह्मणांना वेदोक्त (शतायुः पुरुषः) आयुष्याच्या पूर्वी कसा मृत्यु प्राप्त होतो. सर्व संशय
निरसन करण्याविषयी भृगु समर्थ आहे लणून त्याला 'प्रभो' असें संबोधन ऋषी-
ंनी दिलें.

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ॥

श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ३ ॥

मनुचा पुत्र धर्मात्मा तो भृगु त्या महर्षीला असें बोलतो कीं, मृत्यु ज्या दोषें करून
अल्पकालीं ब्राह्मणांना मारण्याविषयी इच्छितो, तो दोष मी तुझाला सांगतो, श्रवण
करा.

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ॥

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ४ ॥

वेदाचा अभ्यास न करणें, आपला आचार टाकणें, सामर्थ्य असतां अवश्य कर्तव्य उद्योग आळसानें न करणें आणि सदोष अन्न भक्षण करणें यांहींकरून मृत्यु ब्राह्मणाला मारण्याविषयीं इच्छितो.

लशुनं गृजनं चैव पलांडुं कवकानि च ॥

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ९ ॥

लसूण, गाजरें, पलांडु (स्यूलकंदशाक), छत्राक, आणि अपवित्र पदार्थांपासून (विष्टादिकांपासून) उत्पन्न झालेलीं तंदुलीय इत्यादिक हीं द्विजातींला (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांला) अभक्ष्य जाणावीं.

लोहितान् वृक्षनिर्यासान् वृश्चनप्रभवांस्तथा ॥

शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

स्वामाविक उत्पन्न झालेले व छेदापासून झालेले वृक्षांचे तांबडे डीक, भोंकरांचीं फळे, नूतन व्यालेल्या गाईंचें दहा दिवसांच्या आंतील दूध (सर्वस), हीं अवश्य वर्ज्य करावीं.

वृथा कृसरसंयावपायसापूपमेव च ॥

अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

वृथा (देवतोद्देशविरहित) कृसर (तिलमिश्रित भात), संयाव (दूध, गूळ व कणीक एतत्सिद्ध पदार्थविशेष), क्षीर, अपूप, मंत्रेंकरून अभिमंत्रित न केलेल्या पशूंचीं मांस, आणि देवाला समर्पण केलेलीं अन्नं अभक्ष्य जाणावीं.

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ॥

आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

नूतन प्रसवलेल्या गाईंचें दहा दिवसांचे आंतील दूध; उंट, एकशफ (अश्व इत्यादिक), मेंढी आणि बैलानें मैथुनार्थ आक्रमिलेली गाई यांचें दूध भक्षण करूं नये.

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ॥

स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥

महिषावांचून हत्ती इत्यादिक सर्व आरण्यक पशु, स्त्रिया, यांचें दुग्ध भक्षण करूं नये, सर्व प्रकारचीं शुक्त ह्मणजे स्वभावतः मधुर असून कांहीं कालांतरानें व उदकादिक पदार्थांनीं आवट झालेले रस हे सर्व वर्ज्य करावे.

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ॥

यानि चैवाभिवृण्यन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

शुक्रपैकीं दही, ताक इत्यादि भक्षण करावीं, व उदकापासून होणारीं असून विकार न करणारीं कंद, मूल, फळे भक्षण करावीं.

क्रव्यादान् शकुनान् सर्वान् तथा ग्रामनिवासिनः ॥

अनिर्दिष्टाश्चैकशफांष्टिष्टिभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

कर्चें मांस भक्षण करणारे गीध इत्यादिक पक्षी, ग्रामांत राहणारे असे पारवे इत्यादिक, भक्ष्यत्वेकरून न सांगितले असे एकशफ ह्मणजे गर्दभादिक, आणि टिटवा पक्षी यांचें मांस भक्षण करूं नये.

कलविकं छवं हंसं चक्रांगं ग्रामकुक्कुटम् ॥
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुक्रसारिके ॥ १२ ॥

प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ॥
निमज्जतश्च मत्स्यादान् शौनं बहूरमेव च ॥ १३ ॥

बकं चैव बलाकांच काकोलं खंजरीटकम् ॥
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

चटक (चिमण्या), छव (पाणकौबडा), हंस, चक्रवाक, ग्रामकुक्कुट, सारस, रज्जुवाल (पक्षिविशेष), दात्यूह (जलकाक), पोपट, मैनापक्षी, प्रतुद ह्मणजे चो-
चीनें भक्षण करणारे पक्षी दावाघाटादिक, जालपाद (जाळ्यासारखे ज्यांचे पाय ते
शरारि आदि ह्मणजे आडी इ०), कोयष्टि (कोंढापक्षी), नखविष्किर (नखांनीं विकिरण
करून भक्षण करणारे श्येनादि पक्षी), उदकांत बुडून मत्स्यांला भक्षण करणारे मद्भुपभृ-
तिपक्षी, कसयाचे घरचें शुष्कमांस, बक, बलाकापक्षी, काकोल, खंजन, मत्स्यभक्षण करणारे
मकरादिक, ग्रामसूकर आणि मत्स्य हे सर्व वर्ज्य करावे.

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्यांसाद् उच्यते ॥

मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

मत्स्यभक्षणनिंदा सांगतो—जो प्राणी ज्या प्राण्याचें मांस भक्षण करितो तो त्याचे
मांसाचें भोजन करणारा ह्मणला आहे. मत्स्य हा सर्व मांस भक्षण करणारा आहे यास्तव जो
मत्स्य भक्षण करितो त्यानें सर्व प्राण्यांचें मांस भक्षण केलें असें होतें, तस्मात् मत्स्यभक्षण
करूं नये.

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ॥

राजीवान् सिंहतुंडांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

पाठीन, रोहित, राजीव, सिंहतुंड, आणि सशल्क हे देवप्रितरांला अर्पण करून भ-
क्षण करावे.

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ॥

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्यप्येव नखांस्तथा ॥ १७ ॥

जे एकाकी संचार करणारे सर्पादिक, नामानें व जातीनें जे अज्ञात मृगपक्षी, भक्ष्यत्वे-
करून कथन न केलेले असे पंचनखांतील वानर इत्यादिक हे भक्षण करूं नयेत.

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ॥

भक्ष्यान् पंचनखेष्वहुरनुष्ठाश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

यादिवर्षीं घ्रातिप्रसव सांगतो—श्राविष (सेधानामक), श्राव्यक (मृगविशेष, ज्यास साळई, साळी लणतात तो), गोधा (घोरपड), गेंडा, कांसव आणि शश (मृग-विशेष, ससा) हे पंचनखापैकीं भक्ष्य होत असे मन्वादिक सांगतात. आणि उंट वर्ज्य करून एकदंतपंक्तियुक्त जे तेहि भक्ष्य जाणावे.

छत्राकं विदूराहं च लशुनं ग्रामकुकुटम् ॥

पलांडुं गृज्जनं चैव मत्स्यां जग्ध्वा पतितद्विजः ॥ १९ ॥

छत्राक (कक्क), ग्रामडुकर, लसुण, गांवकांबडा, पलांडु, आणि गाजर यांतून कोणतेंहि जाणून ब्राह्मण भक्षण करील तर तो पतित होतो, तस्मात् भक्षण केले असतां पतितप्रायश्चित्त करावे.

अमयैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥

यतिचांद्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

पूर्वश्लोकांत सांगितलेलीं हीं छत्राकादिक सहा, न जाणून भक्षण करील तर वक्ष्यमाण (अकराव्या अध्यायांत सांग्नावयाचें) सांतपननामक कृच्छ्रव्रत, अथवा यतिचांद्रायण करावे. इतर वृक्षांचे तांबडे ढिक इत्यादिक भक्षण केले असतां प्रत्येकाविषयीं अहोरात्र उपोषण करावे.

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ॥

अज्ञातभुक्तशुद्धचर्यं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य याणीं, भक्षण करण्यास अयोग्य असी वस्तु आज्ञानेंकरून भक्षण केली असतां तदोपनाशार्थ वर्षांतून एक कृच्छ्र व्रत करावे. आणि बुद्धिपूर्वक (जाणून) अमक्ष्य भक्षण केले असतां विशेषेंकरून ज्याला जें विहित प्रायश्चित्त तेंच करावे.

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्विध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ॥

भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्यचरत्पुरा ॥ २२ ॥

आतां भक्षणाच्या प्रसंगेंकरून यागादिकांसाठीं हिंसा करण्याविषयीं अनुयो-
दन देतो—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांनीं यथाविधि यागासाठीं शास्त्रविहित मृगपक्षी मारा-
वे. अवश्य पोषणाला योग्य असा दासवर्गी, वृद्ध मातापितरादिक यांच्या रक्षणासाठीं पूर्वका-
लीं अगस्त्य ऋषीनें तसें केले आहे.

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ॥

पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥

ज्यापेक्षां प्राचीनकालीं ऋषींनीं आपल्या यज्ञांमध्ये भक्ष्य जे मृगपक्षी त्यांच्या मांसेंकरून पुरोडाश केले त्यापेक्षां यज्ञासाठीं एतत्कालीन ब्राह्मणादिकांनींहि मृगपक्षी मारावे.

यत्किञ्चित्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ॥

तत्पर्युषितमप्याद्य हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

आतां पर्युषिताच्चा प्रतिप्रसवार्थं सांगतो—जे मोदकादिक अनिदित पदार्थ घृतांत अथवा तेलांत पक झालेले ते पर्युषित असतां हि घृत, तेल, दही इत्यादिकांनी युक्त करून भक्षण करावे, आणि हविःशेष ह्मणजे होमादिकांचें शेष चरुपुरोडाशादिक तें पर्युषित असतां हि भक्षण करावे.

चिरस्थितमपित्वाद्यमस्नेहान्तं द्विजातिभिः ॥

यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २९ ॥

दुधाचे पदार्थ; यव, गहू यांचे पदार्थ करून त्यांवरून जरी बहुत रात्रि गेल्या असतील तथापि त्या पदार्थांल घृतादिकांची संयोग केल्यावांचून हि द्विजातींनी ते शिले भक्षण करावे.

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ॥

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य यांला भक्षण करण्यास योग्याश्रोग्य पदार्थ कोणकोणते ते सांगितले. आतां मांसाच्या भक्षणाचा व वर्जनाचा विधि संपूर्ण सांगतो.

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ॥

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥

मंत्रांहीं करून प्रोक्षणनामक संस्कारानें संस्कृत केलेलें मांस, यज्ञहोमाचें शेष मांस, हीं दोन प्रकारचीं मांसें भक्षण करावीं, आणि ब्राह्मणांची ज्या कार्ली मांसभक्षणाची कामना (इच्छा) होईल त्या कार्ली यथाविधि नियमित मांसभक्षण करावें, प्राणनाश होण्याचा प्रसंग असतां मांसभक्षण करावें.

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिस्कल्पयत् ॥

स्थावरं जंगमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

प्राणनाशप्रसंग असतां मांसभक्षणाचा अनुवाद सांगतो—स्थावर (व्रीहियवादि), जंगम (पश्यादिक) हें सर्व प्राणाचें ह्मणजे शरीरांत भोक्त्रा जीवाचें अन्न आहे असे ब्रह्मदेव कल्पिता झाला, तस्मात् प्राणधारणासाठी जीवानें मांसभक्षण करावें.

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ॥

अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

चर ह्मणजे हरिणादिक यांचें अन्न अचर (तृणादिक); दंष्ट्री (व्याघ्रादिक) यांचें अन्न हरिणादिक; सहस्त (मनुष्यादि) यांचें अन्न अहस्त (मत्स्यादिक) शूर (सिंहादिक) यांचें अन्न भीर (मनादिक).

नात्ता दुग्धतदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्ययि ॥

धात्रैव सृष्ट्वा स्थावाश्च प्राणिनोऽन्तार एव च ॥ ३० ॥

दिवसादिवसाचे ठायीं योग्य जवांला भक्षण करणारा दोषातें पावत नाही. कां कीं, भक्षण करण्यास योग्य प्राणी आणि भक्षण करणारे प्राणी यांला ब्रह्मदेवानेंच सृष्टिकाली उत्पन्न केले आहेत.

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ॥

अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुध्यते ॥ ३१ ॥

यानंतर प्रोक्षितभक्षणाचा नियमार्थ सांगतो—यज्ञ करून तदंगत्वानें मांस भक्षण करावें तो दैवविधि ह्मणला आहे, आणि तद्व्यतिरिक्त प्रकारानें केवळ आपणाकरितां पशु-वध करून त्याचें मांस भक्षण्याविषयीं जी प्रवृत्ति तो राक्षसविधि ह्मणला आहे.

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ॥

देवान्पितॄंश्चार्पयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

मोल देऊन आपण अथवा दुसऱ्या कोणाकडून विकत आणलेलें मांस देवपितरांला अर्पण करून शेष भक्षण करणारा दोषातें पावत नाही.

नाद्याद्विधिनामांसं विधिक्षोऽनापदि द्विजः ॥

जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

मांसभक्षणानुष्ठानाचा दोष जाणणाऱ्या द्विजानें आपत्ति नसता त्या त्या देवतांला अर्पण केल्यावांचून मांस भक्षण करूं नये; कारण, जो द्विजाति अविधीन मांस भक्षण करितो तो मृत शाल्यानंतर परलोकी आपल्या रक्षणाविषयीं असमर्थ होत्साता त्या प्राण्यांनीं भक्षण केला जातो.

न तादृशं भवत्येनो मृगहंतुर्धनार्थिनः ॥

यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

जसे देवपितरांला अर्पण केल्याविना मांस भक्षण करणाऱ्याला परलोकी पाप आहे, तसें मृगांचा वध करून उपजीविका करणारा जो व्याध यानें इव्यनिमित्त मृग मारिले असतां त्याला पाप नाही.

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नास्ति मानवः ॥

स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

श्राद्ध आणि मनुष्यकीं यांचे ठायीं यथाशास्त्र नियुक्त होत्साता जो मनुष्य मांसभक्षण करित नाही तो मृत शाल्यानंतर एकवीस जन्मपर्यंत पशुयोनीप्रत पावतो.

असंस्कृतान्पशून्मंत्रैर्नाद्यादिप्रः कदाचन ॥

मंत्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

वेदविहित जो मंत्रसहित प्रोक्षणादि संस्कार तद्विरहित पशुमांस, ब्राह्मणादिकानें कदापि भक्षण करूं नये, तर, अनादिसिद्ध असा पशुयागादिकांचा विधि स्वीकारून मंत्रांनीं

संस्कार केलेले पशु भक्षण करावे. प्रोक्षण केलेले मांस भक्षण करावे असे जे पूर्वोक्त त्याच्या अनुवादार्थ हे वचन आहे.

कुर्यात् घृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ॥

न त्वेव तु वृथा हंतुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

पशु भक्षण करण्याची अतिशय इच्छा होईल तर घृताचा अथवा पिठाचा पशु करून तो भक्षण करावा, देवतांच्या उद्देशान्यतिरिक्त पशु मारण्याची इच्छा कदापि करू नये.

यावंति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ॥

वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

जो मनुष्य देवतोद्देशावांचून आपणाकरितां पशूला मारितो तो वृथा पशुमारक होय, आणि तो मृत झाल्यानंतर पशूच्या अंगावर जितके केश असतील तावद्वैपर्यंत जन्मजन्माचेठायीं मारणार्ते पावतो, तस्मात् वृथा पशुहत्या करू नये.

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यज्ञस्य भूतैः सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

यज्ञासाठीं पशुवध केला असतां दोष नाही असे सांगतो.—सर्व यज्ञाच्या सिद्धीसाठीं ब्रह्मदेवाने स्वयमेव पशु उत्पन्न केले, याकरितां यज्ञाचेठायीं जो पशुवध करणे तो वध नव्हे, कारण, त्या वधापासून दोष नाही.

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यचः पक्षिणस्तथा ॥

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवंत्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥

ओषधी (त्रीहियवादिक), वृक्ष (यूपादिक अर्थ), कांसवादिक, पक्षी (कर्पिजलादिक) हे सर्व यज्ञासाठीं नाशाला पावले होतात पुनः उत्तम जातीत जन्म पावतात.

मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदेवतकर्मणि ॥

अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

मधुपर्कपूजा, ज्योतिष्टोमादिक यज्ञ आणि पितरांचे व देवांचे श्राद्धादिक कर्म यांचे ठायीं पशु मारावे, इतर कर्मांत पशुहत्या करू नये, असे मनु बोलता झालां.

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद्भिजः ॥

आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

वेदतत्त्वार्थ जाणणारा ब्राह्मण मधुपर्कादिकांचे ठायीं पशूंची हत्या करील तर तो पशू-सहवर्तमान उत्तमगतीप्रत लणजे स्वर्गादिक उपभोगांला योग्य अशा विलक्षण देहदेशादि-संबंधाप्रत पावतो.

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः ॥

नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

गृहाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रम यांतून कोणत्याहि आश्रमांत प्रशस्तात्मा द्विज रहात असून आपत्ति जरी असेल तथापि त्याने अशास्त्रीय हिंसा करू नये.

या वेदविहिता हिंसा-नियतास्मिंश्चराचरे ॥
अहिंसामेव तां विदाद्वेदाद्भर्मा हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

वेदानें यथाविधि सांगितलेली जीं हिंसा ती या चराचरात्मक जगताचे ठायीं अहिंसाच जाणावी; कां कीं, वेदापासून सर्व धर्म प्रकाशाला पावला आहे.

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ॥
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

अन्याची हिंसा न करणारे असे हरिणादिक प्राणी यांला आपणास सुख प्राप्त व्हावें या इच्छेनें जो मारितो तो जीवंत असतां इहलोकीं व मृत झाल्यानंतर परलोकीं सुखातें पावत नाहीं.

यो बंधनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ॥
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यंतमश्नुते ॥ ४६ ॥

जो मनुष्य प्राण्यांला बंधन, वध, इत्यादि क्लेश करण्याची इच्छा करित नाही तो, स- वांच्या हिताची इच्छा करणारा होत्साता अनंत सुखाप्रत पावतो.

यद्वयायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ॥
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य कोणाची हिंसा करित नाही, तो जें चित्तितो, जें श्रेयःसाधन कर्म करितो आणि परमार्थाचे ठायीं बुद्धि धारण करितो ते सर्व यत्नावांचून त्याला प्राप्त होतें.

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ॥
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

मांसभक्षणप्रसंगें करून हिंसेचे गुणदोष सांगून पुनः मांसभक्षणाचा निषेध सांगतो—प्राण्यांची हिंसा केल्याविना मांस उत्पन्न होत नाही, आणि प्राणिवध तर नर- कालाच कारण आहे, तस्मात् अविधीकरून मांस भक्षण करूं नये.

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबंधौ च देहिनाम् ॥
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

शुक्रशोणितपरिणामरूप असी दया उत्पन्न करणारी मांसाची उत्पत्ति आहे, आणि प्राण्यांचा वध व बंधन हीं अतिक्रूर कर्मे आहेत असें जाणून शास्त्रविहितमांसहि वर्ज्य करावें, अविधिप्रयुक्त तर सर्वथा वर्ज्य होय.

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ॥
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

शास्त्रोक्त विधि सोडून पिशाचाप्रमाणें जो मनुष्य मांसभक्षण करित नाही तो, सर्व लोकांला प्रिय होतो, व त्याला रोगवाधाहि होत नाही. तस्मात् अविधीनें मांसभक्षण केलें असतां त्यापासून व्याधि होतात असें सूचित केलें.

अनुमंता विशसिता निहंता क्रयविक्रयी ॥

संस्कर्त्ता चोषहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

अनुमंता (ज्याच्या संमतीवांचून हनन होत नाही तो), विशसिता (शस्त्राने अवयव कापणारा), निहंता (मारणारा), मांसाचा विक्रय करणारा, मांसाची किंमत घेणारा, संस्कर्त्ता (पाक करणारा) आणि भक्षण करणारा हे आठ घातक (मारणारे) असे झटले आहेत.

स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति ॥

अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

देवपितरांला समर्पण केल्यावांचून आपल्या शरीराचें मांस अन्य प्राण्याच्या मांसाने जो वाढविण्याविषयी इच्छितो त्याहून पापकर्त्ता दुसरा कोणी नाही. याप्रमाणें अविधीने मांसभक्षणनिंदेचा अनुवाद सांगितला.

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ॥

मांसानि च न खादेदस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

आतां अनियत व अप्रसिद्ध असी मांसभक्षणाची निवृत्ति धर्माकारणें होते हें दाखविण्याकरितां सांगतो—जो पुरुष शंभर वर्षेपर्यंत प्रतिवर्षीं अश्वमेध यज्ञ करितो तो, आणि जो यावज्जीवपर्यंत मांसभक्षण करित नाही तो या उभयतांचें पुण्यफल (स्वर्गादिक) समान जाणावें.

फलमूलाशनैर्मध्येर्मुन्धन्नानां च भोजनैः ॥

न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

मांसभक्षण वर्ज्य केल्यानें जे फल प्राप्त होतें तें; पवित्र असीं कंद, मूल, फलें भक्षण केल्यानें आणि वानप्रस्थांत नीवारादिक अन्न भक्षण केल्यानें प्राप्त होत नाही.

मांसं भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाइयहम् ॥

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदंति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

या लोकीं ज्या प्राण्याचें मांस मी भक्षण करितों तो परलोकीं मला भक्षण करील, या प्रमाणें मांस या शब्दाचा अर्थ ' मां ' (मला) ' स ' (तो) असा पंडितजन करितात. हा मांसशब्दाचा अर्थ अविधीनें मांसभक्षण केलें असतां त्याचें फल सांगण्याकरितां आहे.

न मांसभक्षणे दोषो न यदो न च मैथुने ॥

प्रवृत्तिरपि भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणादिकांस अधिकारपरत्वेकरून मांस आणि मद्य हीं दोन भक्षण करण्याविषयीं दोष नाही, व मैथुनाविषयींहि दोष नाही, कां की, यांच्या सेवनाविषयीं जीवांची प्रवृत्ति-हि (स्वभावहि) आहे, परंतु यांविषयीं निवृत्ति होईल तर ती महाफल आहे. एथें

याचें तात्पर्य असें सांगतो कीं, मांसभक्षण, मैथुन आणि मद्यपान या तिहींविषयीं जीं विधि-
वाक्यें आहेत तीं प्रवृत्ति करणारीं नव्हत, कां कीं प्रवृत्ति तर इच्छेपासून होत आहे, तेव्हां
सर्व विधिवाक्यें व्यर्थ न होतां व्यवस्था करणारीं आहेत, ह्मणजे यज्ञ करून मांसभक्षण,
विवाह करून स्वस्त्रीगमन, आणि सौत्रामणी यज्ञ करून मद्यपान अशा रीतीनें यांचें सेव-
न केलें असतां दोष नाहीं असें जाणवितात, आणि या सर्व विधिवाक्यांचें तात्पर्य या
तिहींच्या निवृत्तिपर आहे, प्रवृत्तिपर नाहीं.

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ॥

चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र या चार वर्णांची मृताविषयीं शुद्धि आणि इत्यां-
ची शुद्धि हीं यथाशास्त्र क्रमेकरून तुल्यता सांगतो.

दंतजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ॥

अशुद्धा बांधवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

दंतोत्पत्ति झालेला, चूडाकरणसंस्कार झालेला, उपनयन झालेला मृत असतां स-
पिंड (सात पुरुषपर्यंत) आणि समानोदक (सात पुरुषांनंतरचे जन्मनामांचें ज्ञान
आहेपर्यंत) अशुद्ध आहेत. जननाशौचाविषयींहि सपिंड अशुद्ध होत असें जाणावें.

दशाहं शावमाशौचं सपिंडेषु विधीयते ॥

अर्वाक् संचयनादस्थनां त्रयमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥

ब्राह्मणांनीं सपिंडाचेठायीं मरणनिमित्तक आशौच दहा दिवस धरावें. अस्थिसंचय-
नाचे पूर्वीं चार, तीन, एक दिवसपर्यंत धरावें. ह्या आशौचप्रकरणीं दिवसशब्द रात्रि-
दिवसांतें जाणविणारा आहे, आणि रात्रिशब्द दिवसरात्रींतें जाणविणारा आहे. वे-
दाचे भाग दोन आहेत, एक मंत्र, दुसरा ब्राह्मण, हे दोन भाग संपूर्ण पढलेला असून
अग्निहोत्र धारणकर्ता असेल तर त्याला एक दिवस आशौच; केवळ वेद मात्र पढलेला
असून अग्निहोत्र धारणकर्ता नसेल तर तीन दिवस आशौच; वेदपठन व अग्निहोत्र या
दोहोनीं रहित परंतु स्मार्ताभियुक्त असेल तर त्याला चार दिवस आशौच; आणि सर्व
गुणांनीं हीन असतां दश दिवस आशौच जाणावें.

सपिंडता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ॥

समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोर्वेदने ॥ ६० ॥

सातव्या पुरुषाचेठायीं सपिंडतेची निवृत्ति होते, ह्मणजे ज्या पुरुषापासून गणना
करावयाची त्याचा पिता इत्यादिक साहा पुरुषांच्या पलिकडे सातव्या पुरुषाचेठायीं
सपिंडता निवृत्त होते. आपल्या गोत्रांत जन्म व नाम यांचें ज्ञान नष्ट झालें ह्मणजे
समानोदकतेची निवृत्ति होते, ह्मणजे आमच्या कुळाचे ठायीं अमुकनामक पुरुष होता
असें त्या पुरुषाचें जन्म व नाम यांचें विस्मरण झाल्यानें निवृत्त होते.

यथेदं शावमाशौचं सर्पिडेषु विधीयते ॥

जननेऽप्येवमेवस्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

जसें हें सर्पिडांला दहा दिवस मृताशौच विहित सांगितलें त्याप्रमाणें उत्तम शुद्धीची इच्छा करणाऱ्या सर्पिडांस जननाशौचहि दहा दिवस विहित आहे.

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ॥

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

अस्पृश्यत्वलक्षण असें मरणनिमित्तक आशौच सर्व सर्पिडांला समान आहे. जननाशौच तर माता, पिता या दोघांलाच आहे, त्यांमध्येहि जन्मनिमित्तक अस्पृश्यत्वलक्षण आशौच मातेसच दहा दिवस, पिता तर ज्ञानमात्रेकरून स्पर्शास योग्य होतो.

निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति ॥

बैजिकादभिसंबंधादनुर्वंध्यादयं ग्रहम् ॥ ६३ ॥

मैथुनावांचूनहि इच्छेकरून रेतस्खलन झालें असतां पुरुष ज्ञानेकरून शुद्ध होतो. (न समजून स्वप्नादिकांमध्ये रेतस्खलन होईल तर ज्ञानावांचून गृहस्थाची शुद्धि जाणावी.) आणि ज्या स्त्रियेनें पहिला पति टाकून दुसरा पति केला त्या स्त्रियेचेठायीं दुसऱ्या पतीपासून अपत्य उत्पन्न झालें असतां दुसऱ्या पतीला तीन दिवस आशौच जाणावें.

अन्हा चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ॥

शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति ग्रहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

सर्व सर्पिड दहा अहोरात्रांनीं शुद्ध होतात, आणि जे पूर्वी सांगितलेल्या गुणांनीं युक्त सर्पिड एक दिवस आशौचाला योग्य सांगितले ते जर शवाला स्पर्श करतील तर ते तीन दिवसांनीं शुद्ध होतात, व समानोदक तेहि तीन दिवसांनीं शुद्ध होतात.

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ॥

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥

गुरु ह्मणजे आचार्यादिक मृत असतां त्याचा शिष्य असापिंड होत्साता अंशकर्म करणारा असेल तर तो मृताच्या सर्पिडांसमान दहा दिवसांनीं शुद्ध होतो.

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे विशुद्ध्यति ॥

रजस्युपरते साध्वी ज्ञानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

तृतीय मासापासून पुढें गर्भस्त्राव झाला असतां जितक्या मासांचा गर्भ असेल तितक्या अहोरात्रांनीं (चारहि वर्षांची) स्त्री शुद्ध होते, परंतु हा निर्णय सहा मासपर्यंत जाणावा. सहा मासांनंतर जातिप्रयुक्त आशौच जाणावें. पहिल्या व दुसऱ्या मासांत गर्भस्त्राव असतां स्त्रीला त्रिरात्र आशौच जाणावें, पिता इत्यादिक सर्पिडांची तर तात्कालिक शुद्धि जाणावी. रजस्वला स्त्री रजेनिवृत्ति असतां पांचव्या दिवशीं ज्ञान करून दैवपित्र्यकर्मांला शुद्ध होते, चवथ्या-दिवसीं ज्ञान करून स्पर्शास योग्य होते.

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिनैशिकी स्मृता ॥

निवृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

चूडाकरणसंस्कार शाल्यावांचून मृत शालेल्या बालकांचें आशौच एक अहोरात्र, आणि चूडाकरण शालेल्यांचें उपनयनाचें पूर्वी त्रिरात्र आशौच जाणावें.

ऊनद्विवाषिकं प्रेतं निदिध्युर्बाधवा बहिः ॥

अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

पूर्ण दोन वर्षे ज्याचें वय नाही असा चूडाकरण शालेला बालक मृत असता त्याचे बांधवांनीं त्याचें शव मालादिकांनीं भूषित करून गांवाचे बाहेर अरण्यांत शुद्ध भूमीचे ठायीं पुरावें, अस्थिसंचयन करूं नये.

नास्य कार्पोऽग्निसंस्कारो न च कार्पोदकक्रिया ॥

अरण्ये काष्ठवत्पक्त्वा क्षपेयुत्पहमेव च ॥ ६९ ॥

याचा (पूर्ण दोन वर्षे ज्याचें वय नाही त्याचा) अग्नीने संस्कार करूं नये. उदकक्रिया लंणजे श्राद्धादिक सकल प्रेतकृत्य करूं नये. तर अरण्यांत काष्ठाप्रमाणे टाकून त्याचें त्रिरात्र आशौच घरावें.

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बांधवैरुदकक्रिया ॥

जातदंतस्य वा कुर्यान्नाग्निं वापि कृते सति ॥ ७० ॥

तिसरें वर्ष प्राप्त न झालेले बालक मृत असता त्याची उदकक्रिया पित्रादि सपिंड बांधवांनीं करूं नये. अथवा दांत उत्पन्न होऊन मृत असता किंवा नामकरण होऊन मृत असता अग्निसंस्कार, उदकक्रिया, पिंडश्राद्धादिक हीं करावीं. हीं केलीं असतां मृतावर उपकार होतो, न केलीं असतां दोष नाही.

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ॥

जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

सहाध्यायी (बरोबर षट्षणारा) मृत असता एक दिवस आशौच घरावें. पुत्रजनन असतां समानोदकांची त्रिरात्र आशौचाने शुद्धि होते.

क्षीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहश्चुष्यंति बांधवाः ॥

कथोक्तेनैव कल्पेन शुच्यंति तु सनाथयः ॥ ७२ ॥

बाग्दान शाल्यान्तरं न विवाहाच्या पूर्वी स्त्रिया (कन्या) मृत असतां भर्ता इत्यादिक बांधव त्रिरात्र आशौचेंकरून शुद्ध होतात, आणि विवाह होऊन मृत असतां पितृ इत्यादिक सर्व, त्रिरात्र आशौचेंकरून शुद्ध होतात.

अक्षरलवणाग्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते ब्रह्मम् ॥

मांसाशनं च नाग्नीषुः शरीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥

क्षारलवण झणजे कृतीचें लवण तद्रहित अथ बांधवांनीं भक्षण करावें, नदी इत्यादि-
कांत तीन दिवसपर्यंत स्नान करावें, मांसभक्षण करूं नये, निरनिराळ्या भूमीवर एकाकी
निद्रा करावी.

सन्निधावेष वै कल्पः शांताशौचस्य कीर्तितः ॥

असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबांधवैः ॥ ७४ ॥

मृताच्या सन्निध असतां जो हा मरणनिमित्तक आशौचाचा विधि सांगितला तो देशां-
तरीं राहणारा असल्यामुळें अज्ञात असतांहि पुढें सांगावयाचा संपूर्ण विधि, बांधवांनीं
जाणुवा.

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ॥

यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

दूर देशी मृत झालेल्याची वार्ता दहा दिवसांचे आंत श्रुत होईल तर दहा दिवसां-
पैकीं जे दिवस शेष असतील तितके दिवसच आशौच धरावें.

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥

संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति ॥ ७६ ॥

दहा दिवसांनंतर श्रुत होईल तर त्रिरात्र आशौच धरावें, एक वर्षांनंतर श्रुत झाल्यास
स्नानमात्रेंकरून शुद्ध होतो.

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ॥

सवासा जलमाश्रुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥

दहा दिवसांनंतर ज्ञातिमरण व पुत्रजन्म श्रुत होईल तर वस्त्रासहित स्नान केल्यानें
मनुष्य शुद्ध होतो.

बाले देवांतरस्थे च पृथक्कुंडे च संस्थिते ॥

सवासा जलमाश्रुत्य सदा एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥

दांत न आलेला अथवा आलेला वालक किंवा समानोदक देशांतरीं मृत झाल्याचें श्रुत
झालें असतां वस्त्रासहित स्नान करून तात्काळ शुद्ध होतो.

अंतर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ॥

तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तस्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

एकाचें जननाशौच असून त्या दहा दिवसांमध्ये दुसरे जननाशौच प्राप्त होईल तर,
अथवा एकाचें मृताशौच पूर्वीं असून दहा दिवसांमध्ये दुसरे मृताशौच प्राप्त होईल तर
पूर्वीशौच आहे तावपर्यंतच ब्राह्मणादिक अशुचि होतो, लवणने पूर्वाशौच गत झाल्यानें
द्वितीयाशौचापासून शुद्ध होतो.

त्रिरात्रमाहुष्यशौचयात्रायें संस्थिते सति ॥

तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

आचार्य मृत असतां शिष्यानें त्रिरात्र आशीच धरावें, आचार्याची पत्नी अथवा पुत्र मृत असतां एक अहोरात्र आशीच धरावें अशी शास्त्रमर्यादा विद्वान् सांगतात.

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥

मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यात्विग्वांधवेषु च ॥ ८१ ॥

श्रोत्रिय ह्मणजे वेदशास्त्रांचें अध्ययन करणारा मृत होईल व तो जेहादिभावानें त्याचे घरीं राहणारा असेल तर त्याचें त्रिरात्र आशीच धरावें. मातुल, ऋत्विक्, शिष्यादिक यांचें पक्षिणी आशीच जाणावें.

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितिः ॥

अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

राज्याभिषेक झालेला असा क्षत्रिय राजा मृत असतां त्या देशांतील ब्राह्मणादिकांनीं त्याचें आशीच सज्योति (दिवसा मृत असतां दिवसभर आणि रात्री मृत असतां रात्रीपर्यंत) पाळावें. अश्रोत्रिय (विद्याहीन) ब्राह्मण मृत असतां त्याचे घरीं राहणारास एक-दिवस (दिवसा मृत असतां दिवसभर व रात्री मृत असतां रात्रीपर्यंत) आशीच, सांग वेदाध्ययन ज्याच्या सह पढलेला त्याचें व गुरूचें (वेदशास्त्राचा थोडा उपकार करणारा याचें) एक दिवस आशीच जाणावें.

शुक्लवेदिप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिषः ॥

वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुष्यति ॥ ८३ ॥

उपनयन झालेल्या सर्पिडाचें मृताशीच, अथवा जननाशीच यांपासून ब्राह्मण दहा दिवसांनीं, क्षत्रिय बारा दिवसांनीं, वैश्य पंधरा दिवसांनीं, आणि शूद्र तीस दिवसांनीं याप्रमाणें शुद्ध होतात. विवाह हा शूद्राला उपनयनस्थानापन्न जाणावा.

न वर्धयेदद्याहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ॥

न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

जेथें आशीचसंकोच सांगितला असेल तेथें आशीचाचे दिवस वाढवूं नयेत, ह्मणजे त्रिरात्राशीच उक्त असतां दश रात्र आशीच धरूं नये. अग्निहोत्री यानें श्रौतार्मीचेठायीं अग्निहोत्रहोमाचा लोप करूं नये. अग्निहोत्री होमाविषयी अशक्त असेल तर त्याच्या पुत्रादिकांनीं होम द्यावा; कारण, पुत्रादिक सर्पिड अग्निहोत्राच्या होमाविषयी अशुचित होत नाहींत.

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ॥

शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥

चांडाल, रजस्वला, पतित (ब्रह्महत्यादिक करणारा पापी), सूतिका (काळजीण्), प्रेत आणि प्रेतास स्पर्श करणारा यांतून कोणाचा स्पर्श झाला असतां स्नानेंकरून शुद्ध होतो.

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ॥

सौरान्मंत्रान् यथोत्साहं पाठयामासीत् शक्तितः ॥ ८६ ॥

श्राद्ध, देवपूजा इत्यादि करणाराला चांडाल, रजस्वला इत्यादिक अशुचींचे दर्शन होईल तर त्याने स्नान, आचमन करून “उदुत्यं जातवेदसं,” इत्यादिक सौरमंत्र, आणि पावमानी ऋचा यांचा यथाशक्ति जप करावा-

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ॥

आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥८७॥

मनुष्याचे ओल्या हाडाचा स्पर्श झाला असतां ब्राह्मणादिक स्नानेकरून शुद्ध होतो, शुष्क हाडाचा स्पर्श असतां आचमन करून गाईला स्पर्श अथवा सूर्यदर्शन यांतून एक केल्याने शुद्ध होतो.

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ॥

समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

आदिष्टी (ब्रह्मचारी) याने ब्रह्मचर्यसमाप्तीपर्यंत कोणाची प्रेतक्रिया करू नये. ब्रह्मचर्यसमाप्तीनंतर प्रेताला उदक देऊन त्रिरात्र आशीच धरावे, ह्मणजे शुद्ध होतो. हा निर्णय माता, पिता, आचार्य एतद्व्यतिरिक्त जाणावा.

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ॥

आत्मनस्त्वाग्निनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

स्वधर्माचा त्याग करणारे; हीन वर्णापासून उत्कृष्ट स्त्रीचे ठायीं उत्पन्न झालेले; वेदवाद्य रक्तपटादिक खोटा संन्यास घेणारे; आणि विषप्रयोग, गळफांस इत्यादिकेकरून जाणून आत्महत्या करणारे या सर्वांची उदकादिक क्रिया (और्ध्वदेहिक कर्म) करू नये.

पाषंडमाश्रितानां च चरंतीनां च कामतः ॥

गर्भधर्तृदुहां चैव सुपथीनां च वीक्षिताम् ॥ ९० ॥

पाखंड ह्मणजे वेदवाद्य (रक्तपट्ट सौम्यादिव्रतचर्या) धर्म याचा आश्रय केलेले, इच्छापूर्वक अनेक पुरुषांसीं गमन करणाऱ्या, गर्भपात करणाऱ्या, भर्त्याची हत्या करणाऱ्या आणि मद्यपान करणाऱ्या अशा द्विजातिस्त्रिया यांची और्ध्वदेहिक क्रिया करू नये.

आचार्य स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ॥

निर्हंत्य तु व्रती प्रेतान्नव्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

आचार्य (उभयनयनपूर्वक संपूर्ण शास्त्रा षड्विंशतः), उपध्याय (वेदाच्या एकदे- शार्चे अथवा वेदांगाचे अध्ययन सांगणारा), पिता, माता, गुरु (वेदव्याख्यान सांगणा- रा), या भक्तांची दाहादिक और्ध्वदेहिक क्रिया ब्रह्मचारी याने केली असतां तो आपल्या ब्रह्मचर्यव्रतापासून भ्रष्ट होत नाही.

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरुंदारेण निर्हरेत् ॥

पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यांचीं प्रेते क्रमेकरून पुराच्या पश्चिम, उत्तर, पूर्व आणि दक्षिण या द्वारेकरून न्यावी.

न राज्ञामघदोषोस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ॥

ऐंद्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

राजे (अभिषिक्त क्षत्रिय), व्रती (ब्रह्मचारी व चांद्रायणादि व्रते करणारे), आणि यज्ञाला प्रवृत्त झालेले या तिघांला सपिंडमरणादिकांचा आशौचदोष नाही; कां कीं, राजे हे राज्याभिषेकनामक जें आधिपत्याला कारण इंद्रस्थान त्यावर आरुढ आहेत, आणि ब्रह्मचारी, व्रती, यज्ञ करणारे हे सर्व नित्य ब्रह्मस्वरूप आहेत.

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ॥

प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चान्नकारणम् ॥ ९४ ॥

राजाचें आसन हें माहात्मिक स्थान जे महात्म्या पुरुषाचें स्थान आहे, यास्तव त्या स्थानावर राजा बसला असले तात्पर्यत तात्कालिक शुद्ध होतो, (राज्यासनावरून उतरल्यानंतर शुद्ध नाही) कारण कीं, राजासन हें प्रजांचें रक्षण व पोषण करण्याकरितां आहे.

दिवाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ॥

गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥

राजावांचून जें शुद्ध होतें त्यांत मृत झालेले, विजेने मृत झालेले, वघाला योग्य अपराधावरून राजाच्या आज्ञेकरून मारले गेलेले, माई, व ब्राह्मण यांच्या संरक्षणाकरितां युद्धावांचून उदक, अग्नि, व्याघ्रादिक यांपासून मृत झालेले; आणि राजा आपलें कार्य होण्याकरितां ज्याच्या (पुरोहितादिकाच्या) आशौचाची इच्छा करीत नाही तो या सर्वांचें सद्यः (तात्कालिक) आशौच जाणावें.

सोमाम्यर्कानिलेंद्राणां वित्ताप्यत्योर्यमस्य च ॥

भट्टानां लोकपालानां वपुर्धरयते नृपः ॥ ९६ ॥

चंद्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इंद्र, कुबेर, वरुण आणि यम या अष्टौ लोकपालांचें शरीर राजा धारण करितो.

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ॥

शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥

राजा सर्व लोकपालांच्या अंशांनी युक्त आहे यास्तव त्याला अशौच नाही. सर्व लोकांचा ईश राजा आहे या कारणास्तव मनुष्यांचें शौच व अशौच यांचा नाश, उत्पत्ति करण्याविषयी तो समर्थ आहे.

उदयैराहवे सद्यैः क्षत्रधर्महतस्य च ॥

सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथा शौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

संग्रामांत क्षत्रियधर्मैकरून खड्गादिक शस्त्रांपासून जो मृत झाला त्याचा तत्क्षणीं ज्योतिष्टोम यज्ञ होतो लक्षणजे झाला ज्योतिष्टोमादियज्ञांचें पुण्य प्राप्त होतें, तसेंच शौचहि समाप्त होतें. अशी शास्त्रांत मर्यादा आहे.

विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ॥

वैश्यः प्रतोदं रश्मीन् वा यष्टिं शूद्रः कृताक्रियः ॥ ९९ ॥

मृदाची संपूर्ण और्ध्वदेहिक क्रिया करून आशौचाच्या अंतीं ब्राह्मण दक्षिणहस्तानें उदक स्पर्श मात्र करून शुद्ध होतो, स्नानाचें प्रयोजन नाही; क्षत्रिय वाहन (हत्ती, अश्वदिक), आयुध (खड्गादिक) यांला स्पर्श केल्यानें शुद्ध होतो; वैश्य चावुक, रश्मि यांला स्पर्श केल्यानें शुद्ध होतो; आणि शूद्र बांबूच्या काठीला स्पर्श केल्यानें शुद्ध होतो.

एतद्वोऽभिहितं शौचं सर्पिण्डेषु द्विजोत्तमाः ॥

असर्पिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

हे ऋषिहो, तुझाला मी सर्व सर्पिडांचें आशौच सांगितलें. आतां सर्व असर्पिडांची प्रेतशुद्धि सांगितों, श्रवण करा.

असर्पिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बंधुवत् ॥

विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुसस्तांश्च बांधवान् ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण असर्पिण्ड ब्राह्मणाचें प्रेत स्नेहानुबंधानें श्मशानांत घेऊन जाईल तर तो त्रिरात्र आशौचैकरून शुद्ध होतो, आणि मातेचे सोदर भाते, भगिनी, आप्त इत्यादिकांच्या प्रेतांचे निर्हरणाने ठायींहि त्रिरात्रैकरून शुद्ध होतो.

यद्यन्नमन्ति तेषां तु दशाहेन विशुद्ध्यति ॥

अनदन्नमन्त्रैव न चेत्तस्मिन्मृदे वसेत् ॥ १०२ ॥

तो प्रेतवाहक, मृदाचे सर्पिण्ड जे आशौची खांचे अन्न भक्षण करील तर दहा दिवस आशौचानें शुद्ध होतो, त्रिरात्रानें शुद्ध होत नाही. जर खांचे अन्न भक्षण करणार नाही व खांचे घरींहि राहणार नाही, तर एक अहोरात्रानें शुद्ध होतो. तो वाहक त्यांचे घरीं वास करील आणि अन्नभक्षण न करील तर पूर्वोक्त त्रिरात्रैकरून शुद्ध होतो.

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ॥

ज्ञात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

मृत झालेला मनुष्य आपला ज्ञाति असो किंवा परज्जाति असो, त्याच्या मागून आपल्या इच्छेकरून गेल्या असतां सचैल (वस्त्रसहित) स्नान करून नंतर अग्निस्पर्श करून मृत प्राशन केल्यानें शुद्ध होतो.

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ॥

अस्वर्ग्यां शाहुतिः सा स्वाच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

आपल्या ज्ञातिविरहित असा ब्राह्मणादिक (ब्राह्मण, क्षत्रियादिक) मृत झाला असतां त्याचे स्वज्ञाति जवळ असतील तर त्याचें प्रेत शूद्रानें नेऊं नये, कां कीं, शूद्राच्या स्पर्शानें दूषित झालेली शरीराहुति मृताला स्वर्गीं हितकारक होत नाही, ह्यणजे त्याला स्वर्गप्राप्तिकारक होत नाही. ब्राह्मणाच्या अभावीं क्षत्रियानें, त्याच्या अभावीं वैश्यानें, त्याच्या अभावीं शूद्रानेंहि न्यावें.

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनोर्वायुपांजनम् ॥

वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ १०९ ॥

ब्रह्मज्ञान, तप, अग्नि, हविष्यादिक आहार, मृत्तिका, मन, उदक, सडासंमार्जन, वायु, कर्म (अश्वमेधादिकानें यजन करणें), सूर्याचें दर्शन, काल हे सर्व मनुष्यांच्या शुद्धीचीं साधनें आहेत.

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ॥

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्नमृद्वारि शुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥

सर्व शौचांमध्ये अर्थशौच (न्यायानें धन संपादन करणें), हें श्रेष्ठ होय असें मन्वादि-कांनीं झटलें आहे. कारण, ज्याचा अर्थ शुद्ध आहे तो शुद्ध होय, आणि जो मनुष्य मृत्तिका, जल यांहींकरून शुद्ध; परंतु अर्थानें अशुद्ध तो शुद्ध नाही.

क्षान्त्या शुद्धयन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ॥

प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥

दुसऱ्यानें अपकार केला असतां तो मनांतहि न आणतां क्षमा करणें येणेंकरून पंडित शुद्ध होतात. अकार्य करणारे दानेंकरून शुद्ध होतात. गुप्त पातकी जपानें आणि वेदाध्ययन करणारे (अकराव्या अध्यायांत सांगितल्या) तपानें शुद्ध होतात.

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ॥

रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमाः ॥ १०८ ॥

शुद्ध करण्याला योग्य वस्तु मृत्तिका, उदक यांहीं करून शुद्ध; श्लेष्मादिकानें दूषित झालेला नदीप्रवाह वेगानें शुद्ध; पुरुषावर जीवें मन आसक्त झालेली अशी स्त्री प्रतिमासी रजोदर्शनानें शुद्ध आणि ब्राह्मण सन्वासेंकरून शुद्ध याप्रमाणें शुद्ध जाणावी.

अद्भिर्गन्त्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ॥

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०९ ॥

घामानें मलिन झालेलीं अंगें उदकानें प्रक्षालित केल्यानें शुद्ध होतात. निषिद्ध चिंता इत्यादिकानें दूषित मन सत्यानें शुद्ध होतें. भूतात्मा (सूक्ष्मादिकलिंगशरीरावच्छिन्न जीवात्मा), पापक्षयाला कारण ब्रह्मविद्या व तप यांहीं शुद्ध होतो. विपरीत ज्ञानानें हत झालेली बुद्धि यथार्थविषयज्ञानेंकरून शुद्ध होते.

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ॥

नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥

पूर्वोक्त प्रकारें करून हा शरीरशुद्धीचा निर्णय मी तुम्हाला सांगितला. आतां नाना-
प्रकारचे द्रव्यांचे शुद्धीचा निर्णय सांगतो, श्रवण करा.

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ॥

भस्मनाद्भिर्मदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥

तैजसपात्रें (सुवर्णादिक धानूचीं पात्रें), मरकतादिक मणि आणि सर्व पाषाणमय
पात्रें या सर्वांची शुद्धि भस्म, उदक, मृत्तिका यांहीं करून मन्वादिकांनीं सांगितली आहे.

निर्लेपं कांचनं भांडमृद्भिरेव विशुध्यति ॥

अक्षमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

उच्छिष्टादिलेपरहित सुवर्णाचें भांडें; शंख, मोती, पाषाण यांचीं पात्रें, आणि रेखाविर-
हित रुप्याचीं पात्रें (विशेष मलिन नसल्यामुळें) केवळ उदकानेंच शुद्ध होतात.

अवामग्रेक्ष सयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ ॥

तस्मान्तपोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

उदक आणि अग्नि यांच्या संयोगापासून सोने व रुपें हीं उत्पन्न झालीं आहेत, या-
करितां आपल्या उत्पत्तीला कारण जें उदक व अग्नि यांहीं करून त्या दोहोंची शुद्धि
अति प्रशस्त आहे.

तान्मायःकांस्यैरेत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ॥

शौचं यथाई कर्तव्यं क्षारान्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

तनि, लोखंड, कांस, पितळ, जस्त, कधील, शिसे या धातूंच्या पात्रांची शुद्धि क्षार,
भस्म, आंबटशर्दाय आणि उदक यांहीं करून यथायोग्य करावी.

द्रव्याणां चैव सर्वेषां शुद्धिराद्युक्तम् ॥

प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥

द्रवद्रव्यें (घृत इत्यादि) कावळे, किडे इत्यादिक प्राण्यांनीं दूषित केलेलीं तीं
प्रसृतिमात्र प्रमाण असतां प्रदिशप्रमाण दोन कुश (दर्भ) घेऊन यांहीं करून उत्खनन
केल्यानें शुद्ध होतात. शय्या (विच्छाना) इत्यादिक, उच्छिष्टादिकानें दूषित झाल्या अस-
तां उदकाच्या प्रोक्षणानें शुद्ध होतात. लाकडाचीं पात्रें उच्छिष्टादिकानें दूषित असतां
तीं तासून शुद्ध होतात.

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ॥

चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन नु ॥ ११६ ॥

चमस, ग्रह आणि इतर यज्ञपात्रें पांला पूर्वीं हस्तानें मार्जन करून नंतर यज्ञकर्मांत
उदकानें प्रक्षालन करावी सगळे शुद्ध होतात.

चरुणां सुकुसुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ॥

स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

चरु, सुकु, सुवा, स्फ्य, शूर्प, शकट, मुसल, उलूखल या सर्व यज्ञपात्रांची शुद्धि उष्णोदकाने होते.

अग्निस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ॥

प्रक्षालनेन त्वन्यानामग्निः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

बहुत (एका पुरुषाला नेण्याला अशक्य) धान्याच्या व वस्त्रांच्या राशीला चांडालादिकांचा स्पर्श झाला असतां उदकाचे प्रोक्षणकरून त्याची शुद्धि होते. अल्प अशा धान्यवस्त्रांची शुद्धि उदकाच्या प्रक्षालनाने होते असे मन्वादिक सांगतात.

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वेदलानां तथैव च ॥

शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥

स्पर्शास योग्य अशा पशूच्या चर्माचीं पात्रे, बांबूचीं पात्रे या दोहोंची शुद्धि वस्त्रशुद्धीसारखी जाणावी; शाक, मूल, फल यांची शुद्धि धान्यशुद्धीसारखी जाणावी.

कौशेयाविकयोरुषैः कुतपानामरिष्टकैः ॥

श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्वपैः ॥ १२० ॥

रेशमी वस्त्रे, व मेंढ्याच्या लोकरांचीं वस्त्रे (कांबळीं इत्यादिक) यांची शुद्धि स्नान्या मातीने जाणावी. नेपाळ देशांत उत्पन्न झालेल्या केवळवस्त्रांची शुद्धि रिठ्याने जाणावी. पट्टवस्त्रांची शुद्धि बेलफळाने, अळसीच्या सुतापासून झालेलीं शाण, पांटाव इत्यादिकांची शुद्धि पांढऱ्या शिरसांनीं जाणावी.

क्षौमवच्छंखशृंगाणामस्थिदंतमयस्य च ॥

शुद्धिर्विज्ञानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

शंखपात्रे, स्पर्शास योग्य पशूच्या शृंगांचीं पात्रे, हस्तिदंत, यांची शुद्धि अळशीचे पिष्ट व पांढरे शिरसांचा कल्क या दोहोंत गोमूत्र अथवा उदक घालून तेणेकरून शास्त्र वेत्त्याने करावी.

प्रोक्षणासृणकाष्ठे च पलालं चैव शुद्ध्यति ॥

मार्जनोपाजनैर्वैश्व पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

तृण, काष्ठे, कडवा, वाटूक, हीं चांडालादिकांच्या स्पर्शाने दूषित असतां उदक प्रोक्षण करून शुद्ध होतात. रजस्वला इत्यादिकांच्या रहाण्याने दूषित झालेले गृह गोमय (शेण), माती, उदक यांहींकरून सारवण केल्याने शुद्ध होते. मृत्तिकेचे पात्र उच्छिष्टादिकाने दूषित असतां ते पुनः भाजल्याने शुद्ध होते.

मयैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा घृतिनैः पूयशोणितैः ॥

संसृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

मद्य, मूत्र, विष्ठा, खंखारा, थुंकी, श्लेष्मा, पूय, रुधिर यांहींकरून दूषित झालेले मृत्तिकेचे पात्र पुनः भाजल्यानेहि शुद्ध होत नाही.

संमार्जनोपांजनेन सेकेनोल्लेखनेन च ॥

गवां च परिवासेन भूमिः शुध्यति पंचभिः ॥ १२४ ॥

केर काढणे, गोमयादिकांचे सारवण, गोमूत्र व उदकादिक यांचे संमार्जन, भूमि खणून कांहीं माती काढून टाकणे, गाईंनीं अहोरात्र वास करणे या पांचांतून कोणत्या एकाने भूमीची शुद्धि करावी.

पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् ॥

दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

ज्या वस्तूचा कांहीं एक भाग भक्ष्य पक्ष्यानें भक्षण केला, अथवा जी वस्तु गाईनें हुंगली गेली, किंवा पायानें लाथाळली, वस्तूवर शिक पडली, अथवा जी वस्तु केश, कीट यांहींकरून दूषित झाली असेल तिजवर मृत्तिका टाकावी ह्मणजे शुद्ध होते.

यावन्नापैत्यमेध्यात्काद्रंधो लेपश्च तत्कृतः ॥

तावन्मृद्धारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

विष्ठादि दुर्गंधकारक वस्तूंमध्ये पडलेल्या वस्तूस जोपर्यंत दुर्गंध व लिपटलेला अपवित्र पदार्थ आहे तोपर्यंत त्या वस्तूवर उदक व माती टाकून धुऊन नंतर ती हातानें उचल्लावी.

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ॥

अदृष्टमग्निर्निर्णिक्तं यश्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

देवतांनीं ब्राह्मणांला तीन वस्तु पवित्र केल्या आहेत. एक तर अदृष्ट ह्मणजे ज्या वस्तूचा दूषितपणा पाहण्यांत आलेला नाही ती, दुसरी दूषिताचा संशय असतां उदकाने प्रक्षालन केलेली, आणि तिसरी ब्राह्मणाचे वाणीनें पवित्र झालेली, अशा तीन वस्तु देव पवित्र मानिते झाले.

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्धवेत् ॥

अध्याप्ताश्चेदमेध्येन गंधवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

जे उदक एका गाईची तृषा शांत करण्यास समर्थ असून शुद्ध भूमीत राहणारे, आणि जे गंध, वर्ण, रस यांहींकरून स्वच्छ, व ज्यांत अपवित्र पदार्थ पडलेला नाही, ते पवित्र असे झटले आहे.

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ॥

ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

कारु ह्मणजे माळी इत्यादिक यांचा हस्त पुष्पांच्या माळा इत्यादिक करण्याविषयी स्वाभाविक नित्य शुद्ध जाणावा, माळी इत्यादिकांस जननाशीच मृताशीच असेल तथापि

त्यांला पुष्पांच्या माळा इत्यादि करण्याविषयीं आशौच नाही. बान्नारांत विक्रीस मांडलेली (अनव्यतिरिक्त) वस्तु, ब्रह्मचाऱ्याची भिक्षा हीं सर्वदा शुद्ध होत असीं शास्त्रमर्यादा आहे.

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ॥

प्रसवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥

स्त्रियांचें मुख शुद्ध; कावळे इत्यादिपक्षांच्या चोंचीच्या प्रहारानें पडलेलें फळ शुद्ध; दोहन-समयीं दूध प्राशनाविषयीं वत्स शुद्ध, आणि कुत्रा मृगादिकांला मारण्याकरितां धरतो त्या काळीं त्या कामाविषयीं तो शुचि जाणावा.

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ॥

क्रव्याद्विश्व हतस्यान्यैश्चंडालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥

कुतरे, व्याघ्र, ह्येनादिपक्षी, आणि व्याध इत्यादिक मांसोपजीवी या सर्वांनीं मारलेले जें भक्ष्य पश्चादिक त्यांचें मांस पवित्र आहे आणि ते श्राद्ध, अतिथिभोजन यांविषयीं योजावें असें मनूनें सांगितलें.

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ॥

यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

नाभीच्या वरचीं जीं इंद्रियच्छिद्रे तीं सर्व पवित्र होत यास्तव त्यांच्या स्पर्शाविषयीं दोष नाही. नाभीच्या खालचीं इंद्रियच्छिद्रे अपवित्र होत यास्तव त्यांला स्पर्श केला असतां दोष आहे. पुढें (१३५ व्या श्लोकांत) सांगितलेले मल देहापासून च्युत झाल्यानंतर ते अपवित्र होतात.

मक्षिकाविप्रुषश्लाय गौरश्वः सूर्यरश्मयः ॥

रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्श मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

मक्षिका (माशा), बोलणाराच्या मुखांतील जलबिंदु, स्पर्शाला अयोग्य अशा पतितादिकांची छाया, हीं शुद्ध जाणावीं. गाई, घोडा, सूर्यकिरण, धूलि, भूमी, वायु आणि अग्नि यांला चांडालादिकांचा स्पर्श झाला तथापि ते स्पर्शाविषयीं शुद्ध जाणावे.

विष्णुर्नोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृदायादेयमर्थवत् ॥

देहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥

विष्णु, मूत्र यांचा उत्सर्ग (पतन) ज्यांपासून होतो असीं जीं अपातादिक त्यांच्या शुद्धीकरितां जितक्याने गंधलेपक्षय होईल तितक्या परिमाणाचे उदक व मृत्तिका घ्यावी, आणि शरीरसंबंधी वसादिक जे बारा मळ त्यांच्या शुद्धीकरितां मृत्तिका, उदक घ्यावें. त्यामध्ये पूर्वीच्या सहा मळांच्या शुद्ध्यर्थं मृत्तिका, उदक असीं दोन घ्यावी, आणि उत्तर सहा मळांच्या शुद्ध्यर्थं उदक मात्र घ्यावे.

वसा शुक्रमृक् मज्जा मूत्रविट्प्राणकर्णवित् ॥

श्लेष्माश्रुदूषिकाः स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५ ॥

वसा, शुक्र, असृक्, मज्जा, मूत्र, विष्टा, घ्राण, कर्णमळ, श्लेष्मा, अश्रु, दूषिका (नेत्रमळ), आणि घाम याप्रमाणे मनुष्यांचे हे बारा मळ सांगितले आहेत.

एका लिंगे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ॥

उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

शुद्धीची इच्छा करणाऱ्या पुरुषाने मूत्रपुरीषोत्सर्ग केल्यानंतर लिंगाला एकवेळ, गुदाला तीन वेळ, डाव्या हस्ताला दहा वेळ, पुनः दोन हातांला सात वेळ याप्रमाणे उदकसहित मृत्तिका लावून प्रक्षालन करावे. जेव्हां पूर्वीक्त शौचाने दुर्गंधी, मळ यांचा नाश होत नाही असे वाटेळ तेव्हां अधिक वेळ मृत्तिका लावून दुर्गंधी, मळ सर्वथा घालवावे.

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ॥

त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

लिंगाला एक वेळ, गुदाला तीन वेळ असे जे पूर्वश्लोकांत शौच सांगितले ते गृहस्थांविषयीच जाणावे, ब्रह्मचाऱ्यांला याच्या द्विगुणित, वानप्रस्थांला त्रिगुणित, आणि यती ह्मणजे संन्यासी यांला चतुर्गुणित याप्रमाणे जाणावे.

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचांत उपस्पृशेत् ॥

वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्वंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

मूत्रपुरीष केल्यानंतर यथाविधि हस्तपाद प्रक्षालन करून तीन वेळ आचमन करून इंद्रियछिद्रांला स्पर्श करावा. वेदाध्ययनसमयी, भोजनोत्तरकाली आचमन करून इंद्रियांला स्पर्श करावा.

त्रिरात्रमिदं पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम् ॥

शरीरं शौचमिच्छन् हि स्त्रीशूद्रस्तु सकृत् सकृत् ॥ १३९ ॥

आचमन करावे असे जे सांगितले त्याविषयी विशेष सांगतो—देहाचे शुद्धीची इच्छा करणाऱ्या पुरुषाने प्रथम तीन वेळ आचमन करून नंतर दोन वेळ मुखप्रक्षालन करावे, स्त्रिया व शूद्र यांनी एकवेळ आचमन करून एकवेळ मुख प्रक्षालन करावे.

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ॥

वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥

यथाशास्त्र वर्तन करणारे असून द्विजातींची सेवा करणारे जे शूद्र त्यांनी मासामासाचे ठायीं मुंडन करावे. जननाशौच, मृताशौच इत्यादिकांचे ठायीं वैश्याप्रमाणे पवित्रता पाळावी, द्विजातींचे उच्छिष्ट भोजन करावे.

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽंगे पतन्ति याः ॥

न अश्रूणि गतान्यास्यान्मदन्तांतरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥

अंगावर पडलेले मुखातील जलबिंदू, मुखांत प्रविष्ट झालेले मिशांचे केश, दातांत अडकलेला कांहींएक अन्नाचा भाग हे उच्छिष्टपणा उत्पन्न करीत नाहीत.

स्पृशन्ति बिंदवः पादौ य आचामयतः परान् ॥
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

जे कोणी मनुष्य दुसऱ्याला आचमन करवीत असतां पायांवर जलबिंदु पडतात ते शुद्ध भूमीतील उदकासमान पवित्र जाणावे, व खांदींकरून तो अपवित्र होत नाही.

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन ॥
अनिधायैव तद्द्रव्यमाच्चांतः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

कोणी पुरुष स्कंधादिकावर कांहीं वस्तूला घेऊन स्थित असतां त्याला उच्छिष्ट मनुष्य स्पर्श करील तर तो वस्तु न ठेवितां हि आचमन करून तो शुद्ध होतो.

वांतो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ॥
आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥

वांति, विरेचन हीं झालीं असतां स्नान करून घृतप्राशन करावें. जर भोजनोत्तर वांति होईल तर आचमनमात्र करावें, स्नान, घृतप्राशन करूं नयेत. मैथुन करणारानें मैथुनोत्तर स्नान करावें असें सांगितलें आहे, परंतु तें ऋतुकाळीं जाणावें.

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च ॥
पीत्वाऽप्योऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपिसन् ॥ १४५ ॥

निद्रा, क्षुधा, भोजन, श्लेष्मनिरसन, असत्यभाषण, उदकप्राशन यांतून कोणते एक केले असतां पवित्र होत्साताहि आचमन करावें, आणि वेदशास्त्राध्ययन करणारानेंहि आचमन करावें.

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ॥

उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

पूर्वोक्त प्रकारेंकरून ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या वर्णांचा दहा दिवस, तीन दिवस इत्यादिक आशौचाचा विधि सर्व सांगितला, तशीच सर्व द्रव्ये ह्मणजे भांडीं, नखें, इत्यादिक यांची उदकादि पदार्थांनीं जी शुद्धि त्याचाहि विधि मी तुझाला कथन केला. आतां पापुढें स्त्रियांचे धर्म सांगतों, श्रवण करा.

बालया वा पुंवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ॥

न स्वातंत्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥

स्त्री बाला असो, तरुणी असो, अथवा वृद्धा असो कोणत्याहि अवस्थेंत असेल तथापि तिनें भर्त्याचे अनुमतीवांचून स्वातंत्र्यानें अल्पसुद्धां गृहकार्यहि करूं नये.

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ॥

पुत्राणां भर्तारि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतंत्रताम् ॥ १४८ ॥

बाल्यावस्थेंत पित्याचे आधीन राहावें, तारुण्यावस्थेंत भर्त्याचे आधीन राहावें, भर्ता मृत असतां पुत्रांचे आधीन राहावें, पुत्रांच्या अभावीं सपिंड बांधवांच्या आधीन राहावें,

त्यांच्या अभावीं आपल्या पितृपक्षाच्या आधीन, भर्तृपक्ष, पितृपक्ष या दोहोंच्या अभावीं ज्ञाति, तिच्या अभावीं राजाच्या आधीन राहावे, स्वातंत्र्यानें राहूं नये.

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ॥

एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

स्त्रियेनें पिता, पति, पुत्र यांच्यासह आपल्या वियोगाची इच्छा करूं नये. यांच्या वियोगेंकरून स्त्री उभय कुलांतें निंदित करते.

सदा प्रवृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ॥

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

घरांतील कामकाजांविषयीं स्त्रियेनें दक्ष असावे, व भर्ता विरुद्ध असला तथापि सर्वदा आनंदित राहावे. कुंड, कटाह इत्यादि घरांतील जिनसा व्यवस्थितपणें ठेवाव्या आणि रोजचा खर्च काटकसरेनें करावा, उदार हातानें करूं नये.

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः ॥

तं शुश्रूषेत जीवंतं संस्थितं न च लंघयेत् ॥ १५१ ॥

ज्या पुरुषाला स्त्रियेला पिता देईल, अथवा पित्याच्या अनुमतीनें भ्राता देईल तो पुरुष जीवंत आहेपर्यंत त्याची सेवा करावी, मृत झाल्यानंतर त्याचा अतिक्रम करूं नये, ह्मण. जे व्यभिचार करून त्याचें श्राद्ध, तर्पण इत्यादिक परलोककृत्य खंडित करूं नये.

मंगलार्थं स्वस्वयनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ॥

प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणाम् ॥ १५२ ॥

स्त्रियाला स्वस्वयन ह्मणजे शांतिमंत्रांचें पठन, आणि प्रजापतीच्या उद्देशानें आ. ज्योतिर्मरूप जो प्रजापतियाम विवाहाचे ठायीं होतो तो स्त्रियांच्या मंगलार्थ (इष्टसंपत्त्यर्थ कर्म) आहे आणि जे प्रथम वाग्दानरूप दान तेच भर्त्याची स्त्रीवर सत्ता उत्पन्न करणारे आहे, याकरितां वाग्दान शाल्या वेळेपासून स्त्री भर्त्याधीन होते, यास्तव त्याचाच आश्रय करून राहावे.

अमृतानृतुकाले च मंत्रसंस्कारकृतपतिः ॥

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

मंत्रसंस्कार ह्मणजे विवाहसंस्कार करणारा जो भर्ता तो या लोकीं ऋतुकालीं व अमृतकालीं स्त्रियेला नित्य सुख देणारा आहे, व त्याच्याच सेवेपासून स्वर्गादिकांची प्राप्ति होते यास्तव परलोकींहि सुखदेणारा भर्ताच आहे.

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ॥

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

सदाचारशून्य, दुसऱ्या स्त्रीचे ठायीं लंपट किंवा विद्यादिक गुणांनीं हीन असा जरी पति असेल तथापि साध्वीस्त्रीनें देवाप्रमाणें सतत पूज्य मानून सेवा करावी.

नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ॥
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १९९ ॥

पत्नीला रजोदर्शन इत्यादिक जोष असल्यामुळे ती संपीप नसतां हि दुसऱ्या स्त्रीकडून भर्त्याची जशी यज्ञनिष्पत्ति होते, तशी स्त्रियेला भर्त्यावांचून सिद्धि नाही, आणि भर्त्याचे आज्ञेवांचून व्रत, उपवास करण्याला अधिकार नाही, तर भर्त्याचे सेवेकरूनच स्त्री स्वर्गलोकीं पूज्य होते.

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ॥

पतिलोकमभीप्संती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥ १९६ ॥

पतीसहवर्तमान धर्माचरण करून तेणेंकरून प्राप्त होणारा जो स्वर्गादि लोक याची इच्छा करणाऱ्या स्त्रियेनें, पति जिवंत असतां अथवा मृत असतां हि त्याला अप्रिय होईल असें कोणतेंहि कृत्य आचरण करूं नये.

crit. 1-10-9
p. 194.

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥

न तु नामापि गृहीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १९७ ॥

भर्ता मृत असतां व्यभिचारबुद्धीकरून परपुरुषाचें नामहि उच्चारूं नये, तर पवित्र अशीं पुष्पें, मूलें, फलें यांहींकरून देहक्षपण करावें, ह्मणजे अल्पाहारेंकरून देह क्षीण करावा.

आसीतामरणात्क्षांता नियता ब्रह्मचारिणी ॥

यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षंती तमनुत्तमम् ॥ १९८ ॥

एक आहे भर्ता ज्यांस अशा ज्या स्त्रिया त्यांच्या उत्तम धर्माची इच्छा करीत होत्या ती क्षमायुक्त, नियम धारण करणारी, ब्रह्मचर्यव्रतेंकरून शोभणारी, असें मरणपर्यंत स्त्रियेनें राहावें, अपुत्रा असेल तथापि पुत्रासाठीं परपुरुषाचा आश्रय करूं नये.

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ॥

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १९९ ॥

कदाचित् कोणी असें ह्मणतील कीं, संततीवांचून स्वर्गप्राप्ति होत नाही, यास्तव पुत्राकरितां दुसऱ्या पुरुषाचा आश्रय करावा, त्याविषयीं असें सांगितों कीं, कुमार ब्रह्मचारी, असें ब्राह्मणांचीं (सतकवालखिल्यादिक ब्राह्मणांचीं) सहस्रें, कुलवृद्धार्थ संतति उत्पन्न केल्यावांचून स्वर्गप्राप्त पावलीं आहेत असें जाणून स्त्रीनें संततीवांचूनहि नियमानें राहावें.

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ॥

स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

आचारसंपन्न अशी साध्वी स्त्री पति मृत झाल्यानंतर ब्रह्मचर्यानें राहिल तर ती अपुत्रा असतां हि, जसे ते कुमार ब्रह्मचारी स्वर्गप्राप्त गेले तद्वत् ती स्वर्गप्राप्त जाते.

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ॥

सेह निंदामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥

मला पुत्र होऊ, तेणेंकरून मी स्वर्गाप्रत पावेन अशा लोभेंकरून जी स्त्री भर्त्याचा अतिक्रम करून व्यभिचार करिते ती या लोकीं निंदा पावून त्या पुत्राकडून स्वर्गातें पावत नाही.

नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ॥

न द्वितीयश्च साध्वीनां कचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

याविषयीं हेतु सांगतो—भर्त्यावांचून (अन्यपुरुषापासून) जी प्रजा उत्पन्न होते ती त्या स्त्रियेची शास्त्रीय प्रजा नव्हे, परस्त्रियेचे ठायीं उत्पन्न केलेली प्रजा ती उत्पादकाची प्रजा होत नाही. कोणत्याहि शास्त्रांत साध्वी स्त्रियांला दुसरा पति सांगितला नाही.

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ॥

निंदैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥

जी स्त्री अपकृष्ट (क्षत्रियादिक) आपला पति टाकून उत्कृष्ट (ब्राह्मणादिक) याचा आश्रय करिते ती लोकांत निंदेस पात्र होऊन परपूर्वी (दुसरा पति करणारी) असी लोकांनीं हटली जाते.

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्दताम् ॥

शृगालयोर्नि प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

व्यभिचाराचें फल सांगतो—स्त्री परपुरुषाच्या उपभोगेंकरून इहलोकीं निंदेतें पावते, व मृत शाल्याचंतर कोल्ही होते, आणि कुष्ठादि रोगांही पीडित होते.

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ॥

सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥

जी स्त्री देह, वाचा, मन यांहींकरूनहि व्यभिचार करीत नाही तिला साधु लोक साध्वी असें ह्मणतात, आणि ती भर्त्यासहवर्तमान संपादित लोकांप्रत पावते.

अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ॥

इहाश्रयां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

या सीतीकरून स्त्री मन, वाणी, देह यांहींकरून संयत राहिल्यानें या लोकीं उत्तम कीर्ति पावून पतीसह स्वर्गादि लोकांतें पावते.

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमाशिषीम् ॥

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मयित् ॥ १६७ ॥

दहनधर्म जाणणाच्या द्विजातीनें (ब्राह्मणादिवर्णत्रयानें) सवर्ण, यथोक्ताचाश्रुक्त असी स्त्री पूर्वी मृत शाली असतां अग्निहोत्र अर्पणेंकरून यज्ञपात्रांसह तिचें दहन करावें.

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनंत्यकर्मणि ॥

पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

पूर्वी मृत झालेल्या स्त्रियेला अंत्यकर्मचे ठायीं अग्नि समर्पण करून पुत्रवान् अथवा अपुत्रवान् पुरुषानें गृहस्थाश्रमनिमित्त पुनः विवाह करावा, आणि पुनः आधान (अग्नि-धारण) करावें.

अनेन विधिना नित्यं पंचयज्ञान्न हापयेत् ॥

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

तिसऱ्या अध्यायांत उक्त विधीकरून पंचमहायज्ञ टाकूं नयेत, नित्य करावे. आयुष्याच्या दुसऱ्या भागांत विवाह करून पूर्वोक्त विधीकरून गृहस्थाश्रमाला विहित धर्म आचरण करावे.

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां शौचविधिः पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रमहाराष्ट्रभाषायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अध्याय सहावा.



वानप्रस्थ आणि संन्यास या आश्रमांत राहणारांचे धर्म.

वानप्रस्थधर्मनिरूपण.

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ॥

वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

स्नातक (समावर्तन संस्कार झालेल्या) द्विजातीने पूर्वोक्त प्रकारें करून यथाशास्त्र गृहस्थाश्रमधर्म आचरण करून कृतनिश्चय होत्साता अरण्यांत जाऊन इंद्रियें जिंकून यथाविधि वानप्रस्थाश्रमधर्म आचरण करावे.

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ॥

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

गृहस्थाश्रमी ज्या काली आपल्या देहाची त्वचा शिथिल झाली, केश पांढरे झाले, पुत्राला पुत्र झाला असे पाहील तेव्हां त्यानें विषयांचे ठायीं वैराग्य धरून वनांत प्रवेश करावा.

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ॥

पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

व्रीहि, गहू, यव इत्यादिकांचा आहार; माई, घोडे, शय्या, सपत्ति ह्या सर्वांच्या त्याग करून स्त्री पुत्रांच्या स्वाधीन करून अथवा स्त्रीसहित वनांत गमन करावें.

अग्निहोत्र समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ॥

ग्रामादरण्यं निसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

श्रौताग्नि, गृह्याग्नि, आणि अग्निहोत्राची सर्व सामग्री, स्तुची, स्तुवा इत्यादिक सर्व पात्रे^३ हीं सर्व घेऊन ग्रामांतून अरण्यांत जाऊन इंद्रिये आधीन केलीं होत्साता राहावे.

मुन्यन्नैर्विविधैर्मध्येः शाकमूलफलेन वा ॥

एतान्येव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

मुनींचीं अन्नं ह्मणजे नीवारादिक, अथवा अरण्यांतील नानाप्रकारचीं कंदमूलफले यांहींकरून वानप्रस्थाश्रमी यानें पूर्वेक्त पंचमहायज्ञ यथाविधि प्रत्यहीं करावे.

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ॥

जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

मृगादिकांचें चर्म, वस्त्राच्या चिंध्या, अथवा वृक्षाचीं वल्कलें परिधान करावीं. सायं-कालीं व प्रातःकालीं स्नान करावें. जटा, दाढी, मिशा, लोम, नखें हीं नित्य धारण करावीं.

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्भलिं भिक्षां च शक्तितः ॥

अमूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

या पदार्थांचें भोजन करणें असेल यांहींकरून पंचमहायज्ञ करावे, व भिक्षाहि द्यावी, आश्रमांत आलेल्या अतिथींचा उदक, मूल, फल आणि भिक्षा यांहींकरून सत्कार करावा.

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दातो मैत्रः समाहितः ॥

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकंपकः ॥ ८ ॥

वेदाच्या अभ्यासाविषयीं नित्य तत्पर असावे; शीत व उष्ण, सुख व दुःख इत्यादि द्वंद्व यांतें सहन करणारा; सर्वांवर उपकार करणारा; एकाग्रचित्त; सतत दान करणारा; प्रति-ग्रह न करणारा; सर्वभूतांवर दया करणारा असा असावा.

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ॥

दर्शमस्कंदयन् पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

वैतानिक अग्निहोत्र यथाविधि आचरण करावे, दर्शपौर्णमास पर्वचा सांग न करितां त्या त्या पर्वाच्या योगेंकरून दर्शपौर्णमासस्थालीपाक करावे.

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ॥

उत्तरायणं च क्रमशो दक्षिणायनमेव च ॥ १० ॥

ऋक्षत्रेष्टि, आग्रयण (नवसत्येष्टि), चातुर्मास्ये, आणि उत्तरायण व दक्षिणायन एतत्संबंधी श्रौतकर्तें हीं सर्व कर्मेकरून करावीं.

वासंतशारदैर्मध्येऽमुन्यन्नैः स्वयमातृभृतैः ॥

पुरोडाशांश्चक्ष्वैव विधिवान्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

१ गृह्यसूक्तोक्तांतील अग्नि, आहवनीय व दक्षिणाग्नि यांच्या कुडीत आणणें तें वितान होय, आणि वितानसंबंधी कर्म तें वैतानिक.

वसंतऋतु व शरदृतु यांत उत्पन्न झालेली असून स्वतां आपणलेलीं नीं शुद्ध मुख्यने (नी-
बारादिक धान्ये) त्यांचे पुरोडाश, चरु यथाशास्त्र त्या त्या यागाच्या सिद्धयर्थ संपादन करावे.

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ॥

शेषमात्मनि धुंजीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥

नंतर त्या नीबारादि शुद्ध धान्याचे चरुचा त्या त्या देवतांला होम करून शेष राहि-
लेले आपण भक्षण करावे, आपण उत्पन्न केलेले लवण आणि उषरभूमीत झालेले लवण
इत्यादिक भक्षण करावे.

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ॥

मेध्यवृक्षोद्भवान्यशास्त्रेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥

स्थल, जल यांपासून उत्पन्न झालेल्या शाका; यज्ञिय (यज्ञास योग्य) वृक्षांपासून
झालेली पुष्प, मूल, फळे आणि इंगुदी (हिंणवेठ) इत्यादि वृक्षांचे डीक हे भक्षणे करावे.

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ॥

भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

मधु, मांस, छत्राक, भूस्तृण (शाकविशेष, माळव्यांत प्रसिद्ध आहे), शेवगा, भोकरे
ही वर्ज्य करावी.

त्यजेदाश्वयुजे मांसि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ॥

जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥

पूर्वी संचित नीबारादि धान्य, जीर्ण वस्त्रे आणि शाकमूलफळे हीं सर्व आश्विन मा-
सांत टाकावी.

न फालकृष्टमश्रीपादुत्सृष्टमपि केनचित् ॥

न ग्रामजातान्यातोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

नांगरापासून उत्पन्न झालेले, नांगरलेल्या भूमीजवळ झालेले, व मालकाने टाकलेले,
भात इत्यादि भक्षण करू नये. आणि नांगरावाचूनहि ग्रामांत उत्पन्न झालेली असी लता-
वृक्षांचीं फळे मूळे क्षुधेने व्यांकुळ असतां हि भक्षण करू नयेत.

अग्निपक्वशनी वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ॥

अश्मकुट्टौ भवेद्वापि दंतोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥

अग्नीकरून पक्व झालेले नीबारादि धान्य; अथवा कालेकरून पक्व झालेलीं फलादिक
भक्षण करावी. अथवा पाषाणावर (पाझ्यावर) वाटून बारीक केलेले हिरवेच भक्षण क-
रावे, अथवा दांतरूप उसळाने बारीक केलेले भक्षण करावे.

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा ॥

षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥ १८ ॥

एक दिवस पुरेल इतकें, एक मास निर्वाहं होईल इतकें, अथवा सहा महिने पुरेल इतकें, किंवा एक वर्षपर्यंत पुरेल इतकें नीवारादिक धान्य संचित करावें.

नक्तं चान्नं समश्रीयाद्दिवा वाहत्य शक्तितः ॥

चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाऽप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

दिवसा सामर्थ्यानुरूप अन्न आणून रात्री भोजन करावें, अथवा एक दिवस उपवास करून दुसऱ्या दिवसी सायंकाळीं भोजन करावें, अथवा तीन दिवस उपोषण करून चवथ्या दिवसी रात्री एकवेळ भोजन करावें.

चांद्रायणविधानैर्वा शुक्ले कृष्णे च वर्तयेत् ॥

पक्षांतयोर्वाऽप्यश्रीयाद्यवागूं कथितां पिबेत् ॥ २० ॥

शुक्लपक्षांत व कृष्णपक्षांत चांद्रायणव्रतें (अकराव्या अध्यायांत सांगितलेली) करावी, अथवा अमावास्या व पौर्णिमा या दिवसी सकाळीं अथवा सायंकाळीं यवागूं (द्रवदोदन, आटवल, पातळ भात, कण्हेरी) एकवेळ भक्षण करावी.

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ॥

कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

वानप्रस्थाश्रमी पुरुषाने कालपक्व अथवा अकालपक्व अथवा आपोआप गळलेलीं अशा कंद, मूलफलांहीं करून जीविका करावी.

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ॥

स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्मनः ॥ २२ ॥

नुसत्या भूमीवर लोळत होत्ताता जाणें येणें करावें, पायांचीं अग्रे भूमीवर टेंकून सर्व दिवसभर अथवा काही वेळ बसावें व काहीं हिंडावें. प्रातः, सायं, माध्यान्ह या त्रिकाळीं ज्ञान करावें.

ग्रीष्मे षंचतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ॥

आर्द्रवासास्तु हेमंते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥

आपल्या तपाची वृद्धि करण्याकरितां ग्रीष्मऋतूचे ठायीं चार दिशांला चार अग्नि व वर सूर्य अशा पांच अग्नींचें सेवन करून तप करावें. वर्षाऋतूंत जेथें पर्जन्य पडत असेल तेथें छत्री इत्यादि आवरणरहित राहावें. हेमंतऋतूंत (शीतकाळांत) ओलें वस्त्र परिधान करून राहावें, याप्रमाणें वार्षिक नियम धरून तप करावें.

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत् ॥

तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

त्रिकाल ज्ञान करून देवपितरांचें तर्पण करावें, आणि पक्षमासोपवासादिक व्रतें धारण करीत होत्ताता उग्र तप करून आपल्या देहाचे शोषण करावें.

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ॥

अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥

यथाविधि अग्निहोत्रसंबंधी अग्नीचा समारोप आत्म्याचे ठायीं करून पश्चात् अग्नि-
रहित, स्थानरहित होत्साता मौनव्रत धरून मूलें, फलें भक्षण करणारा होऊन शास्त्र-
विचार करावा.

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ॥

शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

सुखाला कारण अशा मधुरफलांचें भक्षण, शीतोष्णाचा परिहार करणारीं वस्त्रें व छ-
त्रादिक यांविषयीं प्रयत्नशून्य राहावें; ब्रह्मचारी (स्त्रीसंभोगरहित) होत्साता भूमिशय-
न करावें. वृक्षांच्या मूर्ती वास करावा, निवासस्थानांविषयीं ममता धरूं नये.

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ॥

गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

फलमूलें न मिळतील तर वानप्रस्थ ब्राह्मणांपासून, प्राणधारण मात्र होईल इतकी भि-
क्षा आणावी. वानप्रस्थ ब्राह्मणांचा असंभव असतां वनवासी गृहस्थाश्रमी द्विजांपासून
भिक्षा आणावी.

ग्रामादात्तृत्य वाश्चीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ॥

प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

गृहस्थाश्रमी द्विजांपासून भिक्षेचा असंभव असतां गांवांतून भिक्षाला आणून त्याचे आ-
ठ ग्रास वृक्षांच्या पानांवर, अथवा मातीच्या परळांत, किंवा हातावर घेऊन वानप्रस्थानें
भक्षण करावे.

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ॥

विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥

वानप्रस्थानें हे नियम, व इतर वानप्रस्थशास्त्रोक्त नियम यांचा अभ्यास करावा. आणि
उपनिषदांत सांगितलेल्या नानाविध श्रुतींचा (ब्रह्मप्रतिपादक वाक्यांचा) अभ्यास आत्म्याला
ब्रह्मज्ञान प्राप्त होण्याकरितां करावा.

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ॥

विद्यातपोविवृद्धयर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

शरीराची शुद्धि होण्याकरितां, आणि अद्वैतब्रह्मज्ञान व तप यांची वृद्धि होण्याकरितां
ऋषि, गृहस्थ ब्राह्मण, संन्यासी, वानप्रस्थ या सर्वांनीं ह्या उपनिषच्छ्रुति अभ्यासिल्या
आहेत, तस्मात् यांचा अवश्य अभ्यास करावा.

अषराजितां वास्थाय ब्रजेद्दिशमजिह्मगः ॥

आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

परिहार होण्यास अशक्य व्याधि उत्पन्न झाला असतां वायु, उदक भक्षण करून योग छ, सरळगतियुक्त असा होत्साता शरीराचें पतन होईपर्यंत ऐशानी दिशीप्रत गमन करावें.

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम् ॥

वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

महान् महान् ऋषीर्नी आचरण केलेल्या पूर्वोक्त अनुष्ठानांतून कोणत्या एका अनुष्ठाने-
रून शरीराचा त्याग करून ब्राह्मण शोकभयापासून मुक्त होत्साता मोक्षाला पावतो.

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ॥

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

या रीतीनें आयुष्याचा तिसरा भाग वनामध्ये घालवून सर्व संगांचा परित्याग करून आ-
याच्या चतुर्थभागांत संन्यास ग्रहण करावा.

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेंद्रियः ॥

भिक्षावलिपरिश्रांतः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

इंद्रियांतें जिकीत होत्साता होमाची समाप्ति करून एका आश्रमांतून दुसऱ्या आश्रमां-
जाऊन भिक्षा आणि बलिकर्म यांच्या चिरकाल आचरणानें श्रांत (थकला) असतां
न्यास ग्रहण करणारा परलोकीं मोक्षातें पावतो.

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

आश्रमसमुच्चय (चार आश्रम) पक्षाचा आश्रय करणारा ब्राह्मण पुढच्या श्लोकांत
गितलेल्या तीन ऋणांतून मुक्त झाल्यावांचून संन्यासाविषयीं मन करील तर तीं ऋणें
इल्यावांचून संन्यास ग्रहण करणारा नरकाप्रत जातो.

अधीत्य विधिवद्देवान् पुत्राश्चोत्पाद्य यत्नतः ॥

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

तीन ऋणें कोणतीं तीं सांगतो—उत्पन्न झालेला ब्राह्मण देव, पितर आणि ऋषि
तिघांचा ऋणी होतो. यास्तव यथाशास्त्र वेदाचें अध्ययन करून (ऋषिऋणापासून),
श्रोतपोदन करून (पितृऋणापासून), आणि यथासामर्थ्य ज्योतिष्टोमादियज्ञ करून
देवऋणापासून) मुक्त होऊन नंतर चतुर्थाश्रम धारण करावा.

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ॥

अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

वेदाध्ययन केल्यावांचून, पुत्र उत्पन्न केल्यावांचून, आणि यज्ञ केल्यावांचून संन्यास
ग्रहण करणारा द्विज नरकाप्रत जातो.

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्दृहात् ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणाने प्रजापतिदेवताक इष्टि करून सर्वस्वदक्षिणा देऊन नंतर आत्म्याचे ठायीं अभिसमारोप करून वानप्रस्थाश्रमपूर्वक चतुर्थाश्रम (संन्यास) ग्रहण करावा. आश्रम-समुच्चयपक्ष नसेल तर ब्रह्मचर्यापासूनच संन्यास ग्रहण करावा.

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रब्रजत्यभयं गृहात् ॥

तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

जो ब्राह्मण सर्व स्यावर जंगम प्राण्यांला अभय देऊन गृहस्थाश्रमापासून संन्यास ग्रहण करितो त्या ब्रह्मनैष्ठिकाला हिरण्यगर्भादिकांचे तेजोमय लोक प्राप्त होतात.

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ॥

तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

ज्या ब्राह्मणापासून सर्व जीवांला अल्पहि भय प्राप्त होत नाही, तो देहापासून मुक्त आहे यास्तव त्याच्या देहाचा नाश झाला असतां कोणालाहि भय नाही.

अगारादभिनिष्क्रांतः पवित्रोपचितो मुनिः ॥

समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

दंड कमंडलु इत्यादिकांनीं युक्त, मौनी असा गृहापासून निघाला होताता तत्काळी कोणी मनुष्याने इच्छित पदार्थ समीप पाठविले असतां त्यांविषयीं निरिच्छ होऊन ग-मन करावे.

एक एव चरेन्नित्यं सिद्धचर्यमसहायवान् ॥

सिद्धिमेकस्य संपश्यन्नजहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

जो सर्वसंगरहित, एकाकी त्यासच मोक्षप्राप्ति होते असें जाणून सहायरहित सर्वदा एकाकीच मोक्षार्थ संचार करावा. एकाकी संचार केला असतां हा कोणाचाहि त्याग करीत नाही व याचाहि कोणी त्याग करीत नाही.

अनघिरनिकेतः स्याद्ग्राममन्त्रार्थमाश्रयेत् ॥

उपेक्षकोऽशंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

अग्नि व गृह या दोहोंनीं रहित, स्थिरमति, ब्रह्मचिंतन करणारा, शरीराला रोगादिक झाले असतां प्रतीकाररहित होताता दिवसरात्र अरण्यांत राहावे, व भिक्षेसाठीं मात्र ग्रामाचा आश्रय करावा.

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ॥

समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्युक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

भिक्षेकरितां मृत्तिकेचें पात्र; शयन करण्यासाठीं वृक्षमूले; चिंध्या, कौपीन हीं परिधान वस्त्रे; एकाकी; निष्कामता; आणि सर्वत्र ब्रह्मबुद्धीकरून समदृष्टि हीं सर्व मुक्तीचीं साधनें आहेत यास्तव हींच मुक्तीचीं लक्षणे जाणवी.

नाभिनंदेत मरणं नाभिनंदेत जीवितम् ॥

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४९ ॥

मरण आणि जीवन या दोहोंचीहि इच्छा करूं नये, तर जसा सेवक यजमानाच्या आज्ञेची प्रतीक्षा करितो तद्वत् स्वकर्माधीन मरणकालाचीच प्रतीक्षा करावी.

दृष्टिपूतं न्यसेत्यादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

केश, हाडे इत्यादिक भूमीवर पतन पावलेलीं असतात यास्तव तत्परिहारार्थ नेत्रांनी शुद्ध भूमि पाहून पाऊल टाकावे, जळांत सूक्ष्म प्राणी इत्यादिक राहतात एतदर्थ तन्निवारणार्थ वस्त्रानें गाळलेलें उदक प्राशन करावे. सत्यानें पवित्र वाणी बोलावी, संकल्पशून्य मन करून सर्वदा पवित्रात्मा असावे.

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ॥

न चेयं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

दुसऱ्या मनुष्याचीं निष्ठुर भाषणें सहन करावीं, कोणाचा तिरस्कार करूं नये, व कोणाचा अपमानहि करूं नये. या क्षणिक देहाचा आश्रय करून कोणाशीं वैरभाव करूं नये.

क्रुध्यंतं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

आपणावर कोणी क्रुद्ध झाला असतांहि आपण क्रुद्ध होऊं नये; आपली कोणी निंदा केली असतांहि त्याप्रत कुशल वाणीनें बोलवे, निंदा करूं नये; चक्षुरादिक पांच आणि मन, बुद्धि हीं दोन मिळून सात या सांतांनीं जो पदार्थ ग्रहण केला त्याविषयीं वाणीची प्रवृत्ति होते, त्या सात द्वाराहीं करून गृहीत जो अर्थ तद्विषयक वाणी बोलू नये, ब्रह्मविषय विरहित जी वाणी ती असत्य आहे याकरितां सत्य बोलवे, सत्य हे ब्रह्म आहे, यास्तव ब्रह्मविषयक वाणी बोलावी.

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ॥

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥

सर्वदा ब्रह्मचिंतन करणारा, स्वस्तिकादिक योगासनांविषयीं नैष्ठिक, निरिच्छ, विषयेच्छारहित, केवळ मोक्षसुखाची मात्र इच्छा करणारा होत्साता एकाकी या संसारंत संचार करावा.

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्रांगविदया ॥

नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

भूकंपादिक उत्पात, नेत्रस्फुरणादिक निमित्त, नक्षत्रें, हस्तरखा यांचें फल कथन करून; नीति, शास्त्रार्थ यांचा उपदेश करून कदापि भिक्षा घेण्याची इच्छा करूं नये.

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ॥
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरगारमुपसंत्रजेत् ॥ ५१ ॥

तपस्वी (वानप्रस्थ), अथवा इतर ब्राह्मण, पक्षी, कुत्रे, भिक्षुक यांहींकरून व्याप्त गृहीं भिक्षेसाठी जाऊ नये.

कृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्रा दंडी कुसुंभवान् ॥
विचरोन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

कृप्त (छिन्न) आहेत केश, नखे, श्मश्रु ज्याचीं असा असावा. भिक्षापात्र, दंड, कमंडलु, यांहीं युक्त असावे, सर्व प्राण्यांला पीडा न करितां निश्चित होत्साता सर्वदा परिश्रमण करावे.

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्घ्रणानि च ॥
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥

यतींचीं पात्रें सुवर्णादिधातुवर्जित, छिद्ररहित असीं असावीं; यज्ञाचे ठायीं चमस-पात्रांची शुद्धि जशी उदकानें होते तद्वत् यतिपात्रांची शुद्धि उदकानेच जाणावी.

अलाबुं दासपात्रं वा मृन्मयं वैदलं तथा ॥
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वार्थभुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

अलाबु (भोपळा), काष्ठपात्र, मृन्मयपात्र, अथवा बांबूचें पात्र, हीं यतिपात्रें होत, असें स्वार्थभुव (ब्रह्मदेवाचा पुत्र) मनु बोलता झाला.

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ॥
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

प्राणरक्षण होईल इतकी एकवेळ भिक्षा मागावी, तीहि बहुत मागूं नये, कारण, बहुत भिक्षा भक्षण करणारा यति प्रधान धातुवृद्धीच्या योगानें स्त्री इत्यादिक विषयांचे ठायींहि आसक्त होतो.

विधूमे सन्नमुसले व्यंगारे मुक्तवज्जने ॥
वृत्ते आरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

धूम, मुसलचे शब्द, अंगार (निस्तारे), यांहीं विरहित गृह ज्या काळीं होईल आणि गृहस्थपर्यंत सर्व मनुष्यांचें भोजन होऊन सर्व उच्छिष्ट पात्रें टाकतील त्या काळीं यतीनें नित्य भिक्षा मागावी. झणजे सुमारे सहा घटिका दिवस शेष राहिल असतां मागावी असें सामान्येंकरून सांगितले.

अलाम्भे न विषादी स्याल्लाम्भे चैव न हर्षयेत् ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्वान्मात्रासंगादिनिर्गतः ॥ ५७ ॥

भिक्षा न मिळाली असतां विषाद मानूं नये, मिळाली असतां हर्ष मानूं नये. जेणेकरून केवळ प्राणरक्षण होईल इतकें भोजन करून राहावे. दंड, कमंडलु इत्यादिक सामग्रीचे

ठायींहि आसक्त होऊं नये, ह्मणजे हा दंड चांगला नाही, हा टाकीन; हा दंड चांगला आहे, हा ग्रहण करीन असी आसक्ति करूं नये.

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ॥

अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ५८ ॥

पूजापूर्वक ज्या भिक्षा प्राप्त होतात त्या सर्वदा निंद्य मानाव्या, ह्मणजे त्या स्वीकारूं नयेत, कारण, पूजापूर्वक लाभांचा स्वीकार केला असतां यति जरी मुक्त आहे तथापि तो दात्याच्या स्नेहमहत्वादिकांच्या योगाने जन्मबंध पावतो.

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ॥

निहयमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

अल्प भोजन करणे आणि एकांतस्थानीं रहाणे यांहींकरून विषयांपासून इंद्रिये परावृत्त करावीं.

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेन च ॥

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

इंद्रियांचा निरोध, रागद्वेषांचा क्षय, आणि सर्व जीवांची अहिंसा यांहींकरून मोक्षाला योग्य होतो.

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ॥

निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

कर्मदोषापासून उत्पन्न होणाऱ्या मनुष्यांच्या गति (पश्चादिदेहप्राप्ति), नरकांत पतन, आणि यमलोकीं नरकस्थ प्राण्याला तीक्ष्णशस्त्रच्छेदापासून होणाऱ्या तीव्रवेदना हे सर्व प्रकार श्रुतिपुराणांत सांगितलेले चिंतन करावे.

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथा प्रियैः ॥

जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

प्रिय ह्मणजे इष्टपुत्रादिक यांचा वियोग, अप्रिय ह्मणजे शत्रुहिंसकादिक यांचा योग, वृद्धावस्थेमध्ये अनादर, आणि व्याधीपासून होणाऱ्या नानाविध पीडा हीं सर्व कर्मदोषापासून उत्पन्न होतात असा विचार करावा.

देहादुक्कमणं चास्मात्पुनर्गर्भं च संभवम् ॥

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यांतरात्मनः ॥ ६३ ॥

या जडदेहापासून जीवाच्याचें गमन, तसेंच देहांत असतां कफादिदोषांनीं कंठ दाटून अंती असें वा वेदना प्राप्त होते, गर्भवासांतून बाहेर येवे समयीं अनेक दुःखे अनुभवितो, आणि आपल्या कर्मानुरूप कुत्रे, कोल्हे इत्यादि नीच योनि कोटिशः धारण करितो यांचा सर्व विचार करावा.

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ॥

धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

जीवात्म्याला अधर्मापासून उत्पन्न होणारा दुःखसंबंध, आणि धर्मापासून उत्पन्न होणारा जो ब्रह्मसाक्षात्कार त्यापासून उत्पन्न होणारा मोक्षलक्षण अक्षय ब्रह्मसुखसंयोग या सर्वांचे चिंतन करावे.

सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः ॥

देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

योगेकरून ह्मणजे अन्यविषयांपासून चित्तवृत्तीच्या निरोधेकरून परमात्म्याची सूक्ष्मता (निरवयवता) पाहावी, आणि त्या सूक्ष्मतेच्या त्यागेकरून उत्तम, नीच अशा पश्चादिशरीरांचे ठायीं जीवांची शुभाशुभफलभोगार्थ उत्पत्ति (अधिष्ठान) याचे चिंतन करावे.

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ॥

समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

कोणत्याहि आश्रमांत राहणारा असून आश्रमधर्माने रहित जरी असेल तथापि त्यानें सर्व भूतांचे ठायीं ब्रह्मबुद्धीकरून समदृष्टिरूप जो धर्म तो मात्र आचरण करावा. काषायवस्त्रादिक जे चिन्ह ते धर्माला कारण नाही, तर विहितानुष्ठान हेच कारण आहे.

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यंबुप्रसादकम् ॥

न नामग्रहणादेव तस्य बारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

याविषयीं दृष्टांत सांगतो—कतक वृक्षाचे फल गढुळलेल्या उदकाला जरी स्वच्छ करणारे आहे तथापि त्या फलाचे केवळ नामोच्चारण केल्यानें उदक स्वच्छ होत नाही, तर ते फल उदकांत टाकावे त्या काळीं ते स्वच्छ होतें, तसें केवळ चिन्ह धारण करणें ते धर्माला कारण नाही, तर विहिताचरण हेच कारण आहे.

संरक्षणार्थं जंतूनां रात्रावहनि वा सदा ॥

शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

आपल्या शरीराला पीडा होईल तत्रापि होवो, परंतु सूक्ष्म पिपीलिकादि प्राण्यांच्या रक्षणाकरितां रात्रीं अथवा दिवसा सार्वकाल भूमि पाहून चालावे ह्मणजे तेणेकरून कोणत्याहि जीवाची हिंसा घडणार नाही.

अन्हा रात्र्या च यान् जंतून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ॥

तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥ ६९ ॥

याविषयीं प्रायश्चित्त सांगते—जो यति दिवसा अथवा रात्रीं अज्ञानेकरून जे जीव मारितो त्यांचे हननापासून उत्पन्न होणाऱ्या पातकाच्या नाशार्थ यतीनें स्नाव करून सहा प्राणायाम करावे. व्यावृत्ति, प्रणव एतत्सहित गायत्री, शिरसासह प्राणवायुरोधपूर्वक त्रिवार पठण करावी तो प्राणायाम होय.

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ॥

व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

सप्तव्याहृति, दशप्रणव, गायत्री, शिर, यांहीकरून युक्त प्राणायाम पूरक, कुंभक, रेचक विधीकरून ब्राह्मणाने केले असतां तेच त्याचे परम तप जाणावे.

दह्यंते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ॥

तथैन्द्रियाणां दह्यंते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

जसे सुवर्ण, रूपे इत्यादि धातु मुर्शीत घालून अग्नीकरून तापविले असतां त्यांचे मळ दग्ध होतात, तद्वत् प्राणायामेकरून मन विषयांपासून परावृत्त होऊन मनाचे रागादिक दोष, व चक्षुरादिकांचे विषयप्रवणत्वादिकोष प्राणनिग्रहेकरून दग्ध होतात.

प्राणायामैर्देहदोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ॥

प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

प्राणायाम करून राग, द्वेषादि दोषांचे दहन करावे. धारणा ह्मणजे परब्रह्माचेठायीं मन लावणे तेणेकरून पापाचा नाश करावा. प्रत्याहार ह्मणजे विषयांपासून इंद्रियांची आकर्षणे यांहीकरून विषयांचे संबंध दूर करावे. ब्रह्मध्यान ह्मणजे तो परमात्मा मी आहे असा सजातीय प्रत्ययप्रवाह तेणेकरून अनीश्वर गुण (क्रोध, लोभ, मोहादिक) जिंकावे.

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ॥

ध्यानयोगेन संपश्येद्व्रतिमस्यांतरात्मनः ॥ ७३ ॥

उच्च नीच देहांचे ठायीं ह्मणजे देवपश्वादिकांचेठायीं ह्या अंतरात्म्याची (जीवाची) गति (जन्मप्राप्ति) ध्यानाच्या अभ्यासेकरून कारणसहित जाणावी. जी गति शास्त्रोक्त-संस्काररहितअंतःकरणी पुरुषाला कष्टेकरूनहि दृष्टिगोचर नाही.

सस्यदर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ॥

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

ज्या पुरुषाला ब्रह्मसाक्षात्कार होतो तो कर्मांनी बद्ध होत नाही, कारण, ब्रह्मज्ञानेकरून पूर्वजित पुण्यपापाचा नाश होतो. ज्याला ब्रह्मसाक्षात्कार झाला नाही तो जन्ममरणरूप बंधात पावतो.

अहिंसयैन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ॥

तपसश्चरपैश्चोद्यैः साधयंतीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

अहिंसा, इंद्रियांचा असंग (विषयसंगपरिहार), वेदिक नियमकर्म, आणि उपवास, कच्छत्रांश्रांयणादिक उग्रतपस्या यांहीकरून बुद्धिमान् लोक ब्रह्मपदाप्रत पावतात.

अस्थिस्थूणं त्रायुयुतं सांसृज्योणितलेपनम् ॥

चर्मवन्नदं दुर्गंधि पूर्णं घृत्रपुसीषयोः ॥ ७६ ॥

सराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ॥

रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

आतां मोक्षप्राप्तीचा अंतरंग उपाय व संसारापासून वैराग्य होण्याकरितां देहाचे स्वरूप श्लोकद्वयाने सांगतो—अस्थि ही ज्याचे खांब; मोठ्या शिरारूप रज्जूनी बद्ध; मांस, रुधिर यांहींकरून लिप्त; चर्माने आच्छादित; विष्टा, मूत्र यांहींकरून पूर्ण अतएव दुर्गंधि; जरा आणि शोक यांहींकरून व्याप्त; रोगांचे गृह; आतुर (क्षुभ्रा, पिपासा, शीत, उष्ण, इत्यादिकेकरून सभय चंचल), रजोगुणाने युक्त; अनित्य (नाशयुक्त); पृथिव्यादि पंचभूतांचे वसतिस्थान असा जो देह तो जीवाचे गृह आहे, याचा त्याग करावा, ह्मणजे ने कर्म केल्याने पुनः देहसंबंध होणार नाही ते कर्म करावे.

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ॥

तथात्यजन्निमं देहं रुच्छाद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

ब्रह्मोपासकाला देहत्यागसमयी मोक्ष प्राप्त होतो, आणि जो मनुष्य देहपात हा कर्माधीन आहे असे जाणतो तो, जसा वृक्ष नदीच्या तटाकाचा त्याग करितो तद्वत होय-ह्मणजे देहपातात न जाणत होत्साता, नदीच्या वेगाने जसा वृक्ष पडतो तसा अब्रह्मोपासकाला देहपातात पावतो, आणि जो ज्ञानकर्माच्या प्रकर्षेकरून स्वाधीनमृत्यु होतो तो पक्ष्यासारखा (पक्षी जसा स्वेच्छेने वृक्ष सोडितो तद्वत) ह्या देहाचा त्याग करित होत्साता सारकष्टरूप ग्राहापासून मुक्त होतो.

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमाप्रियेषु च दुष्कृतम् ॥

विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥

ब्रह्मवेत्ता पुरुष आपल्या हितकारींचे ठायीं सुकृत आणि अहितकारींचे ठायीं दुष्कृत टाकून ध्यानयोगेकरून नित्य ब्रह्माचे ठायीं लीन होतो.

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः ॥

तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

ज्या कालीं परमार्थेकरून विषयांचे ठायीं दोषभावना प्राप्त झाल्याने विषयांचे ठायीं निस्पृह होतो त्या कालीं इहलोकीं संतोषजन्य सुख व परलोकीं अविनाशि मोक्षसुख यात पावतो.

अनेन विधिना सर्वस्वयत्त्वा संगान् शनैः शनैः ॥

सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

पुत्र, स्त्रिया, क्षेत्रे इत्यादिकांचे ठायीं ममत्तारूप सर्व संग क्रमाने टाकून काम, क्रोध, शीत, उष्ण इत्यादिक जे द्वंद्वपदार्थ त्यांपासून मुक्त होऊन यथोक्त ज्ञानकर्मांचे अनुष्ठान करून ब्रह्माचे ठायींच आत्यंतिक लय पावतो.

ध्यानिकं सर्वमेतत्तदेतदभिशाब्दितम् ॥

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित्क्रियाफलमुपाश्रुते ॥ ८२ ॥

पुत्रादिकांचे ठायीं ममतेचा त्याग, आणि मानापमानादिक द्वंद्वपदार्थांचें सहन हें जें सर्व सांगितलें तें जीवात्म्याचें परमात्मत्वेकरून ध्यान केलें असतां होतें. ज्या कार्त्ती आत्मा हा परमात्मा होय असें जाणवो त्या कार्त्ती त्याला ममता, मानापमान इत्यादि कांहीं होत नाहीं. आत्म्याला परमात्मत्वेकरून जो पुरुष जाणत नाही त्याला क्रियाफलें (ममता-त्याग, मानापमानादिकांचा नाश आणि मोक्ष) प्राप्त होत नाहीत.

अधियज्ञं ब्रह्मजपेदाधिदैविकमेव च ॥

अध्यात्मिकं च संततं वेदांताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

यज्ञ, देवता, आणि जीव या सर्वांच्या अधिकारेंकरून जें वेदांत आणि वेदांतशास्त्रांत सांगितलें ब्रह्मस्वरूप या सर्वांचें प्रतिपादन करणारा जो वेद त्याचा जप करावा.

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विज्ञानताम् ॥

इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानंत्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

वेदाचा अर्थ न जाणणारे यांला, वेद हा केवळ पाठमात्रानें पातकाचा नाश करणारा असल्यामुळें शरण (गति) आहे, त्याचा अर्थ जाणणारे यांला तर अत्यंत गति देणारा होय, स्वर्ग व मोक्ष यांची इच्छा करणारे यांला तर ते ते उपाय सांगणारा असल्यामुळें त्यांच्या प्राप्तीला कारण आहे.

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ॥

स विधूयेह पाप्मानं परब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

यथाक्रमानें सांगितलेल्या ह्या अनुष्ठानेंकरून जो द्विज संन्यासाश्रम धारण करितो तो इहलोकीं सर्व पाप टाकून परब्रह्माप्रत पावतो, ह्मणजे ब्रह्मसाक्षात्कारेंकरून उपाधिशरीराचा नाश होऊन ब्रह्माच्या ऐक्यतेप्रत पावतो.

एष धर्मोऽनुशिष्टो यो यतीनां नियतात्मनाम् ॥

वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

भृगु सांगतो, हे ऋषि हो, मी तुझाला कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस असे जे चार प्रकारचे नियतात्मे यती ह्या सर्वांचा साधारण धर्म सांगितला, आतां यतींमध्ये विशेष जे वेदविहितादिकर्मयोगी कुटीचक संन्यासी त्यांचा असाधारण धर्म सांगतो, श्रवण करा.

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ॥

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आणि यति हे चारही आश्रम पृथक् पृथक् गृहस्थापासून उत्पन्न होणारे आहेत.

सर्वेऽपि क्रमशस्वेते यथाशार्त्तं निषेविताः ॥

यथोक्तकारिणं विप्रं नयति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

क्रमेकरून हे चारहि आश्रम यथाशास्त्र ज्या पुरुषानें सेवन केले, (अथवा तीन, दोन, एकहि यथाविधि सेवन केला) त्या ब्राह्मणाला ते मोक्षलक्षण उत्तम गतीप्रत नेतात.

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ॥

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्ति हि ॥ ८९ ॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आणि संन्यास हे जे चार आश्रम यांमध्ये वेद व स्मृति यांचें विधान जें अग्निहोत्रादिक ते यांत असल्यामुळे गृहस्थाश्रम मन्वादिकांनीं श्रेष्ठ झटला आहे. कारण, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, आणि यती यांचें पोषण गृहस्थ करितो यास्तवहि श्रेष्ठ झटला आहे.

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यांति संस्थितिम् ॥

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यांति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

जसे नदी, नद हे सर्व सागराचे ठायीं जाऊन स्थिति पावतात, तद्वत् सर्व आश्रमी गृहस्थाचे ठायीं स्थिति पावतात.

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमभिर्द्विजैः ॥

दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, आणि संन्यासी या चार आश्रमी द्विजातींनींहि पुढे सांगण्याचा दशलक्षण (दहा लक्षणे ज्यांची आहेत ती) धर्म मोठ्या यत्नानें सर्वदा सेवन करावा.

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ ९२ ॥

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९३ ॥

धर्माचीं दशलक्षणे स्वरूपेकरून वे संख्यादिकानें दाखवितो—धृति (धैर्य), क्षमा, दम (विषयांपासून मनोनिग्रह करणें), अस्तेय (अन्यायानें घन ग्रहण न करणें), शौच (यथाशास्त्र मृत्तिका व जल यांहींकरून देहशुद्धि करणें), इन्द्रियनिग्रह, धी (शास्त्रादितत्त्वज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य (यथार्थकथन), अक्रोध (क्रोधाचें कारण असतांहि तो उत्पन्न न होणें), हे दहा प्रकारचे धर्माचे स्वरूप आहे.

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ॥

अधीत्य चानुवर्तते ते यांति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

धर्माचीं पूर्वोक्त दहा लक्षणे जे ब्राह्मण पठण करितात आणि पठण करून तीं सर्व जाणून जे आचरण करितात ते ब्रह्मज्ञानाच्या उत्कर्षेकरून मोक्षलक्षण उत्तम गतीप्रत प्राप्त होतात.

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः ॥

वेदांतं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनुणो द्विजः ॥ ९४ ॥

निश्चित होत्साया द्विजाने पूर्वोक्त दशलक्षण धर्म आचरण करावा, आणि उपनिषदां-
त सांगितलेली जी वेदांतवाक्ये त्यांचा अर्थ, अध्ययनाचे धर्म हीं सर्व गृहस्थाश्रमांत
गुरूमुखापासून श्रवण करून तीन ऋणांपासून मुक्त होत्साता संन्यास ग्रहण करावा.

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ॥

नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखे वसेत् ॥ ९५ ॥

गृहस्थाश्रमांत करण्यास योग्य अशा अग्निहोत्रादिक कर्मांचा त्याग करून अब्रात जंतु-
वधादि कर्मांपासून उत्पन्न झालेलीं पातकें प्राणायामादिकें करून नाश करून इंद्रियदमन
करीत होत्साता वेदाचा (उपनिषदांचा) अभ्यास करून पुत्राच्या गृहीं सुखें करून राहावे.

एवं सन्न्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ॥

संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

पूर्वोक्त प्रकारें करून कर्तन करणाराने अग्निहोत्रादिक गृहस्थाश्रमसंबंधी कर्म टाकू-
न आत्मसाक्षात्काररूप आपल्या कार्याविषयी तत्पर व बंधनाला कारण जे स्वर्गादिक
त्याविषयी निस्पृह होऊन संन्यास घेऊन पातकांचा क्षय करावा, नंतर तो ब्रह्मसाक्षात्कार
पावून मोक्षलक्षण उत्तम गतीप्रत पावतो.

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ॥

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

भृगु सांगतो, हे ऋषिहो, मी तुझाला ब्राह्मणाचा धर्म ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ
इत्यादिभेदाने चार प्रकारचा, पुण्यकारक, परलोकीं अक्षय फल देणारा असा सांगितला,
आतां यापुढे राजांचे धर्म सांगतो, श्रवण करा.

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे महाराष्ट्रभाषायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अध्याय सातवा.

राजधर्मनिरूपण.

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ॥

संमवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥

क्षत्रियकुळांत उत्पन्न झालेला असून ज्याच्यावर यथाविधि सज्याभिषेक झालेला आणि
देश, नगरे यांचे संरक्षण करणारा जो पुरुष तो राजा असा झटला आहे. ज्या प्रकारें
करून राजाची उत्पत्ति, राजाची परम सिद्धि आणि त्याचे आचरण कसे असवे हे सर्व
राजधर्म तुझाला सांगेन.

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ॥

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

ज्याचा यथाविधि उपनयन (मौंजी) संस्कार झालेला असेल अशा क्षत्रियानें आपल्या देशांत राहणाऱ्या संपूर्ण प्रजांचें शास्त्रानुसार नियमानें रक्षण करावें.

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ॥

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥

हें सर्व जगत् अराजक (राजरहित) असतां बलवंतांपासून निर्बलांस भय प्राप्त होऊन सर्वत्र हाहाकार झाला त्या कार्त्ती प्रभु (ब्रह्मदेव) या सर्व जगताच्या रक्षणाकरितां राजाला उत्पन्न करिता झाला.

इंद्रानिलयमार्काणामग्रेऽथ वरुणस्य च ॥

चंद्रविन्नेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

प्रभूनें राजाला कसें उत्पन्न केलें तें सांगतो—इंद्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चंद्र आणि कुबेर यांचे सारभूत अंश घेऊन त्यांपासून राजा उत्पन्न केला.

यस्मादेषां सुरेंद्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ॥

तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

ज्या कारणास्तव पूर्वोक्त इंद्रादि श्रेष्ठ देवतांच्या अंशांपासून राजा उत्पन्न झाला आहे त्या कारणास्तव राजा हा आपल्या तेजेंकरून सर्व जीवांचा पराजय करितो.

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ॥

न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

राजा पाहणाऱ्यांच्या नेत्रांला आणि मनाला आपल्या तेजेंकरून सूर्याप्रमाणें संताप करितो, ग्रथिवीचे ठावीं कोणी पुरुष राजाचे समोर उभा राहून त्याला पाहण्याविषयी समर्थ होत नाही.

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोर्कः सोमः स धर्मराट् ॥

स कुबेरः स वरुणः स महेंद्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

राजा अग्नि आहे; वायु, सूर्य, चंद्र एतद्रूपी राजा आहे; न्यायाविषयीं साक्षात् धर्मराज होय; आणि तो पराक्रमेंकरून इंद्र, कुबेर, वरुण यांसारखा आहे.

बालोऽपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिषः ॥

महती देवता तेषां नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

सजा कदाचित् बाल जरी असेल तथापि “इतर मनुष्यासारखाच हाहि एक मनुष्य आहे” अशा बुद्धीकरून त्याचा अपमान कदापि करूं नये. कां की, मनुष्यरूपेंकरून कोणी एक ही मोठी देवता स्थित आहे. येणेंकरून देवतेची अवज्ञा केली असतां अधर्मादिक अदृष्ट दोष होतात असे सांगितले.

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरूपसर्पिणम् ॥

कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥

जो कोणी मनुष्य अग्नीच्या अति समीप जातो त्याला एकव्यालाच अग्नि जाळितो, त्याच्या पुत्रादिकांचें दहन करित नाही, परंतु राजरूपी अग्नि तर पुत्र, स्त्रिया, भाते; गाई, अश्व इत्यादिक पशु व सुवर्णादि धनसंचय यांसहवर्तमान सापराध कुळाचा नाश करितो.

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ॥

कुरुते धर्मसिद्धयर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

तो राजा स्वकीय कार्य कोणतें आहे; स्वकीय सामर्थ्य किती आहे; तसेंच देश, काल, वर्तमान हीं कशीं आहेत या सर्वांचा पोक्त विचार करून तत्त्वकार्याची सिद्धि होण्याकरितां तत्त्वपूर्वक वारंवार नानाप्रकारचीं स्वरूपें धारण करितो. ह्मणजे आपली निर्वल दशा असतां शत्रूला क्षमा करितो, सामर्थ्य असल्यास नाश करितो. याप्रमाणें स्वकीय राज्याविषयीं देशकालाला अनुसरून शत्रु, अथवा मित्र, उदासीन होतो. तस्मात् राजाहून मी श्रेष्ठ आहे असें मानून त्याचा कोणी अपमान कदापि करूं नये.

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ॥

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ११ ॥

ज्याच्या प्रसादाचे ठायीं मोठी श्री राहते, ज्याच्या पराक्रमाचे ठायीं विजय राहतो, ज्याच्या क्रोधाचे ठायीं मृत्यु राहतो. ह्मणजे ज्याच्या प्रसादेकरून मोठी श्री (संपत्ति) प्राप्त होते यास्तव श्रीकाम पुरुषानें राजाची सेवा करावी. संतोषित राजा, ज्याला शत्रु असतील त्या शत्रूंचाहि नाश करितो यास्तव शत्रुवधाची इच्छा करण्याप्यानें हि राजसेवा करावी. राजा ज्याच्यावर क्रुद्ध होतो त्याला मरणाति शिक्षा करितो, यास्तव जीवनें च्छु पुरुषानें रानाला क्रोध येईल असें कृत्य करूं नये, कां कीं, पूर्वोक्त सूर्यादि देवतांचें तेज राजा धारण करितो.

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ॥

तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

जो मनुष्य अज्ञानेकरून राजाचा द्वेष करितो, तो निःसंशय नाश पावतो, कारण, राजा त्याचा नाश करण्याकरितां शीघ्र मन धारण करितो.

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ॥

अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥

ज्या हेतूस्तव राजा सर्वतेजोमय आहे त्यांकरितां इष्ट, अनिष्ट कार्यांचें ठायीं शास्त्राला विरुद्ध नव्हत असे जे जे सद्धर्म राजा स्थापन करितो त्यांचें उल्लंघन कदापि करूं नये.

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ॥

ब्रह्मतेजोमयं दंडमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

ईश्वराने सर्व जीवांचें रक्षण करणारा असा आपला पुत्र ब्रह्मतेजोरूप जो दंड याला राजासाठीं प्रथम उत्पन्न केले.

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥

भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥

त्या दंडाच्या भयाने स्थावर जंगम सर्व प्राणी आपापले भोग भोगण्याविषयीं समर्थ होतात, आणि ते आपापल्या धर्मापासून चलन पावत नाहीत, दंडभय नसेल तर प्रबल दुर्बलांस लुटतील आणि तसें झाल्याने भोगप्राप्ति होणार नाही, वृक्षादिकांचा नाश होईल, नित्यनैमित्तिक स्वधर्मानुष्ठान कोणी करणार नाही, व तेणेंकरून नानाविध यमयातनाभयहि प्राप्त होईल.

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ॥

यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

राजाने देश, काल, दंड, शक्ति, विद्या इत्यादिक सर्व पाहून ज्या अपराधास जो यथायोग्य दंड शास्त्रांत सांगितला असेल त्याचा सूक्ष्म दृष्टीने विचार करून अपराधी मनुष्याला दंड करावा.

स राजा पुरुषो दंडः स नेता शासिता च सः ॥

चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥

तो दंड प्रत्यक्ष राजा आहे, कारण, दंड असेल तर राजा बलवान् होतो. दंड हाच पुरुष होय; कारण दुसरे सर्व स्त्रियांसारखे निर्बल आहेत; सर्व कार्ये करणाराहि तोच आहे, दंड सर्वांचा शास्ताहि आहे, आणि चार आश्रमांचा जो धर्म तो संप्रदादनाविषयीं प्रतिभू (जामीन) ही हाच आहे.

दंडः शास्ति प्रजाः सर्वा दंड एवाभिरक्षति ॥

दंडः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

दंड सर्व प्रजांला आज्ञा करितो लणून शासिता असा लटला आहे, दंड प्रजांचें रक्षण करितो लणून राजा असा लटला आहे. रक्षक लोक निद्रिस्त असतां त्यांचे ठायीं दंडच जागृत राहतो, दंड हा धर्माला कारण आहे यास्तव पंडित लोक दंडाला धर्म असें जाणतात.

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रंजयति प्रजाः ॥

असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥

तो दंड जावत्कालपर्यंत यथायोग्य प्रकारेंकरून धारण केला जात आहे तावत्पर्यंत राजा संपूर्ण प्रजांचें रंजन करितो, आणि ज्या काली तोच दंड लोभादि कारणेंकरून अविचाराने केला जातो त्या काली सर्वत्र प्रजांचा नाश करितो.

यदि न प्रणयेद्राजा दंडं दंक्ष्येऽप्यतद्वितः ॥

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥ २० ॥

जर राजा आलशी होऊन दंड देण्यास योग्य अशा अपराध्यांस योग्य दंड न करील तर जसे शूलावर मत्स्य घालून त्यांचा नाश करितात तसे बलवान् लोक दुर्बलांचा नाश करतील.

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्विस्तथा ॥

स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्त्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥

जर राजा दंड करणार नाही तर यज्ञांचे ठायीं देवतांचे पुरोडाश, हवि, काक भक्षण करील आणि कुत्रा पायसादि हवि भक्षण करील, व कोणाचा धनीपणा कोणावर राहणार नाही, आणि नीच जे शूद्रादिक ते ब्राह्मणादिकांहून श्रेष्ठ होतील, याप्रमाणे सर्व उलटापालट होईल.

सर्वो दंडजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ॥

दंडस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

हे सर्व लोक दंडाने नियमित झाले असतांच सन्मार्गीं वर्ततात, स्वभावशुद्ध मनुष्य फार दुर्लभ आहे. दंडाच्या भयेंकरून हे सर्व जगत् आवश्यक भोजनादिक भोगांविषयीं समर्थ होते.

देवदानवगंधर्वा रक्षांसि पतंगोरगाः ॥

तेऽपि भोगाय कल्पंते दंडेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥

देव, दानव, गंधर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प हे सर्वहि जगदीश्वराच्या दंडभयाने भीत होऊन पर्जन्यादिकांची वृष्टि करून जनावर उपकार करण्याविषयीं प्रवृत्त होतात. अग्नि, सूर्य, ईश्वराच्या दंडभयाने तापतात, दंडभयाने इंद्र वृष्टि करितो, वायु दंडभयाने वाहतो, मृत्यु दंडभयाने चालतो.

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः ॥

सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दंडस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

दंडाच्या विभ्रमेकरून (हणजे दंडाला जो योग्य त्याला दंड न करणें, आणि दंडाला अयोग्य त्याला दंड करणें येणेंकरून) ब्राह्मणादिक सर्व वर्ण अन्योन्य स्त्रीगमनाच्या योगाने संकीर्ण (वर्णसंकररूप) होतील, सर्व शास्त्रीय नियम (मर्यादा) उच्छिन्न होतील, आणि चोऱ्या, साहस कर्मे इत्यादिकेंकरून लोकांला उपद्रव होऊन सर्व लोकांचा क्षोभ होईल, याप्रमाणे सर्व विघाड होईल.

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दंडश्चरति पापहा ॥

प्रजास्तत्र न मुह्यंति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥

१ जेले मत्स्यानिवाहिस्युः असा दुसरा पाठ मिळतो. मेधातिथि मोविंदराज यांनी पूर्वे पाठ लिहिला आहे.

दंड करणारा पुरुष जर योग्य रीतीने दंडाचा विचार करील तर ज्या देशामध्ये श्या-
मवर्ण, आरक्तेनेत्रधारी, पापाचा नाश करणारा असा दंड चालतो तेथे प्रजा व्याकुळ
(भयभीत) होत नाहीत.

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ॥

समीक्ष्य कारिणं प्राप्तं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

सत्यभाषण करणारा, विचार करणारा, बुद्धिमान्; धर्म, अर्थ, काम, यांते जाणणारा
असा जो राजा तो दंड करण्याविषयी योग्य होय असे मन्वादिक सांगतात.

तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ॥

कामात्मा विषमः क्षुद्रो दंडेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

यथायोग्य दंड करणारा राजा धर्म, अर्थ, काम यांहींकरून वृद्धीते पावतो; आणि
जो राजा विषयी, क्रूर, कोधी, नीच असा असतो तो दंडाने अथवा अधर्माने प्रधानादिकां-
कडून मारला जातो.

दंडो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ॥

धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सर्वांधवम् ॥ २८ ॥

दंड हा महातेजस्वी आहे, ज्या राजांला शास्त्रसंस्कार नाही ते दंड करण्याविषयी
असमर्थ होत, यास्तव जो राजा राजधर्मापासून चलित होतो त्याला व त्याचे बांधव, पुत्र
यांला दंड मारितो.

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ॥

अंतरिक्षमतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

अपराधाचा विचार केल्यावांचून केलेला दंड दुर्ग (किल्ला), राज्य, स्थावरजंगम-
रूप लोक, अंतरिक्षांत (आकाशांत) राहणारे मुनि व देव या सर्वांला पीडा करितो.

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ॥

न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

मंत्री, सेनापति, पुरोहित इत्यादिकांच्या सहायाने विरहित; मूर्ख; लोभी; असंस्कृतबुद्धि;
विषयासक्त असा जो राजा तो (शास्त्रसंस्कार नसल्यामुळे) न्यायपूर्वक दंड करण्याविषयी
समर्थ होत नाही.

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा ॥

प्रणेतुं शक्यते दंडः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, यथाशास्त्र व्यवहाराने चालणारा, उत्तमसहायसहित, बुद्धिमान्
असा जो राजा तो दंड करण्याविषयी समर्थ होतो.

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदंडश्च शत्रुषु ॥

सुहृत्स्वजिह्वाः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

राजाने आपल्या राज्यामध्ये यथाशास्त्र न्यायाने चालावे; शत्रूला मोठा दंड करणारा असावे; स्वभावेकरून स्नेहपात्र जे मित्र यांविषयी अकुटिल (अवक्र) राहावे; आणि ब्राह्मण व थोडा अपराध करणारे यांविषयी क्षमावान् राहावे.

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोच्छेनापि जीवतः ॥

विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिंदुरिवांभसि ॥ ३३ ॥

या रीतीने चालणारा राजा, तो क्षीणकोश (ज्याच्या जामदारखान्यांत द्रव्य अल्प असा) जरी असेल तथापि त्याची कीर्ति, उदकांत टाकलेल्या तैलबिंदूप्रमाणे सर्व लोकांत विस्तृत होते.

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ॥

संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिंदुरिवांभसि ॥ ३४ ॥

याहून विपरीत आचाराने चालणारा, अजितेंद्रिय (इन्द्रियांच्या आधीन राहणारा) असा जो राजा त्याची कीर्ति, उदकांत टाकलेल्या घृतबिंदूप्रमाणे संकुचित होते.

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ॥

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

क्रमेकरून आपापल्या धर्माने चालणारे जे ब्राह्मणादिक सर्व वर्ण व ब्रह्मचर्यादिक त्यांचे आश्रम यांच्या रक्षणाकरितां ब्रह्मदेवाने राजा उत्पन्न केला आहे, तस्मात् जो राजा त्यांचे रक्षण करित नाही तो मोठा दोषी होतो.

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ॥

तस्योऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

भृगु सांगतो, हे ऋषिहो, प्रजांचे रक्षण करणाऱ्या राजाने प्रधानासह जे जे कर्तव्य आहे ते सर्व क्रमेकरून तुझाला मी सांगतो.

ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ॥

त्रैविद्यविज्ञानं विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥

राजाने प्रत्यहीं प्रातःकालीं उठून ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद यांचा अर्थ जाणणारे असून नीतिशास्त्र (राजनीति) जाणणारे जे ब्राह्मण त्यांची उपासना (सेवा) करून त्यांचे आज्ञेत राहावे.

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् ॥

वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

वयाने व तपाने वृद्ध, वेदांचे अध्ययन व अर्थज्ञान यांत पारंगत, अर्थदानादिकाने पवित्र, अशा ब्राह्मणांची नित्य सेवा करावी. जो राजा वृद्धांची सेवा करितो त्याला क्रूर राक्षसहि पूज्य मानितात, ह्मणजे राक्षसहि त्याचे हित इच्छितात.

तेभ्योऽधिगच्छेद्दिनयं विनीतात्मापि नित्यशः ॥

विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥

नैसर्गिक (स्वाभाविक) बुद्धि, आणि अर्थशास्त्राचे ज्ञानापासून उत्पन्न होणारी बुद्धि यांहींकरून जरी राजा नम्र असेल तथापि त्यानें अतिशय नम्रपणा प्राप्त होण्यासाठीं ब्राह्मणांपासून विनयाचा (नम्रपणाचा) अभ्यास करावा. कारण, विनीतात्मा (अतिनम्र) राजा कदापि नाश पावत नाही.

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ॥

वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

हत्ती, घोडे, द्रव्यराशि इत्यादि राज्यसामग्रीनें युक्त राजे असतां ते अविनयानें बहुत नष्ट झाले, आणि वनांत राहणारे, राज्यसामग्रीविरहित असे राजे असतां हि ते केवळ विनयेंकरून राज्यांप्रत पावतेझाले.

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ॥

सुदासो यवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥

दोहोंविषयीं (विनय व अविनय यांविषयीं) दोन श्लोकांनीं दृष्टांत सांगतो— वेन, नहुषराजा, सुदासनामक यवन राजा, सुमुखनामक निमिराजा, हे सर्व अविनयाने नाश पावले.

पृथुस्तु विनयाद्वाज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ॥

कुबेरश्च धनैश्चर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

पृथु आणि मनु यांला विनयेंकरून राज्य प्राप्त झालें. कुबेराला विनयेंकरून धनाधिपत्य प्राप्त झालें, आणि विश्वामित्र क्षत्रिय असतां विनयेंकरून त्याच जन्मामध्ये ब्राह्मण्यातें (ब्राह्मणजातीतें) पावला.

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंडनीतिं च शाश्वतीम् ॥

आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारंभांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥

तीन वेद जाणणाऱ्या ब्राह्मणांपासून राजानें तीन वेदांचें सार्थ अध्ययन करावें, आणि दंडनीति जाणणाऱ्यांपासून दंडनीति (अर्थशास्त्र), तर्कविद्या जाणणाऱ्यांपासून तर्कविद्या (गौतमप्रणीत तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र), ब्रह्मविद्या जाणणाऱ्यांपासून ब्रह्मविद्या (उदयकाली व न्हासकाली हर्षविषादांचा नाश करणारी), आणि धनप्राप्तीचे उपाय जाणणाऱ्या रुषीबलांपासून रुषि, वाणिज्य, पशुपालन इत्यादिक वार्ता शिकान्या.

इंद्रियाणां जये योमं समातिष्ठेद्विवानिशम् ॥

जितेंद्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥

इंद्रियें विषयांपासून जिंकण्याविषयीं अहर्निश (सर्वकाल) यत्न करावा; कारण, ज्या राजानें इंद्रियें जिंकलीं तो सर्व प्रजांचें नियमन करण्यास समर्थ होतो.

दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ॥

व्यसनानि दुरंतानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

आरंभीं सुखकारक, अंतीं दुःखकारक असीं कामापासून उत्पन्न होणारीं दहा, व क्रोधापासून उत्पन्न होणारीं आठ व्यसने (ज्यांचीं लक्षणे पुढें ४७, ४८ व्या श्लोकांत सांगावयाचीं आहेत) तीं मोठ्या प्रयत्नेकरून राजानें वर्ज्य करावीं.

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ॥

वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्व्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

कारण, कामापासून उत्पन्न झालेल्या व्यसनांचेठायीं राजा आसक्त झाला असतां तो धर्म व अर्थ यांपासून हीन होतो, आणि क्रोधापासून उत्पन्न झालेल्या व्यसनांचेठायीं आसक्त असतां प्रजांच्या क्रोधेकरून आपल्या देहनाशातें पावतो.

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ॥

तौर्यत्रिकं वृथात्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥

कामापासून उत्पन्न होणारीं व्यसनें नामेंकरून दाखवितो.—मृगया, अक्षक्रीडा (बूत, जुगार), सकल कार्यांचा विघात करणारी असी दिवसा निद्रा, दुसऱ्याचे दोष सांगणे, स्त्रीसंभोग, मद्यपान, नृत्य करणे, गायन, वादें वाजविणे, व्यर्थ भ्रमण हीं दहा व्यसनें कामापासून उत्पन्न आहेत.

पैशून्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ॥

वाग्दंडजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

पैशून्य (गुप्त दोष प्रगट करणे), साहस (साधूंचा छल करणे), द्रोह (कपटवध), ईर्ष्या (दुसऱ्याचे गुण सहन न होणे), असूया (दुसऱ्याचे गुणांचा दोष ठेवणे), अर्थ-दूषण (अर्थ चोरणे, अथवा देण्यास योग्य पदार्थ न देणे), वाक्पारुष्य (वाणीने कठोर बोलणे) आणि दंडानें ताडन करणे हीं दहा क्रोधापासून उत्पन्न आहेत.

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ॥

तं यत्नेन जयेन्नोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥

कामापासून होणारा व्यसनसमुदाय व क्रोधापासून होणारा व्यसनसमुदाय या दोहोंचें मूलकारण लोभ आहे असें सर्व ज्ञानी ह्मणतात, तस्मात् तो लोभ मोठ्या प्रयत्नेकरून जिंकावा, कारण, हे दोन व्यसनसमुदाय लोभापासून उत्पन्न होतात.

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ॥

एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

सुरापान, अक्षक्रीडा (जुगार, बूत), स्त्रीसंभोग आणि मृगया हीं कामव्यसनांतील चार अतिशय दुःखाला कारण आहेत असें जाणावे.

दंडस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ॥
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ११ ॥

दंडानें ताडन करणें, कठोर भाषण करणें, अर्थदूषण हीं क्रोधव्यसमगणांतील तीन अतिशयित दुःखसाधनें होत असें समजावें.

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषंगिणः ॥

पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्वयसनमात्मवान् ॥ १२ ॥

हीं जीं सात अतिनीच व्यसनें सांगितलीं तीं प्रायः सर्व राजांचे ठायीं राहणारीं आहेत, आणि यांमध्ये पहिलें दुसऱ्याहून अति नीच आहे असें प्रशस्तात्मा राजानें जाणावें, सणजे दूताहून मद्यपान नीच, स्त्रीव्यसनाहून दूत दुष्ट, मृगया व स्त्रीव्यसन यांमध्ये स्त्रीव्यसन दुष्ट, वाक्पारुष्याहून दंडपारुष्य दुष्ट, अर्थदूषणाहून वाक्पारुष्य दुष्ट याप्रमाणें जाणावें.

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ॥

व्यसन्यधो धो ब्रजति स्वर्गास्यव्यसनी मृतः ॥ १३ ॥

अठरा व्यसनें व मृत्यु यांमध्ये व्यसनें दुष्ट होत, कारण, व्यसनांपासून परलोकींहि नरकांप्रत प्राप्त होतो, आणि निर्व्यसनी मृत झाल्यानंतर स्वर्गांप्रत जातो.

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ॥

सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ १४ ॥

मौल (पितृपितामहांच्या क्रमेकरून सेवा करणारे), शास्त्र जाणणारे, शूर, लब्धलक्ष (ज्यांचा बाण व शूल निशाणांला सोडीत नाही ते), युद्धकुळांत उत्पन्न झालेले, परीक्षा केलेले असे मंत्री सात किंवा आठ करावे.

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ॥

विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ १५ ॥

जें साहजिक होणारें काम तेंहि एकाच्यानें केलें जात नाहीं, मग राज्यकारभार तर फार मोठा आहे, तो एकाकीनें कसा केला जाईल.

तैः सार्धं चिंतयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ॥

स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ १६ ॥

सामान्य (छपवून ठेवण्यास अयोग्य); संधि (द्रव्य देऊन शत्रूशीं कोह करणें); विग्रहादिक (युद्धादिक); स्थान सणजे दंड, कोश, पुर, राज्य यांमध्ये हत्ती, घोडे, रथ, पायदळ यांला दंड-सणतात; त्यांचें पोषण रक्षण इत्यादिक; समुदय सणजे धान्य, हिऱ्यादिस्थान; आपलें रक्षण व राज्याचें रक्षण आणि मिळालेल्या धनाचा सत्पात्री व्यय या सर्वांचा विचार राजानें मंत्र्यांसह करावा.

तेषां स्वं स्वप्रभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ॥

समस्तानां च कार्येषु विद्वद्भ्यादितप्रात्मनः ॥ १७ ॥

राजानें राज्यकार्यांचे ठायीं त्या सर्व सचिवांचे निरनिराळे, अथवा एकदम सर्वांचे अभिप्राय घेऊन त्यांचा निःपक्षपातानें विचार करून जेणेंकरून आपल्या राज्याचें हित होईल असा राज्यकारभार करावा.

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ॥

मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

ह्या सर्व सचिवांमध्ये जो धार्मिक, विद्वान् ब्राह्मण असेल त्यासहवर्तमान राजानें सहा गुणांनीं युक्त अशा उत्तम मंत्राचा (राज्यमसलतीचा) विचार करावा.

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ॥

तेन सार्द्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥

नित्य त्या ब्राह्मणाचे ठायीं सर्व विश्वास टाकून तो ब्राह्मण जीं जीं कामे करील तीं तीं सर्व त्याच्या स्वाधीन करावीं, नंतर त्याचा विचार घेऊन निश्चय करून नंतर सर्व कार्ये करावीं.

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ॥

सम्यगर्थसमाहृतैर्नमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥

पवित्र, बुद्धिमंत, शांत, उत्तम प्रकारेंकरून द्रव्य संपादन करणारे, धर्मादिकेंकरून परीक्षा केलेले असे दुसरेहि कर्मसचिव (कामदार) नेमावे.

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ॥

तावतोऽतंद्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

जितक्या कामदारांनीं आपला राज्यकारभार यथास्थित चालेल तितके कामदार आलस्यरहित, आपापल्या कामाविषयी दक्ष, व उत्साहयुक्त असे नेमावे.

तेषामर्थे नियुज्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ॥

शुचीनाकरकर्माणि भीरुर्नैतर्निवेशने ॥ ६२ ॥

त्या कामदारांमध्ये जे शूर, दक्ष, कुलपरंपरागत, आणि अर्थनिस्पृह, चतुर असे असतील त्यांना धनोत्पत्तिस्थानांवर (धान्यादिक सर्व पदार्थांचे कोठारांवर) नेमावे, आणि जे भितरे असतील त्यांना पाकशाळा, अंतःपुर, शयनगृहे इत्यादिकांवर नेमावे.

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वज्ञास्त्रविशारदम् ॥

इंगिताकारचेष्टां शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥

सर्व ज्ञास्त्र जाणणारा; इंगित हणजे अभिप्राय जाणविणारी जीं वचनस्वर इत्यादिक वःआकार हणजे प्रसन्नता व अप्रसन्नता इत्यादि देहधर्म; चेष्टा हणजे हस्तपाद यांचे चिन्ह (कोषादिकांचे सूचक रूप), हावभाव हीं सर्व जाणणारा; पवित्र; कार्य-दक्ष, कुलीन असा दूत (वकील) राजानें कार्याविषयी नेमावा.

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालविन् ॥
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

स्वामीचेठायी अनुरागसहित; पवित्र; दक्ष (चतुर); स्मृतिमान्; धन, स्त्री इत्यादि-
कांनीं वश न होणारा; देशकाल जाणणारा; सुरूप; निर्भय; वक्ता; या प्रकारचा वकील
राजाला योग्य होय.

अमात्ये दंड आयत्तो दंडे वैनयिकी क्रिया ॥
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥

हत्ती, घोडे, रथ, पायदळ एतद्रूप दंड अमात्य ह्मणजे सेनाधिपति याचे आधीन;
दंडाच्या आधीन विनय आहे; राजाचे आधीन कोश (खजिना) व राज्य आहे; संधि
(शत्रु वश करणे), विग्रह (युद्ध) हे वकिलाचे आधीन होत.

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ॥
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यंते येन वा न वा ॥ ६६ ॥

भिन्न झालेल्यांचा संधि वकिलच करितो, एकत्र मिळाले असतां त्यांचा भेद करणे तो
वकिलच करितो, जेणेकरून संधि व विग्रह हे होतात तेहि कर्म वकिलच करितो.

स विद्यादस्य रुत्येषु निगूढे गितचेष्टितैः ॥
आकारमिगितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

त्या वकिलाने राजाचीं इंगित, आकार, चेष्टा याहींकरून सेवकांचेठायीं राजाचे कर्तव्य
काय तेहि सर्व जाणावे.

बुध्वा च सर्वं तत्वेन परराजचिकीर्षितम् ॥
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

दुसऱ्या राजाचे सर्व विचार कसे आहेत हे सर्व वकिलाकडून खऱ्या प्रकाराने समजून
आपल्या राजाला कोणतीहि पीडा न होईल तसा प्रयत्न त्याने करावा.

जांगलं सस्यसंपन्नमार्थप्रायमनाविलम् ॥
रम्यमानतसामंतं स्वाजीव्यं देशमावसेव् ॥ ६९ ॥

उदक, तृण हीं अल्प व वायु, उष्ण, धान्य हीं बहुत ज्यांत आहेत तो जांगल देश
हटला आहे. बहुत धार्मिक जनांनीं युक्त; रोगादिकांनीं रहित; फल, पुष्प, तरु, लता
इत्यादिकांनीं मनोहर; आसमंतातून मन्न मनुष्य व रुषि, वाणिज्य, इत्यादिकांच्या सोई
जेथे उत्तम असतील अशा देशांत राजाने वास करावा.

धनुर्दुर्मं गहीर्दुर्मं वार्षमेव वा ॥
नृदुर्गं गिरिदुर्मं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

धनुर्दुर्ग ह्मणजे सभोंवार पांच योजनेपर्यंत उदकरहित किल्ला; महीदुर्ग ह्मणजे पाषाण, चुना, विटा, यांहींकरून केलेला तट, तो विस्तारापेक्षां दुप्पट उंच व बारा हात उंचीची युद्धासाठीं वर फिरण्यास योग्य असी भूमि ज्याच्या वर सभोंवार केलेली असून ज्याला गवाक्षे केलेली, असा किल्ला; जलदुर्ग ह्मणजे खोल उदकानें सभोंवार वेष्टित किल्ला; वृक्षदुर्ग ह्मणजे सभोंवार एक योजनपर्यंत मोठे वृक्ष, वल्ली इत्यादि निविड झाडीनें युक्त किल्ला; नृदुर्ग ह्मणजे सभोंवार हत्ती, घोडे, रथ, पायदळ अशा चतुरंग सैन्यानें संरक्षित किल्ला; गिरिदुर्ग ह्मणजे वर चढण्यास परम कठीण असून अति अरुंद अशा एक मार्गानें युक्त व आंत नदी, तलाव इत्यादिक उदकानें परिपूर्ण आणि धान्य उत्पन्न होणारी भूमि, वृक्ष इत्यादिकांनीं युक्त किल्ला; असे जे सहा किल्ले यांतून कोणत्या एकाचा आश्रय घेऊन राजानें राजधानी करावी.

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ॥

एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

पूर्वोक्त जे सहा किल्ले त्यांमध्ये गिरिदुर्ग हा बहुगुणांनीं श्रेष्ठ असल्यामुळे राजानें त्याचाच आश्रय करून राहावें, ह्मणजे जोंपर्यंत हा मिळत आहे तावत्पर्यंत दुसऱ्या किल्ल्यांत राहूं नये.

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्यसराः ॥

त्रीण्युत्तराणि क्रमशः छवंगमनरामराः ॥ ७२ ॥

आ सहा दुर्गांपैकीं पहिले तीन दुर्ग मृगादिकांनीं आश्रित आहेत, ह्मणजे धनुर्दुर्ग मृगांनीं आश्रित; महीदुर्ग मूषकादिकांनीं आश्रित; आणि जलदुर्ग नकादि जलचर प्राण्यांनीं आश्रित. पुढचे तीन दुर्ग (वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग, गिरिदुर्ग), वानरादिकांनीं आश्रित आहेत, ह्मणजे वृक्षदुर्ग वानरांनीं आश्रित, नृदुर्ग मनुष्यांनीं आश्रित आणि गिरिदुर्ग देवांनीं आश्रित असे जाणावें.

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ॥

तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥

दुर्गाचा आश्रय करून राहणाऱ्या मृगादिकांस जसे व्याधादिक शत्रु मारीत नाहीत तद्वत् किल्ल्याचा आश्रय करून राहिलेल्या राजाला शत्रु मारण्याविषयीं समर्थ होत नाहीत.

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ॥

: • शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विशीयते ॥ ७४ ॥

किल्ल्याचे तटावर राहणारा एक धनुर्धर खाली राहणाऱ्या शंभर वीरांशीं आणि किल्ल्यांत राहणारा खाली राहणाऱ्या दहा सहस्र वीरांशीं युद्ध करण्याविषयीं समर्थ होतो, याकरितां दुर्ग करण्याविषयीं विशेषकरून सांगतो.

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः ॥

ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यत्रैर्व्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥

शस्त्रे, धने, धान्य, वाहने (चतुरंग सेना), ब्राह्मण, कारागीर, यंत्रे, तृण आणि उदक यांहीकरून तो किल्ला परिपूर्ण भरलेला राखावा.

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः ॥

गुप्तं सर्वतुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

या किल्ल्याच्या मध्यभागीं निरनिराळीं स्त्रिया, देवता, अग्नि यांच्या गृहादिकांनीं युक्त असून खंदक, तटबंदी इत्यादिकांनीं संरक्षित; नानाविध बागांनीं सुशोभित; चुन्यानें स्वच्छ श्वेतवर्ण; वापीकूपादिक उदकानें युक्त असें गृह राजानें आपलें करावें.

तदध्यास्योद्गृहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥

कुले महति संभूतां त्वयां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥

या गृहीं वास करून मोठ्या कुळांत उत्पन्न झालेली, शुभसूचक लक्षणांनीं युक्त, मनाला आनंद करणारी, सुरूप, गुणांनीं युक्त असी आपल्या वर्णांतली स्त्री बरावी.

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चत्विजम् ॥

तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥

आयर्वर्णशाखोक्त विधीकरून पुरोहित आणि ऋत्विज करावे. या दोघांनीं ह्या राजाचीं गृह्याभिसंबंधी व अग्नित्रयसंबंधी अग्निहोत्रादिक कर्मे करावीं.

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैरासदक्षिणैः ॥

धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान् धनानि च ॥ ७९ ॥

राजानें बहुत दक्षिणासहित असे नानाप्रकारचे (अश्वमेधादिक) यज्ञ करावे. ब्राह्मणांला धर्मार्थ स्त्री, गृह, शय्या, इत्यादि भोग; सुवर्ण वस्त्र इत्यादिक धने द्यावीं.

सांवत्सरिकमासैश्च राष्ट्रादाहारयेद्भूलिम् ॥

स्याच्चान्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

राज्यकारभार चालविण्याकरितां नेमलेले जे प्रधानादि कामदार त्यांपासून आप- ला वार्षिक कर घ्यावा, लोकांचेठायीं वर्तन वेदांत (शास्त्रांत) सांगितल्याप्रमाणें करावें, आपल्या राज्यांतील प्रजांचेठायीं पिसांप्रमाणें स्नेहादिकेंकरून वागावें.

अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ॥

तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥

हत्ती, घोडे, रथ, पायदळ, जामदारखाना, आणि इतर अनेक प्रकारचीं कामें हीं सर्व करण्याकरितां जे नेमलेले कामदार त्यांच्यावर देखरेख करणारे एकेक मुख्य अधि- कारी विद्वान् असे नेमवे. नंतर त्या त्या अधिकाऱ्यांनीं कामदार लोकांचीं सर्व कामें तपासावीं.

भावृत्तानां गुरुकुलादिप्राणां पूजको भवेत् ॥
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

वेदाध्ययन करून गुरुकुलापासून निवृत्त झालेले असून गृहस्थाश्रमाची इच्छा करणारे जे ब्राह्मण त्यांना धनधान्य देऊन नियमं करून त्यांची पूजा करावी. कारण, ब्राह्मण हे राजांचा अक्षयनिधि होय असे शास्त्र सांगते.

न तं स्तेना न चामित्रा हरंति न च नश्यति ॥
तस्माद्ब्राह्मा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणांचे जवळ ठेवलेला जो निधि तो चोर चोरीत नाहीत, शत्रु हरण करीत नाहीत, व नाश पावत नाही, यास्तव असा जो अक्षय निधि तो राजाने ब्राह्मणांचिठायी ठेवावा, ह्मणजे ब्राह्मणांना द्यावा.

न स्कंदते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ॥
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

अग्नीमध्ये जें हवि हवन केले जाते तें कदाचित् सवते (खाली पडते) व शुष्क होतें, कदाचित् अग्निदाहादिकांनीं नाशहि पावतें. ब्राह्मणाच्या मुखांत हवन केलेली आहुति तिला कोणताहि दोष प्राप्त होत नाही, तस्मात् ब्राह्मणाकारणें जें दान करावें तें अग्निहोत्रादिकांहून श्रेष्ठ आहे असे जाणावें.

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ॥
प्रधीते शतसाहस्रमनंतं वेदपारगे ॥ ८५ ॥

ब्राह्मणाहून भिन्न जे क्षत्रियादिक त्यांना जें दान करणें तें जितकें द्यावें तितकेंच फल, न्यूनाधिक होत नाही. क्रियारहित जो ब्राह्मण त्याला दिलेले दान द्विगुणफल होतें, एकशाखाध्ययन कर्याला दिलेले लक्षगुण होतें. सर्व वेद पढलेल्यास दिलेले दान अनंतफल देणारे होतें.

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धान्तयैव च ॥
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्पते फलम् ॥ ८६ ॥

प्रतिग्रह करणाऱ्याचे महत्वे (विद्या, तपश्चर्यादिकें) करून आणि कर्त्याचे श्रद्धे-
करून दानाचे फल अल्प किंवा बहुत परलोकीं प्राप्त होतें.

समीक्षमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ॥
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥

प्रजांचे रक्षण करणारा, क्षत्रियधर्म पालणारा अशा राजाला युद्धासाठी स्वसमान, किंवा अधिक बलिष्ठ, अथवा हीनबल असा कोणीहि बलावील तर त्याने कदापि मार्गें फिरू नये.

सहस्रगुणमाचार्ये, असा तिसरा चरण कवित्वस्तकांत आहे. अर्थ—आचार्याला दिलेले सहस्र गुण होतें.

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ॥

शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

युद्धाचेठायीं अपराड्मुखता (समुखत्व), प्रजांचें पालन करणें, आणि ब्राह्मणांची सेवा करणें हीं तीन कर्मे राजांला परम कल्याणकारक आहेत.

आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसतां महीक्षितः ॥

युध्यमानाः परंशक्त्या स्वर्गं यांत्यपराड्मुखाः ॥ ८९ ॥

परस्परांची स्पर्धा करीत होत्साते युद्धाचे ठायीं परस्परांला मारण्याविषयीं इच्छिणारे राजे समूर उभे राहून जे युद्ध करितात ते स्वर्गाप्रत जातात.

न कूटैरायुधैर्हन्यातुध्यमानो रणे रिपून् ॥

न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाभिज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥

बाहेर काष्ठमय व आंत तीक्ष्णशस्त्र असीं जीं शस्त्रें त्यांहींकरून युद्ध करीत होत्साता शत्रूला मारूं नये. विषदिग्ध शस्त्रें, कर्णांचे आकारासारख्या ज्यांच्या धारा असतील तीं शस्त्रें, आणि अग्नीनें तापविलेलीं शस्त्रें यांहींकरून युद्धामध्ये शत्रूला मारूं नये.

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्षीबं न कृतांजलिम् ॥

न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥

आपण रथारूढ असतां रथावरून खालीं पडलेला, नपुंसक, हात जोडलेला मोकळेला केश सुटलेला, मी तुमचा आहे असें बोलणारा, आणि भूमीवर बसलेला यांला मारूं नये.

न सुप्तं न विसन्नाहं न नम्रं न निरायुधम् ॥

नायुध्यमानं पश्यंतं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

सुप्त (निद्रिस्त), कवचरहित, नम्र, आयुधरहित, युद्ध न करणारा, पाहणारा आणि दुसऱ्याशीं युद्ध करणारा यांला मारूं नये.

नायुध्यस्य सनप्राप्तं नातं नातिपरिक्षतम् ॥

न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥

भयशस्त्र, पुत्रश्लोकादिकाने पीडित, शस्त्रप्रहारांनीं व्याकुल, भीत, युद्धपराड्मुख (युद्धांतून पलायन केलेला), ह्या सर्वांला सज्जन क्षत्रियांचे धर्म जाणणाऱ्या क्षत्रियानें मारूं नये.

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ॥

भर्तुर्धृदुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

जो योद्धा भीत होऊन युद्धांत पराड्मुख असतां दुसऱ्या वीरांच्या शस्त्रप्रहारांनीं मारला गेला तो आपल्या स्वामीचें जें सर्वपाप त्यातें पावतो.

यज्ञास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ॥

भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

जो वीर युद्धाला पराङ्मुख होऊन मरण पावला त्याचे परलोकार्थ संपादन केलेले जें पुण्य तें सर्व त्याच्या स्वामीला (सरदाराला) प्राप्त होतें.

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः ॥

सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

रथ, घोडा, हत्ती, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्रिया, संपूर्ण द्रव्ये (गुडलवणादिक), आणि कुप्य (सुवर्णरौप्याहून भिन्न शिसें, पितळ, तांबें इत्यादिक) हीं सर्व जो जीत शाला त्याचीं होत.

राज्ञश्च दयुरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥

राज्ञाच सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥

सर्व योध्यांनीं राजाकारणें उद्धार (जिकलेल्या द्रव्यांतून उत्कृष्ट धन, सुवर्ण, चांदी, भूमि इत्यादिक व हत्ती, घोडे इत्यादि वाहनें) द्यावा, असे वेदांत सांगितले आहे. आणि सर्व योध्यांनीं मिळून जें जिकलेलें द्रव्य तें राजानें सर्व योध्यांला जसा ज्याचा पराक्रम पाहून विभागून द्यावे.

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ॥

अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

निंदारहित, नित्य, अनादि कालापासून चालणारा असा हा योध्यांचा धर्म सांगितला. युद्धांत शत्रूला जिकणाऱ्या क्षत्रियानें हा धर्म टाकू नये.

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेतप्रयत्नतः ॥

रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥

भूमि, हिरण्यादिक जी वस्तु प्राप्त झालेली नाही ती मिळण्याविषयी इच्छा करावी, आणि जी मिळालेली असेल तिचें मोठ्या यत्नानें रक्षण करावें, रक्षित वस्तूची व्यापारादिकानें वृद्धि करावी, आणि वृद्धि पावलेली वस्तु सत्पात्रांचे ठायीं स्थापन करावी.

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ॥

अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतद्वितः ॥ १०० ॥

पुरुषार्थ जो स्वर्गादिक त्याचें प्रयोजन असें हें चार प्रकारचें जाणावें. आलस्य-रहित नित्य याचें आचरण करावें.

अलब्धमिच्छेद्दंडेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ॥

रक्षितं वर्धयेद्वृद्धया वृद्धं दानेन निःक्षिपेत् ॥ १०१ ॥

जी अलब्ध वस्तु ती हत्ती, रथ, अश्व, पायदळ ही एतद्रूप दंडानें मिळवावी. मिळालेल्या वस्तूवर देखरेख ठेवून ती रक्षण करावी. रक्षण केलेली वस्तु वृद्धीचे नानाविध

उपाय योजून व्यापारादिकद्वारानें वाढवावी. वृद्धि पावलेली वस्तु शास्त्रीय विभागेंकरून सत्पात्रांला द्यावी.

नित्यमुद्यतदंडः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ॥

नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरे ॥ १०२ ॥

हत्ती, घोडा, इत्यादिक युद्धसामग्री शिकण्याचा अभ्यास; अस्त्रविद्या इत्यादिकेंकरून आपल्या पराक्रमाचा प्रकाश; मंत्र, आचार, चेष्टा, इत्यादिकांचा अप्रकाश; आणि शत्रूचे छिद्रांचे अनुसंधान हीं सर्व नित्य जागरूक ठेवावीं.

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्दिजते जगत् ॥

तस्मात्सर्वाणि भूतानि दंडेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥

ज्याचा दंड नित्य उदित आहे त्या राजाला सर्व जगत् भीत असतें, याकरितां सर्व प्राणी दंडेंकरूनच आपल्या स्वाधीन राखावे.

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ॥

बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

राजानें प्रधानादिकांचे ठायीं निष्कपट वागावें, सकपट वागूं नये, सकपट असेल तर सर्वांला अविश्वसनीय होतो. शत्रूचें कापट्य (प्रजा फितूर करणे इत्यादिक) नित्य बातमीदार ठेवून जाणावें.

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ॥

गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥

द्वानें आपलें छिद्र (प्रजा फितूर करणे इत्यादिक) शत्रु न जाणेल असा बंदोबस्त राखावा. शत्रूचें छिद्र गुप्त बातमीदारांकडून जाणावें. जसा कांसव आपले मुखचरणादिक अवयव आपल्या शरीरीं गोपन करितो, तद्वत् राजानें राज्याचीं अंगे जीं प्रधानादिक त्यांची मानमान्यता उत्तम राखून आपल्या आधीन करावीं. कदाचित् देववशेंकरून छिद्र उपस्थित असतां मोठ्या यत्नेंकरून त्याचा परिहार करावा.

बकवच्चितयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ॥

वृकवच्चावलुपेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

जसा बक पक्षी उदकाचे ठायीं मत्स्याला धरण्याकरितां एकतनवृत्तीनें राहतो तद्वत् मोठ्या बंदोबस्तानें राहणारा असा जरी शत्रु असेल तथापि त्याचा देश घेणें इत्यादिक विचार राजानें एकांतीं करावे. जसा सिंह बलवान् हत्तीला मारण्याकरितां पुसक्रम करितो, तद्वत् स्वतां अल्पबल होत्साता बलवतानें ग्रासला गेला असतां अनेक उपाय करून शत्रु मारण्याविषयीं यत्न करावा. जसा लांडगा संधि पाहून मेंढरांला मारितो, तद्वत् शत्रु क्लिष्टाचा आश्रय करून जरी राहत असेल तथापि त्याचा असावधान

पाहून नाश करावा. जसा ससा जाळ्यांत सांपडला असतांहि अनेक उपाय करून त्या जाळ्यांतून पळतो, तद्वत् शत्रूनें वेष्टिला असतांहि अनेक तऱ्हांनीं शत्रूला व्यामोह उत्पन्न करून गुणवान् अन्यराजाचा आश्रय करण्याकरितां पलायन करावें.

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपंथिनः ॥

तानानयेद्दशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥

या रीतीनें विजयाला प्रवृत्त होणारा राजा असतां जे विजयाविषयीं शत्रु होतील त्यांला साम (तह), दान, भेद (फितुरी), दंड या उपायांनीं वश करावें.

यदि ते तु न तिष्ठेयुस्तपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ॥

दंडेनैव प्रसह्येतांश्छिनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

जर विजयविरोधी पहिल्या तीन उपायांनीं वश न होतील तर देश लुटणें, युद्ध, लहान मोठा दंड यांतून यथायोग्य दंड करूनच वश करावे.

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पंडिताः ॥

सामदंडौ प्रशंसंति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥

सामादिक चार उपायांमध्ये साम, दंड ह्या दोहोंचाचि पंडितजन राज्याचें वृद्धीकरितां नित्य प्रशंसा करितात; कारण सामामध्ये प्रयास, द्रव्यस्वर्च, सैन्यनाश इत्यादि दोष नाहींत, आणि दंडाचेठायीं जरी तत्संभव आहे तथापि कार्यसिद्धि त्वरित होते.

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ॥

तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपंथिनः ॥ ११० ॥

क्षेत्रांत धान्य व तृण ही एककाली उत्पन्न होतात तथापि जसा कृषीबल (शेतीजन) धान्याचें रक्षण करून तृणाचा नाश करितो तद्वत् राजानें दुष्टांचा नाश करून शिष्ट-सहित राष्ट्राचें रक्षण करावें.

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ॥

सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबांधवः ॥ १११ ॥

दुष्ट कोण, शिष्ट कोण याचा विचार केल्यावांचून जो राजा आपल्या राज्यांतील सर्व प्रजांला अनेक प्रकारचे कष्ट देऊन पीडा करितो तो प्रजांचे कोपानें व अधर्मानें राज्यापासून व जीवितापासून पुत्रादिकांसहित त्वरित भ्रष्ट होतो.

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयंते प्राणिनां यथा ॥

तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयंते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

जसे आहारनिरोध केल्यानें शरीरशोषण होऊन जीवांचे प्राण क्षीण होतात, तद्वत् राष्ट्राला पीडा दिल्यानें प्रजांचे कोपेंकरून राजाचें प्राण नाश पावतात. तस्मात् राजानें आपल्या शरीराप्रमाणें राष्ट्र रक्षण करावें.

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ॥

सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥

राजानें राष्ट्राचे (राज्याचे) रक्षणाविषयीं वक्ष्यमाण (पुढें सांगावयाचा) उपाय करावा; कारण, राज्याचें रक्षण करणारा राजा यत्नावांचून सुखातें पावतो.

द्वयोस्त्रयाणां पंचानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ॥

तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

राजानें दोन, तीन, पांच अथवा शंभर जसे लहान मोठे गांव (परगणे) असतील त्याप्रमाणें त्यांच्या मध्ये संरक्षणाचें स्थान नेमून त्यांच्या संरक्षणासाठीं सैन्य ठेवावें, आणि तेथें राज्यकारभार चालविण्याकरितां एक अधिकारी नेमावा.

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपीतं तथा ॥

विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥

एका गांवावर एक अधिकारी, दहा गांवांवर एक अधिकारी, वीस गांवांवर एक अधिकारी, शंभरांवर एक अधिकारी, सहस्रांवर एक अधिकारी याप्रमाणें एकाहून दुसरा थोर, दुसऱ्याहून तिसरा थोर अशा क्रमानें लहान मोठे अधिकारी नेमावे.

ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ॥

शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ ११६ ॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ॥

शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥

एका गांवाचा अधिकारी आपल्या गांवांत चोरी, बंड, अथवा फितूर इत्यादिक कांहीं उत्पन्न होईल आणि त्याचा बंदोबस्त करण्याविषयीं सामर्थ्य, अधिकार इत्यादि नसल्यामुळे असमर्थ असेल तर त्यानें त्याची हकीकत दशग्रामाधिपतीला जाहिर करावी, दशग्रामाच्या अधिपतीनें विंशतिग्रामाधिपतीला निवेदन करावी. विंशतिग्रामाधिपतीनें शंभर गांवांच्या अधिपतीला निवेदन करावी. शंभरगांवांच्या अधिकाऱ्यानें सहस्राधिपतीला निवेदन करावी. हा निर्णय, अधिकाऱ्याचें सामर्थ्य, अधिकार यांच्या अभावीं जाणावी.

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ॥

अन्नपानेधनादीनि ग्रामिकस्तद्वाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

प्रतिदिवसीं ग्रामवासी जनांपासून घेण्यास योग्य असा अन्न, पान, काष्ठे इत्यादिक जो राजभाग असेल तो एका गांवाच्या अधिपतीनें घ्यावा.

दशी कुलं तु भुंजीत विंशी पंचकुलानि च ॥

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥

सहा बैलांनीं एक नांगर चालतो अशा दोन नांगरांनीं जितकी भूमि नांगरली जाते तिचे नाम कुल होय, यास्तव दहा गांवांच्या अधिकाऱ्यानें कुलभूमीचें उत्पन्न आपल्या

वृक्ष, मांस, मधु, तूप, गंध, औषधी, रस, पुष्प, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, चर्म, बांबूची पात्रे, मृत्तिकापात्रे, पाषाणपात्रे या सर्वांचा सहावा भाग नफ्यांतून घ्यावा.

त्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ॥

न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥

राजा क्षीणधन होईल तथापि होवो, परंतु वेदपाठी ब्राह्मणांपासून त्यानें कर घेऊं नये, आणि क्षुधेनें पीडित असा वेदपाठी ब्राह्मण राज्यांत असूं नये, क्षणजे त्याचे योगक्षेमाचा उपाय राजानें करावा.

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ॥

तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

ज्या राजाचे राज्यांत वेदपाठी ब्राह्मण क्षुधेनें व्याकुळ होतो त्याचे राज्य, त्याचे क्षुधेकरून दुष्काळ इत्यादिक उपस्थित होऊन शीघ्र नाश पावते.

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्या प्रकल्पयेत् ॥

संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

ब्राह्मणाचें वेदपठण, आचरण हीं जाणून त्याची धर्मयुक्त जीविका चालवावी, असंमंतात् चोरादिकांपासून जसे पुत्राचें संरक्षण करितो तद्वत् त्याचें रक्षण करावें.

संरक्ष्यमाणो राज्ञाऽयं कुरुते धर्ममन्वहम् ॥

तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

राजानें संरक्षण केलेला तो श्रोत्रिय प्रतिदिवसीं जे कांहीं धर्माचरण करितो तेणें करून राजाचें आयुष्य, धन आणि राष्ट्र हीं वृद्धिंगत होतात.

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ॥

व्यवहारेण जीवतं राजा राष्ट्रे पृथक् जनम् ॥ १३७ ॥

भाजी, पाने इत्यादिक हलक्या वस्तूची देवघेव करून उपजीविका करणारे असे जे गरीब लोक त्यांपासून राजानें वार्षिक कर घेणें तो स्वल्प घ्यावा.

कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ॥

एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

कारू (सूपकारादिक, डाळीकरणारे), शिल्पी, लोहार, शूद्र आणि शरीररक्षेकरी न उपजीविका करणारे भेई इत्यादिक यांपासून प्रतिमहिन्यांत एकेक दिवस राजानें चाकरी घ्यावी.

नोच्छिन्नादात्मनो मूलं परेषां चातितृणया ॥

उच्छिदन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

१. तद्धानं तत्रवायश्च नापितो रजकस्तथा ॥ पंचमधर्मकारणं कारवः शिल्पिनो मताः अर्थ-सुखार, केटी, च्हावी, घरेटि, चांभार, हे पांच कारू तेच शिल्पी होत असेंहि शास्त्रांत आहे.

प्रजांच्या स्नेहेकरून राजा वार्षिक कर प्रजेपासून न घेईल तर राजाच्या मूलाचा उच्छेद होईल, आणि अति लोभाने प्रजेपासून अधिक कर घेईल तर प्रजेच्या मूलाचा उच्छेद होईल, आणि हीं दोनही कर्मे न करील तर आपणाला व प्रजांला पीडित करील, तस्मात् दोनही करू नयेत.

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ॥

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥

राजाने कार्य पाहून तदनुसार कोमल आणि क्रूर व्हावे, क्षणजे चांगले कार्य पाहून कोमल व्हावे, आणि निंद्य कार्य प्राप्त असतां कठोर व्हावे, कारण, असा राजा सर्व लोकांस मान्य होतो.

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राप्तं दातं कुलोद्भवम् ॥

स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्यक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥

प्रजांचे व्यवहार पाहण्याविषयी राजा अस्वस्थ असेल तर त्याने आपल्या आसनावर धर्मज्ञ, जितेंद्रिय, कुलीन, बुद्धिमान् असा मुख्य प्रधान नेमावा.

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ॥

युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥

पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे आपणास जे जे योग्य कर्तव्य असेल ते ते करून उद्योगसहित, प्रमादरहित होत्साता राजाने आपल्या प्रजांचे रक्षण करावे.

विक्रोशंत्यो यस्य राष्ट्राद्वीर्यंते दस्युभिः प्रजाः ॥

संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥

राजा प्रधानादिकांसहवर्तमान राज्य पाहत असतां त्याचे समक्ष त्याच्या राज्यांत चोरांनी लुटल्या गेलेल्या व करादिकांनी तस्त झालेल्या प्रजा आक्रोश करितात तो राजा जीवंत नाही, तर मृत झाला. कारण, जीवंत असतां जे त्याचे कर्तव्य ते केले नाही त्यापेक्षां तो जीवंत असतां मृतासारखाच जाणावा. तस्मात् नित्य सावधपणाने प्रजा संरक्षण करावे.

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ॥

निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

क्षत्रियाचा परमधर्म प्रजापालन हाच आहे. शास्त्रांत सांगितलेले कर्म करणारा राजा धर्माने युक्त होतो.

उत्थाय पश्चिमे यामे रुतशौचः समाहितः ॥

हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्यं प्राविशेत्स शुभां सभाय् ॥ १४५ ॥

प्रहररात्रि शेष असतां राजाने उठून मूत्रपुरीषोत्सर्ग केला होत्साता एकाग्रचित्त होऊन अग्निहोत्रहोम करून ब्राह्मणांची पूजा करून वास्तुलक्षणादिकांनी युक्त अशा सभेप्रत प्रवेश करावा.

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनंद्य विसर्जयेत् ॥

विसृज्य च प्रजाः सर्वा मंत्रयेत्सह मंत्रिभिः ॥ १४६ ॥

सभेमध्ये बसून सर्व प्रजा राजदर्शनार्थ आलेल्या त्यांशीं संभाषण, दर्शन इत्यादिक करून त्यांचा सत्कार करून विसर्जन करावे, तदनंतर प्रधानासहित संधिविग्रहादिकांचा विचार करावा.

गिरिपृष्ठं समोत्सृज्य प्रासादं वा रहोगतः ॥

अरण्ये निःशलाके वा मंत्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥

पर्वताचे शिखरावर अथवा बंगल्यावर एकांत स्थानीं, अथवा निर्जनप्रदेशीं, अरण्यांत प्रधानासहित बसून, मंत्राचा (मसलतीचा) भेद करणाऱ्या मनुष्यांनीं रहित पंचांगमंत्राचें चिंतन करावे. मंत्राचीं पांच अंगें सांगतो. १ कर्माचे आरंभाचा उपाय; २ पुरुष, द्रव्य, संपत्, देश, काल यांचा विभाग; ३ विनिपात; ४ प्रतीकार; ५ कार्यसिद्धि; ही मंत्राचीं पांच अंगें जाणावीं.

यस्य मंत्रं न जानन्ति समागम्य पृथक् जनाः ॥

स कृत्स्नां पृथिवीं भुंक्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

ज्या राजाची मसलत प्रधानव्यतिरिक्त इतर जन मिळून जाणत नाहीत तो राजा द्रव्यानें हीन असेल तथमपि संपूर्ण पृथ्वीचा उपभोग करितो.

जडमुकांधबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोऽतिगान् ॥

स्त्रींश्छव्याधितव्यंगान् मंत्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥

मूर्ख, मुके, अंध, बधिर, पक्षी (शुकसारिकादिक), वृद्ध (ऐशीं वर्षाहून अधिक वयाचा), स्त्रिया, छेच्छ, सेमी, हीनांग, या सर्वांचा मसलतीच्या वेळीं दूर करावे.

भिद्वंयवमता यंत्रं तिर्यग्योनास्तथैव च ॥

स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्सत्राद्धतो भवेत् ॥ १५० ॥

हे सर्व जडादिक पूर्वजन्माजित पातकाने अपमान पावून मंत्राचा भेद करितात आणि पक्षी, वृद्ध, स्त्रिया यांची बुद्धि स्थिर राहत नाही याकरितां हेहि मंत्राचा भेद करितात, या कारणास्तव मसलतीच्या वेळीं या सर्वांचा यत्नेकरून दूर करावे.

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रांतौ विगतकृमः ॥

चितयेद्वर्मकामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥

दिवसा दोन प्रहरी अथवा मध्यरात्री अमरहित, निश्चित होऊन प्रधानासहित अथवा एकाकीहि धर्म, अर्थ, काम यांचें चिंतन करावे.

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ॥

कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ॥

षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

घरांतील केर काढणारा व उदक आणणारा यांला एकेक पण प्रत्यहीं द्यावा. (पणाचें लक्षण पुढें सांगेल.) आणि प्रत्येक मासीं एक द्रोण (अर्धामण) धान्य द्यावें, सहा सहा महिन्यांनीं दोन दोन वस्त्रें द्यावीं. उत्तम कर्म करणारास सहा पण प्रत्यहीं द्यावे, सहा महिन्यांमध्ये चार वस्त्रें द्यावीं. प्रत्येक महिन्याला सहा द्रोण धान्य द्यावें. या रीतीनें मध्यम कर्म करणारास तीन पण प्रत्यहीं द्यावे, प्रतिमासीं तीन द्रोण धान्य द्यावें, आणि सहा महिन्यांनीं वस्त्रें द्यावीं.

क्रयविक्रयमभ्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ॥

योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥

माल कोणत्या भावानें घेतला, विक्री कोणत्या भावानें झाली व किती दूर देशाहून माल आणला व तो आणण्याला व चोरादिकांपासून रक्षण करण्याला खर्च किती आला, भोजनांत किती खर्चला गेला, आणि यापासून याला निव्वळ नफा किती झाला या सर्वांचा विचार करून व्यापाऱ्यांकडून कर घ्यावा.

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ॥

तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

शेतीलेक आणि व्यापारी लोक यांला रुषीचें, व्यापाराचें फल मिळून आपणालाहि फलाचा लाभ होईल असा राजानें पूर्ण विचार करून प्रजांवर करांची योजना करावी.

यथात्पाल्पमदंत्यादां वायोकोवत्सषट्पदाः ॥

तथात्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्धिकः करः ॥ १२९ ॥

ज्या रीतीनें जळवा, वत्स आणि भ्रमर हे क्रमैकरून रक्त, दुग्ध, आणि मकरंद थोडथोडा असण करितात, त्याप्रमाणें राजानें मुद्दल घनाचा उच्छेद केल्यापासून प्रजांपासून थोड-थोडा वार्षिक कर घ्यावा.

पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ॥

धान्यानामष्टमी भागः षष्ठी द्वादश ख्व वा ॥ १३० ॥

पशु, हिरण्य यांच्या लाभांतून (नफ्यांतून) पन्नासावा भाग राजानें घ्यावा, आणि धान्याचा सहावा, आठवा, किंवा बारावा भाग जमीन भूमि उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ असेल व लागवडीच्या खर्चाचें न्यूनाधिक प्रमाण असेल तें सर्व पाहून यथायोग्य घ्यावा.

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ॥

गंधौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ॥

मृगयानां च भांडानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥

महिन्यांनीं सर्वांच्या समक्ष मूठभर बेरें इत्यादि भक्षण करवावीं, आणि रात्री कोणाला न समजे अशा रीतीने भोजन करावे, व शिष्यमंडळीने त्यांचें माहात्म्य प्रसिद्ध करावें कीं, भूत, भविष्य व वर्तमान त्रिकाल जाणणारे आमचे हे गुरुजी आहेत, यांला सर्वांनीं आपापले कार्यप्रश्न विचारावे. या पांचांला क्रमेंकरून कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदिक आणि तापस असें ह्मणतात. ह्या पांच कर्मांचा विचार करावा. यांतून दुसरे राजाचें आणि आपल्या प्रधानादि मंडळाचें प्रेम आणि अप्रेम कसें काय आहे तें जाणून त्याचा उपाय करावा कीं, कोणता राजा माझे कल्याण इच्छीत आहे व कोणता राजा माझ्याशीं वैरभाव करीत आहे हें सर्व जाणून त्या त्या कार्त्तिकी त्याच्या प्रतीकाराचा उपाय करावा.

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ॥

उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥

अरि, विजिगीषु (जिकण्याची इच्छा करणारे), मध्यम (अरि व विजिगीषु ह्या दोहोंच्या भूमीच्या समीप राहणारास मिळाले असल्यास दोन राजांला अनुग्रह करण्याविषयी व शत्रुत्व असतां दोनहि राजांला दंड करण्याविषयी समर्थ) आणि उदासीन (विजिगीषु मध्यम मिळाले असतां ह्या दोहोंला अनुग्रह करण्याविषयी व विघाड असतां या दोहोंला दंड करण्याविषयी समर्थ) ह्या सर्वांची वागणूक कोणत्या प्रकारची आहे याचा विचार करावा.

एताः प्रकृतयो मूलं मंडलस्य समासतः ॥

अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥

संक्षेपेंकरून राजमंडळाच्या ह्या चार मूल प्रकृति (अंगें) आहेत. याहून अन्य आठ आहेत तीं सांगतो— शत्रुभूमीच्या अग्रभागीं मित्र, अरि; मित्र, मित्र; मित्र, अरि; मित्र, मित्र; आणि पाठीमागे पाष्णिग्राह, आक्रंद, पाष्णिग्राहस्तर, आणि आक्रंदासार ह्या आठ व पूर्वी सांगितलेल्या चार मिळून जेव्हा मूल प्रकृति (राज्याची मुख्य अंगें) जाणाव्या.

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदंडाख्याः पंच व्यापराः ॥

प्रत्येकं कथिता हेताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

चार मूलप्रकृति, आठ शाखाप्रकृति यांमध्ये एकेकीच्या पांच पांच द्रव्यप्रकृति होतात. त्या पांच द्रव्यप्रकृतींचीं नामें असीं— अमात्य (मंत्री), राष्ट्र (राज्य), दुर्ग (किला), अर्थ (धन) आणि दंड, सर्व मिळून संक्षेपतः ७२ प्रकृति ऋषींनीं सांगितल्या आहेत.

अनंतरम्परिं विशदयिसेविनमेव च ॥

अरेस्वन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

रावांनें स्वकीय राज्याचे समीपस्थ राजा आपला शत्रु आहे असें जाणवें आणि त्याची सेवा करणाराहि शत्रु जाणावा. त्याच्या जवळचा राजा मित्र जाणावा. अरि व मित्र यांच्या पलिकडे राहणारा राजा तो उदासीन जाणावा.

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिरुपक्रमैः ॥

व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

त्या सर्व राजांला साम, भेद, दान आणि दंड या उपायांतून यथासंभव एकेक उपाय करून अथवा चारही करून अथवा पराक्रम करून किंवा दंडेकरून अथवा केवळ साम करूनच आपल्या स्वाधीन राखावे.

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ॥

द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चितयेत्सदा ॥ १६० ॥

संधि (दोघांचा मित्रभाव राहाण्याकरितां हत्ती, घोडे, रथ, सुवर्ण इत्यादिकेकरून परस्परांनीं परस्परांला मदत करावी असा जो नियम तो); विग्रह (युद्ध, वैर); यान (शत्रूवर चालून जाणे); आसन (एकादे ठिकाणीं आपली शक्ति कुठित झाली तरी कांहींवेळ प्रतीक्षा पाहण्याकरितां तेथेच राहाणे); द्वैधीभाव (स्वार्थसिद्धीकरितां सेनेचे दोन भाग करणे); आणि संश्रय (शत्रूने पिडला असतां प्रबल राजाचा आश्रय करणे) हे सहा गुण राज्याची वृद्धि करणारे आहेत यास्तव यांचा सर्वकाल विचार करावा. ज्या गुणांचा आश्रय केल्याने आपली वृद्धि होऊन शत्रूची हानि होईल त्या गुणांचा आश्रय करावा.

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ॥

कार्यं वीक्ष्य प्रयुज्यते द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

आपली समृद्धि वा शत्रूची हानि होईल अशा प्रकारे कार्याचा विचार करून सहा गुणांपैकीं जो जेथे योग्य वाटेल तदुत्तरूप कोणाशीं संधि, कोणाशीं युद्ध, कोणाशीं द्वैध इत्यादिक योजना करावी.

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ॥

उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

संधि दोन प्रकारचा, विग्रह दोन प्रकारचा, यान व आसन हींही दोन दोन प्रकारचीं, आणि संश्रयहि दोन प्रकारचा सांगितला आहे असें जाणावे.

सामानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ॥

वेदा त्वायति संयुक्तः संधिर्ज्ञेयो हिलक्षणः ॥ १६३ ॥

सात्कालिक फललाभ होण्याकरितां अथवा पुढच्या काली फललाभ होण्याकरितां जेथे एका राजाला बरोबर घेऊन दुसऱ्या राजावर यात्रा (स्वारी) इत्यादिक कर्म करावे तो सामानयानकर्मा संधि जाणावा. आणि तू एथे बावे, मी एथे येईन असे सांप्रत काली सांगून पुढे होणाऱ्या फलाच्या इच्छेनें जो केला जातो तो असमानयानकर्मा संधि, याप्रमाणे दोन प्रकारचा संधि जाणावा.

स्वयं कृतं च कार्यार्थमकाले काल एव वा ॥

मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

शत्रु व्यसनांत सांपडला आहे असे समजून शत्रूपासून जय प्राप्त होण्याकरितां स्वयमेव अकाली किंवा यथोक्त काली जो विग्रह तो एक आणि मित्राला दुसऱ्या राजानें अपकार केला असतां मित्राच्या रक्षणासाठीं जो विग्रह तो दुसरा, मिळून दोन प्रकारचा विग्रह जाणावा.

एकाकिनश्चात्यधिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ॥

संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

आवश्यक कार्य प्राप्त झालें असतां ऐच्छिक एकाकी यान करणें तें एक व आपण अशक्त असतां मित्रासहित यान करणें तें दुसरें, मिळून दोन प्रकारचें यान जाणावें.

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ॥

मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

पूर्वजन्मार्जित पातकानें अथवा इहजन्मार्जित पातकानें हत्ती, घोडे, धन इत्यादिक क्षीण झालीं असतील तेथपर्यंत दुसऱ्या राजावर यात्रा करूं नये तें एक, अथवा हत्ती, घोडे, धन हीं क्षीण नसतांहि मित्राचें संरक्षण आपणाकडून होण्यास समर्थ नाही तेथपर्यंत त्या मित्राकरितां न जाणें तें दुसरें, मिळून दोन प्रकारचें आसन ऋषींनीं सांगितलें आहे.

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ॥

द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं बाहुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥

साधन करण्यास योग्य अशा आपल्या कार्याच्या सिद्धीसाठीं सेनापतिसहित हत्ती, घोडे, इत्यादिक सेनेला, शत्रु राजापासून कोणताहि उपद्रव न होण्याविषयीं एकत्र राखणें हे एक द्वैध आणि किल्यामध्ये बलध्यक्ष (संपूर्ण सेनेचा अधिपति) त्यासहित राजाला स्थापन करणे हे दुसरें, मिळून दोन प्रकारचें द्वैध संध्यादि सहा गुण जाणणारांनीं सांगितलें आहे.

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ॥

साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

शत्रूंनीं पीड्यमान असतां शत्रुपीडा दूर होण्याकरितां बलवान् राजाचा आश्रय करण तो एक आणि पुढें होणाऱ्या शत्रुपीडेच्या नाशार्थ बलवंताचा आश्रय करणें तो दुसरा, मिळून दोन प्रकारचा संश्रय (मदत मागणें) सांगितला आहे.

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं भुवमात्मनः ॥

तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

जेव्हां पुढें युद्धकालानंतर आपले वर्चस्व निश्चयेंकरून होणार आहे असें राजाला समजेल आणि तत्काली अल्प द्रव्यादिक नाश होणें असेल त्या काली अल्प पीडा स्वीकारून संधि करावा.

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ॥

अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥

परंतु ज्या कार्ली अमात्यादिक सर्व प्रकृति दान, सन्मान इत्यादिकांनीं अत्यंत संतुष्ट होत्साते आपणास वश्य आहेत असे राजाला वाटेल; आणि हत्ती, घोडे, द्रव्य इत्यादिक तीन शक्तींनीं आपण बलवान् आहो असे वाटेल त्या कार्ली राजानें युद्ध करावें.

यदा मन्येत भावेन तृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ॥

परस्य विपरीतं च तदा यायाद्विपुं प्रति ॥ १७१ ॥

जेव्हां आपली प्रधानादिक सेना आनंदित व धनादिकानें पुष्ट आहे असे निश्चित वाटेल आणि शत्रूची सेना विपरीत लणजे तृष्टपुष्ट नाही असे पाहील तेव्हां राजानें शत्रूवर युद्धार्थ स्वारी करावी.

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ॥

तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्मरीन् ॥ १७२ ॥

परंतु जेव्हां हत्ती, घोडे, पायदळ इत्यादिक सेना व अमात्यादिक, आणि सरदार लोक ही सर्व युद्धसामग्री आपली पुरी नाही असे दिसेल तेव्हां शत्रूशीं सांत्वन (साम उपाय) करून यत्नानें आपल्या छावणींत मोठ्या सावधगिरीने गुप्तचूष राहावें, आणि शत्रूला हळुहळू शांत पाडावा.

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवन्तरम् ॥

तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥

जेव्हां जेव्हां राजाला सर्व प्रकारेकरून शत्रु बलवान् व ज्याच्या शस्त्रांचा मारा परम अशक्य असे वाटेल तेव्हां सेनेचे दोन भाग करून लणजे काहीं सेना आपल्या रक्षणार्थ घेऊन आपण किल्यांत राहावें आणि काहीं सेना युद्धार्थ पाठवावी. याप्रमाणे सेना द्विधा करून मित्रसंग्रहादिक स्वकार्य साधावें.

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ॥

तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

ज्या कार्ली अमात्यादिकांच्या दोषामुळे शत्रुसैन्याच्या स्वाधीन होई आपणास प्राप्त आहे, व पूर्वोक्त प्रकाराने किल्याचा आश्रय केला असताहि आपले रक्षण होणार नाही असे राजाला वाटेल त्या कार्ली लानें धार्मिक, बलवान् अशा राजांचा शीघ्र आश्रय करावा.

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ॥

उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नेर्गुहं यथा ॥ १७५ ॥

कोणत्या प्रकारचा राजा बलवान् तें सांगतो—ज्या प्रधानादिकांच्या दोषामुळे शत्रूच्या स्वाधीन होणार होता त्या प्रधानादिकांला शिक्षा करील व ज्या शत्रुसैन्यापासून

भय उत्पन्न झाले त्याचाहि नाश करील अशा दोघांचाहि निग्रह करण्याविषयी जो समर्थ राजा त्याचा आश्रय करून सर्व यत्नांनी गुरुप्रमाणे त्याची नित्य सेवा करावी.

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ॥

सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशंकः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

बलवान् राजाचा आश्रय केला असताहि जर कांहीं दोष (भय) दिसेल तर निःशंक होऊन त्या कळी शत्रूशी उत्तम युद्धच करावे.

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ॥

यथास्याभ्यधिका नस्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥

राजनीति जाणणाऱ्या राजाने सामादिक सर्व उपाय करून मित्र, शत्रु, उदासीन हे सर्व आपणाहून अधिक प्रबल न होतील असा प्रयत्न करावा.

आयति सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ॥

अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

आपल्या राज्यांतील जीं सर्व लहानमोठीं कार्ये त्यांचे पुढे होणारे जे गुणदोष यांचा विचार करावा. विद्यमानकालीं शीघ्र कर्तव्य असे कोणते कार्य आहे, आणि कृतकार्यांचे ठायीं गुणदोष काय व केलीं कोणतीं, अवशिष्ट कर्तव्य कोणतीं या सर्वांचा सूक्ष्म दृष्टीने विचार करावा.

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ॥

अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

जो राजा कार्यांचे पुढे होणारे गुणदोष जाणतो तो निर्दोष कार्य आरंभतो, आणि सदोष कार्यांचा त्याग करितो, वर्तमानकालीं जो राजा शीघ्रच जाणून कार्य करितो व गतकालीं जो कार्यशेष राहिलेले जाणतो त्याला त्या कार्यांच्या समाप्तीचे ठायीं फल मिळते. तस्मात् भूत, भविष्य, वर्तमान या कालत्रयीं सावधान सहणारा राजा कदापि शत्रूपासून पराभव पावला जात नाही.

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥

तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ १८० ॥

जेणेकरून मित्र, उदासीन, शत्रु हे राजाला पीडा करणार नाहीत असे सर्व उपाय करावे. याप्रमाणे संक्षेपाने ही राजनीति सांगितली.

यदा तु यानमातिष्ठेद्विराष्ट्रं प्रति प्रभुः ॥

तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुं यत्रैः ॥ १८१ ॥

ज्या काली राजा समर्थ होत्साता युद्धाकारणे शत्रूच्या राष्ट्राप्रत जाण्याची इच्छा करील त्या काली पुढे जो सांगावयाचा प्रकार तेणेकरून हळूहळू शत्रूच्या नगराप्रत गमन करावे.

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ॥

फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथा बलम् ॥ १८२ ॥

मार्गशीर्ष, फाल्गुन, अथवा चैत्र या मासांत चतुरंग सेनेसहित राजानें शत्रु जिंकण्या-
करितां यात्रा करावी.

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येत्पुं जयम् ॥

तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥

ज्या कालीं आपणास जयप्राप्ति निश्चित समजेल त्या कालीं चतुरंगसेनेसहित पूर्वोक्त-
व्यतिरिक्तकालींहि शत्रूप्रत स्वारी करावी. आणि शत्रूला मोठें व्यसन (प्रधानादिक संपूर्ण
प्रजा फितूर होणें इत्यादिक) प्राप्त होईल त्या कालींहि शत्रूवर स्वारी करावी.

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ॥

उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ॥

सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥

आपल्या राज्याचें मोठ्या बंदोबस्तानें रक्षण करून ह्मणजे सेनेचा एक भाग शूर सेना-
धिपतीसहवर्तमान राज्यरक्षणार्थ स्थापन करून यथाशास्त्र यात्रोपयोगी सामग्री (बाहर्ने,
आयुधें इत्यादिक) घेऊन जेणेंकरून शत्रूच्या राज्यांत जाऊन राजाची स्थिति (राहणें) हो-
ईल ती सर्व युद्धसामग्री घेऊन राजाचे बातमीदार आपणास वश करून शत्रूच्या देशांतील
बातमी आणण्याकरितां गुप्त (कापटिकादिक पूर्वोक्त) बातमीदार पाठवावे. तीन प्रका-
रचे जे मार्ग जांगल, अनूप, आटविक यांचें शोधन करून (वृक्षगुल्मलता तोडून, व उंच
नीच भूमि सारखी करून) आणि सहा प्रकारची जी सेना हत्ती, घोडे, रथ, पायदळ, सेना
आणि कामदार यांचें आहारधान्यसामग्री व औषधादिक आणि सत्कार याहीं करून
शोधन करून युद्धाला योग्य जो प्रकार तत्सहित शीघ्र शत्रूच्या नगराप्रत जावें.

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेन् ॥

गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

आपला मित्र असून शत्रूची गुप्त सेवा करणारा जो तो, आणि जो सेवकादिक आपली
चाकरी सोडून गेलिला तो पुनः आला या उभयतांविषयी फार सावधान राहावें. कां की,
यांचा निग्रह करणें बहुत कठीण आहे.

दंडव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ॥

वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥

दंड, शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड या व्यूहांपैकी कोणत्याहि व्यूहेंकरून गमन
करावें. दंडाचे आकाराप्रमाणें ज्याची व्यूहरचना तो दंडव्यूह. या रीतीनें शकटाचे
(गाडीचे) आकाराप्रमाणें जो तो शकटव्यूह जाणावा. आतां दंडव्यूह दाखवितो—

बलाध्यक्ष पुढें, राजा मध्यभागीं, सेनापति पाठीमागें, दोन पार्श्वभागीं हस्ती, त्यांच्या समीप घोडे, पायदळ या रीतीने लांब व चहूंकडून समान याला दंडव्यूह झणतात. ज्या कालीं चहूंकडून भय उत्पन्न होईल त्या कालीं या व्यूहेकरून जावें. पुढें सूचीच्या आकाराप्रमाणें, पश्चाद्भागीं मोठा, हा शकटव्यूह, जेव्हां पृष्ठभागीं भय उत्पन्न होईल तेव्हां या शकटव्यूहेकरून जावें. पुढें व मागें सूक्ष्म असून मध्यभागीं मोठा जाड तो वराहव्यूह, हाच मध्यभागीं फार मोठा असतां गरुडव्यूह, जेव्हां पार्श्वभागीं भय उत्पन्न होईल तेव्हां या दोन व्यूहांहीकरून जावें. अग्रभागीं व पश्चाद्भागीं मोठा, मध्यभागीं सूक्ष्म तो मकरव्यूह, जेव्हां पुढें व मागें भय उत्पन्न होईल तेव्हां या व्यूहेकरून जावें. पिपीलिकांच्या पंक्तीप्रमाणें पुढें व मागें समान असून वीर पुरुष ज्याच्या अग्रभागीं असतात तो सूचीव्यूह, जेव्हां पुढें भय उत्पन्न होईल तेव्हां सूचीव्यूहेकरून जावें.

यतश्च भयमाशंकेततो विस्तारयेद्बलम् ॥

पश्येन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

ज्या दिशीप्रत शत्रुभयाची शंका उत्पन्न होईल त्या दिशीप्रत बलाचा विस्तार करावा. सभोंवार सेना समान असून जीच्या मध्यभागीं राजा राहतो तो पद्मव्यूह जाणावा. या व्यूहेकरून पुरापासून निघून सर्वदा राजानें आपण गुप्त राहावें.

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ॥

यतश्च भयमाशंकेत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥

हस्ती १०, घोडे १०, रथ १०, पायदळ १०, इतक्यांचा जो एक स्वामी (सरदार) करावा त्याचें नाम पत्तिक होय, दहा पत्तिकांचा जो एक स्वामी त्याला सेनापति असें झणतात. दहा सेनापतींचा जो एक स्वामी त्याला बलाध्यक्ष असें झणतात. सेनापति आणि बलाध्यक्ष यांला सर्व दिशांचेठापी नेमावें. ज्या दिशीप्रत भयशंका उत्पन्न होईल ती पूर्वदिशा समजावी.

गुप्तांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समंततः ॥

स्थाने युद्धे च कुशलानभीरुनविकारिणः ॥ १९० ॥

आप्त पुरुषांनी युक्त ; स्थितिभागाचें जें युद्ध त्याकरितां भेरी, पटह, शंख इत्यादिक वाद्यांनीं संकेत पावलेले ; स्थिति व युद्ध यांचेठापी प्रवीण (निपुण) ; भय व व्यभिचार यांहीकरून विरहित असा जो सेनेचा एकदेश तो, सेनापति, बलाध्यक्ष यांच्या पासून दूर अंतरावर सर्व दिशांचेठापी शत्रूच्या प्रवेशाचें निवारण करण्याकरितां आणि शत्रूच्या सर्व चेष्टा समजण्याकरितां योजावा.

संहतान्मोध्येदल्पान्कामं विस्तारयेद्बलम् ॥

सूच्या वजेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥

सेना अल्प असेल तर ती एकत्र मिळवून युद्ध करावे, आणि सेना बहुत असल्यास आपल्या इच्छेनुसार विस्तार करून युद्ध करावे, व सूचीव्यूह व वज्रव्यूह यांहीकरून सेनेची रचना करून युद्ध करावे.

स्यंदनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौ द्विपैस्तथा ॥

वृक्षगुल्मावृते चापैरासिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

सम भूमीचेठायीं रथ, घोडे, यांहीकरून ; उदकसहित भूमीचेठायीं नौका (गलबतें), हत्ती यांहीकरून ; वृक्ष, गुल्म इत्यादिक अरण्यप्रदेशांत धनुष्ये यांहीकरून ; आणि कंटक, पाषाण इत्यादिकांनीं विरहित अशा भूमीचेठायीं ढाल, तरवार इत्यादिक योग्य आयुधांनीं युद्ध करावे.

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पंचालान् शूरसेनजान् ॥

दीर्घालंघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य (विराटदेश), पंचाल (कान्यकुब्ज), आणि शूरसेन या देशांत उत्पन्न झालेले मनुष्य प्रायः शरीरानें दृढ, शूर, युद्धाभिमानी असे असतात, यास्तव ते सेनेच्या पुढें योजावे, व इतर देशांत उत्पन्न झालेले लहानमोठे, युद्धाभिमानी सर्व यांला सेनेच्या पुढेंच योजावे.

प्रहर्षयेद्दलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ॥

चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् बोधयतामपि ॥ १९४ ॥

व्यूहरचना करून सेनाला, जयप्राप्ति असतां धर्मलाभ होतो अथवा युद्धांत समोर हत होणाराला स्वर्गप्राप्ति होते, युद्धाला भिऊन पलायन करणाराला राजाचें सकल पातक प्राप्त होऊन नरकप्राप्ति होते इत्यादिक अर्थवाद वीरपुरुषांला सांगून युद्धाविषयी उत्तेजन द्यावे, ते योद्धे कोणत्या अभिप्रायानें आनंद अथवा रोष पावतील याची परीक्षा करावी, शत्रू-सहवर्तमान युद्ध करणारे जे आपले योद्धे त्यांच्या सर्व युद्धचेष्टा (युद्धाचे प्रकार) जाणव्या.

उपहंध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ॥

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नीदकैश्चनम् ॥ १९५ ॥

शत्रू किल्यांत असो अथवा बाहेर असो, आणि तो युद्धहि करित असो किंवा नसो परंतु त्याला सेनेचा घेरा देऊन सहावे, आणि त्याचे देशाचा नाश करावा, तृण, उदक, अन्न, काष्ठे यांचेठायीं वाईट प्रदार्थ मिश्र करून तीं दूषित करावी.

भिद्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ॥

समवस्कंदयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

तलाव, किल्याचे तड, किल्याचे खंदक या सर्वांचा नाश करावा. शंकारहित शत्रूला शंकित करावे. शक्तिग्रहण करून रात्रीचे ठायीं नगरि, नौबती इत्यादिक रणवाद्ये वाजवून अधिक त्रास करावा.

उपजप्यानुपजपेद्बुध्यैतैव च तत्कृतम् ॥

युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥

राजाचे वंशांत झालेले असून राज्याची इच्छा करणारे, आणि राजावर शुब्ध झालेले प्रधानादिक यांचा भेद (फितुर) करून आपणास वश करावे, व यांचा सर्व व्यवहार जाणावा कीं हे आपणास वश आहेत किंवा नाहीत. जयाची इच्छा करणाऱ्या राजानें भय सोडून शुभग्रहदशा इत्यादिकें करून शुभफलयुक्तदैव असेल तर युद्ध करावे.

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ॥

विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

साम, दान (हत्ती, अश्व, रथ, सुवर्ण इत्यादिक देणें), आणि प्रधानादिक अथवा राजकुलांतील असून राज्येच्छु पुरुष यांचा भेद यांतून एकेक करून अथवा निरनिराळे सर्व करून शत्रूला जिंकण्याकरितां प्रयत्न करावा, केवळ युद्धच करून शत्रूला जिंकवें असें नाही.

अनित्यो विजयो यस्मात् दृश्यते युध्यमानयोः ॥

पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥

जय अनित्य आहे, कां कीं दोघे युद्ध करीत असतां कदाचित् दैववशें करून प्रवलाचा पराजय व निर्बलाचा जय होतो असे पाहण्यांत येतें. तस्मात् दुसरा उपाय असेल तर युद्ध वर्ज्य करावे.

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ॥

तथा युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून् यथा ॥ २०० ॥

पूर्वोक्त तीन उपायांचा असंभव असेल तर ज्या प्रकारे करून शत्रूचा पराभव होईल तो प्रकार करून युद्ध करावे. जयपराजयाचा संशय असेल तथापि प्रयत्न सोडूं नये.

जित्वा संपूजयेत् देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ॥

प्रदद्यात्परिहारंश्च ख्यापयेद्भयानि च ॥ २०१ ॥

शत्रूचे राष्ट्र जिंकून तेथील देवता, धार्मिक ब्राह्मण, यांला भूमि, सुवर्णादि दानें देऊन सत्कार करून त्यांची पूजा करावी. जित द्रव्य जें सुवर्णादिक तेणें करून आणि देवब्राह्मणांच्या कार्यार्थ हे मी दिलें आहे असे सांगून त्या देशनिवासी जनांला परिहार (जे पुनः माघारे घेणे नाहीत ते) द्यावे, व स्वामिभक्तीच्या योगानें ज्यांनी आमचा अपकार केला त्या सर्वांची क्षमा केली आहे, तरी त्यांनी आजपासून निर्भय होऊन आपापले व्यापार करावे, असें सर्व प्रजाला प्रसिद्ध अभय द्यावे.

सर्वेषां तु विदित्वेषां समासेन चिकीर्षितम् ॥

स्थापयेत्तत्र तदंशं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

ज्या राजाला युद्धांत जिंकलें त्याच्या सर्व प्रधानांला संक्षेपानें आपला अभिप्राय समजवून त्या राजाचा जो वंशज असेल त्याची स्थापना त्या राज्याचे ठायीं करावी आणि हें अमुक तुझीं करावें, अमुक करूं नये, असे नियम राजा व त्याचे प्रधान यांच्याशीं करावे.

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् ॥

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥

जांला धर्मयुक्त आणि शास्त्रकथित जो आचार तेणेंकरून युक्त असे प्रमाणभूत करावे आणि राज्याभिषेक करून रत्नादिकांनीं प्रधानांसहवर्तमान राजाची पूजा करावी.

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ॥

अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

यद्यपि अभिलषित द्रव्यांचें ग्रहण अप्रियकर आहे आणि दान प्रियकर हें जरी स्वाभाविक आहे तथापि समयविशेषी दान (देणें) व ग्रहण (घेणें) हीं प्रशस्त आहेत. यास्तव त्या कालीं याप्रमाणें पूजा करावी.

सर्वं कर्मैदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ॥

तयोर्दैवमाचित्वं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

पूर्वजन्मांत केलेलें जें पाप आणि पुण्य तें दैव होय, आणि इहलोकीं केलेलें जें पुण्य-पाप तें मानुष कर्म होय, ह्या दोन कर्मांच्या आधीन राहणारे सर्व पदार्थ आहेत; परंतु त्या-मध्यें दैवकर्म चिंतन करण्यास अयोग्य आहे आणि मानुषकर्मांत विचार आहे, याकरितां मानुषकर्मांच्या द्वारानेंच कार्याचे सिद्धीविषयी यत्न करावा.

सह वापि ब्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ॥

मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यांस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥

या रीतीकरून शत्रूशीं युद्ध करावें, अथवा तोच राजा मैत्री करील तर यात्रेचें फल मित्र, भूमि, हिरण्य ह्या तीन वस्तूंपैकीं एका वस्तूचा लाभ झाला असतां त्याच्या समक्ष त्याचे वरान्न संधि करावा.

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रंदं च मंडले ॥

मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥

मंडलाचे ठायीं पार्ष्णिग्राह (षष्ठभागीं राहणारा राजा) आणि आक्रंद (जो संकेत केले असेल त्याकून मित्र करणारा जो पार्ष्णिग्राह झालेन केलिला संकेत सरक्षिणारा) या दोन राजांच्या इच्छेकरून यात्रा करावी, आणि या दोहोच्या इच्छेवांचून यात्रा केल्यानें या दोघांच्या दोषेकरून गृहीत होईल (हे सर्व उपद्रव करितील) याकरितां इच्छेनें यात्रा केल्यानें मित्रापासून अथवा शत्रूपासूनहि यात्रेचें फल प्राप्त होतें.

हिरण्यमभिसंग्राह्या पार्थिवी न तथैधते ॥

यथा मित्रं भुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥

वर्तमानकालीं कृश आणि भविष्यकालीं वृद्धियुक्त असा स्थिर मित्र प्राप्त होऊन जसा राजा वृद्धि पावतो तसा हिरण्य, भूमि यांच्या प्राप्तीने वृद्धि पावत नाही.

धर्मतं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ॥

अनुरक्तं स्थिरारंभं लघु मित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

धर्म व उपकार जाणणारा, स्थिरकार्याला आरंभ करणारा, स्वभावाने प्रिय, अनुराग-युक्त, चपल, असा जो मित्र तो अति प्रशस्त जाणावा.

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ॥

कृतज्ञं धृतिमंतं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

विद्वान्, कुलीन, शूर, दक्ष, दाता, कृतोपकार जाणणारा, सुखदुःखाविषयी समान, असा जो शत्रु तो दुरुच्छेद (उच्छेद करण्यास अशक्य) असे पंडित ह्मणतात. तस्मात् अशा शत्रूसह संधि करावा, युद्ध करू नये.

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ॥

स्थौलक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥

साधु, पुरुषविशेषातें जाणणारा, शूर, कृपालु, सर्वदा बहुत देणारा असा जो उदासीन राजा त्याचा आश्रय करून शत्रूसह युद्ध करावें.

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ॥

परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

क्षेम्या (आरोग्यादि कल्याणकारक), सस्यप्रदा (नदीचे पाट बंधारे बहुत असल्यामुळे सर्वदा धान्य देणारी), पुष्कळ तृणादिक असल्यामुळे पशूंची वृद्धि करणारी, असी जरी भूमि असेल तथापि सद्विषयक कांहीं विचार न करितां आपल्या रक्षणाकरितां राजानें ती भूमि सोडावी, परंतु आत्मरक्षण करावें.

आपदर्थं धनं रक्षेत् दारान् रक्षेद्वनैरपि ॥

आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

आपत्तीचे निवारणार्थ धनाचें रक्षण करावें, धनेकरून स्त्रियेचें रक्षण करावें, स्त्री, धन यांहीकरूनहि आत्मरक्षण करावें.

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ॥

संयुक्तांश्च विपुक्तांश्च सर्वोपायान् सृजेद्बुधः ॥ २१४ ॥

कोशाचा क्षय, प्रकृतीचा कोप, आणि मित्राचें दुःख हीं सर्व एक कालीं जरी प्राप्त होतील तथापि ज्ञात्या राजानें मोहनिमग्न होऊं नये. तर साम, दान, दंड, भेद हे जे उपाय यांतून एकेक करावा अथवा सर्व करावे.

उपेक्षारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ॥

एतन्नयं समाश्रित्य व्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥

उपाय (सामादिक), उपाय करणारा, आणि उपायांपासून सिद्ध होणारी वस्तु ह्या तिघांचा आश्रय करून अर्थसिद्धयर्थ यत्न करावा.

एवं सर्वमिदं राजा सह संमंज्य मंत्रिभिः ॥

व्यायाम्याहुत्य मध्यान्हे भोक्तुमंतःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

पूर्वोक्त प्रकारें करून या सर्व राज्यकारभाराची मसलत प्रधानांसह वर्तमान राजानें करून नंतर दांडपट्टा इत्यादिक आयुधांच्या अभ्यासाने व्यायाम करून माध्यान्हीं स्नानादिक माध्याह्निक कृत्य करून भोजन करण्याकरितां अंतःपुरांत प्रवेश करावा.

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ॥

सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मंत्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

त्या अंतःपुरांत आत्मतुल्य, भोजनकाल जाणणारे, द्रव्यादिकानें फितूर न होणारे असे जे परिचारक (सूपकारादिक) त्यांनीं विषनाशक मंत्रांहीं करून परीक्षा केलेलें अन्न राजानें भक्षण करावे.

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ॥

विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

विष आणि रोग या दोहोंचा नाश करणारे जे पदार्थ त्यांचा योग सवें मोज्य पदार्थांत करावा. आणि विषाचा नाश करणारी जीं रत्ने तीं सर्वकाल निश्चये धारण करावी. विषयुक्त अन्न अवलोकन केल्याने चकोरपक्ष्यांचे नेत्र लल्ल होतात, यास्तव चकोर पक्ष्याला अन्न दाखवून परीक्षा करावी.

परीक्षिताः स्त्रियश्चैव व्यजनोदकधूपनैः ॥

वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥

गुप्त बातमीदारांनीं परीक्षा केलेल्या; गुप्त आयुधे व विषलिप्त अलंकार यांहीं विरहित; सुंदररूपयुक्त; शुद्धालंकारयुक्त; एकाग्रचित्त अशां ज्या स्त्रिया त्यांनीं पंखा, चवरी, स्नानपानोदक यांहीं करून राजाची सेवा करावी.

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ॥

स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु ख ॥ २२० ॥

यान-शय्या, आसन, भोजन, स्नान, केशप्रसाधन, आणि सर्व अलंकार या सर्वांचे ठायीं पूर्वोक्त प्रकारें करून नित्य परीक्षा करावी.

मुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरंतःपुरे सह ॥

विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिंतयेत् ॥ २२१ ॥

भोजन करून स्त्रियांसह वर्तमान अंतःपुरांत अल्पकालपर्यंत विहार करावा, तदनंतर यथाकालीं (दिवसाच्या आठव्या भागां) पुनः आपल्या राज्यासनावर वसून राज्यकार्यांचा निवार करावा.

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ॥

वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥

अलंकार, पोषाग धारण करून पुनः योद्धे, वाहनै (हत्ती, घोडे, रथ, इत्यादि), शस्त्रे, आभरणे, या सर्वांला पाहावे, ह्मणजे त्यांत न्यूनाधिक पाहून सर्व व्यवस्थित करावी.

संध्यां चोपास्य शृणुयादंतर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ॥

रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥

गत्वा कक्षांतरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ॥

प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृत्तोऽतःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

तदनंतर सायंकालीन संध्योपासन करून त्या प्रदेशापासून अंतःपुरांत जाऊन शस्त्रधारी होत्साता रहस्य सांगणारे व बातमीदार या सर्वांची योग्य कामे श्रवण करावी. नंतर तेथून स्थलांतरीं जाऊन तेथील लोकांला तत्तत्कार्याच्या आज्ञा करून भोजन करण्याकरितां सेवक व स्त्रिया यांसहवर्तमान पुनः अंतःपुरांत यावे.

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित्पूर्वघोषैः प्रहर्षितः ॥

संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥

नंतर त्या अंतःपुरांत पुनः अल्प भोजन करून मंजुळ वाद्यांचे ध्वनींनी हर्षित होत्साता यथाकाली निद्रा करावी, नंतर पहाटसमयी विश्रांत होत्साता उठावे.

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ॥

अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

राजा रोगरहित असेल तर त्याने पूर्वोक्त प्रजारक्षणादिक राजकारभार स्वतां करावा, आपण अस्वस्थ असतां योग्य व मुख्य अशा प्रधानाकडून करवावा.

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां राजधर्मनिरूपणं नामसप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे महाराष्ट्रभाषाव्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अध्याय आठवा.

व्यवहार हाणजे इनसाफ यांचे निरूपणाविषयी.

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ॥

मंत्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥

व्यवहार (इनसाफ) पाहण्याची इच्छा करणारा राजा यानें नम्र होत्ताता मंत्र (राज्य-विषयक मसलती) जाणणारे मंत्री, व ब्राह्मण मांसहवर्तमान सभेंत प्रवेश करावा.

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुदाम्य दक्षिणम् ॥

विनीतवेधाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्याणाम् ॥ २ ॥

या सभेचेठायीं न्यायासनीं बसून अथवा उभें राहून दक्षिणबाहु वर करून साधा पोषाग व अलंकार धारणकरून कार्यवंतांचीं (वादिप्रतिवादी इत्यादिकांचीं) कार्ये (कामें) पाह्यावीं.

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ॥

अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥

कर्ज घेणें इत्यादिक अठरा प्रकारच्या व्यवहारांचेठायीं पठित जीं कार्ये त्यांचा जाति, कुल, व्यवहार यांहींकरून व शास्त्रोक्त असे साक्षी, दिव्य इत्यादिक कारणें यांहींकरून पृथक् पृथक् प्रतिदिवशीं विचार करावा.

तेषामाद्यमुणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ॥

संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥

व्यवहाराचीं अठरा प्रकरणें सांगतो—या अठरा प्रकरणांमध्ये पहिलें ऋणादान (कर्ज देण्याघेण्याचा प्रकार), निक्षेप (रूपसंख्यादि दाखवून जें विश्वासानें दुसऱ्यापाशीं इव्य ठेविलें जातें तें, ठेव), अस्वामिविक्रय, संभूयसमुत्थान (व्यापारार्थ पातीदारांची मंडळी व त्यांचें काम), दत्तानपकर्म.

१ व्यवहार झणजे “ काहीं एका वस्तूविषयी ” दुसरा विरुद्ध बोलत असतो हें माझें आहे असे झणणे, जसे, कोणी एक पुरुष ही जमीन माझी आहे असें झणतो; दुसराहि तद्विरुद्ध झणतो कीं, ही माझी आहे हे व्यवहार अनेक प्रकारचे आहेत. २ वेदव्याकरण मीमांसादिसंपन्न, धर्मशास्त्र जाणणारे, सत्यभाषी, शत्रुमित्रांवर समदृष्टि ठेवणारे, झणजे प्रीतिद्वेषरहित असे सभासद नेमावें आणि ते सभेंत जेणेंकरून व्यवहार पहावयास बसतील अशा रीतीनें त्यांचा दान, मान व सत्कार राजांनें ठेवावा. बृहस्पति सांगतो कीं वेद जाणणारे, व लौकिकव्यवहार जाणणारे आणि धर्मशास्त्रज्ञ असे सात, पांच किंवा तीन ब्राह्मण ज्या सभेंत आहेत ती सभा केवळ शस्त्रशास्त्रेसारखीच होय. कात्यायनानें ब्राह्मणाचा आणि सभासदांचा स्पष्ट भेद दाखविला आहे, तो असा—प्राड्विवाक (वादिप्रतिवादीस प्रश्न करून त्यांचें भाषण विरुद्ध किंवा न्यायसंगत आहे, त्याचा सभासदांसहवर्तमान विचार करणारा), अमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित आणि सभासद यांसहवर्तमान धर्मेकरून व्यवहार पाहणारा राजा स्वर्गी राहतो. एणें ब्राह्मण अनियुक्त (न्यायसभेंत येऊन व्यवहार पहावा एतदर्थ ज्यांस निराळें वेतन नाहीं, कुटुंबपोषणार्थ वर्षांशान अन्नहार इत्यादि असल्यास तितकेच मात्र मिळतें ते), सभासद नियुक्त (न्यायसभेंत येऊन व्यवहार पाहण्यासाठीं वेतन देऊन नेमलेले), इतका भेद समजावा. कात्यायन-कुलीन, सुशील, तरुण, सदाचारसंपन्न, घनाश्रय, निर्मत्सर, कुलपरंपरायाह असे कितीएक सावकारहि सभेंत असावे. ३. नारद. दुसऱ्याची ठेव किंवा हरवलेलें सापडलें अथवा चोरलेलें इव्य मालकाच्या परोक्ष व आज्ञेशिवाय जें विकलें जातें तो अस्वामिविक्रय व्यवहार झटला आहे. ४. अर्थात ज्या व्यवहारां विहित मार्गानें द्रव्य दिलेलें पुनः परत घेतलें जात नाहीं, असा जो दानसंज्ञक व्यवहार तो दत्तानपकर्म झटला आहे. (याज्ञवल्क्य. मिताक्षरा.)

वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ॥

क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥

वेतनादान (वेतन न देणें), संविद्व्यतिक्रम (संकेताचें उलंघन), क्रयविक्रयानुशय, स्वामिपशुपालविवाद.

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दंडवाचिके ॥

स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥

सीमाविवाद, दंडपारुष्य, वाक्पारुष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण,

स्त्रीपुंभर्मी विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ॥

पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

१ वेतनादानाचें स्वरूप नारद सांगतो.— चाकराचें वेतन देणें आणि न देणें याविषयीं जो व्यवहार झाला वेतनादान झटलें आहे. जो चाकर धन्यापासून वेतन घेऊन कराराप्रमाणें काम करीत नाही त्याजकडून दुप्पट वेतन धन्याचें परत देववावें. जर वेतन घेतलें नसेल परंतु वेतनाविषयीं व कामाविषयीं ठराव मात्र झाला, असें असतां कंबूल केलेलें काम करीत नाहीं तर करार केलेल्या वेतनाइतकें द्रव्य धन्याला देववावें. अथवा कराराप्रमाणें मजुरी देऊन जवरीनें त्यापासून काम करून घ्यावें. (मिताक्षरा.)
२ संविद्व्यतिक्रमाचें स्वरूप नारद व्यतिरेकद्वारा सांगतो.— पाखंड नैगम इत्यादिकांची जी स्थिति तिळा समय झटलें आहे. त्या समयाचें उलंघन करूं नये. असें आहे अतएव त्या समयाचें उलंघन झालें असतां जे व्यवहार त्यास संविद्व्यतिक्रम झटलें आहे. ३ क्रीतानुशयाचें स्वरूप नारद सांगतो.— मोठे देऊन जिनस खरीद केल्यावर खरीद करणाराच्या पसंतीस पडत नाहीं तर त्याविषयीं जो व्यवहार तो क्रीतानुशय (क्रयविक्रयानुशय) झटला आहे. ४ गार्ह, झशी इत्यादिक पशु शेतांत शिरून शेताचा नुशा झाला असतां शेताभनी व गुरांसी यांचा जो व्यवहार तो स्वामिपशुपालविवाद झटला आहे.
५ सीमा झणजे क्षेत्रादिकांची हद्द—ती चार प्रकारची. देशाची सीमा, गावाची सीमा, क्षेत्राची सीमा आणि घराची सीमा. ६ दंडपारुष्याचें स्वरूप नारद सांगतो.— हात, पाय, शस्त्र इत्यादिकें करून जी दुसऱ्याचे शरीरास पीडा देणें व भस्मादिकें करून जी दुसऱ्याचे अंगास लेप करणें हें सर्व दंडपारुष्य झटलें आहे. ७ वाक्पारुष्याचें स्वरूप नारद सांगतो.— देश, जाति, कुल इत्यादिकांस उद्देशून जें आक्रोश-युक्त व कठोर असें भाषण तें वाक्पारुष्य झटलें आहे. देशास उद्देशून आक्रोश झणजे गौड हे निश्चयें मोठे भांडखोर आहेत. जातीस उद्देशून आक्रोश झ० ब्राह्मणांची जात अत्यंत छोमिष्ट आहे. कुलास उद्देशून आक्रोश झणजे विश्वामित्रकुळीतज मोठे क्रूर कर्म करणारे आहेत. ८ जो द्रव्याचा मालक व राजपुरुष यांचे यांच्या समक्ष अपहारादिक करून मी केलें नाहीं असा भयान निन्दव (नाकबूलपणा) झणतो तें स्तेय असें झटलें आहे. ९ योष्ये विनियोग करण्यास अयोग्य असें समाधिक किंवा परकीय द्रव्याचें बलात्कारानें हरण केलें असतां, झणजे असें, राजदंड व लोकांचा गळबळा घाचें भवत धरितां सरकारी मनुष्य व इतर जन यांच्या समक्ष जें काहीं मारणें, परस्त्रीला शोषणें इत्यादिक केलें जातें तें सर्व साहस झटलें आहे. अतएव समाधिक द्रव्याचें किंवा परकीय द्रव्याचें जवरीनें हरण केलें असतां तेंहि साहसच. १० स्त्रीसंग्रहण झणजे परस्त्री व पुरुष यांचा परस्पर संयोग (किंवा संयोग होण्याचे उपाय) तद्विषयक जो व्यवहार तें स्त्रीसंग्रहण असें झटलें आहे (मिताक्षरा.)

स्त्रीपुंर्धर्म (स्त्रीपुरुषासंबंधी व्यवहार), विभाग (दायविभाग), आणि द्यूतसमान्हय. द्यूत खणजे जुगार आणि समान्हय खणजे टोणगे, एडके इत्यादिकांची पैज (लढाया), अशीं हीं व्यवहाराचीं अठरा प्रकरणें एथें सांगितलीं आहेत.

एषु स्थानेषु भूयिष्ठविवादं चरतां नृणाम् ॥

धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

राजानें शाश्वत अशा धर्माचे अवलंबून करून, ह्या अठरा व्यवहारप्रकरणांचे ठायीं वाद करणाऱ्या मनुष्यांचे कार्यांचे निर्णय करावे.

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ॥

तदा नियंत्यादिद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

ज्या कालीं राजा कार्यांतराच्या पारतंत्र्यामुळे अथवा शरीराच्या अस्वस्थतेमुळे व्यवहार पाहण्यास असमर्थ असेल त्या कालीं त्याने व्यवहार पाहण्याविषयीं कार्यदर्शनाभिन्न असा ब्राह्मण नेमावा.

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ॥

सभायैव प्रविश्याग्रयामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥

त्या ब्राह्मणानें त्या राजसभेप्रत जाऊन धार्मिक, व्यवहारदक्ष, विद्वान् असे तीन सभासद ब्राह्मण आपल्या मदतीस घेऊन त्यांसह वर्तमान वसून अथवा उभा होताता त्याने राजाचे सर्व व्यवहार पाहावे.

यस्मिन्देधे निषीदंति विप्रत्वेद्विदस्त्रयः ॥

राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्राह्मणस्ता सभा विदुः ॥ ११ ॥

१ जेथें स्त्रियांचा व पुरुषांचा विवाहादि विधि होतो तत्संबंधी जो व्यवहार त्याला स्त्रीपुरुषसंबंधी व्यवहार झटला आहे. जरी स्त्रीपुरुषांचा परस्पर वादिप्रतिवादीपणानें राजाच्या समोर व्यवहार निषेधिला आहे, तथापि स्त्रीपुरुषांचा परस्पर व्यवहार प्रत्यक्ष समजल्यावरून किंवा कर्णोपकर्णो ऐकिल्यावरून राजानें दंडादिकें करून तीं स्त्रीपुरुषें आपापल्या धर्ममार्गांत राहीत असें करावें. असें न केल्यास राजा दोषी होतो. शास्त्रवद्वा व्यवहारप्रकरणीं राजधर्मांत स्त्रीपुरुषांचे धर्माचा उपदेश समितला. २ दायशब्देकरून जें द्रव्य मालकीचेच नात्यानें दुसऱ्याचे सत्तेत येतें ते संसर्जावें. तो दाय दोन प्रकारचा-अप्रतिबंध (सुळा) आणि सप्र-तिबंध (अटकावलेला). सुळादाय-पुत्राच्या व पौत्राच्या नात्यानें बापाचे घनावर व पितामहाचे घनावर जी सत्ता उत्पन्न होते ती सत्ता. अटकावलेला दाय-चुलता, माल इत्यादिकांची पुत्राच्या अमावी व मालकाच्या अमावी सत्ता उत्पन्न होते झणून पुत्र विद्यमान असणें व मालक विद्यमान असणें हा (चुलते वगैरेच्या सत्तेविषयीं) प्रतिबंध आहे, त्याच्या (पुत्र व मालक ह्यांच्या) अमावीं चुलतेपणा, बंधुत्व ह्या संबंधानें त्यांची सत्ता उत्पन्न होते ते घन. विभाग खणजे द्रव्यसमुदायावर जीं अनेकांची स्वामित्वें, त्यांची द्रव्यसमुदायाच्या त्या त्या एकदेशीं व्यवस्था करणें तो. ३ जुमाराचें स्वरूप नास्तद् सांगतो-पैसे, वादी, शजका, इत्यादिक खीकडून जी कपटानें पणपूर्वक खोडा, तो जुमार झटला आहे. पशु, पक्षी खीकडून जी पणपूर्वक खोडा ती पैज झटली आहे.

वेदभेदे तीन ब्राह्मण व राजाने व्यवहार पाहण्याविषयी नेमलेला विद्वान् अधिकारी (प्राड्विवाक) इतके ज्या सभेत बसतात ती केवळ ब्रह्मसभा होय असे पंडित बोलते शाले.

धर्मो विद्वत्स्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ॥

शल्यं चास्य न कृतंति विद्वास्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥

जेथे सभेमध्ये अधर्माने (खोटेपणाने) धर्म (सत्यरूप) पीडित होतो, सणजे वादि-प्रतिवादी यांच्या मध्ये एकाचा पक्ष खरा व दुसऱ्याचा पक्ष खोटा असल्यामुळे सभासद सूक्ष्मदृष्टीने निष्पक्षपाताने खरा न्याय करून जर धर्माचे शल्य काढणार नाहीत सणजे धर्मद्वारा अधर्माचा उच्छेद करणार नाहीत तर ते (सभासद) विद्व होतात.

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम् ॥

अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥

न्यायसभेत जाऊ नये, (गेलें असतां) समंजस (सत्यच) भाषण करावे; कारण, (ठाऊक असून) अगदीच बोलत नाही असा किंवा विपरीत सांगणारा मनुष्य पातकी होतो.

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥

हन्यते प्रेक्ष्यमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

ज्या सभेचे ठायीं वादिप्रतिवादींपासून अधर्मेकरून धर्म आणि असत्येकरून सत्य यांची हानि शाली असे होते व सभासद त्याचे निवारण करीत नाहीत तेथे सभासद या पापेकरून दोषी होतात.

धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति नित्यशः ॥

तस्माद्धर्मो न हंतव्यो मा नो धर्मोऽहतोऽवधीत् ॥ १५ ॥

धर्म नष्ट असतां इष्टानिष्टांसह नाश करितो, धर्माचे रक्षण केले असतां तो नित्य आपले रक्षण करितो, तस्मात् धर्माचे उल्लघन करू नये (सणजे इनसाफाची हानि करू नये) याकरितां सभासद प्राड्विवाकाला (न्यायाधीशाला) सांगतात कीं, हत न शालेला धर्म आम्हाला मारणार नाही, यास्तव धर्महानि करू नये.

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ॥

वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

भगवान् जो धर्म त्याला वृष असें म्हणले आहे, धर्माचे जो निवारण करितो त्याला वृषल असें देवता म्हणतात, याकरितां धर्माचा लोप करू नये.

एक एव सुदृढधर्मो निधनेऽप्यनुपाति यः ॥

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्विगच्छति ॥ १७ ॥

धर्म हाच एक खरा मित्र आहे; कां कीं, प्राणी मृत झाल्यानंतरहि तोच एकमात्र बरोबर जातो. शंका-कदाचित् प्राणी मृत झाल्यानंतर अधर्महि बरोबर जातो, तस्मात् तोहि मित्र आहे. याचे समाधान- धर्म इष्ट फल देण्यासाठीं बरोबर जातो आणि अ-

धर्म अनिष्ट फल देण्यासाठीं जातो. जो इष्टफल देण्यासाठीं जातो तो मित्र होय व अधर्म हा शत्रु होय, आणि भार्या, पुत्र, इत्यादिक सर्व शरीरासहवर्तमान अदृश्य होतात याकरितां भार्यापुत्रादिकांसाठीं धर्माचा नाश करूं नये.

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ॥

पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

अधर्माचे चार भाग होतात, व्यवहार पाहण्यांत अधर्म झाला असतां अधर्माचा एकेक भाग कर्ता, साक्षी, सभासद आणि राजा यांला क्रमेंकरून प्राप्त होतो.

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यंते च सभासदः ॥

एनो गच्छति कर्तारं निदाहो यत्र निद्यते ॥ १९ ॥

असत्य भाषण करणारा वादी अथवा प्रतिवादी ज्या कार्त्तिकी न्यायसभेत निदिला जातो तेव्हां राजा निर्दोषी होऊन सभासदहि निर्दोषी होतात, आणि अधर्म करणाराला पाप लागते.

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः ॥

धर्मप्रवक्तानृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ २० ॥

केवळ जातीमात्र ब्राह्मण, ब्राह्मणाचे कर्म कदापि करित नाही; अथवा मूर्ख ब्राह्मण असेल तथापि तो राजाला धर्माचा उपदेश करण्याविषयी योग्य आहे; आणि शूद्र धार्मिक, व्यवहारज्ञ असा जरी असेल तथापि तो योग्य नाही.

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ॥

तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पके गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥

ज्या राजाला धर्मविवेचन शूद्र करितो त्या राजाचे राज्य त्याच्या समक्ष, कर्दमांत रुपलेल्या गाईप्रमाणे कष्टाला पावते.

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ॥

विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

ज्या राज्यांत शूद्र बहुत आहेत; आणि नास्तिक आहेत; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाहीत ते सर्व राज्य दुष्काळ, व्याधि यांहीं पीडित होऊन त्वरित नाश पावते.

धर्मासनमधिष्ठाय संवीतांगः सयाहितः ॥

प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥

राजाने अथवा तनियुक्त अन्य न्यायाधीशाने धर्मासनावर (न्यायासनावर) बसून वस्त्रांनीं शरीर झांकलेला व एकाग्र मन केलेला अशा प्राड्विकाकाने लोकपालांस नमस्कार करून न्याय करण्यास आरंभ करावा.

१ कात्यायन-ब्राह्मण जर न झिल्ले तर धर्मशास्त्रज्ञ असा क्षत्रिय अथवा त्याच्या सभावी तसाच वैश्य नेमावा, परंतु शूद्र अगदीं वर्ज्य करावा.

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ॥

वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्पण्यम् ॥ २४ ॥

प्रजांचे रक्षण हा अर्थ व प्रजांचा उच्छेद हा अनर्थ हे दोन इहलोकसंबंधी अर्थानर्थ होत असे जाणून आणि परलोकासाठी धर्माधर्म केवळ जाणून परस्पर अविरोद्ध होतील अशा रीतीने वर्णक्रमेकरून कार्यार्थी मनुष्यांचे सर्व व्यवहार न्यायाधीशाने पाहवे.

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमंतर्गतं नृणाम् ॥

स्वरवर्णैर्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥

आकारैरिगितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ॥

नेत्रवक्रविकारैश्च गृह्यतेऽतर्गतं मनः ॥ २६ ॥

बाहेरची जी चिन्हे स्वर, वर्ण, इंगित, आकार, चेष्टित, यांनी करून मनुष्यांचा अंतर्गत अभिप्राय जाणावा. आकार, इंगित, गति, बाह्य व्यापार, भाषण, नेत्र व मुख यांचे विकार या सर्वांनी करून मनुष्यांचे मन जाणले जाते.

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ॥

यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥

अनाथ बालकाचे धन पितृव्यादिक अन्यायेकरून हरण करितील तर, जेथपर्यंत त्या बालकाचा समावर्तनसंस्कार झाला नाही आणि त्याची बाल्यावस्था गेली नाही (कायद्यांत आला नाही) तेथपर्यंत त्याच्या धनाचे रक्षण राजाने करावे.

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ॥

पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥

बंध्या, अपुत्रा, निष्कुला (सपिंडरहिता), ज्यांचे पति प्रवासांत असतील या, पतिव्रता, विधवा आणि रोगिणी अशा ज्या स्त्रिया त्यांच्या द्रव्याचे रक्षण, बालकाच्या द्रव्याप्रमाणेच राजाने करावे.

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबांधवाः ॥ *Sm. p. 212. 2. 11. 33.*

तांश्छिष्याच्चौरदंडेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥ *MS. p. 60. 4. 10. 10.*

पूर्व श्लोकांत सांगितलेल्या स्त्रियांचे 'जवळचे अधिकारी आहोती आहोती, तस्मात् त्यांचे धन आम्ही रक्षण करू' असे निमित्त सांगून, या स्त्रिया जिवंत असतां त्यांचे धन जे कोणी त्यांचे बांधव हस्ते करितील त्याला धार्मिक राजाने चोराप्रमाणे दंड करावा.

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा व्यदं निधमपयेत् ॥

अर्वाक् व्यदं हरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥

हरवलेले द्रव्य सांपडले असतां ते राजाने सर्वत्र प्रसिद्ध करून तीन वर्षे ठेवावे. तीन वर्षांचे आंत जर मालक हजर होईल तर त्याला द्यावे. तीन वर्षांनंतर ते राजाने घ्यावे.

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ॥
संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥

जर मनुष्य राजाजवळ येऊन झणेल कीं, ही वस्तु (धन इत्यादि पदार्थ) माझी आहे तर त्याला राजाने प्रश्न करून ते द्रव्य किती आहे, ते कोठे नष्ट झाले, त्याची संख्या किती इत्यादि प्रकाराने विचाराने. नंतर तो जर सर्व लक्षणें बरोबर सांगेल तर ते द्रव्यादिक तो घेण्यास पात्र होतो.

अवेद्यानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ॥
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दंडमर्हति ॥ ३२ ॥

ते द्रव्यादिक कोणत्या प्रदेशी व कोणत्या कालीं नष्ट झाले, आणि त्याचा वर्ण, रूप, प्रमाण हीं बरोबर न सांगेल तर तो नष्ट झालेल्या द्रव्याइतका दंड देण्यास पात्र होतो.

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतानृपः ॥
दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

हरवलेलें द्रव्य सांपडलें असतां त्यांतून राजाने सद्धर्मास अनुसरून सहावा, दहावा किंवा बारावा हिंसा (रक्षणानिमित्त) घ्यावा.

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ॥
यांस्तत्र चौरान् गृहीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

जर कोणाचे द्रव्य हरवले असून ते राजपुरुषांला (सरकारी मनुष्यांला) मिळेल तर ते त्यांनीं रक्षण करून ठेवावे. ते रक्षण केलेलें द्रव्य जे चोर चोरतील त्यांला राजाने हत्तीकडून मारवावे.

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ॥
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

निधि झणजे भूमीत पुरून ठेवलेलें द्रव्य ते आपणास किंवा दुसऱ्या कोणास सांपडलें असतां जर निधीचा मालक राजाजवळ 'हा निधि माझा आहे' असा सत्य प्रमाणाने व रूपसंख्यादिकें करून पुरावा करील तर त्या द्रव्याचा सहावा किंवा बारावा भाग राजाने घेऊन बाकी धन मालकाला द्यावे. निधिस्वामीचा गुण अवगुण पाहून सहावा, बारावा भाग यांची योजना करावी.

अमृतं तु वदन् दंड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ॥
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाऽप्ययसी कलाम् ॥ ३६ ॥

मिथ्या बोलेल तर त्याने त्या द्रव्याचा आठवा भाग दंड द्यावा. अथवा त्या निधीचा थोडा भाग होई इतका दंड आपल्या घरांतून द्यावा. दंडविकल्प पूर्वीप्रमाणे जाणावा.

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ॥
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥

विद्वान् ब्राह्मणाला पूर्वोक्त निधि सांपडेल तर तो त्यानें सर्व ध्यावा. सहावा अंश राजाला देऊं नये; कां कीं, तो (विद्वान् ब्राह्मण) सर्व धनाचा प्रभु आहे.

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ॥

तस्मात् द्विजेभ्यो दत्तार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

ज्याचा कोणी मालक नाही असे द्रव्य भूमीत पुरून ठेवलेलें राजाला सांपडेल तर त्यांतून अर्ध ब्राह्मणांला देऊन अर्ध आपल्या जामदारखान्यांत राजानें ठेवावें.

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ॥

अर्धभाग्यक्षणाद्वाजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥

पुरातन निधि, धातु, सुवर्णादि धातु उत्पन्न होण्याचीं स्थानें (खाणी), यांचा अर्धा भाग घेणारा राजा होय; कारण, तो सर्वांचा रक्षणकर्ता व अधिपति (स्वामी) आहे.

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राजा चैरैर्हतं धनम् ॥

राजा तदुपयुज्जानश्चोरस्याप्रोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

चोरानीं चोरलेलें धन चोरांपासून राजानें घेऊन सर्व वर्णांला (ह्मजे ज्यांचें धन गेलें त्यांला) द्यावें. कदाचित् राजा त्या धनाचा उपयोग आपण करील तर तो चोराचें पाप पावतो.

जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्माश्च धर्मवित् ॥

समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

जाति, देश, कुल, व्यापारी इत्यादिक या सर्वांच्या धर्मांचा विचार करून आपणास अविरुद्ध असे धर्म व्यवहारांचें ठायीं राजानें योजावे.

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे संतोऽपि मानवाः ॥

प्रिया भवंति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

जाति, देश, कुल एतत्संबंधी स्वकर्म (स्वधर्म) निरंतर करणारे जे ते दूर जरी असतील तथापि ते लोकांला प्रिय होतात, कारण, ते स्वकर्मांचे ठायीं स्थित होत.

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ॥

न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥

राजानें आपण होऊन (धनलोभादिकानें) कोणतेंहि कार्य (ऋणादिक वाद, फिर्याद) उपस्थित करवूं नये, व त्याच्या पदरच्या लोकांनींहि करवूं नये, आणि दुसन्यानें केलेली फिर्याद कधीं बुडवूं नये.

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ॥

नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

जसा व्याध रुधिराच्या पातांनीं मृगाचे स्थानाप्रत पावतो (ह्मजे एका बाणानें वेधला गेलेला मृग पळत असतां ज्या मार्गानें तो जातो त्या मार्गी त्याच्या शरीरापासून रुधिर

पडत जातें तें तो व्याध पाहून असें समजतो कीं, या मार्गानें मृग गेला आहे) त्याप्रमाणें अनुमानेंकरून (इष्ट प्रमाणेंकरून) धर्माचें पद (तत्त्व) राजानें प्राप्त करावें.

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ॥

देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥

व्यवहार पाहणाऱ्या राजानें व्यवहारविधीचे ठायीं स्थिर होऊन निष्कपटपणानें सत्य, अर्थ (गोहिरण्यादिक धनविषयक व्यवहार), आत्मा, साक्षी, देश, रूप, काल ह्या सर्वांचा विचार करून व्यवहार पाहावे.

सद्गिराचरितं यत्स्याद्दार्मिकैश्च द्विजातिभिः ॥

तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

धार्मिक, सज्जन, विद्वान् अशा द्विजातीनीं ज्या धर्माचें आचरण केलें असेल तो धर्म, देश, कुल, जाति यांला अविरुद्ध असा पाहून व्यवहारांचे ठायीं योजावा.

अधमर्णार्थसिद्धयर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ॥

दापयेद्दैनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥

उत्तमर्ण (सावकार, ऋण देणारा), यानें आपलें दिलेलें द्रव्य मिळण्याकरितां राजाचे सन्निध जाऊन फिर्याद द्यावी, आणि साक्षी, लेख, इत्यादिक जो पुरावा असेल तो देऊन तें द्रव्य सिद्ध केल्यानंतर राजानें अधमर्णाकडून (रिणकौकडून) देववावें.

यैरुपायैर्यैः स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ॥

तैस्तेरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

ज्या ज्या उपायांनीं सावकाराला आपलें द्रव्य मिळेल ते ते उपाय कर्जदारावर करून सावकाराचें धन राजानें देववावें.

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ॥

प्रयुक्तं साधयेदर्थं पंचमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

ते उपाय सांगतो— धर्म (सत्य वचन), व्यवहार (साक्षी, लेख इत्यादि), छल (कपट), आचरित (द्वारांत उपोषण इत्यादि करणे), आणि बल (पायांत बेडी घालणे इत्यादिक बलात्कार) या पांच उपायांतून कोणत्या एका उपायानें, आपलें दिलेलें द्रव्य वसूल करून घ्यावें.

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ॥

न स राजाऽभियुक्तव्यः स्वर्कं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

जो सावकार ऋणकोवर अनेक उपाय करून आपलें द्रव्य वसूल करून घेत असेल त्याला राजानें ' आसाला जाहीर केल्यावांचून आपणच उपाय करून वसूल करीत आहे ' असें मना करूं नये.

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ॥

दापयेद्वनिकस्यार्थं दंडलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

सावकाराने फिर्याद केल्यानंतर कर्जदार असें हणेल कीं, मी याचें कांहीं देणें लागत नाही परंतु सावकार साक्षी, लेख इत्यादिकानें आपलें येणें विभावित (सिद्ध) करील तर राजानें सावकाराला रिणकोकडून धन देववावें, व यथाशक्ति दंडहि त्याला करावा.

अपन्हवेऽ धमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ॥

अभियोक्तादिशेद्देश्यं कारणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

सभेंत न्यायाधीशानें सावकाराचें धन देण्याविषयीं रिणकोला सांगितल्यानंतर तो जर मी याचें कांहीं देणें नाही असें बोलेल तर सावकारानें साक्षी, लेख इत्यादिक पुरावा दावा.

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापन्हते च यः ॥

यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्नावबुद्ध्यते ॥ ५३ ॥

अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ॥

सम्पक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिचंदति ॥ ५४ ॥

ज्या प्रदेशांत ऋणको राहण्याचा संभव नाही तो प्रदेश सावकार सांगेल हणजे या प्रदेशीं मी याला द्रव्य दिलें इत्यादिक सांगेल व पुनः बोलेल कीं, ह्या देशाविषयीं मी बोलिलों नाहीं आणि पूर्वापर विरुद्ध बोलेल; अथवा असें हणेल कीं खुद्द माझ्यापासून चार पैसेभार सुवर्ण यानें नेलें असें हणून पुनः माझ्या पुत्रापासून नेलें असें बोलेल आणि जे प्रश्न न्यायाधीश करील त्यांचे जबाब बरोबर देणार नाहीं;

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ॥

निरुत्पमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥

जो एकांती साक्षीबरोबर खलवत करितो आणि भाषा (सवाल) शांतपणानें न्यायाधीश विचारीत असतां त्यांची उत्तरे बरोबर दिणार नाही व एका जागेवर स्थिर राहत नाही, चलबिचल होतो;

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ॥

न च पूर्वापरं विद्वान्स्मादर्थोत्स हीयते ॥ ५६ ॥

जो, न्यायाधीशानें बोल असा प्रश्न केल्या असतां बोलत नाही, आणि जो आपला कथित अर्थ साक्षी, लेख इत्यादि पुरावा देऊन सिद्ध करित नाही व जो पूर्वापरसंबंध कोणताहि जाणत नाही, हे सर्व आपल्या अर्थाची हानि पावतात, हणजे पराभव पावतात.

साक्षिणः संति मेत्युक्ता दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ॥

धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

‘माझे साक्षी आहेत’ असें सांगितल्यानंतर ‘ते साक्षी हजर कर’ असें न्यायाधीशानें सांगितलें असतां जो साक्षी देत नाही तोही हीन (हार जाणारा) असा जणावा.

अभियोक्ता न चेद्दूयाद्व्यो दंड्यश्च धर्मतः ॥

न चेत्त्रिपक्षात्प्रवृत्त्याद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ १८ ॥

वादी यानें फिर्याद केल्यानंतर न्यायाधीश जबाबानी घेत असतां (प्रतिवादीच्या स-
मोर) तो जर प्रश्नाची उत्तरे (सवालांचे जबाब) देणार नाही तर कज्जा लाहानमोठा
असेल तदनुसार वधाला अथवा दंडाला पात्र होईल. प्रतिवादी फिर्याद झाल्यानंतर तीन
पक्षांचे (दीड महिन्याचे) आंत त्या फिर्यादीचा जबाब न देईल तर तो धर्मकरूनच
पराभव पावतो, ह्मणजे त्याजवर एकतर्फी हुकूमनामा होतो.

यो यावन्निन्हुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ॥

तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ १९ ॥

जो प्रतिवादी जितक्या द्रव्याचा अपलाप (नाकबूलपणा) करील अथवा वादी जि-
तक्या द्रव्याची खोटी फिर्याद करील तर ते दोघेहि अधर्मज्ञ (खोटसाळ) होत, आणि
त्या घनाच्या दुप्पट दंडाला ते दोघे पात्र होतात.

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ॥

अथैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ २० ॥

ज्या कार्ही प्रतिवादी सभेत (कोर्टांत) येऊन बोलेल कीं, मी याचें धन घेतलें नाही,
त्या कार्ही वादीनें न्यायाधीशाचे समीप तीहीं हून ज्यास्त साक्षी देऊन आपलें दिलेलें धन
सिद्ध करावें.

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ॥

तादृशान् संप्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतं च तैः ॥ २१ ॥

सावकारांनीं व्यवहारांचेठायीं ज्या प्रकारचे साक्षी द्यावे व त्या साक्षी लोकांनीं सत्य
बोलावें तें सर्व मी तुहाला सांगेन.

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ॥

अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ २२ ॥

गृहस्थाश्रमी, पुत्रवंत, त्या देशांत राहणारे असून वादीनें आणलेले असे क्षत्रिय, वैश्य,
शूद्र, या जातींतले असे जे ते साक्षी योग्य जाणावे. स्त्रीसंग्रहण, वाक्पारुष्य, दंडपारुष्य,
साहस इत्यादि व्यवहारांत सर्व प्रकारचे साक्षी घ्यावे.

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ॥

सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥ २३ ॥

सर्ववर्णांचे कार्यांचे ठायीं ययार्थवक्ते, सर्व धर्म जाणणारे, निर्लोभी, असे जे साक्षी ते
साक्षित्वाला योग्य होत, आणि विपरीत (पूर्वकथित गुणानीं हीन) ते वर्ज्य करावे.

नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ॥

न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ २४ ॥

ज्या अर्थाचा विवाद असेल त्या अर्थसंबंधाचा जो पुरुष तो, मित्राला सहाय करणारा, शत्रु, ज्याचा दोष सर्वत्र पाहण्यांत येतो तो, व्याधीनें पीडित, दोषयुक्त;

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुक्कुशीलवौ ॥

न श्रोत्रियो न लिंगस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥

राजा; स्वयंपाकी; नटादिक; वेदवेत्ता; ब्रह्मचारी इत्यादिक; संन्यासी; सर्वसंगत्यागी;

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ॥

न वृद्धो न शिशुर्नैको नांत्यो न विकलेंद्रियः ॥ ६६ ॥

दास, क्रूर कर्म करणारा, विरुद्ध कर्म करणारा, वृद्ध (ऐशीं वर्षांहून अधिक वयाचा), शिशु (सोळा वर्षे पुरीं ज्याला नाहीत तो), एकाकी, चांडालादिक, इंद्रियरहित;

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृणोपपीडितः ॥

न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥

दुःखित, मदनीय द्रव्यानीं (भांग गांजा इत्यादिकांनीं) मत्त, उन्मत्त (भूतादिकांच्या उपद्रवानें युक्त), सुधा व तृषा यांहीं पीडित, श्रमानें युक्त, कामार्त, क्रोधिष्ठ, आणि चोर हे सर्व साक्षी वर्ज्य जाणावे.

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ॥

शूद्राश्च संतः शूद्राणामंत्यानामंत्ययोनयः ॥ ६८ ॥

स्त्रियांची साक्ष स्त्रियाच देवोत, द्विजांचे साक्षी सदृश (द्विजलोक) होवोत, शूद्रांचे शूद्र व अंत्यजांचे अंत्यज साक्षी होवोत.

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ॥

अंतर्वैष्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥

वादी अथवा प्रतिवादी यांच्या कज्जाचें स्वरूप यथास्थित माहीत असेल असा साक्षी असावा. गृहसंबंधी कज्जा, अरण्यांत चोरादिकांनीं मारले अथवा लुटिले असतां किंवा शरीराचा नाश या तीन प्रकरणांविषयी, ऋण घेतल्याविषयीचे कज्जांत ज्या लक्षणाचे साक्षी सांगितले तशा लक्षणाचे पाहिजेत असे नाही.

स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ॥

शिष्येण बंधुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

पूर्वोक्त तीन कार्यांचे ठायीं पूर्वकथित साक्षीचा असंभव असेल तर स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, बंधु, दास, मजूर यांचीहि साक्ष द्यावी.

बालवृद्धातुराणां च साक्षेषु वदतां मृषा ॥

जानीषादस्थिरां वाचमुत्तिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥

बाल, वृद्ध, आतुर (रोगी), उन्मत्त, हे साक्षी देत असतां त्यांची वाणी मृषा व अस्थिर होते यास्तव ती वाणी अनुमानानें जाणावी.

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ॥

वाग्दंडयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

गृहदाहादिक सर्व साहसकृत्ये, चोरी, स्त्रीसंग्रहण, वाक्पारुष्य, दंडपारुष्य ह्या व्यवहारी कोणत्याही प्रकारचे साक्षी द्यावे. पूर्वोक्त परीक्षा करून लक्षणलक्षित साक्षी असावे असे नाही.

बहुत्वं परिगृणीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ॥

समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

जेव्हा साक्षी परस्पर विरुद्ध बोलतील तेव्हा त्यांमध्ये न्यायाधीशाने बहुत साक्षींचे वचन ग्रहण करावे. विरुद्ध बोलणारे उभयपक्षां संख्येने समान असतील तर त्यांमध्ये जे गुणवंत असतील त्यांचे वचन ग्रहण करावे. गुणवंतांचे द्विधा मत असेल तर द्विजामध्ये जे उत्तम (क्रियावंत) त्यांचे मत घ्यावे.

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ॥

तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

समक्ष पाहिल्याने किंवा ऐकिल्यानेहि साक्षिप्रमाण सिद्ध होते. त्या साक्षित्वांत सत्य भाषण केल्याने धर्म, अर्थ यांची हानि होत नाही.

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ॥

अवाङ्मनस्कमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

आर्य लोकांचे समेमध्ये (कोर्ट इत्यादि स्थानी) ऐकिल्याहून व पाहिल्याहून जो विरुद्ध बोलतो तो अधोमुख होतसाता नरकाप्रत जातो, आणि परलोकां स्वर्गापासून च्युत होतो.

यत्रानिबद्धोपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन ॥

दृष्टस्तत्रापि तद्रूपाद्यथा दृष्टं यथा श्रुतम् ॥ ७६ ॥

तू या व्यवहाराविषयी साक्षी हो, असे पूर्वी त्याला सांगितले नाही, आणि तो व्यवहार तर त्याने पाहिलेला आहे लपून त्याला बोलवून त्याची साक्ष घेतली असतां जसे त्याने पाहिले व ऐकिले असेल तसे तो सांगेल तर ती साक्षी अकृत असा झटली आहे.

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बुद्ध्याः शुच्योऽपि न स्त्रियः ॥

स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वान्तु दोषैश्चान्येपि ये वृताः ॥ ७७ ॥

लोभरहित असा एक नरी पुरुष असेल तथापि तो साक्षी होतो, आणि पवित्र अशा स्त्रिया बहुत नरी असतील तथापि त्या साक्षी होत नाहीत; कारण, स्त्रियांची बुद्धि स्थिर नाही. जे दोषयुक्त असतील तेहि साक्षित्वाविषयी योग्य नाहीत.

स्वभावेनैव यद्रूपस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ॥

अतो यदन्यद्विब्रुवुर्धर्मार्थं तदपार्थक्यम् ॥ ७८ ॥

साक्षी स्वाभाविक जें बोलतील तें व्यवहारनिर्णयाविषयी ग्रहण करावें, आणि शिक-
वून तयार केलेले साक्षी जें बोलतील तें धर्मनिर्णयाविषयी व्यर्थ (ग्रहण करूं नये).

समांतः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ॥

प्राड्विवाको नियुंजीत विधिनानेन सांत्वयन् ॥ ७९ ॥

सभेमध्ये साक्षी आल्यानंतर वादिप्रतिवादींच्या समक्ष पुढें सांगितलेल्या रीतीप्रमाणें
(क्षणजे सामोपायानें) त्यांना न्यायाधीशानें आज्ञा करावी.

यद्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ॥

तद्भूत सर्व सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

वादी आणि प्रतिवादी यांच्या वादांत जो व्यवहार परस्पर झालेला तुझाला विदि-
त असेल तो सत्य स्मरून तुझी सांगावा. ह्या प्रकरणांत तुझाला साक्षी नेमलें आहे.

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाम्रोति पुष्कलान् ॥

इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥

खरी साक्ष देणारा साक्षी इहलोकीं उत्तम कीर्ति पावून उत्कृष्ट (ब्रह्मलोकादिक)
लोक पावतो, आणि त्याची वाणी ब्रह्मदेवापासून पूजित होते.

साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ॥

विवस्त्रः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्ये वदेदृतम् ॥ ८२ ॥

साक्षीपणांत मिथ्या बोलणारा साक्षी पराधीन होऊन वारुणपाशांनीं बांधला जाऊन
शंभर जन्मपर्यंत अत्यंत पीडा पावतो. तस्मात् साक्षीनें खरी साक्ष द्यावी, मिथ्या बोलूं नये.

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ॥

तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

सत्येंकरून साक्षी पवित्र होतो, सत्येंकरून धर्म वृद्धिंगत होतो. तस्मात् सर्व वर्णा-
च्या साक्षींनीं सत्य बोलावें.

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ॥

मावर्मस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

आत्म्याची गति आणि साक्षी आत्मा आहे, व सर्व मनुष्यांला आपला आत्मा श्रेष्ठ
आहे यास्तव मिथ्या भाषण करून आत्म्याचा अवमान करूं नको.

मन्यंते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ॥

तांस्तु देवाः प्रपश्यंति स्वस्यैवांतरपुरुषः ॥ ८५ ॥

पाप करणारे जन असें मानितात कीं, आह्मी पापकर्मीला प्रवृत्त असतां आह्माला
कोणी पाहत नाही; परंतु तसें नव्हे, तर त्यांचें पापकर्म, देवता व आपल्या अंतर्गत राह-
णारा पुरुष हे पाहतात.

दौर्भूमिरापो तृदयं चंद्रार्काग्निप्रमानिलाः ॥

रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

स्वर्ग, भूमि, जल, हृदय, यांच्या अधिष्ठात्री देवता व चंद्र; सूर्य; अग्नि; यम; वायु; रात्रि; संध्याद्वय; आणि धर्म हे सर्व मनुष्यांचीं शुभाशुभ कर्मे जाणणारे होत.

देवब्राह्मणसन्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ॥

उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान् वा पूर्वाण्हे वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥

न्यायसभेत वादिप्रतिवादींच्या समक्ष साक्षीस न्यायाधीशाने स्वतां शुचिभूत होऊन देवब्राह्मणांच्या सन्निध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जे कोणी साक्षी असतील त्यांना खरी साक्ष पुसावी, आणि त्यांस उत्तराभिमुख किंवा पूर्वाभिमुख करून पूर्वाण्हकालीं साक्ष घ्यावी.

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ॥

गोबीजकांचनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

ब्रूहि (बोल) असा शब्द उच्चारून ब्राह्मणाला प्रश्न करावा; सत्यं ब्रूहि (सत्य बोल) असा राजाला प्रश्न करावा; गाय, बीज, सुवर्ण यांच्या अपहारापासून जे पाप ते, मिथ्या भाषण केले असतां तुला प्राप्त होईल असे वैश्याला सांगून प्रश्न करावा; मिथ्या भाषण केले असतां सर्व पातके तुला लागतील असे सांगून शूद्राला प्रश्न करावा.

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ॥

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्बुवतो मृषा ॥ ८९ ॥

ब्रह्महत्या करणारे; स्त्री, बालक ह्यांचा घात करणारे; मित्रद्रोही; कृतघ्न यांना जे लोक (नरकादि) प्राप्त होतात ते खोटी साक्ष देणाऱ्या साक्षीस प्राप्त होतात.

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्रं त्वया कृतम् ॥

तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

हे भद्र, जर तू खोटी साक्ष देशील तर, जन्मपर्यंत जे तू पुण्य केले आहेस ते सर्व कुतऱ्याला मिलेल.

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ॥

नित्यं स्थितस्ते हृदोष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥

हे भद्र, आपणाला तू असे मानीत आहेस कीं, जीवात्मा असा मी एकाकीच आहे, दुसऱ्या कोणी नाही; तर तसे मानू नको. कां कीं, तुझ्या हृदयांत राहणारा असून पुण्यपाप पाहणारा असा मुनि (मननशील परमात्मा) तुझ्या सन्निध आहे.

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष तृदि स्थितः ॥

तेन चेदविवादस्ते मा गंगां मा कुरुन् गमः ॥ ९२ ॥

सूर्याचा पुत्र यम देव तुझ्या हृदयांत निस राहणारा आहे, त्याच्या सह जर तुझा विवाद नसेल तर गंगा आणि कुरुक्षेत्र यांचे ठायीं जाऊ नको, हणजे मिथ्या भाषण केल्याने

यमासह विवाद होतो व त्यापासून जें पाप त्याची सुटका होण्याकरितां गंगा, कुरुक्षेत्र यांची यात्रा करावी लागते व तेणेंकरून निष्पाप होतो.

नम्रो मुंडः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ॥

अंधः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥

जो खोटी साक्ष देतो तो नम्र, मुंडन केलेला, क्षुधातृषांनीं पीडित, अंध असा होऊन भिक्षेकरितां हातांत खापर घेतलेला असा शत्रूच्या कुलाप्रत जाईल.

अवाक्शिरास्तमस्यंधे किंलिखी नरकं व्रजेत् ॥

यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात् पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

धर्माचे निश्चयाविषयीं प्रश्न केला असतां जो मनुष्य असत्य भाषण करितो तो अधोमुख होतसाता बहुत अंधकारानें युक्त जो नरक त्याप्रत जातो.

अंधो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कंटकैः सह ॥

यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभांगतः ॥ ९५ ॥

जो मनुष्य सभेंत जाऊन लांचेच्या लोभानें असत्य भाषण करितो तो अंधासारखा कंटकसहित मत्स्य भक्षण करितो.

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते ॥

तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

जो मनुष्य सभेंत (कोर्टांत) जाऊन बोलत असतां क्षेत्रस्थ (अंतरात्मा) शंका (हा सत्य बोलतो किंवा अनृत बोलतो असी शंका) पावत नाही, तर हा सत्यच बोलतो असे निःशंकपणें समजतो. तस्मात् सत्यभाषण करणाराहून मोठा कोणी पुरुष अन्य आहे असे देव जाणत नाहीत.

यावतो बांधवान्यस्मिन् हंति साक्ष्येऽनृतं वदन् ॥

तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥

ज्या व्यवहारांत खोटी साक्ष दिली असतां जितक्या बांधवांचा साक्षी मारतो ते सर्व हे ऋषिहो, तुझाला क्रमेंकरून सांगतो, श्रवण करा.

पंच पश्वनृते हंति दश हंति गवानृते ॥

शतमश्वानृते हंति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

पशु, गार्ई, घोडा, आणि पुरुष यांच्या निमित्त साक्षिकर्मांत असत्य बोलेल तर क्रमेंकरून पांच, दहा, शंभर, सहस्र इतक्या बांधवांचा नाश करितो.

हंति जातानज्जातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ॥

सर्वं भूम्यनृते हंति मास्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

सुवर्णाच्या निमित्त साक्षिकर्मांत असत्य बोलेल तर झालेले व पुढें होणारे अशा पुरुषांचा

मारितो. भूमीच्या निमित्त साक्षिकर्मांत असत्य बोलल्याने सर्वांचा नाशक होतो, यास्तव भूमिनिमित्त साक्षिकर्मांत कदापि असत्य बोलू नये.

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ॥

अब्जेषु चैवं रत्नेषु सर्वेष्वश्रमयेषु च ॥ १०० ॥

जल, स्त्रीसंभोग (मैथुनकर्म), मोती इत्यादिक व वैडूर्यादिक सर्व रत्ने यांच्या निमित्त असत्य बोलणारास भूमीप्रमाणे दोष लागतो असे जाणावे.

एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ॥

यथा श्रुतं यथा दृष्टं सर्वमेवांजसा वद ॥ १०१ ॥

असत्य बोलण्यांत इतके दोष आहेत असे जाणून जसे श्रवण केलें असेल व पाहिलें असेल तसे तितकेच सत्य बोल.

गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ॥

प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

गाई पाळणारे, व्यापार करणारे, दुसऱ्याचे घरीं स्वयंपाक करणारे, दासकर्म करणारे, व्याज बट्टा करणारे, असे जे ब्राह्मण त्यांला साक्षिकर्मांत शूद्राप्रमाणे प्रश्न करावे.

तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ॥

न स्वर्गाख्यवते लोकाद्वैचीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ १०३ ॥

दयेच्या योगाने व्यवहारांचे ठायीं समजून उमजून मिथ्या बोलणारा स्वर्गलोकापासून च्युत होत नाही; कारण, दयानिमित्त जी असत्यवाणी ती देवतासंबंधी वाणी आहे असे मन्वादिक सांगतात.

शूद्रविद्वत्क्षत्रविप्राणां यत्रतोक्तौ भवेद्वधः ॥

तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥

जर सत्य भाषण केल्याने वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय यांचा वध होईल तर तेथे असत्य भाषण बोलावे, व ते असत्य भाषण सत्याहूनहि श्रेष्ठ आहे.

वाग्देवैत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ॥

अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ १०५ ॥

असत्य भाषण करणारे जे साक्षी त्यांनी आपल्या गृहीं येऊन वाग्देवताक चरु करून सरस्वतीचे उद्देशाने यजन करावे, ह्मणजे सरस्वतीदेवताक याग करावा, तेणेंकरून ते अनृतजन्य पातकापासून मुक्त होतात.

कूष्मांडैर्वापि जुहुयाद् धृतमग्नौ यथाविधि ॥

उदित्यूचा वा वारुण्या त्यूचेनाव्दैवतेन वा ॥ १०६ ॥

१०६ कड बाहेर उतून जाता आतल्या आत वाफेने क्षिजलेल्या भाताविषयी चरुशब्दाची प्रसिद्धि आहे.

अथवा यजुर्वेदोक्त “यद्देवा देवहेडनं०” इत्यादि कूष्मांड मंत्रांहींकरून, किंवा “उदुत्तमं वरुणपाशं०” इत्यादिक वरुणदेवताक ऋचेने, अथवा “आपोहिष्ठा०” इत्यादि अब्देवताक तीन ऋचांनीं आपल्या गृह्यसूत्रानुसार अग्नीत होम करावा.

त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ॥

तद्वृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबंधं च सर्वतः ॥ १०७ ॥

मनुष्य निरोगी असून ऋणादिव्यवहारी दीड महिन्यांत साक्ष देत नाही, तर त्यापासून सर्व सव्याज कर्ज धनकोला देववून दशमांश दंडहि घ्यावा.

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ॥

रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८ ॥

न्यायसभेत साक्ष देण्याकरितां आल्यावर त्या साक्ष देणारास सात दिवसांमध्ये रोग, अग्नि ह्यांचा उपद्रव होईल, किंवा जातींतून कोणी मरेल तर त्यापासून वादीचे कर्ज देववून त्यास दशमांश दंड करावा.

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ॥

अविदन्तच्चतः सत्यं शपथेनापि लंघयेत् ॥ १०९ ॥

ज्या व्यवहारांत साक्षी नाहीत, आणि वादिप्रतिवादी तर भांडत आहेत व त्या व्यवहारांत विचारेंकरून सिद्धांत पाहणाराहि कोणी समर्थ नसेल तर पुढे ज्या सांगितल्या शपथा त्यांहींकरून त्याचा सिद्धांत समजावा.

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ॥

वसिष्ठश्चापि शपथं शेषे वै यवने नृपे ॥ ११० ॥

देवता, महर्षि, यांनीं संदिग्ध कार्याचे निर्णयासाठीं शपथ केले आहेत. वसिष्ठानेहि विश्वामित्राच्या वादप्रसंगी (वसिष्ठाने आपले शंभर पुत्र भक्षण केले असें विश्वामित्र बोलला असतां आपल्या शुद्धीकरितां), सुदामा यवन राजाजवळ शपथ केली अशी कथा आहे.

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ॥

वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेहच नश्यति ॥ १११ ॥

अल्प कार्यकरितां हि ज्ञात्या मनुष्याने मिथ्या शपथ करू नये. खोटी शपथ केल्याने इहपरलोकीं नष्ट होतो.

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेधने ॥

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

स्त्रिया, विवाह, गाईचा तृणादिक आहार, होमार्थ काष्ठे, ब्राह्मणाचें संरक्षण यांविषयी शपथ केली असतां पातक नाही.

सत्येन शपथेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ॥

गोबीजकांचनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणाला सयाची शपथ द्यावी; क्षत्रियाला वाहनें, आयुधें ह्यांची शपथ द्यावी; वैश्या-
ला पशु, धान्य, सोनें ह्यांची शपथ द्यावी; आणि शूद्राला तर सर्व पातकांनीं शापित करावें.

अर्थ- जर तूं खोटी साक्ष देशील तर तुझें सय नाश पावेल अशी ब्राह्मणाला शपथ
द्यावी; जर तूं खोटी साक्ष देशील तर तुझीं वाहनें व शस्त्रें निष्फळ होतील अशी क्षत्रियाला;
जर तूं खोटी साक्ष देशील तर तुझीं पशु, धान्ये, कांचनें हीं निष्फळ होतील अशी वैश्याला;
व तूं खोटी साक्ष देशील तर सर्व पातकें तुझ्या शिरीं पडतील अशी शूद्राला शपथ द्यावी.

अग्निं वा हारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ॥

पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

अथवा साक्षीकडून अग्नि (हणजे पन्नास पळे (४ तोळे हणजे एक पळ) परिमित
लोखंडाचा तप्त केलेला गोळा) हातांत घेववावा, अथवा पाण्यांत बुडवावा, किंवा पुत्र
व स्त्रिया यांच्या मस्तकांवर निरनिराळे हात ठेववावे.

यमिदो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयंति च ॥

न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥

प्रदीप्त अग्नि ज्याला दहन करित नाही, उदकें ज्याला बुडवीत नाहीत, आणि जो
अग्नि मोठें दुःख पावत नाही तो शपथेविषयीं शुद्ध जाणावा.

वत्सस्य ह्यभिशास्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ॥

नाग्निर्ददाह रोमाणि सत्येन जगतः स्पृशः ॥ ११६ ॥

प्राचीनकाळीं कनिष्ठ सापत्नबंधूने वत्सऋषीला अपवाददोष लाविला तेव्हां वत्स
ऋषीने आपली शुद्धता दाखविण्याकरितां अग्निप्रवेश केला; परंतु सर्व जगताचें शुभाशुभ
कर्म जाणणाऱ्या अग्नीनें त्या वत्स ऋषीचे अंगाचा एक केशहि दग्ध केला नाही.

यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ॥

तत्तत्कार्यं निवर्त्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥

ज्या ज्या वादांत साक्षींनीं खोटी साक्ष दिली असेल तो तो वाद निर्णीत केला असला
तथापि तो निर्णीत न केल्यासारखा आहे हणून तो न्यायाधीशानें पुनः उलटावा.

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्क्रोधात्क्रोधान्तथैव च ॥

अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान, बालभाव (अनवधान), ह्या सर्व
कारणांतून कोणत्या एक कारणेंकरून साक्षी असत्य बोलतो.

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥

तस्य दंडविशेषास्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

ह्या लोभादिक सात कारणांतून कोणत्या एक कारणानिमित्त जो खोटी साक्ष देतो
त्याला दंडविशेष क्रमेंकरून सांगतों.

लोभात्सहस्रं दंडयस्तु मोहात्पूर्वतु साहसम् ॥

भयाद्भौ मध्यमौ दंडौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

लोभामुळे खोटी साक्ष देवविणारास किंवा देणारास सहस्र दंड करावा; मोहाने खोटी साक्ष देणारास प्रथम साहस (प्रथमसाहसदंड व्हावयाजोगा जो अपराध झाला जो योग्य दंड तो); भयाने खोटी साक्ष देणारास दोन मध्यम साहसे; स्नेहभावामुळे खोटी साक्ष देणारास प्रथम साहसाच्या चौपट दंड करावा.

कामादृश गुणं पूर्वं क्रोधान्तु त्रिगुणं परम् ॥

अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥

कामातुरपणामुळे खोटी साक्ष देणारास प्रथम साहसाच्या दहापट; आणि क्रोधाने खोटी साक्ष देणारास उत्तम साहसाच्या तिप्पट दंड; अज्ञानाच्या योगाने खोटी साक्ष देणारास दोनशे आणि मूर्खपणामुळे असे घडल्यास शंभर दंड करावा.

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दंडान्मनीषिभिः ॥

धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥

अधर्माचे नियमन व्हावे व सत्यरूप धर्माची स्थापना व्हावी एतदर्थ विद्वानांनी, खोटी साक्ष देणारास हे दंड सांगितले.

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणान् त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ॥

प्रवासयेद्दंडयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

क्षत्रियादिक तीन वर्ण जर खोटी साक्ष देतात (किंवा देववितात) तर त्यांस धार्मिक राजाने दंड करून विवास (हद्दपार) करावे, आणि ब्राह्मणास तर धनदंडव्यतिरिक्त विवास (हद्दपार) करावे.

दश स्थानानि दंडस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥

त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ १२४ ॥

क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र ह्या तीन वर्णांला दंड करण्याविषयी स्वायंभु (ब्रह्मदेवाचा पुत्र) मनूने दहा दंडस्थाने सांगितली. ब्राह्मण जर मोठा अपराध करील तरी त्याला शारीरदंडव्यतिरिक्त देशांतून हद्दपार करावे.

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पंचमम् ॥

चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥

दहा दंडस्थाने सांगतो— उपस्थ, उदर, जिह्वा, हस्त, पाद, नेत्र, नासिका, कर्ण, धन, देह याप्रमाणे दहा दंडस्थाने जाणावी.

अनुबंधं परित्याय देशकालौ च तत्त्वतः ॥

सारापराधौ चालोक्य दंडं दंडवेषु पातयेत् ॥ १२६ ॥

वारंवार जाणून बुजून अपराध करणें; ग्रामवनादिक अपराधस्थानें; दिवस रात्री इत्यादिक अपराधकाल; अपराध करणाराचें धनशरीरादि सामर्थ्य; आणि लहान मोठा अपराध या सर्वांचा पूर्ण विचार करून ज्या अपराधाला योग्य जो दंड तो करावा.

अधर्मदंडनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ॥

अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥

लोकांत यश (लणजे जीवंत असतां प्रसिद्धि), कीर्ति (मृत शाल्यानंतर प्रसिद्धि), या दोहोंचा नाश करणारा आणि परलोकीं स्वर्गाचा नाश करणारा असा अधर्मदंड आहे याकरितां अधर्मदंड करूं नये.

अदंडयान् दंडयन् राजा दंडयांश्चैवाप्यदंडयन् ॥

अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥

जे दंडाला पात्र नाहीत त्यांना दंड केल्यानें, आणि जे दंडाला पात्र त्यांना दंड न केल्यानें राजा मोठी अपकीर्ति पावतो, आणि नरकांतहि जातो.

वाग्दंडं प्रथमं कुर्याद्विग्दंडं तदनंतरम् ॥

तृतीयं धनदंडं तु वधदंडं ततः परम् ॥ १२९ ॥

तूं ही गोष्ट बरी केली नाहीस व पुनः असी करूं नको असें वाणीनें भय घालणें तो वाग्दंड, हा प्रथम करावा; तदनंतर धिक्कार तुला असो, तूं मोठा पापी मूर्ख आहेस, तुझे वांचणें न होवो असें सांगणें तो दुसरा विग्दंड; धनदंड तिसरा; वध (अंगच्छेद) दंड हा चवथा जाणावा.

वधेनापि यदा त्वेतांनिग्रहीतुं न शक्नुयात् ॥

तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुंजीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

अपराधी वध (अंगच्छेद) करूनहि कबूल न होईल तर पूर्वश्लोकोक्त चारहि दंड योजावे.

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ॥

तान्निरूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥

लोकांचा क्रयविक्रयादि व्यवहार चालण्याकरितां तांचे, रूपे व सुवर्ण यांच्या पणादिक ज्या प्रसिद्ध संज्ञा त्या दंडादिक उपयोगाकरितां संपूर्ण सांगतो.

जालांतरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ॥

प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

गवाक्षाच्या विक्राचे ठायीं पडणारे जे सूर्याचे किरण त्यांचे ठायीं अतिसूक्ष्म दिसणारे जे रज ते सर्व प्रमाणांमध्ये पहिले प्रमाण होय आणि त्याला त्रसरेणु असें लणतात.

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिखिका परिमाणतः ॥

ता राजसर्वपस्तिस्त्रयो गौरसर्वपः ॥ १३३ ॥

आठ त्रसरेणूंची १ लिखा, ३ लिखांची १ राई, तीन राईंची एक पिवळी राई जाणावी.

सर्वपाः षड् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलेम् ॥

पंचकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

सहा सर्वपांचा एक मध्यवय, तीन यवांची एक रती, पांच रतींचा एक मासा, सोळा माशांचा एक सुवर्ण होय.

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ॥

द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥

चार सुवर्णांचे एक पल, दहा पलांचे एक धरण. आतां रुप्याचे परिमाण सांगतो—
दोन रतींचा एक रुप्याचा मासा जाणावा.

ते षोडश स्याद्वरणं पुराणश्चैव राजतः ॥

कार्षापणं तु विज्ञेयस्तान्त्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

सोळा माशांचा एक धरण व त्याला पुराणही म्हणतात. सोळा मासे तांबे त्याला तान्त्रिक व कार्षिक पण म्हणतात.

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ॥

चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥

दहा धरणांचा १ रौप्य शतमान, ४ सुवर्णांचा एक निष्क जाणावा.

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ॥

मध्यमः पंच विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

अडीचशे पणांचा प्रथमसाहस, पांचशे पणांचा मध्यम साहस आणि सहस्र पणांचा उत्तम साहस याप्रमाणें जाणावे.

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पंचकं शतमर्हति ॥

अपन्हवे तद्विमुक्तं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥

जर सभेत (कोर्टात) जाऊन ऋणको सांगेल की, या धनकोचे देणे मी आहे खरे तर त्याला प्रत्येक शंभर पणांस पांच पण याप्रमाणें दंड करावा. आणि कोर्टात जाऊन अपला करील (मी कांहीं देणें लागत नाही असे सांगेल) आणि धनको साक्षीलेखांनी आपलें येणें सिद्ध करील तर प्रत्येक शंभर पणांस १० पण या आकाराने ऋणकोला दंड करावा अशी मनूची आज्ञा आहे.

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्विचित्रवर्द्धिनीम् ॥

अशीनिमाणं गृह्णीष्यान्मासाद्वर्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

इत्याची वृद्धि करणारे असे वसिष्ठाने सांगितलेले व्याज दर महिन्यास दर शेंकडा सर्वा रुपयां (महाण असतां) सावकाराने घ्यावे.

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ॥

द्विकं शतं हि गृह्णीतो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥ १४१ ॥

अथवा सज्जनांचे धर्म स्मरीत होतात्या अशा सावकारानें (गहाण नसतां) दरशेंकडा दरमहिन्यास दोन रुपये व्याज ध्यावें. शेंकडा दोन रुपये व्याज वेणारा द्रव्यपापी होत नाही.

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शतं समम् ॥

मासस्य वृद्धिं गृण्हीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

गहाणावांचून कर्ज दिलें असेल तर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ह्या वर्णानुक्रमेंकरून दर शेंकडा दर महिन्यास २।३।४।५ रुपये व्याज ध्यावें.

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयान् ॥

न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥

सावकाराच्या उपयोगी पडण्याला योग्य असा आधि (गाहाण भूमि, गाई, धन, दास इत्यादि) असून त्याचा उपभोग सावकार करीत असेल तर व्याज मिळणार नाही, व तें गहाण बहुकाळ राहिल्यामुळें तें दुसऱ्या ठिकाणीं गहाण ठेवावयास योग्य होत नाही, व त्याचा विक्रयही होत नाही.

न भोक्तव्यो बलादाधिभुंजानो वृद्धिमुत्सृजेत् ॥

मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥

गोप्य (जतन करावयास योग्य जें वस्त्रालंकारादिक) गहाण बलात्कारानें भोगूं नये, भोगिलें असतां व्याज मिळणार नाही. गहाण वस्तु भोगून ती निःसार झाली असल्यास त्याची किंमत मालकाला देऊन संतुष्ट करावें. तसें न करील तर तो गाहाणाचा चोर (अपहार करणारा) होतो, लणजे चोरदंडाल तो पात्र होतो.

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ॥

अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

आधि (गहाण) आणि उपनिधि (प्रीतिकरून उपभोगार्थ दिलेंलें द्रव्य) हे बहु-त दिवसपर्यंत जरी स्थित झाले असतील तथापि ते कालविलंबाला योग्य नाहीत, लणजे ज्या वेळीं मालक ते मागेल तत्कालीच त्याला जशाचे तसे परत द्यावे, व त्यांच्यावर सत्ता उपभोग करणाराची नाही; मूळ धन्याची आहे.

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यंति कदाचन ॥

धेनुरुष्टौ वहन्नेश्वो यश्च दम्पः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

धेनु (गाय), उंट, घोडा आणि बैल ह्या सर्वांचा, मालकाच्या संतोषानें कोणी उपभोग करील तरी ज्याचे हे असतील त्याचें त्यांवरून स्वामित्व (मालकी) नष्ट होत नाही.

यत्किंचिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ॥

भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

जो कोणतीही वस्तु मालकाचे समक्ष दहा वर्षपर्यंत दुसरा उपभोगीत असेल व मालक त्याविषयीं प्रतिबंध करीत नाही तर ती वस्तु पुनः मालकास मिळणार नाही.

१ नारद—मोजल्यावांचून व अमुक द्रव्य आहे असें न सांगता खण करून जें दुसऱ्याजवळ ठेवतात तो उपनिधि, आणि जें द्रव्य मोजून व दाखवून ठेवतात तो निक्षेप (ठेव) झटला आहे.

अजडश्चेदपोगंडो विषये चास्य भुज्यते ॥

भर्तृतद्वयवहारेण भोक्ता तद्व्यमर्हति ॥ १४७ ॥

कां कीं, उपभोग करणारा सांगतो हा जड (बुद्धिविकल) आणि बालक (चौ-
डश वर्षांहून कमी वयाचा) नाही व याच्या समक्ष या वस्तूचा उपभोग करित असतां
यानें कांहीं प्रतिबंध केला नाही याकरितां व्यवहारेंकरून ती वस्तु नष्ट होते, ह्य-
णून उपभोग करणारासच ती प्राप्त होते.

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ॥

राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४८ ॥

आधि (गाहाण वस्तु), गावची सीमा, बालधन, निक्षेप (ठेव), उपनिधि (१४९
व्या श्लोकांत सांगितलेला), दासी इत्यादि स्त्रिया, राजधन आणि श्रोत्रियधन हीं द-
हा वर्षे उपभोग केल्यानं स्वामित्वापासून नष्ट होत नाहीत, ह्यणजे उपभोग करणारा-
ची होत नाहीत.

यः स्वामिनाऽनुज्ञातमार्धिं भुंक्ते विचक्षणः ॥

तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १४९ ॥

धन्याच्या आज्ञेवांचून जो सावकार गाहाण वस्तूचा उपभोग करील त्यानं कुळापासून
अर्ध व्याज घ्यावें, सर्व व्याज घेऊं नये, ही त्या उपभोगाची निष्कृति जाणावी. बलात्का-
रानें उपभोग करित असतां सर्व व्याज सोडावें.

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सरुदाहता ॥

धान्ये शदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पंचतां ॥ १५० ॥

जें एकवार कर्ज दिलेलें असेल त्याचें व्याज दामदुपटीपेक्षां अधिक घेऊं नये. धान्य,
शदे, लव आणि वाह्य यांची पराकाष्ठा पांचपट वाढ, व्यापेक्षां अधिक नाही.

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति ॥

कुसीदपथमाहुस्तं पंचकं शतमर्हति ॥ १५१ ॥

शास्त्रोक्त व्याजाहून अधिक व्याज घेऊं नये, व ज्या वर्णापासून जसे व्याज घेण्यावि-
षयीं सांगितलें त्याच्या विपरीत जें व्याज घेणें झाला कुत्सित पथ असें मन्वादिक ह्यणता-
त. कर्ज दिलेलें मागितलें असतां ऋणको तें न देईल तर त्या दिवसापासून दरमहा
शेंकडा पांच रुपये व्याज घ्यावें.

नाति सांवत्सरीं वृद्धिं नचादृष्टां पुनर्हरेत् ॥

चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५२ ॥

१ धान्य—गहू तांदूळ वगैरे. २ शद—बागाईतांत झालेला जिन्नस ह्यणजे फुले, मुळे, फळावळ इत्या-
दिक. ३ लव—मैद्याची लोंकर व चमरीचे केश वगैरेपासून निर्मित केलेलें धावळी, शालजोडी, कांबळे
वगैरे वस्त्र. ४ वाह्य—बैल, घोडा वगैरे.

एक महिन्यानें अथवा दोन महिन्यानीं किंवा तीन महिन्यानीं व्याज देण्याची कबुलात ऋणकोनें केली असेल त्याप्रमाणें हिसाब करून एक वेळच व्याज द्यावें अशा रीतीनें नियम करून वर्षपर्यंत सावकारानें व्याज घ्यावें, व वर्ष पुरें झाल्यानंतर पूर्वोक्त नियमाचें व्याज घेऊं नये, आणि शास्त्रानें न सांगितलेले असें अन्यायाचें व्याज घेऊं नये, कदाचित् घेतलें असतां तो अधर्म होतो. चक्रवृद्धि (हणजे व्याजालाहि पुनः व्याज घेतलें जातें तें), कालवृद्धि (हणजे दर महिन्यास दिलें जातें जें व्याज तें), कायिकावृद्धि (हणजे दर वृद्धि (हणजे कुळानें स्वसंतोषानें जें व्याज कबूल केलें तें) आणि कायिकावृद्धि (हणजे दर महिना जी व्याजाची कबुलात असेल तिच्या हिशोबानें दररोज जें पण किंवा त्याचा पाव वगैरे घेतलें जातें व्याज तें) हीं व्याजें घेऊं नयेत, कां कीं, हीं सर्व व्याजें अशास्त्रीय (निंदित) होत.

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ॥

स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५३ ॥

जो कबुलातीप्रमाणें कर्ज देण्याला असमर्थ असेल व दस्तऐवज लिहून देणें इच्छील तर त्यानें व्याज देऊन पुनः नवें पत्र (दस्तऐवज) लिहून द्यावें.

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ॥

यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५४ ॥

जेव्हां ऋणकोस व्याजहि देण्याचें सामर्थ्य नसेल तर त्यानें व्याजासहित मुद्दलाचा दस्तऐवज दुसरा करून द्यावा.

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ॥

अतिक्रामन् देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५५ ॥

गाडी इत्यादिक भाड्यानें करणारा गाडीवानाला ज्याप्रमाणें सांगेल तसें तो गाडीवान न करील तर त्याला संपूर्ण फळ मिळणार नाही. जसें, एथून बनारसपर्यंत इतकें सामान पोहोचतें करीन व त्याबद्दल मजला इतकें भाडें द्यावें, अथवा एक महिनापर्यंत तुमचें मी ओझे वाहीन आणि मजला अमुक तुम्ही द्यावें असा करार करून काम करायला लागला. नंतर त्यानें पूर्वकराराप्रमाणें काम पुरें केलें नाही तर त्याला पुरें भाडें मिळणार नाही.

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ॥

स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५६ ॥

तत्सुखकीच्या मार्गानें व जळमार्गानें जाण्याविषयीं कुशल असून देश, काल, अर्थ यांत पाहणारे, हणजे अमुक देशपर्यंत व अमुक कालपर्यंत ओझे वाहिलें असतां अमुक मजुरी देणें योग्य आहे असा नियम करणारे जे व्यापारी ते ज्याप्रमाणें मजुरीचा नियम करितात तितकी त्याला मिळेल.

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ॥

अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५७ ॥

जो मनुष्य ज्या मनुष्याचा हजरजामीन झाला आणि सावकार ज्या कार्लीं आपलें कर्ज वसूल करण्याकरितां ऋणकोला स्वाधीन करण्याविषयीं त्या जामिनास सांगेल तेव्हां त्यानें ऋणकोस हजर करावें, न करील तर आपल्या धनांतून त्याचें कर्ज द्यावें.

प्रातिभाष्यं वृथा दानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ॥

दंडाशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५८ ॥

जमिनकी, वृथा दान (धूर्त, भाट, तमासगीर यांला देण्याविषयीं कबूल केलेलें), यांहीं करून झालेलें कर्ज; जुगार, मद्य, दंड, यांचें शेष; शुल्काचें शेष (इजारा) यांसंबंधी पित्यानें केलेलें कर्ज पुत्रानें देऊं नये.

दर्शनप्रातिभाष्ये तु विधिः स्यात् पूर्वचोदितः ॥

दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १५९ ॥

कर्ज देण्याविषयीं हजरजामीन पिता झाला असेल आणि पिता, हजरजामीन असतां मृत होईल. नंतर धनको त्याच्या पुत्राला ऋणकोस हजर करण्याविषयीं सांगेल तर ऋणकोला हजर करण्याचें पुत्रास प्रयोजन नाहीं. पिता मालजामीन असतां मृत होईल तर न्यायाधीशानें पुत्राकडूनहि तें कर्ज देववावें.

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ॥

पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६० ॥

दर्शनप्रतिभू (हजरजामीन), प्रत्ययप्रतिभू (विश्वासजामीन, हणजे माझ्या विश्वासावर तूं झाला धन दे, हा तुजशीं प्रतारणा करणार नाहीं; कारण, हा अमुकाचा पुत्र व सर्व धान्ये पिकावयाजोगी अशी द्याची बहुत जमीन, किंवा गांव आहे असे विश्वसनीय सांगून राहणारा जामीन तो) असे दोघे आही द्या ऋणकोनें जितकें कर्ज देणें आहे तितकें धन घेऊन जामीन झाले आहे असा करार करून देऊन ते जामीन मृत होतील तर धनकोनें आपलें धन कसें वसूल करावें; कारण, जामीन तर मृत झाले व त्याचे पुत्राकडून घेण्या विषयीं तर पूर्वीं निषेध केला.

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंघनः ॥

स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६१ ॥

पूर्वोक्त शंकेचें उत्तर— कुळाकडून धन घेऊन जर पिता जामीन झाला असेल तर त्या धनांतून जामिनाच्या पुत्रांनीं ऋण द्यावें असा शास्त्रसंप्रदाय आहे.

मत्तोन्मत्तार्ताव्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ॥

असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६२ ॥

भांग, गांजा इत्यादिकानें मत्त, व्याधि इत्यादिकानें उन्मत्त, आर्त (दुःखित), पराधीन, बालक, वृद्ध यांनीं केलेले व्यवहार आणि आपल्याला अधिकार नसतां बाप, भाऊ यांच्या आज्ञेवांचून केलेला व्यवहार हे सर्व रद्द जाणावे.

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ॥
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्वयावहारिकात् ॥ १६३ ॥

ज्या फिर्यादीत दाव्याचें कारण शास्त्रकथित नियमांला (कायदांला) अथवा देशरूढीला विरुद्ध पडेल असा फिर्यादीचा पुरावा कदाचित् जरी प्रबल असेल तथापि तो चालू करण्यास योग्य होणार नाही.

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ॥
यत्र वाप्युपार्धि पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तते ॥ १६४ ॥

छल लणजे कपटेंकरून केलेला बंधक (गाहाण), विक्रय, दान, प्रतिग्रह हे सर्व व्यवहार निवृत्त (रद्द) होतात, आणि ज्या व्यवहारांत कपट समजलें गेलें ते व्यवहार सर्व रद्द होतात.

ग्रहीता यदि वै नष्टः कुटुंबार्थे लुप्तो व्ययः ॥
दातव्यं बांधवैस्तस्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६५ ॥

कर्ज काढून त्या कर्जांने कुटुंबाचें पोषण केलें, नंतर तो मृत झाला, तर तें कर्ज विभक्त व अविभक्त आत्यांनीं आपल्या धनांतून द्यावें.

कुटुंबार्थेऽभ्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ॥
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६६ ॥

आपल्या देशीं अथवा परदेशीं कुटुंबपोषणासाठीं जरी चाकरहि कर्ज करील तथापि तें पोष्यवर्गाच्या स्वामीनें चलबिचल करूं नये, तर मान्य करावें.

बलाद्वन्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ॥
सर्वान्वलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६७ ॥

बलात्कारानें दिलेलें, बलात्कारानें उपभोग केलेलें (भूमि इत्यादिक), जबरानें लिहिलेला असा चक्रवाढव्याजादिकांचा दस्ताऐवज हे सर्व जबरानें केलेले व्यवहार अकृत होत, असें मनु बोलता झाला.

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलं ॥
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढयो वणिङ्मृगः ॥ १६८ ॥

साक्षी, जामीन आणि कुल हे तीन दुसऱ्याकरितां क्लेशातें अनुभवितात, आणि ब्राह्मण, धनी, वणिक् (व्यापारी) आणि राजा हे चार दुसऱ्याच्या अर्थानें वृद्धिगत होतात, याकरितां पूर्वोक्त तीन यांनीं आपापले कार्यांचा स्वीकार करूं नये, लणजे साक्षित्व, जामिनकी व धर्मव्यवहार पाहणें हीं कामें करूं नयेत, आणि नंतर सांगितलेले जे चार त्यांनीं क्रमेंकरून आपापलें कार्य बलेंकरून प्रवृत्त करावें, लणजे दानफलोत्पादन, ऋणद्रव्यार्पण, विक्रय, व्यवहारपहाणें हीं सर्व द्रव्यार्थ करावीं, लणजे ब्राह्मणानें दाखाला, सावकारानें ऋणकोला,

व्यापाय्यानें गिऱ्हाइकाला, आणि राजानें वादिप्रतिवादीला बलेंकरून तत्तत्कार्याविषयीं प्रवृत्त करावें.

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ॥

नचादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १६९ ॥

सजा जरी निर्धन असेल तथापि त्यानें ग्रहण करण्यास अयोग्य असी वस्तु घेऊं नये, आणि महासंपत्तिमान् राजा असेल तथापि त्यानें ग्रहण करण्यास योग्य असी वस्तु सूक्ष्म असेल तीहि ग्रहण करावी.

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ॥

दौर्बल्यं स्थाप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७० ॥

राजा प्रजेपासून घेण्यास अयोग्य असी वस्तु घेईल आणि घेण्यास योग्य असी वस्तु न घेईल तर 'राजा, दुर्बल आहे' असें प्रजा मानितात व तो राजा इहलोकीं व परलोकीं नाश पावतो.

स्वादानाद्वर्णसंसर्गाच्चबलानां च रक्षणात् ॥

बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्द्धते ॥ १७१ ॥

घेण्यास योग्य वस्तु (करादिक) प्रजेपासून घेणें, सजातीयांचा सजातीयांशीं शास्त्रोक्त विवाहादिक संबंध करविणें, प्रबलांपासून दुर्बल प्रजांचें रक्षण करणें, आणि वर्णसंकरापासून रक्षण करणें यांहींकरून राजा प्रबल होतो, व तो इहलोकीं व परलोकीं वृद्धिगत होतो.

तस्मादयम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ॥

वर्तेत ह्यामप्या वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७२ ॥

या कारणास्तव यमासारखें राजानें आपलें प्रिय व अप्रिय सर्व सोडून क्रोध आणि इन्द्रियें यांला जिकून यमाच्या वृत्तीनें (सर्वत्र समदृष्टीनें) प्रजांचे ठायीं वर्तवें.

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्निराधिपः ॥

अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वति शत्रवः ॥ १७३ ॥

जो राजा लोभादिक व्यवहारास्तव अधर्मेकरून व्यवहारादिक कार्यें करितो, त्या दुरात्म्या राजाला सर्व प्रजा नाखुष होऊन शत्रु लोक त्याचा निग्रह करितात.

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति ॥

प्रजास्तमनुवर्तेते समुद्रमिव सिंधवः ॥ १७४ ॥

जो राजा कामक्रोध ठाकून धर्मबुद्धीनें अर्थ (कार्यें) पाहतो त्याला सर्व प्रजा भजतात, जशा सर्व नदी समुद्राला भजतात, ह्मणजे समुद्राचे ठायीं जाऊन पुनः त्यापासून निराल्या होत नाहींत, त्याप्रमाणें राजापासून प्रजा भिन्न होत नाहींत.

यः साधयंतं छंदेन वेदयेद्धनिकं नृपे ॥

स राजा तच्चतुर्भर्गं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ १७५ ॥

जो सावकार ऋणकोला दिलेलें धन आपल्याच बलानें, ऋणकोपासून वसूल करीत आहे आणि ऋणको (राजाचा प्रिय असल्यामुळे) राजाजवळ जाऊन सांगेल तर राजानें त्या ऋणकोपासून ऋणाचा चतुर्थांश दंड आपण घेऊन सावकाराचें ऋण देवावें.

कर्मणापि समं कुर्याद्वनिकायाधमर्णिकः ॥

समोऽवरुष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७६ ॥

धनकोच्या समानजातीचा ऋणको असेल अथवा धनकोच्या जातीहून नीचजातीचा ऋणको असून तो कर्ज देण्याविषयी असमर्थ असेल तर सानें धनकोची स्वजायानुरूप चाकरी करून कर्ज फेडावें, आणि धनकोच्या जातीहून उत्कृष्ट जातीचा ऋणको असेल तर सानें धनकोची चाकरी करूं नये, तर हळू हळू जसें मिळेल तसें कर्ज द्यावें.

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ॥

साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७७ ॥

द्या उक्त प्रकारें करून, परस्पर विवाद करणाऱ्या मनुष्यांचीं कार्ये साक्षी, लेख, शपथ या प्रमाणांनीं निर्णीत करून उलट सुलट विरुद्ध प्रश्न करून तीं राजानें सम करावीं.

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ॥

महापश्ये धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥ १७८ ॥

कुलजेन, सदाचारसंपन्न, धर्म जाणणारा, सत्यभाषण करणारा, बहुत पुत्रपौत्रादिकांनीं युक्त, धनी अशा श्रेष्ठ मनुष्याजवळ झाल्या पुरुषानें निक्षेप (ठेव) स्थापन करावी.

यो यथा निक्षिपेद्बुधस्तं यमर्थं यस्य मानवः ॥

स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १७९ ॥

जो मनुष्य ज्या मनुष्याच्या हस्तांत ज्या प्रकारें (झणजे त्या वस्तूवर कांहीं आपली खूण केलेली, अथवा साक्षीच्या समक्ष वगैरे प्रकारें) जी वस्तु (ठेव इत्यादिक) स्थापन करील ती सानें सापासून त्या प्रकारेंच घ्यावी; कारण, जशी द्यावी तशी घ्यावी असें आहे.

नो निक्षेपं दाच्यमानो निक्षेपुर्न प्रयच्छति ॥

स याव्यः प्रसिद्धाकेन तन्निक्षेपु रसन्निधौ ॥ १८० ॥

मालकानें आपली ठेव (हिरण्यादि द्रव्य) मागितली असतां रक्षक न देईल तर ठेव ठेवणाराच्या असमक्ष ज्याच्या जवळ ठेव ठेवली त्याच्या न्यायाधीशानें (तद्विषयक) पुसावें.

साक्षभावे प्राणिभिर्भिर्योरूपसमान्वितैः ॥

अपदेश्यश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य वस्वतः ॥ १८१ ॥

न्यायाधीशानें कसें पुसावें तें सांगतो— ठेव ठेविली त्याला कोणी साक्षी नसतील तर अपदेश्य (झणजे राजांप्रभवादिकांचें निमित्त सांगणारे), सभ्य, आणि चार (गूढपुरुष) यांच्या मार्फत सांगूनहि तो ठेव न देईल तर हिरण्य अनामत ठेवावें.

स यदि प्रतिपद्येत यथा न्यस्तं यथा कृतम् ॥

न तत्र विद्यते किञ्चिद्व्यत्यैरभिपुज्यते ॥ १८३ ॥

तदनंतर ठेव ठेवणारा याने ज्याच्या पाशीं तें द्रव्य जी खुणा करून ठेविलें असेल तशा प्रकारचें आहे खरें, हें तूं आपलें ग्रहण कर असें झणून देईल तर तो सत्यवक्ता जाणावा, याहून जो ठेव मागणारा तो मिथ्या वक्ता होय.

तेषां न दद्याददि तु तद्विरण्यं यथाविधि ॥

उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

जर सभ्य अथवा चार पुरुष यांनीं ठेवी ठेवलेल्या आहेत आणि त्या ठेवी त्यांलाही तो ठेव ठेवणारा न देईल तर त्यापासून राजानें दोनही ठेवी घ्याव्या, असा धर्मनिश्चय आहे.

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनंतरे ॥

नश्यतो विनिपातेतावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

निक्षेप आणि उपनिधि हे दोन, मालकाचे पुत्रादिकांला देऊं नयेत; कारण, पित्याला दिल्यावांचून पुत्रादिकांचा नाश होईल तर ते निक्षेप व उपनिधि डुबतील आणि पुनः मालकाला भरून द्यावे लागतील, पुत्रादिक व पिता मृत न झाल्यास डुबणारही नाहीत, असा दोहोकडून अनर्थसंदेह आहे याकरितां ते पुत्रादिकांस देऊं नयेत, मालकास द्यावे.

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनंतरे ॥

न स राजा नियोक्तव्यो न निक्षेपुश्च बंधुभिः ॥ १८६ ॥

कोणी मनुष्य कोणाएकापाशीं काहीं ठेव ठेवून मृत झाला. नंतर ठेव ठेवणारा, मृताच्या पुत्रादिक वारसांस ती ठेव त्यानें न मागतां देईल तर राजानें किंवा ठेव ठेवणाराच्या पुत्रादिकांनीं त्याचे जवळ पुनः दुसरी वस्तु मागूं नये; झणजे असें झणूं नये कीं, दुसरीहि वस्तु तुझ्यापाशीं ठेविली आहे ती दे, असा वृथा आक्षेप करूं नये.

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ॥

विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नेव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥

जर कदाचित् संशय उत्पन्न होईल तर सांगतो—ज्यापाशीं ठेव ठेविली त्यापासून ती सामादिक उपाय करून ग्रहण करावी, त्याजकडून एकाएकी दिव्यादिक करवूं नये; झणजे ठेव ठेवणाराचे आचरणाचा विचार करून हा मनुष्य धार्मिक आहे असें जाणून छलरहित सामोपायानें त्यापासून ग्रहण करावी.

निक्षेपेष्वेव सर्वेषु विधिः स्यात्स्वरिसाधने ॥

समुद्रेनाग्न्यात्किञ्चिददि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

१. मोजल्यावांचून व अमुक द्रव्य आहे असें न सांगतां खूण करून जें दुसऱ्याजवळ ठेवितार तो उपनिधि आणि जें द्रव्य मोजून व दाखवून ठेवितार तो निक्षेप (ठेव) होय. but see 25 SB E 289 n

सर्व ठेवीविषयी हा विधि सांगितला, आणि मोहोर करून ठेवलेली वस्तु जशी ठेवण्यास दिली असेल तशी द्यावी. मोहोर तोडून त्यांतून काहीं अपहार न करील तर त्याला कोणतें दूषण नाही.

चोरैर्तृप्तं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ॥

न दद्याददि तस्मात्स न संहरति किंचन ॥ १८९ ॥

ठेव ठेविलेले द्रव्य चोरांकडून नाश पावेल, अथवा उदकानें वाहून जाईल, किंवा अग्निने दग्ध होईल तर तें मालकास परत मिळणार नाही; तें नुकसान मालकाचें; परंतु ठेव ठेवणारानें त्यांतून काहीं अपहार केला नसल्यास हा निर्णय समजावा.

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ॥

सर्वैरुपायैरन्विष्टेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

ठेवीचा अपहार करणारा, आणि ठेव ठेविल्याविना ठेव मागणारा या दोघांचा वस्तु-सिद्धांत, वेदांत सांगितलेल्या अग्निहरणादिक शपथा व संपूर्ण सामादिक उपाय यांहीकरून न्यायाधीशानें जाणावा.

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ॥

तावुभौ चोरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥

मालकानें आपली ठेव मागितली असतां जो ठेव ठेवणारा ती देत नाही तो, आणि जो ठेव ठेविल्याविना मागतो तो, हे दोघे चोराप्रमाणें शिक्षेस पात्र होतात; अथवा ठेवीच्या समान दंडाला पात्र होतात, असें जाणावें.

निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् ॥

तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

निक्षेप (ठेव) आणि उपनिधि यांचा जो अपहार करितो त्याला राजानें, निक्षेप किंवा उपनिधि ज्याचा अपहार केला असेल तत्सम दंड करावा.

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ॥

ससहायः स हंतव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥

उपधा हणजे नानाप्रकारचे छळ करून जो मनुष्य परद्रव्याचा अपहार करितो त्याला त्याच्या सहायकाच्यासहवर्तमान सर्व लोकांचे समक्ष नानाविध (हातप्रायशिरश्छेद) वधोपाय करून सजानें मारावा.

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ॥

तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन् दंडमर्हति ॥ १९४ ॥

सुवर्ण इत्यादिक ठेव जितक्या परिमाणाची जशी साक्षीच्या समक्ष ज्ञातीच्या स्वाधीन करून ठेविली असेल तशी परिमाणादिकांचा वाद असतां साक्षिपुराव्यानें जी ठरेल तीच ध्यानी, आणि वाद करणारापासून तदनुसार दंडहि घ्यावा.

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ॥

मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥

ज्याने आपली ठेव ठेवण्यास एकांती दिली व ठेवणारानेहि ती एकांतीच घेतली असे असेल तर ती एकांतीच द्यावी, साक्षीची गरज नाही; कारण, ठेव जशी घ्यावी तशी द्यावी असे सांगितले आहे.

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ॥

राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिप्वन्वयासधारिणम् ॥ १९६ ॥

निक्षेप, उपनिधि, आणि कितीएक दिवसपर्यंत उपभोगार्थ दिलेले द्रव्य अशा प्रकारच्या धनाचा निर्णय राजाने करणे तो पूर्वोक्त प्रकारे करून धनाचे रक्षण करणाराला पीडा न करिता करावा.

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।

न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥

ज्याचे द्रव्य त्याची संमति घेतल्यावांचून ते द्रव्य दुसरा कोणी विक्रील तर तो विकणारा कोणत्याहि वादांत साक्षित्वाला योग्य नाही, आणि तो जरी आपणाला चोर मानीत नाही, तथापि तो चोर जाणावा.

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ॥

निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

परकीय वस्तूचा विक्रय करणारा द्रव्यस्वामीचा संबंधी असेल तर त्याला साहाशे पण दंड करावा, आणि संबंधी नसेल तर त्याला चोराप्रमाणे दंड करावा.

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ॥

अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥

मालकाव्यतिरिक्त दुसऱ्याने केलेला विक्रय, दान, हे अकृत (न केले असे) जाणावे, ह्मणजे ते उलटवे. व्यवहारी जशी मर्यादा आहे तसे हे व्यवहार होत नाहीत.

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येताममः क्वचित् ॥

आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

ज्या वस्तूचा संभोग (भोगवटा) दिसत आहे, आणि तिचा आगम (ह्मणजे पत्रादिक दस्ताऐवज) दिसत नाही, तर तेथे न्यायविषयी आगम कारण, संभोग कारण नाही, अशी शास्त्रमर्यादा आहे.

विक्रयाद्यो धनं किंचिद्रुह्यात्कुलसन्निधौ ॥

क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥

- बाजारांत प्रसिद्धपणानें खरीद केलेला माल व्यापारी लोकांच्या समक्ष घेतला आहे आणि तो माल ज्यापासून घेतला त्याला दाखवून देईल तर त्या मालाचा तो शास्त्राप्रमाणें मालक होतो, कारण त्याने त्याची किंमत दिली आहे.

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ॥

अदंढ्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

परंतु कदापि विकत देणारा मालक देशांतरीं गेला अथवा मृत झाला यामुळे त्याला विकत घेणारा हजर करू न शकेल तर त्यानें खरेदीची साक्षिलेखादिकें करून शाबिती करून दिली असतां कोणताहि दंड केल्यावांचून राजानें त्याला सोडावें. त्या मालाचा पूर्व-धनी यानें मालाची अर्धी किंमत त्याला देऊन आपला माल परत घ्यावा.

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ॥

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

केशर इत्यादिक द्रव्ये कुसुमादिक द्रव्यानें मिश्रित केलेलीं विकू नयेत; वस्तुतः माल नाईट असतां तो चांगला आहे असें सांगून विकू नये; वजनांत, मापांत कमी देऊं नये; दृष्टि चुकवून देऊं नये; रंगादिकानें माल चांगला करून देऊं नये.

अन्यां चेद्दर्शयित्वा न्यां वोढुः कन्या प्रदीयते ॥

उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

लभकरणाच्या वरास मौल्यच्या व्यवस्थाकालीं कन्या एक दाखवून नंतर विवाहकालीं दुसरी देईल तर त्या एका मौल्येंकरून दोनही कन्या त्या वरानें बराबरी असें मनु सांगता झाला.

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ॥

पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दंडमर्हति ॥ २०५ ॥

उन्मत्ता, कुष्ठिनी (कुष्ठरोगयुक्ता), आणि पुरुषसंभोगानें दूषिता असी कन्या असून तिचे दोष सांगितल्यावांचून विवाह करून देईल तर तो कन्यादाता दंडाला योग्य होतो.

ऋत्विक् यदि वृत्तो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् ॥

तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सहकर्तृभिः ॥ २०६ ॥

यानंतर संभूतसमुत्थान व्यवहार सांगतो—यज्ञांत वरण (ऋत्विक् होण्याचा संस्कार) पावून जर ऋत्विक् कांहीं अस्य यज्ञकर्म करून व्याधि इत्यादिकांमुळे शेष कर्म टाकील तर इतर ऋत्विजांनीं त्याला त्याच्या कर्मानुसार दक्षिणेचा अंश द्यावा.

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् ॥

कृत्स्नमेव लभेतांश्चमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥

माध्यंदिनसवनादिकर्मी दक्षिणाकालीं संपूर्ण दक्षिणा घेतल्यानंतर व्याध्यादिकामुळे आपले कर्म टाकणारा ऋत्विक् संपूर्ण दक्षिणा पावेल आणि त्याने आपले शेष कर्म दुसऱ्याकडून करवावे.

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यंगदक्षिणाः ॥

स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

ज्या आधानादि कर्मांचे ठायीं ज्या अंगरूप कर्मांच्या ज्या दक्षिणा वेदांत कथन केल्या आहेत त्या तीं तीं कर्मे करणारे याला मिळतील! अथवा सर्व ऋत्विज मिळून त्या वांटून घेतील!

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ॥

होता वापि हरेदश्वमुद्राता चाघ्नः क्रये ॥ २०९ ॥

याविषयीं सिद्धांत सांगतो—आधानकर्मांत अध्वर्यूला रथ द्यावा, ब्रह्माला अश्व, होत्यालाहि अश्व, उद्राता (सामगान करणारा) याला गाडी, याप्रमाणे दक्षिणा जाणाव्या.

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्द्धिनोऽपरे ॥

तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

ऋत्विजांच्या धनविभागाविषयीं विशेष नियम सांगतो—ज्योतिष्टोमयज्ञांत यजमानाला शतसंख्याक गोरूप द्रव्याने दीक्षा देऊन मग ते दक्षिणारूप गोशत सोळा ऋत्विजांनीं वांटून घ्यावे. त्यांत सोळा ऋत्विजांनीं शंभर गाई कशा वांटून घ्याव्या तो प्रकार—सोळा ऋत्विजांमध्ये जे मुख्य चार हणजे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्राता हे अर्ध विभागाचे हणजे चौघांस समसमान विभाग आले पाहिजेत अतएव अडेचाळीस गाईंचे समविभागी होतात. दुसरे चार हणजे त्रैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, हे अर्ध भागाच्या अर्धांचे हणजे चौवीस गाईंचे समविभागी होतात. जे तिसरे चार ऋत्विज हणजे अच्छावाक्, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्त्ता, ते तृतीयांशाचे हणजे सोळा गाईंचे समविभागी होतात, आणि चौथे चार हणजे द्रावस्तुत, उन्नेता, पोता, व सुब्रह्मण्य, हे चतुर्थांशाचे हणजे बारा गाई समविभाग वांटून घेतात.

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ॥

अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

बहुत मनुष्य एकत्र मिळून एकजुदाने आपापलीं कामे करणारे जे त्यांनीं ह्या यज्ञदक्षिणाविधीचा आश्रय करून व्यापारदिकाचे भाग वांटावे.

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिदाचते धनम् ॥

पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देवं तस्य तद्वेत् ॥ २१२ ॥

आतां दत्तानपकर्मव्यवहार सांगतो—कोणीएकाने यागादि धर्मांचे कार्याकरितां कोणाएकाजवळ द्रव्य मागितलें, व नंतर त्याला त्याने दिलें किंवा देऊं केलें, पुढें तें द्रव्य तो (अधर्मवर्ती) यागादि धर्मकार्याला न लावील तर तें दिलेलेंहि द्रव्य त्यापासून परत घ्यावें, आणि देऊं केलें असल्यास देऊं नये;

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पालोभेन वा पुनः ॥

राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥

जर तो दिलेलें द्रव्य घेऊन लोभाच्या किंवा अहंकाराच्या योगानें परत देणार नाही, अथवा देऊं केलें नवरीनें घेईल तर तें राजानें त्यापासून परत देववून त्या चोरासारख्याला त्याच्या शुद्धचर्य राजानें एक सुवर्णपरिमित दंड करावा.

दत्तस्वैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

दिलेलें द्रव्य पुनः परत घेण्याचा प्रकार सांगितला. आतां यानंतर वेतनादान (चकराला मजुरी देणे न देणे) व्यवहार सांगेन.

भृतो नार्तो न कुर्यादो दर्पात्कर्म यथोदितम् ॥

स दंड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥

जो चाकर निरोगी असतां पतकरलेलें काम अभिमानास्तव (दांडगेयणास्तव) करणार नाही त्याला ८ कृष्णल दंड करावा, व त्याला वेतन देऊं नये.

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथा भाषितमादितः ॥

स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

जेव्हां व्याधि इत्यादिक पीडेमुळें अंतरलेलें काम, बरा झाल्यावर पुरें करून देतो तर तो कराराप्रमाणें फारा दिवसांचें तुंबलेलें वेतनहि पावतो.

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ॥

न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

जो चाकर पतकरलेलें काम निरोगी झाल्यावर किंवा मूळचाच समाधानी असतां स्वतः करीत नाही व दुसऱ्याकडूनहि करवीत नाही, आणि तें काम जरी अगदीं अल्प राहिलें असलें तरी त्याला मजुरी देऊं नये.

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

वेतन (मजुरी) न देणे या व्यवहाराचा संपूर्ण हा धर्म सांगितला. आतां यानंतर संविद्व्यतिक्रम (समयोलंघन) व्यवहाराचा भेद (उल्लंघन) करणारे त्याचा धर्म सांगेन.

यो ग्रामदेशसंधानां कृत्वा सत्येन संविदम् ॥

विसंवदेन्नरो लोभान्तं राष्ट्रादिप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

ग्रामजनसमूह, देशजनसमूह, ब्रांशीं जो मनुष्य सत्यादिशपथानें समय करून लोभानें तद्विरुद्ध बागेल खाला राजानें हद्दपार करावें.

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ॥

चतुः सुवर्णान् षण्णिकांश्छतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥

अथवा त्या समयाविरुद्ध बागणाराल्ख ४ सुवर्ण, ६ निष्क, १०० राजतदंड करावा. याप्रमाणें हद्दपार करणें, ४ सुवर्ण, ६ निष्क, १०० राजत ह्या चार दंडांतून एकादा किंवा सर्व दंड नाति, शक्ति, लहानमोठा अपराध यांच्या तारतम्यानें करावा.

एतदंडविधिं कुर्याद्दार्मिकः पृथिवीपतिः ॥

ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

ग्रामांचे ठायीं व ब्राह्मणादि जातिसमूहांचे ठायीं समयोल्लंघन करणारांला धार्मिक राजानें हा पूर्वोक्त दंडविधि करावा.

क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिदस्येहानुशयो भवेत् ॥

सोऽतर्दशाहात्तद्व्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥ २२२ ॥

आतां क्रीतानुशय व्यवहार सांगतो— कांहीं माल विकत दिल्यावर किंवा घेतल्या-वर वाटेल कीं, सौदा नीट झाला नाही तर दहा दिवसांच्या आंत तो माल परत द्यावा किंवा घ्यावा; पुढें नाही.

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ॥

आददानो ददच्चैव राजा दंड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥

तो माल दहा दिवसांनंतर परत करूं नये; व घेऊं नये, कदाचित् बलात्कारानें परत टाकील अथवा टाकवील तर त्याला राजानें ६०० पण दंड करावा.

यस्तु दोषवर्ती कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ॥

तस्य कुर्यान्नृपो दंडं स्वयं षण्णवर्ति पणान् ॥ २२४ ॥

कन्या उन्मादादि दोषयुक्त असून जो मनुष्य दोषकथनावांचून विवाह करितो खाला राजानें ९६ पण दंड करावा.

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्वेषेण मानवः ॥

स शतं प्राप्नुयादंडं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥

जो शत्रुत्वानें कन्येला अकन्या (पुरुषसंभोगदूषिता) आहे असें हणेल आणि ती गोष्ट सिद्ध करून न देईल तर त्याला शंभर पण दंड करावा.

पाणिग्रहणिका मंत्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ॥ २२६ ॥

नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥

१ मोल देऊन जिन्नस खरीद केल्यावर खरीद करणाराच्या पसंतीस पडत नाही तर त्याविषयी जो व्यवहार तो क्रीतानुशय झटला आहे.

“ आर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत ” इत्यादिक वैदिक असे पाणिग्रहणसंबंधी मंत्र (कन्याशब्दश्रवणास्तव) कन्यांचे ठायींच व्यवस्थित होत, अकन्यांचे ठायीं व्यवस्थित असे कोणत्याहि शास्त्रांत नाहीं; कारण, ज्या अकन्या (पुरुषसंसर्गदूषिता) त्यांचा विवाह वैवाहिकमंत्रांनीं जरी केला तथापि तो धर्म्यविवाह नव्हे ह्मणून त्यांचीं धर्मकर्में सर्व लुप्त होतात.

पाणिग्रहणिका मंत्रा नियतं दारलक्षणम् ॥

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥

नियमं करून भार्यात्वाला कारण असे जे विवाहांतील पाणिग्रहणोक्त मंत्र त्यांनींच भार्यात्व- (पत्नीत्व) निष्पत्ति होते, आणि भार्यात्वाची सिद्धि “ सखा सप्तपदी भव ” इत्यादिक मंत्र- कल्पनें करून सातव्या पदाचे ठायीं होते. विवाहाचे ठायीं मंत्रांही करून सात पावले कन्या चालते व सातव्या पदाचे ठायीं ती कन्या पुरुषाची पत्नी होते, याप्रमाणें शास्त्रज्ञांनीं भार्यात्वनिष्पत्ति जाणावी.

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ॥

तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

केवळ माल खरेदी करणें याविषयींच हा विधि सांगितला असें नाहीं, तर जो जो व्यवहार केल्यानंतर ज्याला पश्चात्ताप होईल त्याला ह्या विधींकरून राजानें धर्ममार्गी स्थापन करावें.

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ॥

विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥

स्वामिपालेविवादाचें निरूपण करितो—गाई इत्यादिक पशूविषयीं गुराखी व धनी यांचा व्यतिक्रम झाला असतां जो उभयतांचा वाद तद्विषयक धर्म्य व्यवस्था सांगेन.

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तदृहे ॥

योगक्षेमे ऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

दिवसा स्वामीने गुराखीच्या स्वाधीन केलेल्या गुराचें रक्षण त्याजकडून न होईल तर तो गुराखी दोषी (अपराधी) होतो, आणि रात्रीं मालकाच्या घरीं गुराख्यानें गुरें स्वाधीन केल्यानंतर त्याचें रक्षण धन्याकडून न होईल तर धनी दोषी होतो. कदाचित् रात्रीहि गुराखीच्या स्वाधीन गुरें असतां त्याचें रक्षण न होईल तर गुराखी दोषी होतो.

गोपः क्षीरभृती वस्तु स दुग्धादृशतो वराम् ॥

गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सां स्यात्पाले ऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥

गवळी गुराखी असून तो दुग्धरूप वेतन घेणारा असेल तर त्यानें मालकाच्या समतीनें दर दहा गायांला उत्तम एका गायीचें दूध वेतनार्थ घ्यावें. याप्रमाणें जितक्या गाई असतील तदनुरूप दूध वेतन घ्यावें.

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ॥

हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

हरवलेलें, किंवा साप विंचू इत्यादिकांनीं खाल्लेलें, अथवा कुंतन्यानें मारलेलें, अपघाता-
नें मेलेलें, अथवा कड्यावरून किंवा घाळणांत पडून मृत झालेलें गुरूं गुराखी रक्षण
करीत असतां गुराख्यानें भरून द्यावें.

विधुष्य तु हतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ॥

यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥

- चोसंनीं गलबला करून हरण केलेलें गुरूं गुराख्याकडून देववूं नये; परंतु जर गुराखी
त्याच वेळेस गांवांतल्या लोकांला किंवा धन्याला निवेदन करितो तर.

कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्ति स्नायुं च रोचनाम् ॥

पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वंगानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

राजदैविक उपद्रवानें गुरें मेलीं असतां कान, कातडे, पुच्छ, वंसा, स्नायु, रोचन
असे त्याचे अवयव आणून गुराच्या धन्यांला द्यावे, व इतर अवयवांहि दाखवावे.

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ॥

यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥

शेळ्या, मेंढ्या यांला लांडग्यांनीं सभोंवार घेरलें असतां त्या समयीं गुराखी धांवून
येऊन त्या लांडग्यांचें निवारण करणार नाहीं आणि ते शेळ्यामेंढ्यांला मारतील तर तो
गुराख्याचा अपराध जाणावा.

तासां चेद्वंरुद्धानां चरंतीनां मिथो वने ॥

यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥

शेळ्या, मेंढ्या यांला गुराखी अरण्यांत मोठ्या वंदावस्तानें चारीत असतां गुरा-
ख्याची दृष्टि चुकवून लांडगा वाघ इत्यादिक आकस्मिक उडी घालून त्यांतून एकादी
मारील तर गुराखी अपराधी होत नाहीं.

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समंततः ॥

शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥

गार्गीला संचार करण्याकरितां गांवाच्या सभोंवार शंभर धनुष्यांपर्यंत (ह्मणजे चारशें
हातपर्यंत) शेती करूं नये. अथवा काठी हातांत धरून ती जोरानें फेंकली असतां
जेथपर्यंत जाऊन पडेल तितकी त्रिगुणित भूमिपर्यंत शेती करूं नये. नगराच्या चौफेर
भूमिमान गांवमानाच्या त्रिगुणित जाणावें.

१ कुतरा शब्देंकरून वाघ लांडगा इत्यादि ध्यावे. २ इतर अवयव ह्मणजे ज्या ज्या अवयवांवर
ध्यावर्तक चिन्हे असतील ते ते.

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ॥

न तत्र प्रणयेदंडं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

गार्गीला फिरण्याकरितां जें रान राखलें असेल त्या स्थळीं क्षेत्र (शेत) उघडें (कुंपणविरहित) असल्यामुळें जर गुरें त्या क्षेत्राची नासाडी करितील तर याबद्दल राजानें गुराख्यांस दंड करूं नये.

वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्टो न विलोकयेत् ।

छिद्रं वा वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥

जेणेंकरून तें शेत उंटाच्याहि दृष्टीस न पडेल असें कुंपण कांढ्यांचें करावें, आणि कुवरीं, डुकरें ह्यांचीं तोंडे न शिरकतील अशीं त्याचीं छिद्रे बुजवावीं.

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामांतियेऽथवा पुनः ॥

स पालः शतदंडाहो विपालान् चारयेत् पशून् ॥ २४० ॥

मार्गाच्या जवळचें अथवा गांवाच्या जवळचें शेत कुंपणयुक्त असतां अनिवारित पशु द्वारादिकानें प्रविष्ट होऊन त्याचा नाश करितील तर गुराखी शंभरपण दंडाला पात्र होतो, आणि गुराख्याविरहित पशु असतील तर त्याला आपल्या क्षेत्रांतून हांकून द्यावें.

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ॥

सर्वत्र तु सदा देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥

मार्ग, ग्राम यांच्या जवळचीं शेते खेरीज करून अन्य शेतांचा नाश पशु करतील तर सपादपण (सवाशें पण) दंड गुराख्याला करावा, आणि जें शेताच्या मालकाचें नुकसान भरून द्यावयाचें तें जसें कमजास्ती असेल तदनुसार पशुस्वामीनें अथवा गुराख्यानें द्यावें, असा शास्त्रनिश्चय आहे.

अनिर्दशाहां गां सूतां वृषां देवपशूंस्तथा ॥

सपालान्वा विपालान्वा न दंड्यान्मनुब्रवीत् ॥ २४२ ॥

कांहीं पशूविषयीं दंडाचा निषेध सांगतो—व्यालेली सोयरतुली गाय, पोळ, देवपशु (हणजे वृषोत्सर्गविधानेंकरून किंवा देवतोदेशेंकरून सोडिलेले पशु), हे पालसहित असोत अथवा पालरहित असोत ते अदंड्य होत; हणजे यांनीं दुसऱ्याचें शेत खाल्लें असतां दंड करूं नये, असें मनु बोलता झाला.

क्षेत्रियस्यात्यये दंडो भागादशगुणो भवेत् ॥

ततोऽर्धदंडो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥ २४३ ॥

शेताचा मालक याच्या अपराधानें (हणजे वेळेवर पेरणी वगैरे न केल्यामुळे) अथवा गुरांनीं शेत खाल्ल्यामुळे शेताची हानि होईल तर जितक्या राजभागाची त्यानें हानि केली त्याच्या दशगुणित दंड राजानें त्याला करावा. क्षेत्रकर्त्याच्या अज्ञानानें त्याच्या सेवकांनीं पूर्वकथित नाश केल्या असेल तर सेवकांना पांचपट दंड करावा.

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥

स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥

पशुस्वामी, गुराखी आणि गुरे यांचा विवाद उत्पन्न असतां या प्रकारच्या विधीकरून धार्मिक राजाने निर्णय करावा.

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ॥

ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥

यानंतर सीमाविवादव्यवहार सांगतो— दोहों गांवांच्या शिवेविषयीं कलह उत्पन्न झाला असतां (सूर्याच्या उन्हांने गवत सुकून सर्व शिवेच्या खुणा बरोबर स्पष्ट दिसतात म्हणून) ज्येष्ठमासी त्याचा निर्णय करावा.

सीमावृक्षांस्तु कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ॥

शाल्मलीसालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधान् शमीवल्लीः स्थलानि च ॥

शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥

वड, पिंपळ, पळस, कांटेवरी, साल, ताड व ज्यांस चीक येतो असे जे वृक्ष (शेर वगैरे) ते, गुल्म, वेणु, शमी, वेली, टेंकडी, शेर, कुब्जक, गुल्म असे शिवेवर वृक्ष लावावे. असे केले असतां शिव नष्ट होत नाही.

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ॥

सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

आणि तळीं, कूप, विहिरी, झरे, ओढे, देवालये, अशीं शिवेच्या संधीचे ठिकाणीं करावीं, हीं उघडीं चिन्हें आहेत.

उपच्छन्नानि चान्यानि समालिंगानि कारयेत् ॥

सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥

ह्या लोकीं सीमा समजण्याविषयीं सर्वदा उत्तरोत्तर मनुष्यांचा बुद्धिविपर्यय आहे; म्हणून दुसऱ्या वक्ष्यमाण (पुढें सांगावयाच्या) गुप्त खुणा शिवेच्या संधीवर कराव्या.

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान् भस्मकपालिकाः ॥

करीषमिष्टकांगारांश्चर्करांवालुकास्तथा ॥ २५० ॥

यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ॥

तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥

पाषाण, हाडे, पशूंचीं पुच्छें, कोंडा, राख, खापऱ्या, शेणी, विटा, कोळसे, रेती, वाळू, आणखीहि अशा प्रकारच्या असतील त्या गुप्त खुणा सीमासंधीवर कराव्या. अशा खुणांस कालेंकरून भूमि ग्रासीत नाही.

एतैर्लिंगैर्नयेत्सीमां राजा विवदयानयोः ॥

पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

• ह्या सर्व उघड्या व गुप्त पूर्वोक्त खुणा, अविच्छिन्न भोगवटा, आणि दोहों ग्रामांच्या मध्यभागाने वाहणारा उदकप्रवाह यांहींकरून, विवाद करणाऱ्यांच्या सीमेचा निर्णय राजाने करावा.

यदि संशय एव स्याल्लिंगानामपि दर्शने ॥

साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

पूर्वोक्त उघड्या व गुप्त खुणा पाहूनहि जर संशय उत्पन्न होईल तर शिवेच्या वाद-
निर्णयाविषयी साक्षीदारच प्रमाण होत. (यांत साक्षीकडून निर्णय करणे मुख्य पक्ष,
त्यांच्या अभावीं सामंत हणजे शिवशेजारी).

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ॥

प्रष्टव्याः सीमल्लिंगानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

राजाने पूग (जमीदार, पाटील, कुळकर्णी इ०), कुल व श्रेणी (शेटे, महाजन, मेहेतरे
इ०) ह्यांच्या समक्ष आणि वादिप्रतिवादी यांच्या समक्ष शिवेवर साक्षीला शिवेच्या खुणा
विचाराव्या.

ते पृष्ठास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ॥

निबधीयान्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥

ते सर्व साक्षी एकमत होऊन त्या शिवेच्या सर्व खुणा पाहून शिवेचा निश्चय जसा
सांगतील तशी सीमा राजाने बांधावी, आणि ती सीमा पत्रांत लिहून त्या सर्व साक्ष्यांचीं
नावेहि त्या सीमापत्रावर लिहावीं.

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ॥

सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समंजसम् ॥ २५६ ॥

शीव दाखविणारांनीं मस्तकीं मृत्तिका घेऊन व गळ्यांत पुष्पमाळा घालून रक्तवस्त्रें
नेसून आपापल्या पुण्याची शपथ करून समंजसपणाने शीव दाखवावी.

यथोक्तेन नयंतस्ते पूयंते सत्यसाक्षिणः ॥

विपरीतं नयंतस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥

जे सत्यप्रधान साक्षी सीमेचा निर्णय सत्यपणाने सांगतील तर ते पवित्र होतील आणि
विपरीत (उलट पालट) सीमानिर्णय सांगतील तर २०० पण दंडास पात्र होतील.

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामंतवासिनः ॥

सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८ ॥

साक्षीच्या अभावीं तर जवळच्या चहूंकडील चार ग्रामस्थांनीं राजाच्या समक्ष साक्षि-
धर्मेकरून सीमानिर्णय करावा.

सामंतानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ॥

इमानप्यनुयुंजीत पुरुषान् वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

सामंतांच्या अभावीं मौल (जे पूर्वी तेथें सामंत होते, नंतर देशांतरीं गेले असे मूळचे तेथेंच राहणारे ते) ह्यांच्याकडून निर्णय करावा. हेहि न मिळतील ह्मणजे निर्णय करण्यास शक्य नसतील तर वनचारी पुरुषांला निर्णय करण्याची आज्ञा करावी.

व्याधांश्चाकुनिकान्गोपांनैवतान् मूलखानकान् ॥

व्यालग्राहानुछवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥

व्याध (मृगवधानें उपजीवन करणारे), पक्षी मारून उपजीविका करणारे, गुराखी, दीवर, वृक्षादिकांचीं मुळखंडें खणून उपजीविका करणारे, सर्प धरणारे (गारुडी), आणि उंचवृत्तीनें उपजीवन करणारे, व फलपुष्पकाष्ठें यांच्या करितां वनांत फिरणारे तेहि सीमांनिर्णयाविषयीं योजावे.

ते पृष्ठास्तु यथा ब्रूयुः सीमासंधिषु लक्षणम् ॥

तत्तथा स्थापयेद्वाजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

त्या व्याधादिकांस विचारल्यानंतर ते जसीं खरेपणानें त्या दोन ग्रामांच्या सीमेचीं लक्षणें सांगतील त्याप्रमाणें धर्मकरून राजानें गांवाची सीमा बांधावी.

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ॥

सामंतप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

क्षेत्र (शेत), कूप, तलाव, वाग, गृह या सर्वांच्या सीमेचा निर्णय कर्तव्य असतां सामंत जसें सांगतील तसा निर्णय करावा.

सामंताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ॥

सर्वे पृथक् पृथक् दंड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

सीमेच्या वादाविषयीं मनुष्य विवाद करित असतां तद्विषयक निर्णयांत जर सामंत मिथ्या बोलतील तर प्रत्येकाला निरनिराळा असा सर्वांला मध्यमसाहस दंड राजानें करावा.

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरम् ॥

शतानि पंच दंड्यः स्यादज्ञानाद्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

जर धमकी दाखवून घर, तळें, वाग अथवा क्षेत्र ह्यांचा अपहार करील तर त्यापासून ५०० पण दंड घ्यावा. जर अज्ञानानें अपहार करील तर २०० पण दंड घ्यावा.

सीमायामविषयायां स्वयं राजैव धर्मवित् ॥

प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

सांक्षी, सामंतादिक, व शिवेच्या खुणा हीं नसल्यामुळे शिवेचा निर्णय होऊं शकत नाहीं, तर राजानें शीव पाडून द्यावी; परंतु जर दोहों गांवांतून एकास विशेष फायदा असेल तर त्याच गांवाकडे सर्व जमीन द्यावी, अशी शास्त्रमर्यादा आहे.

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्यारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

याप्रमाणे हा संपूर्ण सीमानिर्णयाचा धर्म सांगितला. आतां यापुढे वाक्यारुष्य-
वहाराचा निर्णय सांगेन.

शतं ब्राह्मणमाकुश्य क्षत्रियो दंडमर्हति ॥

वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥

ब्राह्मणास 'तूं चोर आहेस' असे कठोर वचन बोलणारा किंवा शिवीगाळ करणारा
क्षत्रिय १०० पण दंडास योग्य होतो. वैश्य १५० किंवा २०० पण दंडास योग्य
होतो, शूद्र तर वधदंडास (जिऱ्हाछेदनास) योग्य होतो.

पंचाशद्ब्राह्मणो दंडयः क्षत्रियस्याभिशंसने ॥

वैश्ये स्यादर्धपंचाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

ब्राह्मण क्षत्रियास शिवीगाळ करील किंवा तूं चोर आहेस असे बोलेल तर ५० पण,
वैश्यास करील तर २५ पण, शूद्रावद्दल १२ पण दंडास पात्र होतो.

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ॥

वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय किंवा वैश्य हे आपल्या समानजातीय मनुष्याला उच्चस्वरानें 'तूं चोर
आहेस' असे बोलतील तर १२ पण दंड, आणि उच्चारण्यास अयोग्य असे शब्द
बोलतील तर २४ पण दंड जाणावा.

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ॥

जिऱ्हायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवोहि सः ॥ २७० ॥

शूद्र द्विजातीला (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांला) शिवीगाळ करील किंवा दुर्भाषण
बोलेल तर तो जिऱ्हाछेदास पात्र होईल; कारण, तो (शूद्र) निकृष्ट अंग जे पाय त्यां-
पासून झालेला आहे.

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ॥

निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥ २७१ ॥

शूद्र द्विजातीला 'हे यज्ञदत्ता, तूं सर्व ब्राह्मणांत नीच आहेस' असे उच्च स्वरानें नाम-
जातिग्रहण करून वैरभावानें बोलेल तर त्याचे मुखांत दहा अंगुळपरिमित असा लोखं-
डाचा तप्त शंकु घालावा.

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ॥

तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

१ किंवा असा विकल्प सांगितला तो अधिक शिवीगाळ केल्यास योजावा.

शूद्र अल्पस्वरूप धर्मज्ञान असल्यामुळे गर्विष्ठ होत्साता ब्राह्मणांला धर्मोपदेश करील तर राजानें त्याचे मुखांत, कानांत तप्ततेल घालवें.

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शरीरमेव च ॥

वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्वाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

समानजातिविषयक दंड सांगतो—तूं ही गोष्ट ऐकिली नाहीस; तूं या देशांत उत्पन्न झालेला नाहीस; तुझी ही जाति नव्हे; तुझा शरीरसंस्कार ह्मणजे उपनयनादि संस्कार झाला नाही; याप्रमाणें जो अहंकारानें मिथ्या दुसऱ्याला बोलेल तो दोनशें पण दंडाला पात्र होतो.

काणं वाप्यथवा खंजमन्यं वापि तथाविधम् ॥

तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दंडं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

काणा, अथवा कुवडा किंवा दुसऱ्या प्रकारें अंगहीन असल्यामुळे विद्यमान दोषांचें जो उद्धाटन करितो, ह्मणजे बहिऱ्याला अरे बहिऱ्या?, आंधळ्याला अरे आंधळ्या? असें वास्तविक दोषांचें उद्धाटन करितो त्याला किमानपक्ष (एक) कार्षापण दंड करावा.

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ॥

आक्षारयंश्छतं दाप्यः पंथानं चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥

आई, बाप, भार्या, भाऊ, सासरा, गुरु ह्यांवर तोंड टाकणारास आणि मार्गांत जात असतां गुरूला मार्ग देत नाही त्यासहि १०० पण दंड करावा.

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दंडः कार्यो विजानता ॥

ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

पतित होण्यास कारणीभूत जी ब्रह्महत्यादि पातकें त्यांकडून ब्राह्मणे, क्षत्रिय परस्परांची निर्भर्त्सना ह्मणजे तूं ब्रह्महत्यारी आहेस असें बोलतील तर त्यांला राजानें ब्राह्मणांला पूर्व साहस, आणि क्षत्रियांला मध्यम साहस दंड करावा.

विदूशूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ॥

छेदवर्जं प्रणयनं दंडस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥

या रीतीकरून वैश्यशूद्रांविषयींहि असाच दंड योजावा. आपल्या जातींत जिव्हाछेद-रहित दंड जाणावा असा शास्त्रनिश्चय आहे.

एष दंडविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दंडपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

वाक्पारुष्याचा दंडविधि हा सांगितला. यानंतर दंडपारुष्यव्यवहाराचा निर्णय सांगेन.

येन केनचिदंगेन हिंस्याच्चेच्छेष्टमंत्यजः ॥

छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥

शूद्र आषणापेक्षां उत्कृष्ट जातीस ज्या ज्या कोणत्या प्रत्यक्ष हस्तपादादिक अवयवानें किंवा दंडादिकानें अंगावर प्रहार करील तर त्याचा तो तो अवयव तोडावा असी मुनची आज्ञा आहे.

पाणिमुद्यम्य दंडं वा पाणिच्छेदनमर्हति ॥

पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

शूद्र हात उगारील किंवा दंड उगारील तर तो हस्तच्छेदनाला पात्र होतो, क्रीधेक-
रून पाय उगारिला असतां पादच्छेदनाला पात्र होतो.

सहासनमभिप्रेप्सुः कृत्स्नपल्लवजः ॥

कत्यां कृतांको निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

नीचजाति मनुष्य उत्कृष्टजाति मनुष्याबरोबर एकासनावर बसेल तर त्याचे कटिप्रदे-
शावर तप्त लोखंडाचा डाग देऊन घालवून लावावा, अथवा जेणेकरून तो मरणार नाही
असे त्याचे कटिपश्चाद्भाग (कुले) कापावे.

अवनिष्ठीवतो दर्पाद्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ॥

अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

जर शूद्र दांडगेपणानें (ब्राह्मणादिकांचे अंगावर) थुंकेल किंवा श्लेष्मा टाकील तर
राजानें त्याचे दोनही ओठ कापावे, मुतेल तर शिश्न कापावे, आणि पुरीषोत्सर्ग करील
तर गुदेद्रिय कापावे.

केशेषु गुण्हेतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ॥

पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥

शूद्र अहंकारानें (दांडगेपणानें) ब्राह्मणाचे केश, पाय, दाढी, मान, वृषण धरील तर
त्याचे हात तोडावे, याविषयीं विचार करू नये.

त्वग्भेदकः शतं दंड्यो लोहितस्य च दर्शकः ॥

मांसभेत्ता तु षण्णिष्कान् प्रवास्यस्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

त्वचेचा भेद करणारास १०० (पण) दंड, रक्त काढणारास १०० (पण) दंड,
मांस विदारण करणारास ६ निष्क दंड, आणि हाड मोडणारास हद्दपार करावें.

वैजस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा ॥

तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥

संपूर्ण वृक्षांचा जसा जसा उपभोग केल्यानें दंडास पात्र होतो, तसा तसा वृक्ष
तोडिले असतांही दंड करावा असा शास्त्राचा निश्चय आहे.

१. एव जे शूद्राला शरीरदंड सांगितला तो सामान्य ब्राह्मणादिकांविषयीं नव्हे, श्रुतवृत्तसंपन्न पूज्य
असा ब्राह्मणादिकांविषयीं असावा.

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रवृत्ते सति ॥

यथा यथा महद्दुःखं दंडं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥

मनुष्य आणि पशु यांला पीडा उत्पन्न होण्याकरितां प्रहार केला असतां त्यापासून जसी लहान मोठी पीडा होईल तदनुसार लहान मोठा दंड करावा.

अंगावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ॥

समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदंडमथापि वा ॥ २८७ ॥

हात, पाय, व्रण (फोड), रक्त यांला पीडा उत्पन्न करील तर त्याने त्याची ती जखम बरी होण्याकरितां औषधासाठीं व पथ्यासाठीं जो खर्च लागेल तो द्यावा. कदाचित् तो खुशीने खर्च न देईल तर त्यापासून जखमीने खर्च घेऊन दंडहि द्यावा.

द्रव्याणि हिंस्यादौ यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ॥

स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

जो कोणी मनुष्य जाणून अथवा न जाणून दुसऱ्याच्या द्रव्यांचा नाश करील तर त्याने त्याच्या मालकास त्याची किंमत देऊन संतुष्ट करावे, आणि राजालाहि तितकाच दंड द्यावा.

चर्मचार्मिकभांडेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च ॥

मूल्यात्पंचगुणो दंडः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

चर्म, चर्मपात्र, काष्ठपात्र, मृत्तिकापात्र, पुष्प, मूल, आणि फल यांची नाश करणारां-ने किमतीपेक्षां पांचपट दंड द्यावा.

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ॥

दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दंडो विधीयते ॥ २९० ॥

यान (गाडीइत्यादि वाहन), वाहन हांकविणारा (गाडीवान इ०) आणि मालक यांला, पुढे सांगितलेल्या दहा स्थानीं दंड होत नाही, असे मन्वादिक लक्षणतात. यांहून इतर निमित्त असतां दंड होतो.

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ॥

अक्षभंगे च यानस्य चक्रभंगे तथैव च ॥ २९१ ॥

छेदनेचैव यंत्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ॥

आक्रंदे चाप्यपैहीति न दंडं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

वैसन तुटल्यामुळे, जू मोडल्यामुळे, वाहन तिरकस किंवा समोर गेल्यामुळे, आंख किंवा चाक म्हेडल्यामुळे व जुंपलेल्या चतुष्पदाच्या मानेवरचे आडवे लांकूड मोडल्यामुळे व कासरा (किंवा लगाम) तुटल्यामुळे आणि पैस व्हा असे मोठ्याने ओरडून सांगत असतां हि मनुष्यादिहिंसा घडली तर (धन्याला किंवा सारथ्याला) दंड नाही, असे मनु सांगता ज्ञाला.

यत्रापवर्तते चक्रं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ॥

तत्र स्वामी भवेदंडो हिंसायां दिशतं दमम् ॥ २९३ ॥

जेव्हां रथ जसा चालावा तसा चालला नाही आणि सारथ्याच्या दोषामुळे रथ वांकडा जाऊन खांत कोणी मनुष्य सांपडून मृत होईल तर अशा अशिक्षित सारथ्याला रथावर ठेवणाऱ्या मालकास दोनशें पण दंड करावा.

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दंडमर्हति ॥

पुण्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दंड्याः शतं शतम् ॥ २९४ ॥

जर सारथि सारथ्यकामांत निपुण असेल आणि रथापासून कोणी मनुष्य मृत होईल तर सारथ्याला दोनशें पण दंड करावा. सारथि रथ हांकण्यामध्ये निपुण नसेल आणि रथापासून कोणी मृत होईल तर अशिक्षित सारथ्याला रथावर चाकरीस ठेवणारा रथ-स्वामी, सारथि आणि रथांत बसलेले इतर मनुष्य या सर्वांस शंभर शंभर पण दंड करावा.

स चेत्तु पथि संद्वः पशुभिर्वा रथेन वा ॥

प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दंडोऽविचारितः ॥ २९५ ॥

सारथि समोर दुसरा रथ येऊन मार्गात कोंडला जाईल अथवा पुष्कळ गाई इत्यादिक पशु समोर येतील आणि त्यांतून रथ चालवावयाच्या वेळीं सारथि आपला रथ मार्गे घेण्यास चुकेल आणि घोड्याला कोडा मारून पुढे रथ नेईल अशा वेळीं कोणी मनुष्य रथाने मृत होईल तर कोणता विचार न करितां सारथ्याला दंड करावा.

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत् किल्बिषं भवेत् ॥

प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

गाडीवानाच्या असावधगिरीने मनुष्य मारला गेला असतां सारथि चौरासारखा शीघ्र अपराधी होतो, लणजे उत्तम साहस दंडाला योग्य होतो. गाय, हत्ती, उंट, घोडा इत्यादिक ही मोठी जनावरे होत, यांतून कोणी मारले गेले असतां अर्धा दंड, लणजे मध्यम साहस-दंड करावा.

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां दिशतो दमः ॥

पंचाशत्तु भवेदंडः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥

क्षुद्रपशु मारले गेले असतां दोनशें पण दंड, शुभ जे मृग (हरण वगैरे), पक्षी (राघू वगैरे) ते मारले गेले असतां पन्नास पण दंड करावा.

गर्दभाजाविकानां तु दंडः स्यात्पंचमाषिकः ॥

माषकस्तु भवेदंडः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥

गर्दभ, शेळ्या, मेंढ्या यांला मारले असतां पांच माष दंड करावा. कुतरा, डुकर यांला मारले असतां एक माष दंड करावा.

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ॥

प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥

भार्या, पुत्र, दास, शिष्य, सोदर भ्राता, यांपासून अपराध होईल तर दोरी अथवा वांबूची बारीक काठी यांहींकरून यांला ताडन करावें.

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथंचन ॥

अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिंविषयम् ॥ ३०० ॥

भार्या इत्यादिकांला ताडन करणें तें शरीराच्या मागच्या प्रदेशीं पाठीवर करावें, शिरोभागावर ताडन करूं नये. याहून अन्य प्रदेशीं ताडन करील तर चोरासारखा अपराधी होईल, हणजे वागदंड व धनदंड यांला तो पात्र होईल.

एषोऽखिलेनाभिहितो दंडपारुष्यनिर्णयः ॥

स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दंडविनिर्णये ॥ ३०१ ॥

हा संपूर्ण दंडपारुष्याचा निर्णय सांगितला. यानंतर चोराच्या दंडाविषयीं विधि सांगेन.

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ॥

स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

राजानें चोरांचा निग्रह करण्याविषयीं हणजे त्यांला दंड करण्याविषयीं मोठा यत्न करावा, चोरांचा निग्रह केल्यानें राजाचें यश, आणि राज्य हीं वृद्धिगत होतात.

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ॥

सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

जो राजा चोरांला दंड करून साधूंना अभय देतो तोच सर्वांचे स्तुतीस पात्र होतो, आणि त्या राजाचें अभयदक्षिणायुक्त सत्र (यज्ञ) सार्वकाल वाढतें.

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ॥

अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य हरक्षतः ॥ ३०४ ॥

जो राजा प्रजांचे रक्षण करितो त्याला प्रजांचे पुण्याचा सहावा भाग प्राप्त होतो, आणि जो प्रजारक्षण करित नाही त्याला प्रजांचे अधर्माचा सहावा अंश प्राप्त होतो.

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदुर्चति ॥

तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥

राजानें प्रजापालन केलें असतां, प्रजांनीं केलेलीं जीं जप, याग, दान, देवपूजा इत्यादिक पुण्यकर्मे त्यांचा सहावा भाग राजांला प्राप्त होतो.

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ॥

यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

सर्वे स्थावर जंगम प्राण्यांचे यथाशास्त्र धर्माने रक्षण करणारा आणि वधाला योग्य अशा चोरादिकांला शिक्षा करणारा राजा लक्षदक्षिणायुक्त यज्ञ प्रतिदिवसीं करितो.

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ॥

प्रतिभागं च दंडं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥

जो राजा प्रजेचे रक्षण न करिता प्रजांपासून नजराणा, कर, शुल्क (व्यापारसंबंधी ड्युटी), प्रतिभाग (फल, पुष्प, शाका, तृण, एतत्संबंधी प्रतिदिवसींचा कर), आणि दंड हे घेतो तो मृत झाल्यानंतर तत्काल नरकाप्रत जाईल.

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ॥

तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

जो राजा प्रजांचे रक्षण करित नाही आणि प्रजांपासून आपला सहावा भाग मात्र घेतो तो सर्व लोकांचा सर्व मल हरण करितो, असें मन्वादिक लक्षणतात.

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुपकम् ॥

अरक्षितारमन्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

शास्त्रमर्यादा उल्लंघन करणारा, नास्तिक (परलोक न मानणारा), दंड व नानाप्रकारचे कर यांहीकरून प्रजेला लुटणारा, रक्षण न करणारा, आपला भाग घेणारा असा जो राजा तो नरकाप्रत जातो असें जाणावे.

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ॥

निरोधनेन बंधेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

तुरंगांत टाकणे, पायांत वेडी घालणे, हस्त पाय इत्यादिक तोडणे ह्या तीन उपायांनीं अधार्मिकांचा (चोर इत्यादिकांचा) यत्नपूर्वक लहान मोठा अपराध असेल तदनुसार निग्रह करावा.

निग्रहेण हि पद्मानां साधूनां संग्रहेण च ॥

द्विजातय इवेज्याभिः पूयंते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

यज्ञ करून जसे द्विजाति पवित्र होतात तद्वत् पाप्यांचा निग्रह व साधूंचे संरक्षण यांहीकरून निरंतर राजे पवित्र होतात. तस्मात् राजाने अधार्मिक, चोर इत्यादिक अपराध्यांचा निग्रह व साधूंचे रक्षण हीं करावीं.

क्षंतव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ॥

बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

आपले हित करणाऱ्या राजाने, दुःखेकरून भाषण करणारे असे वादी, प्रतिवादी, बाल, वृद्ध, आतुर (रोगी), यांचे भाषण नित्य सहन करावे.

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्त्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ॥

यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

दुःखित मनुष्य निषिद्ध भाषण बोलले असतां तें जो मनुष्य सहन करितो तो स्वर्गाचे ठायीं पूजित होतो आणि जो ऐश्वर्यानें मदांध होऊन क्षमा करित नाही तो नरकाप्रत जातो.

राजा स्तेनेन गंतव्यो मुक्तकेशेन धावता ॥

आचक्षाणेन तस्तेयमेवं कर्माऽस्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥

स्कंधेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ॥

शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दंडमेव वा ॥ ३१५ ॥

दहा मासे किंवा अधिक असें ब्राह्मणाचें सोनें चोरणा-या चोरानें आपली शेंडी मोकळी सोडून धांवत धांवत राजाच्या समीप जाऊन मुसळ, खैराचा दंड, अथवा उभयतोधारा तीक्ष्णशक्ति, किंवा लोखंडाचा दंड यांतून कोणता एक खांद्यावर टाकून राजाला सांगावें कीं, मी ब्राह्मणाचें सोनें चोरिलें आहे याकरितां हें मुसळादिक आयुध घेऊन माझ्यावर प्रहार कर.

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ॥

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ३१६ ॥

नंतर राजानें तें मुसळादिक आयुध घेऊन एक वार त्या चोरावर प्रहार करावा. मग त्या प्रहारानें तो मृत होवो किंवा मृतासारखा होवो त्याला सोडावें, तेणेंकरून त्या पापापासून तो चोर मुक्त होतो. कदाचित् दयाभावानें राजा त्याला शासन न करील तर चोराचें पाप पावेल.

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ॥

गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥ ३१७ ॥

गर्भहत्या करणारा; व्यभिचारिणी स्त्री; शिष्य, याज्य (यज्ञ करणारा) हे दोन; आणि चोर हे सर्व आपलें पाप क्रमेंकरून भोजन देणारा, पति, गुरू, राजा यांचे ठायीं टाकितात; ह्मणजे त्यांची क्षमा केली असतां क्षमा करणारे दोषी होतात.

राजनिर्धूतदंडास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ॥

निर्मलाः स्वर्गमायांति संतः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

जसे पुण्य करणारे साधु स्वर्गाप्रत जातात, तसे सुवर्ण चोरणें इत्यादिक पातकें करणारे जे मनुष्य त्याला राजांनीं योग्य दंड केला असतां ते निष्पाप होतात ते स्वर्गाप्रत जातात.

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्वरेद्विद्याच्च यः प्रपाम् ॥

स दंडं प्राप्नुयान्मार्धं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

जो चोर विहिरीवरील दोरी व पोहरा चोरितो आणि विहिरीचा नाश करितो त्याला एक मासा सुवर्ण दंड करावा, व पोहरा, दोरी हीं त्याजकडून त्या विहिरीवर देववाचीं.

धान्यं दशभ्यः कुंभेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ॥

शेषेष्वेकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥

दहा कुंभांपेक्षां अधिक धान्याची चोरी करणारास वधदंड करावा. चोर, द्रव्य-
स्वामी यांचे गुणावगुणांचा विचार करून ताडन, अंगच्छेदन, वध यांची योजना करावी.
त्याहून कमी धान्य चोरणारास चोरलेल्याच्या अकरापट दंड करून मालकाची चोरी भरून
देववावी. दोनशें पळांचा एक द्रोण, वीस द्रोणांचा एक कुंभ होतो, पल हणजे शास्त्रीय
चार तोळे, ल० ३२० गुंजा, ह्यांचे शास्त्रीय मासे ६४ व हल्लीं लौकिकरीतीचे मासे ४०
होतात.

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ॥

सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥

पंचाशतस्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ॥

शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याहंडं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

तराजूनें प्रमाण करण्यास योग्य असीं सुवर्ण, रौप्य इत्यादिक व महावस्त्रें (शालजोडी,
पितांबर, भरजरी पोशाग) आणि सर्व जातींचीं रत्नें हीं प्रत्येक द्रव्यें १०० रांपेक्षां अधिक
चोरिलीं असतां वधदंड करावा. ५० सांपेक्षां अधिक चोरिलीं असतां हात तोडावा.
५० सांपेक्षां कमी चोरिलीं असतां त्या द्रव्याच्या किमतीच्या ११ पट दंड द्यावा. देश,
काल, चोर, द्रव्यमालक याचे जातिगुणांचा विचार करून शिक्षाकल्पना करावी.

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ॥

मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

कुलीन असे पुरुष व स्त्रिया, आणि सर्व प्रकारचीं रत्नें ह्यांचा अपहार करणारा वध-
दंडास योग्य होतो.

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ॥

कालमासाद्य कार्यं च दंडं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

हत्ती, घोडे, लशी, गाई, शेंखें, औषधें यांतून कोणत्या एका वस्तूची चोरी केली
असतां काल (दुष्काल इत्यादि), कार्य (प्रयोजन) यांचा सारासार विचार करून
ताडन, अंगच्छेदन, वध यांतून एकादा दंड राजानें करावा.

गेषु ब्राह्मणसंस्थासु छुरिकायाश्च भेदने ॥

पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥

ब्राह्मणाच्या गाई चोरणें; वाहण्याकरितां वांझ गाईचें नाक टोंचणें; बकरा, मेंढा
इत्यादिक यज्ञपशु चोरणें या अपराधीं अर्धा पाय तोडावा.

सूत्रकार्पासकिष्वाणां गोमयस्य गुडस्य च ॥

दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥

वेणुवैदलभांडानां लवणानां तथैव च ॥
 मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥
 मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ॥
 मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥
 अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्य च ॥
 पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद् द्विगुणो दमः ॥ ३२९ ॥

लोकरीचें सूत, कापसाचें सूत, किण्व (सुराबीजद्रव्य), शेण, गूळ, दही, दूध, ताक, उदक, तृण, वेळू, वेळूचीं पात्रें, लवण, मातीचीं पात्रें, माती, भस्म, मत्स्य, पक्षी, तेल, तूप, मांस, मद्य, पशूपासून झालेले (हस्तिदंती सामान, फण्या, चर्मनिर्मित) पदार्थ, आणि असेच दुसरे हलक्या किमतीचे पदार्थ, खाण्याचे पदार्थ, भात, नाना प्रकारची (जिलबी वगैरे) पकानें, यांतून कोणत्याही पदार्थाची चोरी केली असतां पदार्थाचे किमतीच्या दुपट दंड करावा.

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनिगेषु च ॥
 अन्येष्वपरिपूतेषु दंडः स्यात्पंचरुष्णलः ॥ ३३० ॥

पुष्पें, हिरवें धान्य, गुल्म, वल्ली, वृक्ष, एक पुरुषानें नेलीं जातील असीं इतर धान्यें, यांतून कांहीं एक चोरले असतां देशकालांचा विचार करून एक मासा सुवर्ण अथवा एक मासा रौप्य दंड करावा.

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ॥
 निरन्वये शतं दंडः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥

शेतांत पिकलेलीं असीं धान्यें, शाका, मुळे, फलें यांची चोरी केली असतां चोराचा व मालधन्याचा संबंध (एका गांवांत राहणें इत्यादिक) नसेल तर शंभर पण दंड, आणि तसा संबंध असल्यास ५० पण दंड करावा.

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतं ॥
 निरन्वयं भवेत्स्तेयं तृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

मालधन्याच्या समक्ष जबरदस्तीने चोरीत असून मालक विचारीत असतां 'मी चोरी केली नाही' असें झणून जी चोरी करणें ते साहस कर्म होय, याकरितां त्याविषयीं साहसप्रयुक्त दंड करावा, आणि जी मालकाच्या परोक्ष चोरी करणें ती चोरी होय व चोरी करून नाकबूल करणें तीहि चोरीच होते.

यस्त्वेतान्युपकृतानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ॥
 तमाद्यं दंडयेद्वाजा यश्चाग्निं चोरयेद् गृहात् ॥ ३३३ ॥

पूर्वोक्त सूत इत्यादिक पदार्थांच्या ज्या उपभोगार्थ वनविलेल्या वस्त्रे इत्यादिक जिनसा

त्यांची जो मनुष्य चोरी करितो त्याला आणि अग्निशालेंतून अग्नित्रय किंवा गृह्याग्नि चोर-
णारा त्याला राजानें प्रथमसाहस दंड करून पुनः अग्निस्थापनास (आधानास) जो
स्वर्च लागेल तो त्याजकडून देववावा.

येन येन यथांगेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ॥

तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥

चोर ज्या ज्या हस्तपादादि अवयवानें मनुष्यांचीं द्रव्यें हरण करितो ते ते त्याचे अव-
यव राजानें तोडावे, ह्मणजे पुनः तो चोरी करणार नाही.

पिताऽऽचार्यः सुतृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ॥

नादंड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मेण तिष्ठति ॥ ३३५ ॥

राजाला कोणी अदंड्य (दंड करण्यास अयोग्य) नाही; पिता, आचार्य, मित्र, माता,
भार्या, पुत्र, पुरोहित हे सर्व आपापल्या धर्मांनीं न वागतील तर हेही दंडास पात्र होतात.

कार्षापणं भवेदंड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ॥

तत्र राजा भवेदंड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥

ज्या अपराधाविषयीं इतर प्राकृत मनुष्य एक कार्षापणपरिमित दंडाला योग्य होतो
त्या अपराधाविषयीं राजा सहस्रपणपरिमित दंडाला योग्य होतो असा शास्त्रनिश्चय आहे.

अष्टपादं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ॥

षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ॥

द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

गुणदोष जाणणाऱ्या शूद्रानें केलेल्या चोरीविषयीं आठपट दंड, गुणदोष जाणणाऱ्या
वैश्याला सोळापट दंड, गुणदोष जाणणाऱ्या क्षत्रियाला बत्तीसपट दंड, आणि गुणदोष
जाणणाऱ्या ब्राह्मणाला चौसष्टपट किंवा बरोबर १०० पट दंड, किंवा चौसष्टांच्याहि
दुप्पट दंड योजावा.

वानस्पत्यं मूलफलं दार्विष्यर्थं तथैव च ॥

तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

कुंपणविरहित अशा वृक्षांचीं मुळें, फळें, होमार्थ इंधनें (काष्ठें); आणि गोग्रासार्थ
तृण हीं दुसऱ्यांचीं हरण केलीं असतां ती चोरी होत नाही असें मनु बोलता झाला.

योऽदत्तादायिनो हस्तालिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।

याजनाभ्याषनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

चोराला पढवून अथवा त्याजकडून यज्ञ करवून त्याचे हातून धन मिळण्याची इच्छा
करणारा जो ब्राह्मण तो जसा चोर तसाच होय, यास्तव त्याला चोराप्रमाणेंच दंड करावा.

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ॥

आददानः परक्षेत्रान्न दंडं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

मार्गस्थ द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा वैश्य) मार्ग कमीत असतां जवळचें खावया-
चें सरल्यामुळें दुसऱ्याच्या मळ्यांतून दोन ऊंस अथवा दोन मुळें (किंवा असें दुसरें कांहीं)
तो घेईल तर तो दंड देण्याला पात्र होत नाही.

असंधितानां संधाता संधितानां च मोक्षकः ॥

दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

दुसऱ्याचे मोकळे सोडलेले घोडे इत्यादिक जे यांतिं दांडगेपणानें बांधणारा; पागेमध्ये
बांधून ठेवलेले घोडे इत्यादिकांस सोडणारा; आणि दास, घोडे, रथ यांतिं हरण करणारा
चोरीच्या शिक्षेला पात्र होतो. ती शिक्षा लहानमोठ्या अपराधानुरूप मारण, अंगच्छेदन,
किंवा धनदंड एतद्रूप जाणावी.

अनेन विधिना राजा कुर्वाणस्तेननिग्रहम् ॥

यशोऽस्मिन् प्राप्नुयाद्धोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

ह्या विधीकरून चोरांचें शासन करणारा राजा इहलोकीं उत्तम कीर्ति पावून परलोकीं
उत्तम सुखांतें पावतो.

ऐंद्रं स्थानमभिप्रेत्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ॥

नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

आतां साहसव्यवहार सांगतो— ज्या राजाला इंद्रपद व अक्षयकीर्ति यांची इच्छा
असेल त्यानें क्षणमात्र सुद्धां साहसी (ह्मणजे घरे जाळणारा, लुटणारा,) मनुष्याची
उपेक्षा करू नये.

वाग्दुष्टान्तस्कराच्चैव दंडेनैव च हिंसितः ॥

साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

शिबीगाळ इत्यादि निंद्य भाषण करणारा, चोर, आणि दंडादिकानें ताडन कर-
णारा या सर्वांहून साहस कर्म करणारा मनुष्य अतिशय पापी होय असें जाणावें.

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ॥

स विनाशं ब्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

जो राजा, साहसिक मनुष्याचा अपराध क्षमा करितो, तो (अधर्मबुद्धीनें) शीघ्र नाश
पावतो व जनांमध्ये शत्रुत्वाला पावतो.

न मित्रकारणाद्वाजा विपुलाद्वा धनागमात् ॥

समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

सर्व प्राण्यालां भय उत्पन्न करणाऱ्या साहसी मनुष्याला, मित्रत्वाच्या योगें अथवा
त्यापासून पुष्कळ धन मिळाल्या कारणामुळें राजानें सोडूं नयेत.

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ॥

द्विजातीनां च धर्माणां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥

ज्या काली साहसी इत्यादिकांपासून धर्माचा नाश होतो त्या काली धर्मरक्षण होण्याकरितां ब्राह्मणादि तीन वर्णांनीं शस्त्रधारण करावें.

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ॥

स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

परचक्रादिक प्राप्त असतां आत्मा, यज्ञाची सामग्री, स्त्रिया, बालकें, ब्राह्मण, आणि वर्णाश्रमधर्म यांच्या रक्षणाकरितां धर्मकरून शस्त्रधारण करून मारणारा दोषी होत नाही.

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ॥

आततायिनमायांतं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

गुरु, बाल, वृद्ध, बहुत पढलेला ब्राह्मण, हे सर्व आततायी (आग लावणारा, विष देणारा, धनहरण करणारा, क्षेत्र व स्त्री यांतें हरण करणारा,) होत्साते येतील तर विचार न करितां शीघ्र यांला मारावें.

नाततायिवधे दोषो हंतुर्भवति कश्चन ॥

प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥

प्रसिद्धपणें किंवा गुप्तपणें आततायीचा वध केला असतां मारणारास कोणताहि दोष नाही; कारण, झांवा राग त्याचे रागाला मारितो, हा त्याला मारितो असें नाही.

परदाराभिमुखेषु प्रवृत्ता नृन्महीपतिः ॥

उद्वेजनकरैर्दंडैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

यानंतर स्त्रीसंग्रहणव्यवहार सांगतो— परस्त्रीच्या संभोगाविषयीं प्रवृत्त झालेल्या मनुष्यांला राजानें उद्वेजनकर (छणजे नाक, ओंठ तोडणें इत्यादिक) दंड करून देशांतून हांकलून द्यावें.

नत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ॥

येन मूलहरोऽधर्मस्सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

ह्या व्यभिचारेंकरून लोकांचे ठायीं वर्णसंकर होतो आणि तेणेंकरून जगताचा नाश होतो; छणजे शुद्ध स्त्रीपासून उत्पन्न झालेला पुरुष यज्ञ करील तर त्या यागाचे यज्ञीं अग्नौत जी आहुति पडते ती सूर्याला पावते, नंतर सूर्य वृष्टि करितो तेणेंकरून जगताचें रक्षण होते; जेव्हां संकर होतो तेव्हां मूल्यचें हरण करणारा अधर्म उत्पन्न होतो व त्यामुळे शुद्ध स्त्रीपासून उत्पन्न झालेला पुरुष कोणी मिळत नाही तेव्हां सर्व जगताचा नाश होतो.

१ स्त्रीसंग्रहण छणजे परस्त्री व पुरुष यांचा परस्पर संयोग किंवा संयोग होण्याचे उपाय.

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ॥

पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

जो पुरुष परस्त्रीशीं एकांतीं (योग्य कारणावांचून) संभाषण करितो व पहिल्यापासून याचें (निंदित) आचरण प्रसिद्ध असेल तर तो पूर्व साहसदंडास पात्र होईल.

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ॥

न दोषं प्राप्नुयात् किंचिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥

हा सोदा आहे असा जर पूर्वी निंदित न केलेला (सालसूद) पुरुष जर कांहीं योग्य कारणावरून परस्त्रीशीं संभाषण करील तर तो किंचित् देखील अपराधी होत नाही.

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ॥

नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥ ३५६ ॥

जो पुरुष पाणवठा, अरण्य, गांवाच्या बाहेर तृणलता इत्यादिकांनीं युक्त स्थल, जन-रहित स्थल, वन, नदीसंगम ह्या स्थानीं परस्त्रीशीं संभाषण करितो तो स्त्रीसंग्रहणसंबंधी अपराधी होतो.

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ॥

सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

परस्त्रियेची थट्टा करणें, आलिंगन देणें, अलंकार व वस्त्रें यांला स्पर्श करणें, पुष्पें व सुगंधि द्रव्यें देणें, एक शय्येवर बसणें हें सर्व स्त्रीसंग्रहण, असें मन्वादिकांनीं लटलें आहे.

स्त्रियं स्पृशेद्देशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ॥

परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

जो पुरुष परस्त्रीला धरितो व स्तन जघनादि (मांड्या इत्यादि) प्रदेशीं स्पर्श करितो आणि स्त्रीनें (कामबुद्धीनें) धरिलें असतां रामावत नाही, (क्षमा करितो) असें परस्परांच्या अनुमतानें घडतें तर तें सर्व स्त्रीसंग्रहण लटलें आहे.

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणांतं दंडमर्हति ॥

चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्षयतमाः सदा ॥ ३५९ ॥

ब्राह्मणव्यतिरिक्त इतर वर्ण (शूद्रादिक) ब्राह्मणीशीं गमन करील तर तो प्राणांत दंडाला योग्य होतो; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि सर्व वर्णांच्या स्त्रियांचें संरक्षण मोठ्या यत्नानें करावें, हणजे धनपुत्रादिकांपेक्षां स्त्रियांचें रक्षण अतिशयेंकरून करावें.

भिक्षुका बंदिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ॥

संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

भिक्षेवर उपजीविका करणारे, भाट, यज्ञदीक्षा ग्रहण केलेले, स्वयंपाकी, यांनीं भिक्षा-

दिक आपापल्या कार्याकरितां यजमानांच्या स्त्रियांशीं संभाषण करावें, त्यांचें निवारण करूं नये.

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ॥

निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दंडमर्हति ॥ ३६१ ॥

या स्त्रीशीं तुह्मीं संभाषण करूं नये असी मनाई केली असतां तो पुरुष त्या स्त्रीशीं पुनः संभाषण करील तर तो एक सुवर्ण (शास्त्रोक्त १६ मासे सुवर्ण) दंडास पात्र होतो.

नैषचारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ॥

सज्जयंति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयंति च ॥ ३६२ ॥

हा जो दंडाचा प्रकार सांगितला तो नटादिकांच्या स्त्रियांविषयीं व ज्या स्त्रिया व्यभिचारानें उपजीविका करणाऱ्या त्यांविषयीं नव्हे; कारण, ते (नटादिक)च आपल्या स्त्रियांस परपुरुषासाठीं सज्ज करितात आणि गुप्तरूपानें अशा कर्माविषयीं पाठवितात.

किंचिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरेत् ॥

प्रेष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

परंतु ब्याहि सर्व परस्त्रिया होत याकरितां यांच्याशीं संभाषण करणारा थोडा दंडास पात्र होतो, आणि दासी, बैरागिणी व विरक्त स्त्रिया यांच्याशीं संभाषण करणाराहि थोडा दंडास पात्र होतो.

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ॥

सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

इच्छा न करणारी अशी आपल्या समानजातीची जी कन्या तिशीं जो गमन करितो खाला तत्कालीं लिंगच्छेदनादिक वधदंड करावा; परंतु ब्राह्मणास करूं नये, कारण, ब्राह्मणास शारीर दंडाचा निषेध आहे. इच्छा करणारी कन्या आपल्या समानजातीची असतां तिशीं गमन करणारा पुरुष पूर्वोक्त वधदंडाला पात्र होत नाही.

कन्यां भजंतीमुत्कृष्टं न किंचिदपि दापयेत् ॥

जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥ ३६५ ॥

आपल्या जातीहून उत्तम जातीच्या पुरुषाचें सेवन करणाऱ्या कन्येला अल्पहि दंड करूं नये, आपल्या जातीहून नीच जातीच्या पुरुषाचें सेवन करणाऱ्या कन्येला घरांत कोडून ठेवावी, व ती निवृत्तकाम होईल असा बंदोबस्त करावा.

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ॥

शुल्कं दद्यात्सेवमानः मसामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

निकृष्ट जातीचा पुरुष सकाम अथवा निष्काम अशा उत्कृष्ट जातीच्या कन्येशीं गमन करील तर तो जातीच्या अपेक्षेनें अंगच्छेदनवधरूप दंडास योग्य होतो. सकाम अशा

समानजातीय कन्येशीं गमन करील तर तो दंडास पात्र होत नाही; परंतु कन्येचा बाप जर कबूल असेल तर मील्य बाबें, आणि ती कन्या वरावी.

अभिषेक्य तु यः कन्यां कुर्याद्वर्षेण मानवः ॥

तस्याशु कर्त्ये भंगुल्यौ दंडं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥

जो पुरुष कामावेशानें बलात्कार करून समानजातीय कन्येला (योनींत बोटें घालून) क्षत करितो त्याचीं बोटें तोडावीं आणि ६०० पण दंड करावा.

सकामां दूषयंस्तु न्यो नांगुलिच्छेदमाप्नुयात् ॥

द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

सकाम असून सजातीय अशा कन्येला (योनींत बोटें घालून) जो क्षत करितो त्याचीं बोटें तोडून नयेत, तर पुनः त्याचे हातून तसें कर्म घडून नये झणून २०० पण दंड मात्र करावा.

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतो दमः ॥

शुभ्रं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥ ३६९ ॥

जी कन्याच दुसऱ्या कन्येला (योनींत बोटें घालून) नाशील तर तिला दोनशें (पण) दंड करावा, आणि तिजकडून कन्येच्या बापाला दुप्पट कन्यामील्य देवबाबें, व तिला दहा फटके मारावे.

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मील्यमर्हति ॥

भंगुल्योरेव वा छेदं करेणोद्धनं तथा ॥ ३७० ॥

आणि जर जाणती स्त्री (योनींत बोटें घालून) कन्येला क्षत करील तर तिचें तत्काळ मुंडन करावें, किंवा तिचीं बोटें तोडावीं, अथवा तिला गाढबावर बसवून बिड काढावी.

भर्तारं लघयेद्या तु स्त्री जातिगुणवर्णिता ॥

तां श्वभिः खादयेद्वाजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥

जी गरत स्त्री, जाति व गुण यांच्या गर्वानें (झणजे माझा पिता, भाते इत्यादिक बांधव मोठे विद्वान् व ब्रूर, कुलीन, संपत्तिमान् होत अशा अभिमानानें) भर्त्याचें उल्लंघन (झणजे परपुरुषाशीं गमन) करील तर तिला राजानें चबांठ्यावर आणून कुत्र्यांकडून खाववावें.

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त भायसे ॥

अभ्यादभ्युक्ष काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

पूर्वोक्त गरत स्त्रीशीं गमन करणाऱ्या पुरुषाला तप्त लोहशय्येवर बसवून चौकेर काष्ठें रचून तेथें त्या पाप्याला दग्ध करावें.

१ एथें जाणत्या स्त्रीला तीन शिक्षा सांगितल्या त्या अपराभतारतम्येंकरून सर्व किंवा एकेक योजनावी.

संवत्सराभिशास्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ॥

ब्राह्मण्या सह संवासे चांडाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥

परस्त्री, ब्राह्मणी (हणजे शास्त्रोक्त काली ज्याचें उपनयन झालें नाहीं त्याची स्त्री), चांडालस्त्री यांचे ठायीं गमन करून दुष्ट पुरुष विना दंडावांचून राहिलेला असा पुनः या स्त्रियांप्रत गमन करील तर एकवेळ गमन केल्यास जो दंड सांगितला त्याच्या दुप्पट त्याला दंड करावा.

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ॥

अगुप्तमंगसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

शूद्र जर द्विजातींच्या (ब्राह्मणादि तीन वर्णांच्या) व्यभिचारिणी स्त्रियांशीं संग करितो तर त्याचें एकांग (शिश) कापून सर्वस्वहरण दंड करावा. आणि गुप्त (पति इत्यादिकांनीं संरक्षित) स्त्रीशीं संग करितो तर त्याचें सर्वस्व हरण करून वधदंड करावा.

वैश्यः सर्वस्वदंडः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ॥

सहस्रं क्षत्रियो दंड्यो मौढ्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥

वैश्य जर संरक्षित अशा ब्राह्मणी स्त्रीशीं गमन करील तर त्याला एक वर्षपर्यंत तुरुंगांत ठेवून नंतर त्याला सर्वस्वहरणरूप दंड करावा. क्षत्रिय, संरक्षित ब्राह्मणी स्त्रीशीं गमन करील तर त्याला सहस्र पण दंड करून गाढवाचे मूत्रानें त्याचें मुंडन करावें.

ब्राह्मणी यदागुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ॥

वैश्यं पंचमत्तं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

पति इत्यादिकांनीं अरक्षित (व्यभिचारिणी) अशा ब्राह्मणी स्त्रीशीं वैश्य, क्षत्रिय गमन करील तर वैश्यास ५०० (पण), क्षत्रियास १००० (पण) दंड करावा.

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ॥

विभुर्तौ शूद्रकूट्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥

क्षत्रिय किंवा वैश्य संरक्षित ब्राह्मणी स्त्रीशीं संग करितो तर त्याला शूद्राप्रमाणें वधदंड करावा. अथवा कटाग्निने जाळीवें.

सहस्रं ब्राह्मणो दंड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्भजन् ॥

शतानि पंच दंड्यः स्याद्विच्छंत्या सह संगतः ॥ ३७८ ॥

१ क्षत्रिय हा वैश्यापेक्षा उत्कृष्ट व जवळचा असताहि त्याला अधिक दंड सांगितला. याचें कारण, तो प्रजापालनपदाचा अधिकारी आहे यास्तव त्याकडून असें कुकर्म घडूं नये हें जाणावें.

२ कट हणजे तृणजातिविशेष, तद्विशिष्ट जो अग्नि तो.

३ ह्या वचनांत नुसता वधदंड अथवा कटाग्निनें दहन असा जो विशेष सांगितला तो अग्निहीत्याची भाषा व गुणवती ब्राह्मणी यांविषयीं जाणवा.

संरक्षित अशा ब्राह्मणी स्त्रीशीं बलात्कारेंकरून ब्राह्मण गमन करील तर त्याला सहस्र (पण) दंड करावा. जर तिच्या इच्छेनें गमन करील तर त्याला पांचशें (पण) दंड करावा.

मौंड्यं प्राणांतिको दंडो ब्राह्मणस्य विधीयते ॥

इतरेषां तु वर्णानां दंडः प्राणांतिको भवेत् ॥ ३७९ ॥

ब्राह्मणाचें मुंडन करावें हाच त्याला प्राणांतिक दंड, साक्षात् वधदंड ब्राह्मणास नाही. इतर वर्णांस साक्षात्प्राणांतिक दंड आहे.

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम् ॥

राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

ब्राह्मण सर्व पापें करणारा जरी असेल तथापि त्याला कदापि साक्षात् वधदंड करूं नये; तर धनसहित आणि शारीरदंडरहित असा राज्यांतून हांकलून लावावा.

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विदुते भुवि ॥

तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिंतयेत् ॥ ३८१ ॥

पृथ्वीचे ठायीं ब्राह्मणवधाहून मोठा अधर्म दुसरा नाही, या कारणास्तव राजानें ब्राह्मणाचा वध मनेंकरूनहि चिंतन करूं नये.

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो ब्रजेत् ॥

यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दंडमर्हतः ॥ ३८२ ॥

वैश्य, पति इत्यादिकांनीं रक्षित क्षत्रियेशीं गमन करील अथवा क्षत्रिय, पति इत्यादिकांनीं रक्षित वैश्यस्त्रीशीं गमन करील तर अगुप्त (पत्यादिकांनीं अरक्षित) ब्राह्मणी स्त्रीशीं गमन केलें असतां जो दंड (वैश्याला ५०० पण, क्षत्रियाला १००० पण) सांगितला त्याला ते दोघे (वैश्य क्षत्रिय) पात्र होतात.

सहस्रं ब्राह्मणो दंडं दाप्यो मुने तु ते ब्रजेत् ॥

शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेदस्य ॥ ३८३ ॥

पत्यादिकांनीं संरक्षित अशी क्षत्रिया अथवा वैश्या यांच्याशीं ब्राह्मण गमन करील तर त्याला सहस्र (पण) दंड करावा. आणि पत्यादिकांनीं संरक्षित अशा शूद्रा स्त्रीशीं गमन करणाऱ्या क्षत्रियास किंवा वैश्यास सहस्र (पण) दंड करावा.

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पंचशतं दमः ॥

मूत्रेण मौंड्यमिच्छेत् क्षत्रियो दंडमेव वा ॥ ३८४ ॥

पत्यादिकांनीं अरक्षित अशा क्षत्रियस्त्रीशीं गमन करणाऱ्या वैश्यास ५०० (पण) दंड, आणि क्षत्रिय, अरक्षित वैश्यस्त्रीशीं गमन करील तर त्याचें गर्दभमूत्रानें मुंडन करावें, अथवा पांचशें (पण) दंड करावा.

अगुप्ते क्षत्रियवैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ॥

शतानि पंच दंड्यः स्यात्सहस्रं त्वं त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥

अरक्षित अशी क्षत्रियस्त्री, किंवा वैश्यस्त्री, अथवा शूद्रस्त्री यांचेठायीं ब्राह्मण गमन करील तर त्याला ५०० (पण) दंड करावा, आणि चांडालादिकांच्या स्त्रीशी ब्राह्मण गमन करील तर त्याला १००० (पण) दंड करावा.

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ॥

न साहसिकदंडघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

चोर, जार, शिवीगाळ करणारे, बलात्काराने लुटालूट व घरे जाळणे इत्यादि साहसकर्म करणारे, दंडादिकाने ताडन करणारे हे सर्व ज्या राजाचे राज्यांत नाहीत तो राजा इंद्रपदाप्रत प्राप्त होतो.

एतेषां निग्रहो राज्ञः पंचानां विषये स्वके ॥

साम्राज्यरुत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥

पूर्वश्लोकीं चोर, जार इत्यादिक जे पांच सांगितले त्यांचा आपल्या राज्यांत निग्रह करणारा राजा आपल्या समानजातीय राजांमध्ये साम्राज्य (मंडलेश्वराचे कर्म) करणारा होतो, आणि इहलोक कीर्तिमान् होतो.

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक् त्यजेद्यदि ॥

शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दंडः शतं शतम् ॥ ३८८ ॥

आपले कर्म करण्याविषयी समर्थ असून अतिपातकादि दोषरहित असा ऋत्विक्, आणि यजमान या दोहोतून एक एकाचा त्याग करील तर त्याग करणारास शंभर (पण) दंड करावा.

Step mother - not included in 15000 279
279 4/500

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ॥

त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दंड्यः शतानि षट् ॥ ३८९ ॥

माता, पिता, स्त्री, पुत्र हे चतित्यदोषविरहित असून यांतून कोणाएकाचा त्याग करील तर त्याला ६०० (पण) दंड करावा.

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ॥

न विब्रूयानृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥ ३९० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांचा गार्हस्थ्यादि आश्रमांचेठायीं शास्त्रार्थाचा विवाद उत्पन्न झाला असतां आपल्या हिताची इच्छा करणाऱ्या राजाने ' हा शास्त्रार्थ असा आहे ' असे सांगला सांगू नये.

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ॥

सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥

this text in mit.

गृहस्थाश्रमधर्माविषयी वाद करणारे जे त्यांची पूजा ब्राह्मणांसहवर्तमान राजाने यथा-योग्य करून प्रथमतः सात्वताने त्यांचा क्रोध दूर करून नंतर त्यांचा जो धर्म असेल तो त्याला सांगता.

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ॥

अर्हावभोजयन् विप्रो दंडमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥

ज्या मंगल कार्याचे ठायीं वीस ब्राह्मणांला भोजन उक्त आहे तशा कार्यात ब्राह्मणांला भोजन देत असतां प्रातिवेश्य (लणजे आपल्या गृहाच्या जवळ स्वगृही राहणारा योग्य ब्राह्मण), आणि अनुवेश्य (लणजे आपल्या गृहापासून एक घर सोडून दुसऱ्या गृहांत राहणारा योग्य ब्राह्मण) ह्या दोघांला भोजन, ब्राह्मण न देईल तर त्याला एक मासा रौप्य दंड करावा.

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ॥

तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥

श्रोत्रिय ब्राह्मण विवाहादिक मंगलकार्ये व नानाप्रकारचीं उत्सवकार्ये यांचे ठायीं वेद-पाठी ब्राह्मण, प्रातिवेश्य, अनुवेश्य, आचारसंपन्न अशा ब्राह्मणांला भोजन न देईल तर त्याला एक मासा सुवर्ण, आणि भोजनाचे दुप्पट अन्न दंड करावा.

अंधो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ॥

श्रोत्रियेषूपकुर्वश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥ ३९४ ॥

अंध, बहिरा, पांगळा, पूर्ण सत्तर वर्षांचा, आणि धनधान्यादिकाने श्रोत्रियांवर उप-कार करणारा यांपासून क्षीणकोश (ज्याच्या जामदारखान्यांत अल्पद्रव्य अशा) कोण-त्याहि राजाने कर घेऊ नये.

श्रोत्रियं व्याधितातौ च बालवृद्धावकिंचनं ॥

महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

श्रोत्रिय (वेदपाठी व आचारसंपन्न), रोगी, व्याधित, आर्त (पुत्रवियोगादिकाने दुःखित), बाल, वृद्ध, दरिद्री, महाकुलीन, उदारचरित, या सर्वांची दान, मान, सत्कार यांहीकरून राजाने नित्य पूजा करावी.

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ॥

न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन् च वासयेत् ॥ ३९६ ॥

पर्यंत इत्यादिकांविषयीं सांगतो— परिटाने वस्त्रे धुणे तीं मृदु अशा सांवरी इत्यादि-कांच्या फळीवर हळुहळू धुवावीं, त्यांची सदलाबदल करू नये, घरीं बहिवाटू नयेत, आणि बहुत दिवस आपल्या घरीं ठेवू नयेत, याहून उलट वागेल तर तो दंडास पात्र होईल.

तंतुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ॥

अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३९७ ॥

कोष्टी यानें दहा पळें वजन सूत घेऊन त्या सुताचें अकरा पळें वजन वस्त्र द्यावें, याहून कमी वजनाचें देईल तर १२ (पण) दंड करावा, आणि मालकाचें नुकसानहि भरून देववावें.

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ॥

कुर्युरर्थं यथा पण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

शुल्क (हणजे व्यापारावरील कर) यांविषयीं जे कुशल आणि सर्व प्रकारच्या मालांचा व्यापार करण्याविषयीं अतिपंडित असे व्यापारी हे ज्या जिनसाची जी किंमत ठरवतील त्याप्रमाणें विक्री होऊन जो व्यापाऱ्याला नफा मिळेल त्यापैकीं विसावा अंश राजानें ग्रहण करावा.

राज्ञः प्रख्यातभांडानि प्रतिषिद्धानि यानि च ॥

तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥

राजाच्या योग्य ज्या वस्तु (हत्ती, घोडे इत्यादिक,) आणि जो माल देशांतरीं नेऊन विकण्याविषयीं मना केला असेल तो, लोभानें इतर स्थानीं नेऊन विकील तर त्याचें सर्वस्वहरण राजानें करावें.

शुल्कस्थाने परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ॥

मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥

राजाचा कर (जकात इत्यादिक) चुकविण्याकरितां भल्याच मार्गानें जाणारा, अकालीं (रात्रीं इत्यादिकसमयीं) माल विकणारा व घेणारा, आपणावर राजकर न बसावा या हेतूनें उत्पन्न कमी सांगणारा, आणि मापांत व वजनांत खोटे बोलणारा यांला राजभागाच्या आठपट दंड करावा.

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ॥

विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥

किती दूर देशाहून माल आलेला, किती दूर देशीं माल जाणारा, किती कालपर्यंत पडून राहिलेला, माल कोणत्या दरानें विकतो व विकेल, हा उत्पन्न होण्याला मूळ मांडवल किती लागलें, व याबद्दल व्याज व इतर खर्च किती लागला व लागेल या सर्व गोष्टींचा राजानें विचार करून सर्व जिनसांचें क्रयविक्रय व्यापाऱ्यांकडून करवावे.

पंचरात्रे पंचरात्रे पक्षे पक्षेऽथवागते ॥

कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

राजानें आपल्या समक्ष आपल्या कामदारांकडून पांच पांच दिवसीं किंवा पंधरा पंधरा दिवसांनीं, अथवा दरेक महिन्यास व्यापाऱ्यांला जिनसांचा निरख ठरवून द्यावा.

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्वात्सुलक्षितम् ॥

षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

तोळा, मासा, शेर, अर्धा शेर, पाव शेर, इत्यादिक वजनै; आणि प्रस्थ, द्रोण इत्यादिक मापे हीं सर्व निम्न सारखीं असावीं; पूर्वोक्त वजनै व मापे सहा सहा महिन्यांनीं कामदारांकडून तपासवावीं, आणि खरी करवावीं.

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ॥

पादं पशुश्च योषिञ्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

भांडपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ॥

रिक्तभांडानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ॥

नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥

जकातीविषयीं सांगतो— रिकाम्या वाहनाविषयीं तरीवर १ पण जकात ध्यावी. भारसहित पुरुषापासून अर्धा पण उतार ध्यावा. पशु व स्त्रिया यांपासून पणाचा चतुर्थांश, ओड्याविरहित पुरुषापासून पणाचा अष्टमांश, गाडे वगैरे वाहनै जर मालाने भरलेली आहेत तर मालाच्या सारासारतारतम्याने उतार ध्यावा. पेठ्या वगैरे रिकामे सामान, आणि मालावाचून रिकामे वाणी उदमी यांपासून यत्किञ्चित् (थोडा) उतार ध्यावा. नदीच्या दूरप्रदेशी जाणें असेल तर नदीचा प्रचल वेग, स्थिर उदक, ग्रीष्मवर्षाकाल इत्यादिकांचा विचार करून नौकेच्या भाड्याची कल्पना करावी, आणि समुद्रामध्ये जाणें असेल तर वायूच्या आधीन जाणें आहे याकरितां पूर्वोक्त गोष्टींचा विचार करून उपयोग नाही, तर जो देण्यास योग्य असेल तो उतार द्यावा.

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ॥

ब्राह्मणा लिंगिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥

दोन महिन्यांहून अधिक महिन्यांची गर्भिणी स्त्री, संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्राह्मण आणि ब्रह्मचारी यांपासून तरीचा उतार घेऊ नये.

यन्नावि किञ्चिद्वासानां विशीर्येतापराधतः ॥

तद्वासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः ४०८ ॥

नौकेमध्ये उतारु लोक बसले असतां नावाड्यांच्या हयगईमुळे उतारुंची काही वस्तु नाश पावेल तर ती वस्तु सर्व नावाड्यांनीं मिळून यथाविभागें करून भरून द्यावी.

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ॥

दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥

नौकागमन करणाऱ्यांची वस्तु नावाड्यांच्या हयगईमुळे उदकांत नष्ट झाल्याविष-

यींचा हा व्यवहारनिर्णय सांगितला. तुफान, वारा इत्यादिक दैविक उपद्रवानें नौकेचा नाश होऊन उतारुंच्या वस्तूंचा नाश होईल तर त्याजबदल नावाड्यांला दंड नाही.

वाणिज्यं कारयेद्दैत्यं कुसीदं ऋषिमेव च ॥

पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

व्यापार, व्याजबद्धा, ऋषि, आणि पशूंचें (गाईं हशी इत्यादिकांचें) रक्षण हीं कर्मे वैश्या-कडून (राजानें) करवावीं, आणि शूद्राकडून द्विजातींची (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यांची) सेवा करवावी.

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ॥

विभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥

क्षत्रिय व वैश्य हे भृत्यभावानें पीडित होत्साते आपापल्या उपजीविकेविषयीं क्लेश पावतील तर ब्राह्मणानें त्यांवर दया करून त्यांकडून आपापलीं कर्मे (रक्षणकृपादिक) करून अन्नवस्त्र देऊन त्यांचें पोषण करावें, याप्रमाणें ब्राह्मण त्यांचे पोषणाविषयीं समर्थ असून पोषण न करील तर त्याला दंड करावा.

दास्यं तु कारयेद्ब्राह्मणः संस्कृतान् द्विजान् ॥

अनिच्छतः प्रायवत्याद्राज्ञा दंड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥

उपनयन झालेले असून दास्यत्वाची इच्छा न करणारे असे जें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांकडून, ब्राह्मण आपल्या सत्तेनें अथवा लोभेंकरून आपलें दास्यत्वे करवील तर त्या ब्राह्मणाला ६०० पण दंड राजानें करावा.

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ॥

दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ४१३ ॥

परंतु शूद्राकडून ब्राह्मणानें आपली सेवा करवावी, मग तो त्या शूद्राला मजुरी देवो, अथवा न देवो; कारण, ब्राह्मणाचें दास्यकर्म करण्याविषयीं ब्रह्मदेवानें शूद्राला उत्पन्न केले आहे.

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्यादिमुच्यते ॥

निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदयोहति ॥ ४१४ ॥

स्वामी (मालक) दास्यकर्मापासून दासाचा त्याग न करील तर तो दास दास्यकर्मापासून सुटा होत नाही; कां कीं, दास्यकर्म हें शूद्राचें स्वाभाविक कर्म आहे, तस्मात् त्या कर्मापासून कोण सुटण्याविषयीं शक्य आहे-? तस्मात् शूद्रानें द्विजातींची सेवा करावी.

ध्वजात्ततो भक्तदासो गृहजः क्रीतदन्निमौ ॥

वैत्रिको दंडद्वासश्च सप्तैते दास्योनयः ॥ ४१५ ॥

सात प्रकारचे दास आहोत— शुद्धांत जिकून आणलेला, भोजनाकरितां दास्यकर्म

पतकरून राहिलेला, गृहदासीचा पुत्र, मोल देऊन विकत घेतलेला, दान दिलेला, पितृ-पितामहादिकमानें मिळालेला, आणि दंडादि धनशुद्धयर्थ दास्यकर्म स्वीकारून राहिलेला हीं सात दास्यत्वाचीं कारणें होत.

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रयः एवाधनाः स्मृताः ॥

यत्ने समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

भार्या, पुत्र आणि दास, हे तीन निर्धन, असे मन्वादिकांनीं झटले आहेत; याकरितां ह्या तिघांतून कोणी धन मिळविलें असतां ज्याचे हे आहेत त्याचें तें धन होतें.

विस्त्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपार्जनमाचरेत् ॥

न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥

ब्राह्मणानें दासशूद्रापासून धन ग्रहण करावें, याविषयीं कोणता विचार करूं नये. कां कीं, दासशूद्राचें कोणतेंहि स्वत्व नाही, ह्मणून तो धनरहित आहे. तो जें धन संपादन करील त्याचा मालक त्याचा स्वामी होतो. ब्राह्मण आपत्तिकालीं आपल्या दासापासून जवरीनेंहि धन घेईल तर तो दंडास पात्र होत नाही.

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ॥

तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥ ४१८ ॥

राजानें वैश्य व शूद्र यांजकडून आपापलीं कर्मे प्रयत्नेकरून करवावीं, ह्मणजे शूद्राकडून द्विजातींची सेवा इत्यादिक व वैश्याकडून कृषि, व्यापार इत्यादिक करवावीं; कारण, जर ते आपापलीं कर्मे टाकतील तर अन्यायानें धनग्रहण करून उन्मत्त होऊन ह्या जगताचा नाश करतील.

अहन्यहन्ववेक्षेत कर्मातान्वाहनानि च ॥

आयव्ययौ च निषतावाकरान् कोशमेव च ॥ ४१९ ॥

दररोज राजानें आपल्या प्रजांचे हिताचीं जीं (दृष्टादृष्ट) कामें त्यांची चौकशी करावी; हत्ती, घोडे, गाडी, पायदळ यांची चौकशी ठेवावी; दररोज राज्याचें निवळ उत्पन्न किती व खर्च किती हें पाहावें; आणि जामदारखाना, सुवर्ण, रत्ने इत्यादिक धातूंच्यः खाणी यांचाहि विचार करावा.

एवं सर्वानिमान्वाजा व्यवहारान् समापयन् ॥

व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

या रीतीनें संपूर्ण ऋणादानादिक व्यवहारांचा तत्वेकरून निर्णय करणारा राजा सकल पापांपासून मुक्त होऊन परम गतीप्रत पावतो.

इति मानवधर्मशास्त्रे महाराष्ट्रीयभाषायां अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

अध्याय नववा.

स्त्रीपुरुष, व्यवहार, आणि वैश्यशूद्र यांचे धर्म सांगतो.

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः॥

संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

धर्म्य मार्गाचेठायीं राहणारा जो पुरुष व स्त्री या दोघांच्या संयोगाचे व विप्रयोगाचे जे नित्यधर्म आहेत ते तुझाला सांगतो.

अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ॥

विषयेषु च सज्जंत्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥

पुरुषांनीं रात्रंदिवस स्त्रिया अस्वतंत्र (पराधीन) झणजे आपल्या आज्ञेत ठेवाव्या, परतंत्र ठेवू नयेत. या (स्त्रिया) विषयासक्त जरी आहेत तथापि आपल्या स्वाधीन, गृहकृत्याविषयीं तत्पर राखाव्या.

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ॥

रक्षति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥ ३ ॥

बाळ्यावस्थेचे ठायीं विवाहाचे पूर्वी पिता रक्षण करितो, तारुण्यावस्थेचे ठायीं भर्ता रक्षण करितो, वृद्धावस्थेचे ठायीं पुत्र रक्षण करितात, तस्मात् स्त्री स्वातंत्र्यानें राहण्यास योग्य नाही.

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः ॥

मृते भर्तारि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

दानसमयीं (ऋतुकालाचे पूर्वी) कन्येचें दान न करील तर पिता दोषी होतो, ऋतुकालीं स्त्रियेप्रत गमन पति न करील तर तो दोषी होतो, भर्ता मृत झाल्यानंतर मातेचें रक्षण पुत्र न करील तर तो दोषी होतो.

मृक्षेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ॥

दुषोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

दुष्टाचरणसंपादक अशा अल्पदुःसमाममांपासूनहि विशेषेकरून स्त्रियांचें रक्षण करावें, आणि स्त्रियांचें रक्षण न केलें असतां स्त्रिया भर्तृकुल व पितृकुल या दोहोंला शोक उत्पन्न करितात.

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यंतो धर्ममुत्तमम् ॥

यतंते रक्षितुं भार्या भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

यास्तव सर्व ब्राह्मणादि वर्णांचा भार्यारक्षणरूप हा धर्म सर्व धर्मांहून श्रेष्ठ आहे असे प्राहणारे होत्साते आंधळे, पांगळेहि आपापल्या स्त्रीचे रक्षणाविषयी यत्न करितात.

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ॥

स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् स रक्षति ॥ ७ ॥

जो मनुष्य प्रयत्नेकरून स्त्रियेचें रक्षण करितो तो आपली संतति, चरित्र (शिष्टांचा उत्तम आचार), कुल, आत्मा आणि स्वधर्म, यांचें रक्षण करितो, तस्मात् स्त्रीरक्षणाविषयी यत्न ठेवावा.

पतिर्भावी संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ॥

जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

पति शुक्ररूपानें भार्येप्रत प्रवेश करून गर्भ उत्पन्न करून स्त्रियेचे ठायीं पुत्ररूपानें उत्पन्न होतो, जायेचे ठायीं जायात्व धर्म हा आहे कीं, जायेचे ठायीं आपण पुनः उत्पन्न होतो.

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ॥

तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

ज्या प्रकारच्या पुरुषाचें स्त्री सेवन करिते तशा प्रकारचा पुत्र प्रसवते, हणजे शास्त्रोक्त पुरुषाच्या सेवनानें उत्कृष्ट पुत्र, व निषिद्ध पुरुषाच्या सेवनानें निरुष्ट पुत्र प्रसवते. तस्मात् शुद्ध पुत्र उत्पन्न होण्याकरितां प्रयत्नेकरून स्त्रियेचें रक्षण करावें.

न कश्चिद्विधितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ॥

एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

बलात्कारानें (घरांत कोंडून ठेवणें इत्यादि प्रकारानें) स्त्रियांचें रक्षण करण्याविषयी कोणी पुरुष समर्थ नाही, तर पुढें जे सांगावयाचे उपाय त्यांहींकरून स्त्रियांचें रक्षण करण्याविषयी पुरुष समर्थ होतात.

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ॥

शौचे धर्मेऽन्नपत्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥ ११ ॥

अर्थसंग्रह, व्यय (खर्च), पवित्रता (द्रव्यशरीरशुद्धि), धर्म (भर्त्याची शुभ्रूषा इत्यादि धर्म), पाकनिष्पत्ति, घरांतील सामग्रीची देखरेख ह्या सर्व कार्याविषयी स्त्रियेची योजना करावी.

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ॥

आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

१. ह्याच अर्थीची श्रुति बव्हच ब्राह्मणांत आहे ती असी—पतिजया प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरं ॥ तस्या पुनर्नवो भुत्वा दशमे मासि जायते ॥ तस्माज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥

ज्या स्त्रिया दुराचरणापासून आपलें आपण रक्षण करीत नाहीत त्या आप्त व सुशील अशा पुरुषांनी घरांत जरी कोंडून ठेविल्या तथापि रक्षित होत नाहीत, आणि ज्या धर्मबुद्धीने आपलें आपण रक्षण करितात त्याच सुरक्षित होतात. तस्मात् धर्मकरून स्वर्ग, अधर्मकरून नरक प्राप्त होतात इत्यादिक उपदेश स्त्रियांला करून त्यांचा निग्रह करावा, हा रक्षणाचा मुख्य उपाय आहे.

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ॥

स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥

मद्यपान, दुर्जनसमागम, भर्त्याचा विरह, इकडेतिकडे भ्रमण, अकालीं निद्रा आणि दुसऱ्याचे घरीं जाणें, हे सहा प्रकार स्त्रियांला व्यभिचारदोष उत्पन्न करणारे आहेत, याकरितां यांपासून स्त्रियांचें रक्षण करावें.

नैता रूपं परीक्षंते नासां वयसि संस्थितिः ॥

सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुंजते ॥ १४ ॥

स्त्रिया रूप, वय पाहत नाहीत; सुरूप असो किंवा कुरूप असो परंतु पुरुष आहे इतकें पाहूनच त्याशीं रममाण होतात.

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ॥

रक्षिता यत्नतोपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥

यत्नपूर्वक जरी स्त्रिया रक्षित असल्या तथापि त्या जारिणीपणा, चलचित्तता, आणि स्वाभाविक स्नेहराहित्य, यांहींकरून भर्त्याचे ठायीं विकारार्ते पावतात.

एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम् ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

ब्रह्मदेवाच्या सृष्टिसमयापासून स्त्रियांचा असा (दोन श्लोकांत सांगितलेला) स्वभाव जाणून पुरुषानें रक्षणाविषयी प्रयत्न करावा.

शय्यासनमस्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ॥

द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

शय्या, आसन, अलंकार, काम, क्रोध, कठोरपणा, द्रोहभाव, कुत्सिताचार हे सर्व, स्त्रियांसाठीं सृष्टीच्या आरंभीं मनूनें उत्पन्न केले याकरितां यत्नेकरून स्त्रीचें रक्षण करावें.

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मंत्रैरिति धर्मो व्यवस्थितिः ॥

निरिन्द्रिया ह्यमंत्राश्च स्त्रियोऽनृतमितिस्थितिः ॥ १८ ॥

स्त्रियांचे जातकर्मादिक संस्कार मंत्रांनीं करूं नयेत, अशी शास्त्रमर्यादा व्यवस्थित आहे. धर्मप्रमाण, मंत्र यांहींकरून स्त्रिया विरहित असून अनृताप्रमाणें अशुभ होत अशी शास्त्रमर्यादा आहे, तस्मात् यत्नेकरून रक्षण करावें.

तथा च श्रुतयो बहुव्यो निगीता निगमेष्वपि ॥

स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

स्त्रियांची व्यभिचारशीलता हा त्यांचा स्वभाव आहे असें जें सांगितलें त्याविषयीं श्रुतिप्रमाण देतो— बहुत श्रुतिवाक्यांत लिहिलें आहे कीं, ब्राह्मण आहों कीं अब्राह्मण आहों तें आहों जाणत नाहीं इत्यादिक स्त्रियांचा व्यभिचारपणा वेदांत सांगितला आहे, यामध्ये प्रायश्चित्तरूप ज्या श्रुति या तुहांकारणें सांगतो, श्रवण करा.

यन्मे माता प्रलुभे विचरंत्यपतिव्रता ॥

तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥

कोणी पुरुष मातेचा मानस व्यभिचार पाहून लणतो कीं, मन, वाणी, काय, कर्म यांहीकरून पतीला सोडून दुसऱ्या पुरुषाला जी स्त्री इच्छीत नाही ती पतिव्रता होय, याहून जी भिन्न ती अपतिव्रता (जारिणी) व्हायली आहे; माझी माता अपतिव्रता होऊन परपुरुषाचे ठायीं मनैकरून लुब्ध झाली, तस्मात्, परपुरुषाच्या संकल्पानें दुष्ट झालेलें असें मातेचें रजोरूप रेत माझा पिता शुद्ध करो. ह्या श्लोकरूप मंत्राचे पहिले तीन चरण स्त्रियांच्या व्यभिचारशीलतेचे बोधक आहेत. हा मंत्र चातुर्मास्य यागांत उपयुक्त केला आहे, एथें मानस व्यभिचाराविषयीं प्रायश्चित्तरूप सांगितला आहे.

ध्यायत्यनिष्टं यत्किंचित्पाणिग्राहस्य चेतसा ॥

तस्यैष व्यभिचारस्य निन्हवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

स्त्री, भर्त्याला अनिष्ट असें मानसिक परपुरुषगमन इच्छील तर त्या मानसिक व्यभिचाराचें उत्तम प्रायश्चित्त हा पूर्वोक्त मंत्र होय असें मन्वादिकांनीं व्हायलें आहे, व हा प्रायश्चित्तरूप मंत्र पुत्रासच विहित आहे, मातेस नाही.

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ॥

तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणैव निम्नगा ॥ २२ ॥

हीन अथवा उत्कृष्ट अशा ज्या प्रकारच्या भर्त्यासहवर्तमान स्त्रीचा यथाविधि विवाह होतो तदनुरूप (भर्त्यासारखी गुणी) स्त्री आपण होते, जैसी मधुरोदका नदी समुद्राला मिळाली असतां क्षारोदका होते.

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ॥

शारंगी मंदपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥

अधम योनीपासून झालेली असी अक्षमालानामक स्त्री वसिष्ठानें वरिली, आणि मंदपाल ऋषीनें शारंगी (चटका) वरिली अशा ह्या दोन्ही स्त्रिया निकृष्ट योनीतल्या असून पूजित झाल्या.

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नप्रकृष्टप्रसूतयः ॥

उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥

ज्ञा व इतरहि स्त्रिया नीच योनीपासून उत्पन्न झालेल्या असून आपआपल्या भर्त्याच्या गुणांनीं इहलोकीं उत्कर्षाला पावलेल्या बहुत आहेत.

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ॥

प्रेत्येह च सुखोदकान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

असा हा स्त्रीपुरुषविषयक लोकाचार स्त्रीपुरुषांला नित्य कल्याणकारक सांगितला. आतां इहलोकीं व परलोकीं पुढें सुखप्राप्तीला कारण असे जे प्रजाधर्म ते सांगतों, श्रवण करा.

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ॥

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

जरी स्त्रियांचे रक्षणार्थ दोष बहुत आहेत तथापि गृहाचेठायीं त्या पुरुषांला मोठ्या उपकारकारक, प्रजोत्पादनाविषयी भाग्यवती, वस्त्रालंकारादि दानेंकरून पूजेला योग्य, व गृहाची शोभा करणाऱ्या स्त्रिया व लक्ष्मी आहेत, या उभयतांमध्ये कोणताहि विशेष (आधिक्य) नाही, दोनही समान आहेत.

उत्पादनममत्वस्य जातस्य परिपालनम् ॥

प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबंधनम् ॥ २७ ॥

पुत्र व कन्या यांची उत्पत्ति; उत्पन्न झाल्याचें रक्षण; प्रतिदिवशीं अतिथि, इष्टमित्र यांचा भोजनादिकेंकरून सत्कार करणें या सर्व कार्यांला प्रत्यक्ष आदिकारण स्त्री आहे.

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ॥

दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

संतति, धर्मकार्ये (अग्निहोत्रादिक), सेवा, उत्तमरति, आणि पितरांचा व आपला स्वर्ग हीं सर्व स्त्रियेच्या आधीन आहेत.

पतिं या नाभिश्चरति मनोवाग्देहसंयता ॥

सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥

मन, वाणी, देह यांहींकरून संयत (दोषरहित), आणि आपल्या पतीचा त्याग करून परपुरुषाचा संयोग नी स्त्री करित नाही ती भर्त्यासहवर्तमान स्वर्गलोकांप्रत पावते व इहलोकीं शिष्ट लोक तिला साध्वी असें हणतात.

व्यभिचारान्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निंदितां ॥

सृणालयोर्नि चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

भर्त्याच्या व्यभिचारानें हणजे परपुरुषसंपर्कानें स्त्री लोकांचेठायीं निंदित होऊन अंती कोल्याचे योनीप्रत पावते, आणि पापरोगांनीं पीडित होते.

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वज्ञैश्च महर्षिभिः ॥
विश्वज्ञान्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥

प्राचीन अशा मन्वादिक महर्षींनी पुत्राला उद्देशून सांगितलेला असा हा (पुढे सांगा-
वयाचा) सर्व जनांचे हित करणारा धर्म सांगतो, श्रवण करा.

भर्तुः पुत्रं विज्ञानंति श्रुतिद्वेधं तु भर्तरि ॥
आहुस्तपादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

भर्त्याचा पुत्र आहे असे ऋषि मानतात, भर्त्याविषयी दोन प्रकारची श्रुति आहे.
ती अशी— ज्याचे बीज त्याचा पुत्र असे कोणी सांगतात, आणि ज्याचे क्षेत्र त्याचा पुत्र
असेही कोणी म्हणतात.

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ॥
क्षेत्रबीजसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

क्षेत्रभूत स्त्री आहे, आणि बीजरूप पुरुष आहे याकरितां क्षेत्रबीजसंयोगेकरून सर्व
प्राण्यांची उत्पत्ति होते.

विशिष्टं कुत्रचिद्वीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ॥
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

कचित् ठिकाणी बीज प्रधान होते, कचित् ठिकाणी योनि प्रधान होते, जेव्हां दोन
समान होतात तेव्हा ती संतति बहुत उत्तम होते.

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुल्लुपमुच्यते ॥
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

बीज आणि योनि ह्या दोहोंमध्ये बीज श्रेष्ठ आहे; कारण, सर्व जीवांची उत्पत्ति बीजा-
च्या लक्षणांनी (वर्णस्वरूपादि चिन्हांनी) लक्षित आहे.

यादृशं नृपते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ॥
तादृगोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यजितं गुणैः ॥ ३६ ॥

ज्या जातीचे बीज (बीजादि) ग्रीष्मादिकालीं वृष्ट्यादिकांनीं संस्कृत अशा क्षेत्रीं पेरिले
जाते तसे ते आपल्या वर्णादिक गुणांनीं युक्त असे त्या क्षेत्रांत उत्पन्न होते.

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ॥
न च योनिगुणान्कांश्चिद्वीजं पुण्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥

पार्थिवप्राणे भन्वयप्रकाराने बीजाचे प्राधान्य दाखवून व्यतिरेकमुखेकरून दाख-
विण्याकरितां सांगतो—पंचभूतांपासून आरंभ करून जितकी भूतें (जीव) आहेत त्यांची
नित्य योनि (कारण) क्षेत्र आहे; आणि बीज पुष्टीचे ठायीं कोणत्याही योनिगुणाची

(भूम्याख्य योनिधर्माची) अपेक्षा करीत नाही, याकरितां बीजच प्रधान आहे, क्षेत्र प्रधान नाही.

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ॥

नानारूपाणि जायंते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

एकाहि क्षेत्रांत पेरण्याच्या समयीं कृषीवलानीं (शेत करणारांनीं) यव, गहू इत्यादि बीजे पेरिलीं असतां तीं आपापल्या स्वभावाकळून नानारूप उत्पन्न होतात. भूमि तर एकरूप आहे परंतु बीज एकरूप होत नाही, याकरितां बीजच प्रधान आहे.

ब्रीहयः शालयो मुद्रास्तिला माषास्तथा यवाः ॥

यथा बीजं प्ररोहंति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥

ब्रीहि (षष्टिक), शालि (कलमादिक,) मूग, तिल, माष (उडीद), यव, लसुण, ऊस, हीं सर्व जसीं पेरावीं तसीं उत्पन्न होतात.

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ॥

उप्यते यद्धि यद्वीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

पेरिलें एक आणि उत्पन्न झालें निराळें, ह्मणजे ब्रीहि पेरिले असतां मूग उत्पन्न झाले असें होत नाही, तर जें बीज पेरावें तेंच उत्पन्न होतें.

सत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ॥

आयुष्कामेन वस्रव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥

क्षेत्र प्रधान आहे असें सांगितलें याकरितां नम्र, उत्तम ज्ञाता, ज्ञान (वेद), विज्ञान (व्याकरणादि वेदांगें) यांतें जाणणारा व आयुष्याची इच्छा करणारा अशा पुरुषानें परस्त्रीचे ठायीं कदापि बीजारोपण करूं नये.

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ॥

यथा बीजं न वस्रव्यं पुंसां परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

परस्त्रीचे ठायीं बीजारोप करूं नये या अर्थाविषयीं प्राचीन काल जाणणारे ऋषि वायूनें सांगितलेल्या गाथा (छंदोविशेषयुक्त वाक्यें) कथन करीत आहेत.

नृश्यतीषुर्यथा विद्धः खेविद्धमनुविध्यतः ॥

तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

आकाशाचे ठायीं बाण मारून विद्ध केलेल्या पक्ष्याला पुनः बाण मारून वेध करणाऱ्या अन्य पुरुषाचा बाण जसा व्यर्थ होतो, ह्मणजे प्रथम ज्यानें वेध केला त्याला जसा मृग प्राप्त होतो, त्याप्रमाणें परस्त्रीचे ठायीं बीज नाश पावतें, ह्मणजे ज्याची स्त्री त्याला अपस-
लाभ होतो.

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्या पूर्वविदो विदुः ॥

स्थानुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्पवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

ही पृथ्वी पूर्वी पृथुराजाने प्रथम ग्रहण केली. नंतर अनेक राजांचा संबंध झाला असता ही पृथ्वी पृथुराजाची भार्या आहे असे अतीत काल जाणणारे ऋषि मानतात. ज्याने उंच नीच भूमि सम केली त्याचे ते क्षेत्र होते. ज्याने प्रथम बाण मारून मृगवध केला त्याचा मृत झालेला पक्षी होतो असे पूर्वकाल जाणणारे ऋषि ह्मणतात, यास्तव पूर्वी ज्याने पाणि-ग्रहण केले तो तिचा स्वामी होतो ह्मणून त्याचेच ते अपत्य होते, उत्पादकाचे होत नाही.

एतावानेव पुरुषो यज्ज्ञायात्मा प्रजेतिहि ॥

विप्राः प्राहुस्तथा चैतदो भर्ता सा स्मृतांगना ॥ ४५ ॥

एकच पुरुष होत नाही, तर भार्या, आपला देह, अपत्य (पुत्र, कन्या), हीं सर्व मिळून पुरुष असे ह्मणतात, असे ब्राह्मणांनी सांगितले आहे, जो भर्ता ती भार्या असे ऋषि ह्मणतात.

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ॥

एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्भितम् ॥ ४६ ॥

निष्क्रय (विक्रय) आणि त्याग यांहींकरून स्त्री भर्त्याच्या भार्यात्वापासून (भार्यात्व-धर्मापासून) सुटत नाही, असे पूर्वी ब्रह्मदेवाने धर्माचा निर्णय केला असे सर्व आह्मी जाणतो असे मनूने सांगितले. तस्मात् परस्त्री मौल्यादिकेकरून आपलीशी करून तिचे ठायीं जे अपत्य उत्पन्न होते ते क्षेत्रीचे, बीजीचे नव्हे.

सरुदंशो निपतति सरुत्कन्या प्रदीयते ॥

सरुदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सरुत् ॥ ४७ ॥

पित्रादिकधनविभाग आत्यांचा एकवेळ होतो, पित्रादिकांनी कन्या एकवेळ दिली जाते, एकाला दिलेली कन्या पुनः दुसऱ्याला दिली जात नाही, गाय इत्यादि द्रव्यांचे दान एक वेळ होते, तस्मात् हीं तीन, साधूंचीं एकेक वेळ होतात.

यथा गोष्वोष्टासीषु महिष्यजाविकासु च ॥

नत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्यांगनास्वपि ॥ ४८ ॥

गाय, अश्व, उंट, दासी, हस, शेळी, मेंढी यांचे ठायीं आपले बैल इत्यादिक योजून त्यांपासून वत्स उत्पन्न करविणारा स्वामी जसा त्या संततीचा विभागी होत नाही, तेद्वत् परस्त्रीचे ठायीं प्रजा उत्पन्न करणारा त्या प्रजेचा विभागी होत नाही.

ये क्षेत्रिणो बीजवंतः परक्षेत्रप्रवापिणः ॥

ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥

दुसऱ्याच्या क्षेत्रांत बीज पेरणारे जे त्याला त्या बीजाचे फल कदापि प्राप्त होत नाही.

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ॥

गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कंदितमार्षभम् ॥ ५० ॥

दुसऱ्याच्या गार्गीचे ठायीं दुसऱ्याच्या बैलानें शंभर जरी वत्स उत्पन्न केले तथापि ते सर्व वत्स गावीच्या स्वामीला मिळतात, आणि बैलाचें वीर्य व्यर्थ होतें.

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ॥

कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥

त्या प्रकारें दुसऱ्याच्या क्षेत्रांत जे बीज पेरितात ते क्षेत्रस्वामीचा अर्थ (कार्य) कारितात, बीजपेरणाऱ्याला फलप्राप्ति होत नाही.

mit. 1.10.5.

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ॥

p. 94.

प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजादो निर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

ह्या स्त्रीपासून जें अपत्य उत्पन्न होईल तें तुझें व माझें असें दोघांचें असो, याप्रमाणें मनांत फलेच्छा धरल्यावांचून जें अपत्य उत्पन्न होतें तें क्षेत्रीचें, बीजीचें नव्हे, कारण, बीजाहून योनि (क्षेत्र) श्रेष्ठ आहे.

mit. 1.10.4.

p. 94.

क्रियाभ्युपगमाच्चेतद्वीजार्थं यत्प्रदीयते ॥

तस्येह भामिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥

ह्या स्त्रीपासून जें अपत्य उत्पन्न होईल तें तुझें व माझें असें उभयतांचें असो, याप्रमाणें मनांत फलेच्छा धरून जें अपत्य उत्पन्न केलें त्याचे विभागी क्षेत्री, आणि बीजी असे दोघे होतात.

ओघवातात्तदं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ॥

क्षेत्रिकस्यैव तद्वीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

वायूनें उडून अथवा उदकप्रवाहानें वाहून आलेलें बीज ज्याचे क्षेत्रांत पडेल त्याला त्याचें फल मिळेल, ज्याचें बीज त्याला फल मिळणार नाही.

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ॥

विहंगमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥

गाई, अश्व, दासी, उंट, बकरी, मेंढी, पक्षी आणि हलशी यांच्या उत्पत्तीविषयींहि हाच निर्णय जाणवा.

एतद् सारफलुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

भृगु ह्मणतो, हे ऋषिहो, बीज व योनी यांचें प्राधान्य आणि अप्राधान्य तुझाला सांगितलें, यानंतर स्त्रियांचे आपत्तिकालिक धर्म तुझाला सांगेन.

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्याया गुरुपत्न्यनुज्ञस्य सा ॥

यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठ भ्रात्याची जी स्त्री ती कनिष्ठ भ्रात्याची गुरुपत्नी जाणावी, आणि कनिष्ठभ्रात्याची जी स्त्री ती ज्येष्ठ भ्रात्याची स्नुषा (सून) असी मुनींनीं ह्मटली आहे.

ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ॥

पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

आपत्काल व पिता इत्यादिकांची आज्ञा हीं नसतां ज्येष्ठ भ्रात्याच्या स्त्रियेप्रत कनिष्ठ भ्राता गमन करील आणि कनिष्ठ भ्रात्याच्या स्त्रियेप्रत ज्येष्ठ भ्राता गमन करील तर ते दोघेहि भाते पतित होतात.

देवराद्वा सर्पिंडाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ॥

*Mik. p. 194. 1-10-8.
p. 544. 40 57-68.*

प्रजेप्सिताधिगंतव्या संतानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥

संतति नसेल तर विधवा स्त्रीनें श्वशुर इत्यादिकांची आज्ञा घेऊन दिरापासून अथवा सर्पिंडापासून ईप्सित प्रजा उत्पन्न करावी.

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ॥

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥ ६० ॥

पिता इत्यादिकांनीं आज्ञा केलेला अशा पुरुषानें अंगाला घृत लावून मौनी होताता विधवा स्त्रीचेठायीं गमन करून एक पुत्र उत्पन्न करावा, दुसरा पुत्र कदापि उत्पन्न करूं नये.

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यंते स्त्रीषु तद्विदः ॥

अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यंतो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

एकपुत्रत्व व अपुत्रत्व हीं दोन समान होत असें कितीएक आचार्य मानितात. पिता इत्यादिकांचे आज्ञेकरून उत्पन्न झालेला जो पुत्र त्याचें प्रयोजन सिद्ध न मानणारे आणि पिता इत्यादिकांचे आज्ञेकरून पुत्रोत्पादनविधि जाणणारे अन्य आचार्य ते स्त्रियांचे-ठायीं दुसरा पुत्र उत्पन्न करणें हा धर्म होय असें मानितात.

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ॥

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

विधवेचेठायीं गर्भोत्पत्ति झाल्यानंतर ज्येष्ठ भ्रात्यानें गुरुप्रमाणें, कनिष्ठ भ्रात्याचे स्त्रीनें स्नुषेप्रमाणें परस्पर वर्तन ठेवावें.

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ॥

तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतरूपगौ ॥ ६३ ॥

पिता इत्यादिकांची आज्ञा घेऊन नियोगविधि सोडून स्वेच्छेनें ज्येष्ठ भ्राता कनिष्ठभ्रा-

तृपत्तीचेठायीं गमन करील अथवा कनिष्ठ भ्राता ज्येष्ठभ्रातृपत्नीचेठायीं गमन करील तर दोघेहि पातित होतील, ज्येष्ठ भ्राता स्नुषागामी होतो, व कनिष्ठ भ्राता गुरुपत्नीगामी होतो.

Min. p. 100.
2. 1. 18.

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ॥

अन्यस्मिन् हि नियुजाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥

नियोगाचा निषेध सांगतो— ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य यांनीं विधवा स्त्रीला अन्यांशीं (देवरादिकांशीं) संग करावयास योजूं नये; कारण, दुसऱ्याशीं संगत होण्याविषयी नियोग करणारे केवळ सनातन धर्माचा नाश करितात.

नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते कचिन् ॥

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

आणि ' अर्यमणं नु देवं कन्या अभिमयक्षत ' इत्यादि विवाहमंत्रांचेठायीं नियोगाचें विधान कोठेंहि सांगितलें नाहीं. तसेंच विवाहविधीचेठायींहि विधवेचा पुनर्विवाह सांगितला नाहीं.

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ॥

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

यास्तव विद्वान् द्विजांनीं हा नियोग केवळ पशुधर्म लणून निर्दिष्ट केला आहे. जेव्हां वेन राजा राज्य करित होता त्या वेळेस त्यानें मनुष्यांसहि हा निमेषधर्म चालू केला.

स महीमखिलां मुंजन् राजर्षिप्रवरः पुरा ॥

वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

तो राजर्षिमुख्य वेनराजा सकल पृथ्वीचा उपभोग करित असतां तो विषयलुब्ध होऊन वर्णांचा संकर करिता झाला.

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपातिकां स्त्रियम् ॥

नियोजयत्यप्यर्थं तं विगर्हति साधवः ॥ ६८ ॥

तेव्हां वेनाच्या वेळेपासून जो कोणी मोहानें (शास्त्राच्या अज्ञानानें) विधवेला संततीकरितां दुसऱ्याशीं (देवरादिकांशीं) संगत होण्यासाठीं नियुक्त करितो त्याची विद्वज्जन निंदा करितात.

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पातिः ॥

तामनेन विधानेन निजो विंदेत देवरः ॥ ६९ ॥

Comp. 175-176
Su. 175-176
188. नियोगाचा विधि आणि निषेध जो सांगितला त्याची व्यवस्था सांगतो,— जी कन्या वागदान करून कोणा एकाला दिली आणि विवाह तर तिशीं न होतां ती मृत झाल तर त्याचा जो सोदर भ्राता त्यानें पुढें (७० व्या श्लोकांत) सांगितलेल्या विवाहविधीकरून ती कन्या वरावी.

See Smritiksha
2 64

Min. p. 195. 1.10.10.

यथा विध्यधिगाभ्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचित्रताम् ॥

मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृद्वतावृतौ ॥ ७० ॥

दिरानें विवाहविधीकरून तिचा स्वीकार करून पवित्रतासहित, शुक्ल वस्त्र परिधान केलेली अशा कन्येप्रत प्रत्येक ऋतुकालीं एकवार गर्भोपत्तीपर्यंत गमन करावें. तिला जी संतति होईल ती ज्याला पूर्वी वाग्दत्त केली होती त्याची जाणावी.

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ॥

दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतं ॥ ७१ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यानें एकाला कन्या वाणीनें देऊन तीच कन्या पुनः दुसऱ्याला देऊं नये, कदाचित् देईल तर तो सहस्र पुरुषांच्या वधाचा दोष पावतो. सप्तपदी होण्याचे पूर्वी भार्यात्वधर्मनिष्पत्ति नसल्यामुळे दुसऱ्याला देण्याची शंका झाली असतां त्याविषयी निषेध करणारे हें वचन आहे.

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ॥

व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

निंदित (वैधव्यलक्षणयुक्त), व्याधिष्ठ, क्षतयोनित्वादिक अभिशापानें दूषित, अधिकांगादिगोपनरूप कपट करून दिलेली, अशा कन्येशीं यथाविधि विवाह झाला आणि सप्तपदीविधीचे पूर्वी दोष ज्ञात झाल्यास तिचा त्याग करावा, त्यापासून दोष नाही.

यस्तु दोषवर्ती कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ॥

तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य दोषयुक्त कन्या असतां दोष सांगितल्यावांचून तिचें दान करितो त्या दुरात्म्या कन्यादात्याचें तें दान व्यर्थ करावें, लग्नजे ती कन्या पुनः माघारें देऊन दुसरी कन्या वरावी.

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः ॥

अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यम् ॥ ७४ ॥

ज्या मनुष्याला देशांतरीं जाणें असेल त्यानें स्त्रियेची अन्नवस्त्राची सोई करून नंतर जावें; कारण, क्षुधेनें व्याकुळ होणारी स्त्री सुशीला जरी आहे तथापि परपुरुषाचें सेवन करील. याकरितां स्त्रियेच्या अन्नवस्त्राची सोई करून पतीनें प्रवासास जावें.

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ॥

प्रोषिते स्वविधायैव जीवेच्छिल्यैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥

स्त्रियेची उपजीविका करून पति प्रवासास गेला असतां स्त्रियेनें देहशृंगार, परगृही गमन इत्यादि वर्ज करून नियम धारण करून राहावें. उपजीविका केल्यावांचून पति प्रवासास जाईल तर सूत कांतणें, आणि अनिंदित कारीगरी इत्यादिक यांहींकरून तिणें आपली उपजीविका करावी.

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्याष्टौ नरः समाः ॥

विद्यार्थं षट् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

गुरुची आज्ञा संपादन करणें इत्यादि कार्याकरितां पति प्रवासांत गेला असतां आठ वर्षें, विद्येसाठीं अथवा कीर्तिसाठीं प्रवास करील तर सहा वर्षें, कामार्थ (अन्य स्त्रीच्या उपभोगार्थ) जाईल तर तीन वर्षें पतीची प्रतीक्षा करावी.

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषंतीं योषितं पतिः ॥

ऊर्ध्वं संवत्सराच्चेनां दायं हत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥

पतीचा विरोध करणाऱ्या स्त्रीची एक वर्षपर्यंत पतीने प्रतीक्षा करावी. त्यानंतरहि ती विरोध करील तर अलंकारादिक जें तिला आपण दिलेलें धन असेल तें तिजपासून घेऊन तिच्याशीं संभोग वर्ज्य करावा. अन्यवस्त्र तर तिला द्यावें.

अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ॥

सा त्रीन् मांसान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

नुगार खेळणें इत्यादिकानें प्रमत्त, मद उत्पन्न करणारें मद्यपान इत्यादिकानें मत्त, व्याधिष्ठ अशा पतीचा जी स्त्री अपमान करिते तिला पतीने तीन मासपर्यंत भूषणें, वस्त्रे देऊं नयेत, व तिशीं गमनहि करूं नये.

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ॥

न त्यागोस्ति द्विषंत्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ७९ ॥

वायु इत्यादिकानें उन्मत्त, पतित, नपुंसक, व्याधीनें बीजरहित, पापरोगी अशा पतीचा त्याग करणारी जी स्त्री-तिचा त्याग करूं नये, व तिचें धनहि घेऊं नये.

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ॥

व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंसाऽर्थग्री च सर्वदा ॥ ८० ॥

मद्यपान करणारी, दुराचरणी, प्रतिकूल आचरण करणारी, कुष्ठादि व्याधियुक्त, चाकरांला ताडन करणारी, आणि नित्य अति स्वर्च करणारी अशी स्त्री असेल तर ती अधिवेत्तव्या, सणजे दुसरी स्त्री करावी.

वैव्याह्रमेऽधिवेदाद्धे दशमे तु मृतप्रजा ॥

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥

बंध्या (निला संतति होत नाही ती), मृतप्रजा (जिची संतति मृत होते ती), आणि केवळ कन्या प्रसवणारी, अशी स्त्री असेल तर कर्मकरून आठव्या, दहाव्या, अकराव्या वर्षी दुसरी स्त्री करावी, आणि अप्रिय भाषण करणारी असेल तर तात्काळ दुसरी स्त्री करावी. अप्रिय भाषण करणारी परंतु पुत्रवती असेल तर दुसरी करूं नये.

या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः ॥

सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचिन् ॥ ८२ ॥

जी स्त्री रोगिणी आहे परंतु पतीचें हित करणारी, सुशील असी असेल तर तिची आज्ञा घेऊन दुसरा विवाह करावा, तिचा अपमान कदापि करूं नये.

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेदुषिता गृहात् ॥

सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥ ८३ ॥

जी अधिविन्ना (जिच्या पतीनें दुसरा विवाह केला ती) स्त्री क्रोधिष्ठ होऊन घरांतून निघून जाईल तर ती तत्काल घरांत रोधून ठेवावी, अथवा आपल्या पित्रादिकुलाच्या स्वाधीन करून ठेवावी.

प्रतिषिद्धापि चेद्यातु मद्यमभ्युदयेष्वपि ॥

प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दंड्या कृष्णलानि षट् ॥ ८४ ॥

क्षत्रियादिक स्त्री भर्ता इत्यादिकांनीं निवारित असतांही विवाहादि उत्सव कार्यांचे ठाणींहि निषिद्ध मद्यादिक प्राशन करील अथवा नृसादिक जनसमुदायस्थानीं गमन करील तर तिला राजानें ६ रती सुवर्णदंड करावा.

यदि स्वाश्व पराश्वेव विंदेरन् योषितो द्विजाः ॥

तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आणि वैश्य हे आपआपल्या वर्णांच्या स्त्रियांशीं व भिन्नवर्णांच्या स्त्रियांशीं विवाह करतील तर त्या स्त्रियांचें ज्येष्ठत्व, पूजा, आणि गृह हीं सर्व वर्णक्रमें-करून प्रधान होतात.

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् ॥

स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथंचन ॥ ८६ ॥

भर्त्याची शरीरसेवा, नित्यकर्म (भिक्षादान, अतिथिभोजन, होमद्रव्यसंपादन इत्यादि नित्य कर्म), हीं कामें सर्व वर्णांमध्ये आपल्या वर्णाची जी स्त्री असेल तिनें करावी, दुसऱ्या वर्णाच्या स्त्रियेनें करूं नयेत.

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया ॥

यथा ब्राह्मणचांडालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

आपल्या वर्णाची स्त्री समीप राहात असतां हीं दोन कामें अज्ञानेंकरून विजातीय स्त्रीकडून जी करवितो तो, जसा शूद्रापासून ब्राह्मणाचे ठायीं उत्पन्न झालेला ब्राह्मण चांडाल तसा होतो असें प्राचीन ऋषींनीं उक्त आहे.

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ॥

अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

कुल, आचार इत्यादिकाने उत्कृष्ट; सुरूप; आपल्या जातीचा; असा वर ज्या वेळीं मि-
लेल त्या वेळीं लहान जरी कन्या असेल (विवाहास योग्य जरी झाली नसेल) तथापि ती
त्या वराला विधिपूर्वक विवाह करून द्यावी.

काममामरणान्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि ॥

न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

ऋतुमतीहि कन्या मरणपर्यंत पितृगृही राहो, परंतु ती कन्या विद्यागुणहीनवराला
कदापि देऊं नये.

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यर्तुमती सती ॥

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्दिदेत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

(विवाहापूर्वीच) कुमारी ऋतुमती झाली असतां, (आपणाला देणारा जो पिता इ-
त्यादिक तो योग्य पतीस देतो किंवा कसें याची) तीन वर्षपर्यंत मार्गप्रतीक्षा करावी.
आणि (त्यानें कांहीं न केल्यास) त्यानंतर आपणास योग्य असा पति तिनें स्वतां वरावा.

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ॥

नैनः किंचिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥ ९१ ॥

आपला विवाह करण्यास पिता इत्यादिक दाता नसल्यामुळे अथवा असूनही त्यानें
देण्याची उपेक्षा केल्यामुळे जर कन्या आपण होऊन पतीला वरील तर तिला व तिनें
वरलेल्या पतीला यत्किंचित्हि पातक लागत नाही.

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ॥

मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥

स्वयंवरा (आपणच पतीला वरणारी) जी कन्या तिणें माता, पिता, भ्राता इत्यादि-
कांनीं पति वरण्याच्या पूर्वी जे दिलेले अलंकार ते घेऊं नयेत, त्यांचे त्यांना परत द्यावे,
न देईल तर ती (कन्या) चोर होईल.

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् ॥

स हि स्वाम्यादतिक्रामेदतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥

ऋतुमती कन्येशीं विवाह करणाऱ्या वराने कन्येच्या बापाला कन्यामौल्य देऊं नये;
कारण, तो कन्यापिता ऋतूच्या प्रतिरोधेकरून (लग्नाजे पूर्वी विवाह होता तर ऋतुकालीं
गर्भ धारण झाले असतें त्याचा प्रतिरोध केल्यामुळे) आपल्या स्वामिभावापासून हीन होतो.

त्रिंशद्वर्षोद्दिहेत्कन्यां दद्यां द्वादशवार्षिकीम् ॥

अष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मं सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

तीस वर्षांच्या पुरुषाने बारा वर्षांची आपल्या मनास आवडणारी असी कन्या वरावी,
किंवा चौवीस वर्षांच्या पुरुषाने आठ वर्षांची कन्या वरावी, लग्नाजे तो गृहस्थाश्रमधर्मा-

चरणास सत्वर योग्य होतो. हा योग्य काल सांगितला, नियमच आहे असे नाही. इतक्या काळांत वेदग्रहण समाप्त होतें, तस्मात् गृहस्थाश्रम करण्यास विलंब करूं नये.

देवदत्तां पतिर्भार्या विंदते नेच्छयात्मनः ॥

तां सार्धं विभूयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥

देवतांनी दिलेली कन्या पति भार्या करितो, आपल्या इच्छेनें माहीं, याकरितां देवतांच्या हिताची इच्छा करणारानें त्या साध्वी स्त्रीचें नित्य अन्नाच्छादनें करून पोषण करावें.

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः ॥

तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

गर्भाचें धारण करण्याकरितां स्त्रिया उत्पन्न केल्या, आणि गर्भ स्थापन करण्याकरितां पुरुष उत्पन्न केले, या कारणास्तव वेदांत स्त्रीपुरुषांचा साधारण धर्म सांगितला आहे, म्हणजे स्त्रीसहवर्तमान अग्निहोत्रादिक धर्म पतीनें आचरण करावे असें उक्त आहे.

कन्यायां दत्तशुल्कायां त्रियेत यदि शुल्कदः ॥

देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते ॥ ९७ ॥

कन्येचें मौल्य देऊन मौल्य देणारा वर (विवाहाच्या पूर्वी) मृत होईल तर त्याचे सोदर भात्याला ती कन्या द्यावी, परंतु कन्येची संमति असतां हा निर्णय जाणावा.

आददीत न शूद्रोपि शुल्कं दुहितरं ददन् ॥

शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

कन्या देणारा अशा शूद्रानेहि कन्येचें मौल्य घेऊं नये; कारण, कन्येचें मौल्य घेणारा पिता गुप्तपणानें कन्याविक्रय करितो.

एतनु न परे चकुर्नापरे जातु साधवः ॥ ९९ ॥

यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुत्ररन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥

एकाला कन्या द्यावयाला करून तिचें मौल्य घेऊन ती दुसऱ्याला देणें हें कर्म आचीन शिष्ट, विद्यमान शिष्ट व वर्तमानकालीन शिष्ट यांनीं कोणीही केलें नाही.

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ॥

शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

शुल्क नामक मौल्य घेऊन गुप्तपणानेंहि जो कन्याविक्रय करणें तो, कोणी साधु पुरुषानें केलेला, पूर्व जन्मांचेठायीं (पूर्व कल्पाचेठायीं) हि आह्मी कधीं श्रवण केलें नाही.

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणांतिकः ॥

एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥

भार्या आणि पति या दोघांचा धर्मार्थकामांचेठायीं आमरणांतपर्यंत परस्पर वियोग न व्हावा असा हा परमधर्म संक्षेपें करून जाणावा.

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ॥
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

विवाहित स्त्रीपुरुषांनीं धर्मार्थकामाविषयीं परस्परांचा वियोग न होईल असा नित्य यत्न करावा.

एषः स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ॥
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥

परस्परांच्या प्रीतीनें युक्त असा हा स्त्रीपुरुषांचा धर्म, आणि संतानाचा अभाव असतां आपत्कालीं अपत्यप्राप्ति हे दोन प्रकार सांगितले. यानंतर दायविभाग व्यवहार सांगतो, श्रवण करा. (दाय शब्देकरून जें द्रव्य, मालकीचेच नात्यानें दुसऱ्याचे सत्तेत येतें ते समजावें.)

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ॥

भजेरन् पतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

पिता आणि माता मृत झाल्यानंतर भावांनीं एकत्र मिळून यांचें धन समान वांटून घ्यावें. आईबाप जिवंत असतां पितृधनाचा विभाग करण्यास पुत्रांला अधिकार नाही.

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पितृयं धनमशेषतः ॥

शेषास्तमुपजीवियुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥

जर कदाचित् ज्येष्ठ पुत्र धार्मिक असेल तर ज्येष्ठपुत्राचेच बापाची सर्व जिंदगी घ्यावी, आणि इतर भावांनीं बापाच्या आज्ञेत राहिल्याप्रमाणें ज्येष्ठ भावाचे आज्ञेत राहून उपजीवन करावें.

Mit. p. 46.

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्रीभवति मानवः ॥

p. 4. 12.
म. 1. 5. 4. p. 39.

पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न झाल्यानें मनुष्य पुत्रवान् होतो, आणि पितरांच्या ऋणापासून मुक्त होतो, याकरितां ज्येष्ठ पुत्रच धन घेण्यास योग्य होतो.

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानंत्यमश्रुते ॥

स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥ १०७ ॥

१ नारद. जेथें पित्याच्या जिंदगीचा पुत्रांनीं विभाग केला जातो, ते दायविभाग ह्या नांवाचें व्यवहार प्रकरण झटलें आहे. तो दाय दोन प्रकारचा—अप्रतिबंध (सुडा) आणि संप्रतिबंध (अटकावलेळा) अप्रतिबंध दाय—पुत्राच्या व पौत्राच्या नात्यानें बापाचे धनावर व पितामहाचे धनावर सत्ता उत्पन्न होते ते धन. संप्रतिबंध दाय—सुडात, भाऊ इत्यादिकांचो पुत्राच्या अभावीं व मालकाच्या अभावीं सत्ता उत्पन्न होते झणून पुत्र विद्यमान असणें व मालक विद्यमान असणें हा (सुडते वगैरेच्या सत्तेविषयीं) प्रतिबंध आहे, त्यांच्या (पुत्र व मालक ह्यांच्या) अभावीं सुडतेपणा, बंधुत्व, ह्या संबन्धानें त्यांची सत्ता उत्पन्न होते ते धन.

जो ज्येष्ठ पुत्र झाला असतां पिता ऋणाचें शोधन करितो आणि मोक्षाला पावतो, धर्म-
करून जायमान (झालेला) ज्येष्ठ पुत्रच आहे, व इतर सर्व पुत्र कामांपासून झालेले होत
असे ऋषींनीं सांगितलें.

पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन् यवीयसः ॥

पुत्रवच्चापि वतैरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥

पिता जसे पुत्राचें (अनाच्छादनादिक देऊन) रक्षण करितो तद्वत् ज्येष्ठ भ्रात्यानें कनिष्ठ
भ्रात्यांचें पुत्राप्रमाणें रक्षण करावें, आणि कनिष्ठ भ्रात्यांनीं ज्येष्ठ भ्रात्याचे ठायीं पित्याप्रमाणें
धर्मार्थ वागावें.

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ॥

ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ १०९ ॥

अकृतविभाग असा ज्येष्ठ पुत्र जर धार्मिक असेल तर (कनिष्ठ भाते तदनुसरणानें धा-
र्मिक असल्यामुळें) तो कुलाची वृद्धि करितो, आणि जर तो ज्येष्ठ अधार्मिक असेल तर
(कनिष्ठ भाते तदनुयायी असल्यामुळें) कुलाचा नाश करितो. गुणवान् ज्येष्ठ, लोकांत
बहुत पूज्य व साधूंनीं अनिंदित होतो.

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ॥

अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बंधुवन् ॥ ११० ॥

जो ज्येष्ठ भ्राता कनिष्ठ भ्रात्यांचे ठायीं पित्याप्रमाणें वागतो तो कनिष्ठांला मातापित्याप्र-
माणें पूज्य आहे, आणि जो ज्येष्ठ तसा वागत नाही तो मातुलादिबंधूप्रमाणें पूज्य आहे.

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ॥

पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥

या रीतीनें (विभाग न करितां) सर्व भ्रात्यांनीं एकत्र रहावें, अथवा धर्मकार्य करण्याची
इच्छा असल्यास (विभाग करून) पृथक् राहावें. पृथक् राहिल्यानें धर्म (पंचमहायज्ञादिक
अनुष्ठानधर्म) वृद्धिगत होतो, यास्तव पृथक् पृथक् राहणें हें धर्मयुक्त आहे.

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्दरम् ॥

ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

सर्व समाधिक द्रव्यांतून ज्येष्ठाला विसावा अंश (शेंकडा ९) हा उद्धार (काढून ठेवलेला
अंश), व सर्व द्रव्यांत श्रेष्ठ असेल तें. मध्यमाला त्याचें अर्ध आणि कनिष्ठाला अर्धाचें
अर्ध याप्रमाणें जाणावें.

१ त्याचें षण्णजे शेंकडा पांचाचें अर्ध षण्णजे अडीच, द्वाप्रमाणेंच पुढें कनिष्ठाला अर्धाचें अर्ध षण्णजे
शेंकडा सवा.

See Mitakshara. अ. ११५.
p. 186. 1-2-4.

See अ. ४. ४-४-४. p. 34. ma.

कनिष्ठ भ्राता ज्येष्ठभ्रातृपत्नीचे ठायीं नियोगविधीने पुत्र उत्पन्न करील तर त्या क्षेत्रज पुत्राचा त्याच्या पुत्रांसहवर्तमान समविभाग करावा, त्याला ज्येष्ठपणाचा विभाग देऊं नये, याप्रमाणे धर्म व्यवस्थित जाणावा.

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ॥

पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥

जो प्रधान त्याला गौण करणे हा विचार धर्म्य नाही. उत्पत्तीविषयीं पिता प्रधान आहे, याकरितां धर्मकरून पित्याचें सेवन करावें.

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ॥

कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥ १२२ ॥

एका पुरुषाला दोन स्त्रिया आहेत आणि कनिष्ठ स्त्रीचे ठायीं प्रथम पुत्र झाला, नंतर ज्येष्ठ स्त्रियेला पुत्र झाला. तर अशा स्थानीं विभाग कसा करावा असा संशय असतां त्याचें समाधान पुढच्या श्लोकांत सांगेन.

एकं वृषभमुद्धारं संहरेते स पूर्वजः ॥

ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

प्रथम विवाहित जी स्त्री तिचे ठायीं नंतर झालेला जो पुत्र त्यानें एक श्रेष्ठ वृषभ उद्धार घ्यावा, आणि इतर भाते यांनीं त्या श्रेष्ठ वृषभाखेरीज कनिष्ठ वृषभ उद्धार घ्यावे. मातेच्या विवाहक्रमाने ज्येष्ठत्व जाणावें.

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेवृषभषोडश ।

ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

ज्येष्ठ स्त्रीला प्रथम पुत्र झाला असेल तर त्यानें पंधरा गाई व एक बैल याप्रमाणे घ्यावे. त्यानंतर इतर जे बहुत स्त्रींपासून झालेले पुत्र असतील त्यांनीं आपल्या मातेच्या विवाहक्रमें करून ज्येष्ठत्व पाहून इतर गाईचा विभाग करावा, असा शास्त्रनिश्चय आहे.

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ॥

न मातृतो ज्येष्ठयमस्ति जन्मतो ज्येष्ठयमुच्यते ॥ १२५ ॥

जे पुत्र समानजातीय स्त्रियांचे ठायीं उत्पन्न झाले असतील त्यांचे ज्येष्ठत्व, त्यांच्या मातांचे जे विवाहक्रम त्यांहींकरून नाही, तर जन्मकरून ज्येष्ठत्व जाणावें.

म.म. ४.४१.७३४ जन्मज्येष्ठेन चाव्हानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ॥

यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

ज्योतिष्टोम यज्ञांत वपाहोमानंतर स्वब्रह्मण्याख्य ह्मणून मंत्र आहे, तेणेंकरून इंद्राला आवाहन करितात, त्यांत जन्मकरून जो ज्येष्ठ त्यानें देवतेचें आवाहन करावें, तें असें कीं, अमुक पुत्राचा पिता यज्ञ करीत आहे, असें ऋषींनीं सांगितलें आहे. अतएव जावले जन्मले जे त्यांमध्ये प्रथम प्रसूत जो त्यास ज्येष्ठत्व संमत आहे.

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ॥

यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥

कन्यादानसमयीं जामाताबरोबर असा करार करावा कीं, मजला पुत्र नाही याकरितां या कन्येला जो पुत्र होईल तो माझे श्राद्धादिक और्ध्वदेहिक कर्म करणारा होईल. या विधीकरून कन्या पुत्र असी करावी.

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ॥

विवृद्धचर्यं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

पूर्वकालीं दक्षप्रजापतीनें आपल्या वंशाची वृद्धि होण्यासाठीं ह्या (पूर्वश्लोकांत सांगितलेल्या) विधीकरून पुत्रिका (कन्या) उत्पन्न केल्या.

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ॥

सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥

दक्षप्रजापतीनें प्रसन्नतेकरून सत्कारपूर्वक धर्माला १०, कश्यपाला १३, आणि सोमराजाला (चंद्राला) सत्तावीस याप्रमाणें कन्या दिल्या.

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ॥

तस्यामात्मनि तिष्ठत्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥

पत्नीच्या अभावीं कन्या जिंदगी घेईल ह्याविषयीं सांगतो:- जसा आत्मा तसा पुत्र आणि पुत्रासारखीच कन्या, अशी आत्मस्थानापन्न कन्या विद्यमान असतां अपुत्र पित्याचें धन कन्येवांचून दुसरा कसा घेईल ?

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ॥

दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥

मातेचें जें यौतक धन असेल तें माता मृत असतां कुमारीचाच (अविवाहित कन्यांचाच) भाग, पुत्राचा नाही, आणि पुत्ररहित मातामहाचें सर्व धन दौहित्रानें (कन्यापुत्रानेंच) ग्रहण करावें.

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ॥

स एव दद्याद्द्वौ पिंडौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

पुत्ररहित पुरुषाचें सर्व धन दौहित्रानें ग्रहण करावें, आणि दोन पिंड द्यावे, एक आपल्या पित्याला व एक मातामहाला, ह्मणजे पित्याचें व मातामहाचें सर्व और्ध्वदेहिक कर्म दौहित्रानें करावें.

१ विद्याहृदिसमयीं पतीसहवर्तमान स्त्री एकासनीं उपविष्ट असतां जें धन मिळतें तें यौतक होय. दंपतीस मिळतें तें यौतक असा निषट्ठ आहे, असें मद्भनाचें मत.

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोस्ति धर्मतः ॥ *of this same idea. See. Sh. 139. & in my MS. ably from Sh. 139. 53.*
तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥ *पुत्रेण तु स्वर्गादौ पौत्रो दौहित्रो माता*

पुत्राचा पुत्र व कन्यापुत्र यांविषयीं लोकांत धर्मकृत्याचे ठायीं विशेष नाही, दोघे समान होत; कारण, दोहोंमध्ये एकाचा पिता व एकाची माता ह्या दोघांची उत्पत्ति एकापासून आहे.

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ॥ *omit. p. 197.*
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ १३४ ॥ *1. 11. 23.*

पुत्ररहित पुरुषानें पुत्रिका (कन्या) पुत्र असी केल्यानंतर जर त्याला औरस पुत्र होईल तर विभागकार्य पुत्रिकेबरोबर औरस पुत्राला विभाग द्यावा. स्त्रियेला ज्येष्ठविभाग (उद्धाररूप) नाही; याकरितां ज्येष्ठपणाचा अंश पुत्रिकेला मिळणार नाही.

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन ॥
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥

पुत्ररहित पुत्रिका मृत झाली असतां तिच्या भर्त्यानेच तिचें धन ग्रहण करावें, याविषयीं कोणताहि विचार करूं नये.

अकृता वा कृता वापि यं विंदेत्सदृशात्सुतम् ॥ *omit. p. 2. 2. 6.*
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिंडं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

कन्या पुत्रस्थानीं मानलेली असो किंवा नसो तिला सवर्णापासून जो पुत्र होतो तेणें करून तो आईचा बाप पौत्रवान् होतो. तो पौत्र त्या मातामहाचें धन घेता व त्याला पिंड देणाराहि होतो.

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानंत्यमभुते ॥
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रह्मस्याप्नोति विष्टयम् ॥ १३७ ॥

पुत्र उत्पन्न झाल्यानें पिता स्वर्गादि लोकांप्रत पावतो, पौत्र झाल्यानें स्वर्गादि लोकांचे ठायीं चिरकाल राहतो, पुत्राला पौत्र झाल्यानें सूर्यलोकांप्रत पावतो.

पुनाम्नो नरकादस्माज्जायते पितरं सुतः ॥
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥

ज्या कारणास्तव पुनाम नरकापासून पुत्र पित्याचें त्राण (रक्षण) करिता, त्या कारणास्तव स्वतां ब्रह्मदेवानें पुत्र असा लढला आहे.

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ॥ *see above Sh. 133*
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रेन संतारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥

पौत्र (पुत्राचा पुत्र) आणि कन्यापुत्र यांमध्ये कोणताहि विशेष नाही, दोघे समान होत, कारण, कन्यापुत्र पुत्राच्या पुत्राप्रमाणें मातामहाला परलोकीं तारणारा होतो.

मातुः प्रथमतः पिंडं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ॥

द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥ १४० ॥

कन्यापुत्राने पहिला पिंड मातेला बावा, दुसरा पिंड मातेच्या पित्राला बावा, तिसरा पिंड मातेच्या पितामहाला बावा, पित्रादिकांस पिंड पितृक्रमाने द्यावे.

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्तमः ॥

स हरेतैव तद्विक्थं संग्रासोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥

ज्याचा दत्तकपुत्र अध्ययनादिक सर्व गुणांनी संपन्न असेल, मग तो परगोत्रजु जरी असला तथापि (औरस पुत्र असतांहि) त्याचे घनाचा भाग तो ग्रहण करील.

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्तमः सुतः ॥

गोत्ररिक्थानुगः पिंडो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ १४२ ॥

दत्तक पुत्र आपल्या जनकपित्याचे गोत्र व जिंदगी बांधाचा अधिकारी होत नाही. (तर ज्याचा दत्तक होतो त्याचे गोत्र व जिंदगी पावतो). तसेच पिंडदान (श्राद्धादिक) हि ज्याचे गोत्र व जिंदगी पावतो त्याच्या उद्देशेकरून करावे; कारण, देणारापासून स्वधा निवृत्त होते.

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्यात्तश्च देवरात् ॥

उभौ तौ नार्हतौ भागं जारजातककामजौ ॥ १४३ ॥

पिता इत्यादिकांचे आज्ञेवांचून देवरादिकांपासून विधवा स्त्रीने उत्पन्न केलेला जो पुत्र तो, आणि पुत्रसहित स्त्रीने श्वशुरादिकांचे आज्ञेवांचून देवरादिकांपासून उत्पन्न केलेला पुत्र हे दोघे धनविभागाला योग्य नाहीत; कारण, एक जारापासून उत्पन्न व दुसरा कामापासून उत्पन्न असे आहेत.

नियुक्तायामपि पुमान्भार्या ज्ञातोऽविधानतः ॥

नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४ ॥

नियुक्त स्त्रीचे ठायीं अविधीने उत्पन्न झालेला पुत्र क्षेत्रिक पितृधनाचा विभागी होत नाही; कारण, तो पुत्र पतितापासून उत्पन्न झालेला आहे.

क्षेत्रिकस्य तु तद्विजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥

ज्या प्रकारे औरस पुत्र पितृधन ग्रहण करितो त्याप्रमाणे, श्वशुरादिकांची आज्ञा घेऊन स्त्रीने नियोगविधीने उत्पन्न केलेला पुत्र क्षेत्रीचे धन ग्रहण करितो; कारण तो क्षेत्रस्वामीचेच बीज असून धर्मेकरून त्याची उत्पत्ति आहे.

धनं यो विभूयाद्भानुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ॥

सोऽप्यं भानुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

mit. p. 199.
219.

जो भ्राता मृत झालेल्या अपुत्र भ्रात्याची स्थावर जंगम जिंदगी, व स्त्री यांचे रक्षण करील त्याने त्याचे स्त्रीचे ठायीं नियोगधर्माने पुत्र उत्पन्न करून त्या पुत्राला ती सर्व जिंदगी द्यावी. (हा निर्णय विभक्तभ्रातृविषयक आहे.)

या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात् ॥

तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

श्वशुरादिकांची आज्ञा घेऊन जी स्त्री दिरापासून अथवा सपिंडापासून पुत्र उत्पन्न करील आणि तो पुत्र कामापासून उत्पन्न झालेला आहे असे श्रुत होईल तर त्याला धनविभाग मिळणार नाही; कारण, तो व्यर्थ उत्पन्न झालेला असे मन्वादिक ह्मणतात. नारदाने कामापासून उत्पन्न झालेल्या पुत्राचे लक्षण सांगितले आहे. ते असे—संभोगकालीं स्त्रीच्या मुखाला आपले मुख लावू नये, अंगाला अंग लावू नये, केवळ संभोग करून जो पुत्र उत्पन्न केला तो कामोत्पन्न नव्हे, तो संतानाला उपयुक्त होतो, याहून भिन्नरीतीने उत्पन्न झालेला पुत्र कामोत्पन्न झटला आहे.

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ॥

बन्धीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

हा जो धनविभागाचा प्रकार सांगितला तो एकयोनीचे ठायीं (ह्मणजे समान जातीच्या बहुत स्त्रियांचे ठायीं) जाणावा, आणि बहुत जातीच्या स्त्रियांचे ठायीं एकापासून उत्पन्न झालेले जे बहुत पुत्र त्यांचे विभाग पुढे सांगितल्याप्रमाणे जाणावे.

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः ॥

तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥

ब्राह्मणाला क्रमेकरून चारही वर्णांच्या स्त्रिया असतील तर त्या स्त्रियांचे ठायीं उत्पन्न झालेले जे पुत्र त्यांचे विभागाविषयी पुढे सांगितल्याप्रमाणे विधि जाणावा.

कनिशाशो गोवृषो यानमलंकारश्च वैश्य च ॥

विप्रस्योद्गारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

क्षेत्र (शेत) करणारा मनुष्य, माईकरितां राखून ठेवलेल्या बैल, यान (अश्वदिक, गाडी), अलंकार, गृह आणि जितके अंश असतील त्यांतील मुख्य एक अंश हे सर्व ब्राह्मणीपुत्राला उद्गार देऊन शेष द्रव्याचे विभाग पुढे सांगितल्याप्रमाणे करावे.

त्र्यंशं दायदरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुवः ॥

वैश्माजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र या चार वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं ब्राह्मणापासून झालेले जे पुत्र त्यांनीं क्रमेकरून तीन, दोन, दीड आणि एक याप्रमाणे अंश घ्यावे.

सर्वं वा रिक्त्यजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ॥

धर्मं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥

अथवा सर्वं द्रव्याचे दहा विभाग करून धर्म जाणणारानें पुढें सांगितल्या रीतीनें यथा-
शास्त्र विभाग करावे.

चतुरोऽश्वान् हरोदिप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः ॥

वैश्यापुत्रो हरेत् द्व्यंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५३ ॥

चार वर्णांच्या स्त्रियांचे पुत्रांनीं वर्णकर्मकरून चार, तीन, दोन, एक अंश ग्रहण करावे.

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् ॥

नाधिकं दशमाहद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ह्या तीन वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं ब्राह्मणापासून पुत्र झालेला असो किंवा नसो परंतु शूद्रवर्णाचे स्त्रियेच्या पुत्राला धर्मकरून दशमांश द्यावा, अधिक देऊ नये. ज्या ब्राह्मणाचा सजातीय पुत्र विद्यमान नसेल त्याचे धन क्षत्रिया व वैश्या यांचे पुत्रांनीं घ्यावे.

Am. 1.8.10.

Am. 4.4.29.

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्त्यभाक् ॥

यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धर्मं भवेत् ॥ १५५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ह्यापासून शूद्राचे ठायीं झालेला पुत्र विभागाचा अधिकारी होत नाही, जितकें त्याचे पिताने दिले असेल तितकें मात्र त्याचे धन होईल.

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ॥

उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांच्या समानवर्ण स्त्रियांचे ठायीं झालेले जे पुत्र त्यांनीं ज्येष्ठाला उद्धारांश देऊन बाकी राहिलेल्या धनाचे ज्येष्ठासहवर्तमान समान विभाग करावे.

शूद्रस्य तु सर्वेणैव नान्या भार्या विधीयते ॥

तस्यां जाताः समंशाः स्युर्वादि पुत्रशतं भवेत् ॥ १५७ ॥

शूद्राला सर्वर्णच स्त्री विहित सांगितली, उत्कृष्ट वर्णांतली किंवा नीच वर्णांतली विहित नाही, याकरितां सर्वर्ण स्त्रीचें ठायीं झालेले पुत्र शंभर जरी असतील त्यापि ते सर्व सम-
भागी जाणावे.

पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः ॥

तेषां षड् बंधुदायादाः षड्दायादबांधवाः ॥ १५८ ॥

ब्रह्मदेवाचा पुत्र जो मनु त्यानें मनुष्यांला वारा प्रकारचे पुत्र सांगितले, त्यांमध्ये पहिले सहा बंधु दायाद ह्मणजे वारस बंधु, आणि पुढले सहा वारस नसतां बंधु होत असें जाणावे.

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ॥

See mit. p. 197
I. 11.30.

गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बांधवाश्च षट् ॥ १५९ ॥

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ, अपविद्ध, हे सहा दायाद बांधव, हणजे वारस बंधु होत, हणजे गोत्र व धन ग्रहण करणारे होत.

कानीनश्च सहोदश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ॥

स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबांधवाः ॥ १६० ॥

कानीन, सहोद, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त, आणि शूद्रापुत्र हे सहा अदायाद बांधव; हणजे गोत्र व धन ग्रहण करणारे नसतां बांधव होत.

यादृशं फलमाप्नोति कुष्ठवैः संतरन् जलम् ॥

तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥

कुत्सित (फुटक्या) नौकेंत वसून जलातें तरणारा याला जसें फल (मज्जनरूप) प्राप्त होतें, तद्वत् क्षेत्रजादि कुपुत्रांनीं नरकाप्रत तरणारा याला परलोकीं दुःखरूप फल प्राप्त होतें.

यद्येकरिविधनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ॥

वस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्रूढीत नेतरः ॥ १६२ ॥

व्याधि इत्यादिकांच्या योगानें नष्टबीज झालेल्या पुरुषाच्या स्त्रीचे ठायीं पित्रादिकांच्या आज्ञेने पुत्ररहित देवरादिकानें पुत्र उत्पन्न केला, नंतर औषधादिकांचे योगानें तो पुरुष पुष्टबीज होऊन त्या पुरुषानें आपल्या स्त्रीचे ठायीं औरस पुत्र उत्पन्न केला, तेव्हां त्या पुरुषाचे धनाचे स्वामी (मालक) क्षेत्रज आणि औरस असे दोन पुत्र झाले, यांविषयीं मनु असें सांगतो कीं, ज्याचे बीजापासून जो पुत्र झाला त्यानें त्याचे धन व्यर्थ, दुसऱ्यानें घेऊं नये.

एक एवौरसः पुत्रः सित्यस्य वसुनः प्रभुः ॥ mit. p. 197
I. 11.33.

शेषाणामानृशस्यार्थं प्रदद्यान् प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥

व्याधि इत्यादिकांच्या योगानें प्रथम औरस पुत्र नसल्यामुळे क्षेत्रजादिक पुत्र केले, नंतर औषधोपचारानें व्याधि जाऊन औरस पुत्र झाला अशाविषयीं सांगतो:— एक औरस पुत्र मात्र पितृधनाचा मालक होतो, त्यानें दयेंकरून इतर पुत्रांस (क्षेत्रजव्यतिरिक्तांस) अन्नाच्छादन मात्र द्यावें.

१ यांचीं लक्षणें पुढें (१६५ व्या श्लोकापासून) समिल. २ शूद्रापुत्र, जो ब्राह्मणापासून विवाहित शूद्रेचे स्त्रीयां जन्मला तो अनुलोमज औरस पुत्र स्वरा, परंतु द्वादशविध पुत्रांतून अन्यतम असता त्याला पित्याची जिद्दी घेण्याचा अधिकार नाही, हणून ह्या प्रकरणीं मनें (औरस पुत्रांत अंतर्भाव न करितां) शेषाची निवेष्ट केली. ३ हें वचन दत्तकादिक पुत्र जर निर्गुण किंवा औरसाशीं प्रतिकूल असतील तर त्याविषयीं जाणवें.

mit. p. 197/39.
1. 11. 11.

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पितृकाङ्क्षनात् ॥
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पंचममेव वा ॥ १६४ ॥

औरस पुत्राने पित्याचे जिदगीचा विभाग करिते समयी क्षेत्रज पुत्रास पित्याच्या जिदगीतून सहावा किंवा पांचवा अंश द्यावा. (क्षेत्रज निर्गुण असतां सहावा अंश, गुणवान् असतां पांचवा अंश द्यावा.)

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ॥
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥

औरस आणि क्षेत्रज हे दोन पुत्र पितृधनाचे विभागी होत, इतर जे दत्तकादिक दहा पुत्र ते गोत्र व धन यांचे क्रमाने अधिकारी होत, असे जाणावे.

स्वक्षेत्रे संस्क्रुतायां तु स्वयमुत्पादयेद्दि यम् ॥
तमौरसं विज्ञानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

बारा प्रकारचे पुत्र सांगतो— विवाहसंस्कारयुक्त, सजातीय, अशा स्त्रीचे ठायीं आपण उत्पन्न केलेला जो पुत्र तो औरस पुत्र झटला आहे, हा सर्व पुत्रांमध्ये श्रेष्ठ आहे.

यस्तल्पजः प्रमीतस्य स्त्रीवस्य व्याधितस्य वा ॥
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥

नपुंसक, व्याधिष्ठ किंवा मृत झालेला अशा पुरुषाचे स्त्रीचे ठायीं धर्मकरून (नियोगाविधीकरून) पिता इत्यादिकांची आज्ञा घेऊन दारा इत्यादिकांनी जो उत्पन्न केला तो क्षेत्रज पुत्र झटला आहे.

mit. p. 196.
1. 11. 11.
dy. m. n. 5. 1. p. 39.

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापादि ॥
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्तमः सुतः ॥ १६८ ॥

मातेने किंवा पित्याने अथवा उभयतांनी परस्परांच्या समतीने आपत्कालीं प्रीतीने उदकदानपूर्वक जो सदृश (समान जातीचा) पुत्र ज्यास दिला जातो तो त्याचा दत्तक पुत्र जाणावा.

१. “मातेने किंवा पित्याने” अशा विकल्पावरून मातेच्या अभावीं पित्यानेच व पित्याच्या अभावीं मातेनेच, उभयतां असल्यास उभयतांनीहि द्यावा, असें मदनमोचने मत.

२ वचनांत “आपत्कालीं” असें झटल्यावरून आपत्काल नसल्यास पुत्र देऊं नये. हा निषेध देणारालाच पुरुषार्थ होय. (हृष्यजे ऐहिक दृष्टफल संपादन, प्रकृतीहि पुत्रसौख्यरूप दृष्टफल किंवा लोकनिंदा असें कोणी हणतात) कतूसाठीं (अदृष्टार्थासाठीं) नव्हे, असें विज्ञानेश्वराचें मत, परंतु हे (विज्ञानेश्वराचें) मत चांगलें नाहीं; कारण, ह्या निषेधास वचनेंकरून दृष्टफल सांगितलें नाहीं, अतएव हा कतूसाठीं (अदृष्टासाठीं) असें अवगत होतें, अथवा जरी महत्कष्टेकरून दृष्टार्थता सिद्ध केली तथापि “आपत्कालीं पुत्र-

सदृशं तु प्रकुर्यादं गुणदोषविचक्षणम् ॥

पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

समानजातीय, गुणदोष जाणणारा, पुत्रगुणांनीं युक्त अशा पुत्राला जो आपला पुत्र असा मानणें तो कृत्रिम पुत्र झटला आहे.

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ॥

स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

स्त्री नवऱ्याच्या घरीं असतां जो गुप्तपणानें होतो, परंतु निकृष्टजातीय नसून किंवा उत्कृष्टजातीय नसून हा अमुक पुरुषापासून झाला असा निश्चय नसतांही सवर्णापासून झालेला जो तो गूढज पुत्र झटला आहे. ज्याची स्त्री त्याचा तो पुत्र होतो.

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ॥

यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥

माता व पिता या दोघांनीं जो टाकिला अथवा दोघांतून कोणी एकांनै टाकिला असतां दुसऱ्यांनै कोणी घेतला जातो तो त्या घेणाराचा अपविद्ध पुत्र झटला आहे.

दान करावें," असा नियमविधि जो केला त्याचें दृष्ट फल तर संभवत नाहीं, अतएव अदृष्टफल अवश्य कृत आहे. झणून नियमविधीचें उल्लंघन केलें असतां कार्यविशेष झणजे नियमविधीपासून होणारें जें इष्ट त्याचें साधन जें अदृष्ट त्याची सिद्धि होणार नाहीं. कोणी झणतात कीं, " आपत्कालीं पुत्र द्यावा " ह्या वाक्यास आपत्काल नसतां पुत्र देऊं नये, असें निषेधार्थकत्व नाहीं. कारण, आपत्कालीं ह्या शब्दाचा जो अर्थ त्याचा त्याग व दुसऱ्या अर्थाची (झणजे आपत्काल नसतां अशी) कल्पना करावी लागते, असा परिसंख्यादोष येतो, झणून आपत्काल हा शब्द केवळ निमित्तमात्राचा बोधक (झणजे आपत्काल-निमित्त पुत्रदान) आहे. जर पुत्रदानाविषयीं आपत्काल निमित्त मानिलें तर आपत्कालीं पुत्र न दिल्यास दोष येईल, असें झणाल तर दोष नाहीं; कारण, हें मनुवाक्य संज्ञा व संज्ञी ह्यांचा परस्पर जो संबंध त्याचें बोधक आहे. आपत्काल प्राप्त असतां तन्निमित्त पुत्रदान करावें असें विधायक नाहीं.

१ नियमविधि झणजे कामतः प्राप्त जें काहीं एक कर्म त्याचा अमुक कालीं करावें असा अदृष्टार्थ जो नियम करणें तो. प्रकृतीं रागतः प्राप्त जें पुत्रदान त्याचा आपत्कालीं नियम केला.

२ परिसंख्याविधि झणजे काहीं एक विधि सांगितला असतां जेथें त्याचें स्वार्थी प्रामाण्य नसतां तद्विरुद्धार्थी प्रामाण्य असतें तो. अतएव परिसंख्यास्थलीं स्वार्थत्याग, प्राप्तबाध, परार्थकल्पना, असे तीन दोष येतात झणूनच नियमविधि संभवत असतां परिसंख्याविधि स्वीकारित नाहींत, प्रकृतीं हि " आपत्कालीं पुत्र द्यावा, " ह्या वाक्यांत स्वार्थत्याग झणजे आपत्काल शब्दाचा जो अर्थ त्याचा त्याग करून प्राप्त जो पुत्रदानविधि त्याचा बाध करून " आपत्काल नसतां पुत्र देऊं नये " अशी अनवार्थाची कल्पना करावी लागते असा परिसंख्यादोष येतो.

Mat. 1.1.7
p. 196

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ॥

तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोदुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥

पित्याचे घरीं कन्या अविवाहित असतां तिचे ठायीं एकांतीं जो पुत्र (सवर्णापासून) उत्पन्न झाला तो त्या कन्येशीं विवाह करणाराचा कानीन पुत्र झटला आहे.

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ॥

वोदुः स गर्भो भवति सहोद इति चोच्यते ॥ १७३ ॥

कन्या गर्भिणी आहे असें सर्वास ज्ञात असतां, अथवा गर्भिणी आहे हें सर्व जाणत नसतां जो त्या कन्येशीं विवाह करितो, नंतर तो जो त्या कन्येपासून पुत्र उत्पन्न होतो तो त्या कन्येशीं विवाह करणाराचा सहोदज पुत्र झटला आहे.

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमंतिकान् ॥

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ १७४ ॥

जो मातापित्यांनीं मिळून अथवा मातेनें किंवा पित्यानें पुत्रार्थं ज्याला जो विकला तो त्याचा क्रीतपुत्र झटला आहे. मग तो गुणांनीं सदृश असो अथवा असदृश असो; परंतु जातीनें सदृश जो तो मोल देणाराचा क्रीत पुत्र जाणावा.

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ॥

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥

Comp. with v. 1.1.7
p. 196
f. 88.

पतीनें टाकलेली स्त्री अथवा विधवा स्त्री आपल्या इच्छेनें दुसऱ्या पुरुषाची स्त्री होऊन त्या पुरुषापासून जो पुत्र उत्पन्न करिते तो उत्पन्न करणारीचा पौनर्भव पुत्र झटला आहे.

सा चेदक्षतेयोनिः स्याद्रतप्रत्यागतापि वा ॥

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

विवाहित स्त्री पुरुषसंभोगानें दूषित न होतां दुसऱ्या पुरुषाचा आश्रय करील तर ती त्या पुरुषासहवर्तमान पुनर्विवाहसंस्काराला योग्य होते, अथवा कौमार पति सोडून दुसऱ्या पुरुषाचा आश्रय करून पुरुषसंभोगानें दूषित न होतां पुनः कौमार पतीचा आश्रय करील तर पुनः त्या पतीसह विवाहाला योग्य होते.

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ॥

आत्मानं स्पर्शयेद्यस्यै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ १७७ ॥

जो मातापितृविहीन किंवा माता पिता जीवंत असतां त्यांनीं कारणावांचून टाकिलेला, असा असून मी तुझा पुत्र होतो असें बोलून स्वतां जो पुत्र झाला तो त्याचा स्वयंदत्त पुत्र झटला आहे.

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ॥

स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

विवाहित शूद्रवर्णाच्या स्त्रीचे ठायीं ब्राह्मणापासून जो पुत्र कामेकरून उत्पन्न झाला तो जीवंत असतांहि शबतुल्य होय याकरितां हा ह्या ब्राह्मणाचा पारशव पुत्र झटला आहे.

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ॥

सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

दासीचे ठायीं अथवा दाससंबंधी दासीचे ठायीं शूद्रापासून उत्पन्न झाला जो पुत्र तो पित्याचे आक्षेपकरून अंश पावेल, व ही धर्मव्यवस्था निश्चित जाणावी.

क्षेत्रजादीन् सुतानेनानेकादश यथोदितान् ॥

पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥

क्षेत्रज इत्यादिक जे अकरा पुत्र ते पिंडदानादिक श्राद्धक्रिया आणि पुत्रोत्पादनविधि यांचा लोप न व्हावा याकरितां पुत्रप्रतिनिधि (पुत्रस्थानापन्न) होत असें ऋषि झणतात.

य एनेऽभिहिताः पुत्राः प्रसंगादन्यबीजजाः ॥

वस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

अन्यबीजोत्पन्न असे हे जे क्षेत्रजादिक पुत्र, औरसपुत्रप्रसंगानें सांगितले ते ज्याचे बीजापासून उत्पन्न झाले त्याचे होतात, क्षेत्री इत्यादिकांचे होत नाहींत.

भानृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान् भवेत् ॥

सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥

सौंदर आल्यांत एक जरी भाता पुत्रवान् होईल तरी त्या पुत्रेकरून सर्व सौंदर भाते पुत्र-वंत होतात, असें मनु बोलता झाला. तस्मात् भातपुत्र असेल तर दुसरा पुत्र करूं नये, पिंड देणारा, द्रव्य घेणारा तोच अधिकारी जाणावा.

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्रिणी भवेत् ॥

सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥

एका पुरुषाच्या बहुत स्त्रिया असतां त्यातून एक जरी पुत्रवती असेल तथापि त्या पुत्रे-करून त्या सर्व सपत्नी पुत्रवती होतात असें मनु सांगतो.

श्रेयसः श्रेयसो लाभे पापीयान् रिक्थमर्हऽन्ति ॥

बहवश्चेन्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥

औरसादिक बारा प्रकारच्या पुत्रांमध्ये पूर्वपूर्वाचा अभाव असतां पुढचा पुढचा धनाधिकारी होतो. बहुत पुत्र समान असतील तर सर्व धनाधिकारी होतील.

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पिनुः ॥

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥

पुत्रच पित्याची निंदगी घेण्याविषयी अधिकारी होतात, सौंदर भाते होत नाहींत, पितर (आईबाप) ही अधिकारी होत नाहींत. पुत्र मसल्यास पिता, भाता हे द्रव्याधिकारी होतात.

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिंडः प्रवर्त्तते ॥

चतुर्थः संप्रदातैषां पंचमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

पिता, पितामह, प्रपितामह ह्या तिघांला पिंड आणि उदक दावें. यांला उदक पिंड देणारा हा चौथा, पांचवा कोणी नाही.

अनंतरः सर्पिंडाद्यस्तस्य तस्य धनं हरेत् ॥

अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥

सर्पिंडांमध्ये (सप्तपुरुषांमध्ये) मृत झालेल्याचा जो जो सन्निहित (नात्यानें जवळ) असेल तो जिंदगी घेईल. सर्पिंड नसेल तर सकुल्य (सात पुरुषांपलिकडचा) जिंदगी घेईल. त्याच्या अभावीं आचार्य, त्याच्या अभावीं शिष्य हे सर्व क्रमैकरून जिंदगी घेतील.

Mik. p. 205.

II. 7-4.

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ॥

त्रैविद्याः शुचयो दांतास्तथा धर्मो न हीयते ॥ १८८ ॥

सर्व वारसांच्या अभावीं त्रैविद्य (तीन वेदांचें अध्ययन करणारे), शुचिर्भूत, जितेंद्रिय, असे ब्राह्मण जिंदगीचे वारस होत, असें झालें असतां मृताच्या श्राद्धादि धर्माची हानि होत नाही.

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञां नित्यमिति स्थितिः ॥

इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥

राजानें ब्राह्मणद्रव्य कधीही हरण करूं नये, अशी शास्त्रमर्यादा आहे. इतर क्षत्रियादि सर्व वर्णांची जिंदगी सर्व वारिसांच्या अभावीं राजानें घ्यावी.

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ॥

तत्र यद्विक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

अपुत्र मृत झालेल्याच्या स्त्रीनें नियोगधर्मानें दिरापासून अथवा सर्पिंडापासून पुत्र उत्पन्न करावा, आणि मृताचें जें द्रव्य (जिंदगी) असेल तें त्या पुत्राला दावें.

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ॥

तयोर्यदस्व ग्निव्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥

एका स्त्रीला दोन पुरुषांपासून दोन पुत्र होतील, आणि ते दोघे मातेचें धन घेण्याकरितां विवाद करितील तर ज्याच्या पित्यानें त्या स्त्रियेला जें दिलें असेल तें त्यानें घ्यावें, दुसऱ्या पुत्रानें घेऊं नये.

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ॥

मतेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥

जननी (माता) मृत झाली असतां तिची जिंदगी सर्व सहोदर भाव्यांनीं सारखी वांटून घ्यावी, व सोदर बहिणींनींहि समान वांटून घ्यावी.

See his explanation.
Mik. p. 205.
1. 11. 20.
1. 11. 20. 13.

Mik. p. 205.
2. 4. 3.
This has a reference to the King
and the eldest son of a Brahman
in also 205. p. 205.

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ॥

Mr. L. p. 211. ०५ म. प. ६१. ५. १०. १६.
2. ११. १७.

मातामह्या धनात् किञ्चित् प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥

उया कन्यांच्या कन्या अविवाहित विद्यमान असतील त्यांलाहि मातामहीच्या धर्नातून संतोषाने यथाशक्ति कांही तरी द्यावे.

अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ॥

Mr. L. p. 209.
2. ११. ५.

भ्रातृमातृपितृप्राप्तं पद्धिं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

०५ म. प. ५९. १५. १९४.

स्त्रीधनाचे प्रकार सांगतो—अध्यग्नि, अध्यावहनिक, प्रीतिदत्त, तसेच भ्राता, माता, व पिता द्यापासून मिळालेले असे सहा प्रकारचे स्त्रीधन मन्वादिकांनीं सांगितले आहे.

अन्वाधेयं च यद्वत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ॥

०५ म. प. ६१. ५. १०. १३.

पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥

अन्वाधेयक द्रव्य आणि नवऱ्याने संतुष्ट होऊन जें दिलें द्रव्य तें ती मृत झाल्यानंतर पति जीवत असताहि तिच्या अपत्यांनीं घ्यावे.

ब्राह्मदैवार्थगांधर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ॥

Mr. ०५ म. प. ६३. ५. १०. २९.

अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्य, गांधर्व, आणि प्राजापत्य ह्या विवाहांत मिळालेले स्त्रीधन, ती अनपत्य मृत असतां भर्त्यांचेच होय असे मन्वादिकांनीं सांगितले आहे.

यत्तस्याः स्वाद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ॥

Mr. ०५ म. प. ६३.

अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

आणि आसुर, राक्षस, पैशाच ह्या तीन विवाहांत जें तिला मिळालें असेल तें ती अनपत्य मृत झाली असता तिच्या मातापितरांनींच घ्यावे, भर्त्याने घेऊ नये.

स्त्रियास्तु यद्ववेदितं पित्रा दत्तं कथंचन ॥

Mr. L. p. 211.

2. ११. २२.

०५ म. प. ६३. ५. १०. १६.

ब्राह्मणी तद्वरेकन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

ब्राह्मणाला चार वर्णांच्या स्त्रिया विवाहित असतील त्यांमध्ये ब्राह्मणी स्त्रीला कन्यासंतति असेल आणि क्षत्रियादेक तीन वर्णांच्या स्त्रिया संतति व पति एतद्विरहित असतील व त्या

१ अध्यग्नि इत्यादिक स्त्रीधनाचे स्वरूप कात्यायन सांगतो—विवाहसमयी विवाहाप्रीच्या संनिध मामा इत्यादिकांनीं जें धन स्त्रियेस दिलें जातें तें अध्यग्नि. २ कन्येला माहेराहून सासऱ्यास नेतेसमयी जें धन मिळतें तें अध्यवाहनिक. (त्याळाच आदिग्न क्षणतात.) ३ पादबंधनिक तेंच प्रीतिदत्त; जेव्हा वधू सासू, सासरा यांचे पाया पडावयास जाते तेव्हा जें धन सासूसासऱ्यांनीं प्रीतीने दिलें तें प्रीतिदत्त. ४ द्यापासून क्षणजे द्या प्रत्येकापासून जें निरनिराळें मिळालेले असे तीन प्रकारचे जें धन त्याळाच सौदायिक झटले आहे. ५ वर जें स्त्रीधनाचे सहा प्रकार सांगितले ते सहा प्रकारांपेक्षा कमी प्रकार नाहींत असे समजण्यासाठी; केवळ सहा प्रकारांपेक्षा अधिक प्रकारचे स्त्रीधन नाहीं असे नाहीं.

६ विवाह झाल्यानंतर सासऱ्यांकडून अथवा माहेरच्यांकडून जें धन मिळतें तें अन्वाधेयक जाणावें.

स्त्रियांला कोणत्याहि प्रकारचें पित्यानें दिलेलें स्त्रीधन असेल तर त्या स्त्रिया मृत शाल्यानंतर तें धन ब्राह्मणी कन्येनें घ्यावें, किंवा तिच्या अपत्यानें घ्यावें.

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुंबाद्बहुमध्यगात् ॥ ८५-५ (p. 60) 4-10-8.

स्वकादपि च विच्छाद्वि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥

भाता इत्यादिक बहुत लोकांचें जें साधारण (सर्व कुटुंबाचें) द्रव्य असेल त्यांतून भार्यादिकांनीं अलंकारादिकांसाठीं घेऊं नये, आणि भर्त्यानें दिलेलें धनहि भर्त्याचे आज्ञेवांचून खर्च करूं नये. यावरून इतकें सुचविलें कीं हें स्त्रीधन नव्हे.

mit. p. 188. Math. 2. 1. 33.
p. 212.
4-10-10.
८५-५ p. 60.

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ॥

न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतति वै ॥ २०० ॥

पति जीवंत असतां जो अलंकार (दागिना) (पतीच्या मान्यतेनें) स्त्रियांनीं धारण केला असेल त्याचे विभागकालीं वारसांनीं वांटे करूं नयेत. जर ते वारिस वांटे करितील तर पतित होतील, ह्मणजे अधोगतीस जातील.

mit. p. 208

II. 10. 3.

८५-५ p. 63. 4. 11. 3.

अनंशौ ह्रीवपतितौ जात्यंधवधिरौ तथा ॥

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

नपुंसक, पतित (वाटलेला), जात्यंध, बहिरा, उन्मत्त, अज्ञान, मुका, हास व जे कोणी निरिन्द्रिय (ज्यांस इंद्रियें नाहीत ते, थोटे पांगळे इत्यादि) असतील त्यांसाठीं विभाग मिळणार नाही.

mit. II. 10. 5.

८५-५ p. 64. 4. 11. 7.

सर्वेषामपि तु न्याप्यं दातुं शक्या मनीषिणः ॥

ग्रासाच्छादनमत्यंतं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥

पूर्वश्लोकांत सांगितले जे नपुंसक इत्यादिक त्यांस वारिसदारानें यावज्जीवपर्यंत यथाशक्ति अन्नाच्छादन द्यावें, हें न्याप्य होय; जर न देईल तर तो पतित होईल.

यदर्थिता तु दारैः स्यात् ह्रीवादीनां कथंचन ॥

तेषामुत्पन्नतनुनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

नपुंसक इत्यादिक जे अनंश त्यांना विवाहाची इच्छा होईल तर विवाह करून यथायोग्य त्यांच्या स्त्रीचे ठायीं पुत्र उत्पन्न करवून त्या पुत्राला जिद्दीचा विभाग द्यावा.

See mit. 1. 4. 10.
on mit.

यार्त्तिकचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ॥

भागो यत्रीयसां तत्र यदि विद्वानुपालिनः ॥ २०४ ॥

१ तिच्या ह्मणजे कन्येच्या व जिचें धन तिच्या अशा दोन्ही संभवतात. जिचें धन तिचें अपत्य नसल्यास ब्राह्मणी कन्येनें घ्यावें. विकल्पापासूनहि हा अर्थ निघतो, व प्रत्यासत्ति न्यायेंकरूनहि येतो.

२ वात, कफ, पित्त, सन्निपात, महविश यांकडून पीडित झालेला (वेडा वगैरे) जो तो उन्मत्त.

पिता मृत शाल्यानंतर ज्येष्ठ भ्राता कनिष्ठांशीं अविभक्त होत्ताता आपल्या पराक्रमेकरून जे द्रव्य संपादन करील त्याचा विभाग विद्याभ्यास करणाऱ्या कनिष्ठ भ्रात्यांस प्राप्त होईल, अविद्वानांस नाही.

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ॥

समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०९ ॥

अविद्वान् भ्राते आईवापांचें द्रव्य न खर्चितां शेतकी वगैरेकरून धन मिळवितील तर त्या धनाचा विभाग सर्वांस समान मिळेल, असा निश्चय जाणावा.

म.प. ४६
क.म.

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ॥

मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

विद्याधन जे ज्याने विद्येवर मिळविलें असेल ते त्याचेंच. तसेंच मैत्र, वैवाहिक, आणि माधुपर्किक, हीं अविभाज्य होत, हणजे यांचा विभाग नाही, ज्याचीं त्यानेंच ध्यावीं.

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ॥

स निर्भाज्यः स्वकादंशान् किञ्चिद्वत्पोपजीवनम् ॥ २०७ ॥

सौंदर भ्रात्यांमध्ये जो भ्राता आपल्या कर्माविषयीं समर्थ असेल, आणि पित्याचे जिंदगीची इच्छा करित नसेल तर त्याला आपल्या अंशांतून कांहीं उपजीविन देऊन त्याला विभाग-रहित करावें, तेणेंकरून त्याचे पुत्र पुढें हिशाविषयीं विवाद करणार नाहीत.

म.प. ४७. ४७^४ अनुपपन्नं पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपाजितम् ॥

स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

मातापित्यांचें द्रव्य न खर्चितां मेहनतीने (चाकरी, युद्ध इत्यादिक करून) जें संपादन धन केलें त्याचा विभाग भ्रात्यांला देऊं नये, व विद्याधनहि देऊं नये.

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवान्नं यदाप्नुयात् ॥

न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमजितम् ॥ २०९ ॥

पितामहानें संपादिलेले द्रव्य कोणी हरण करील आणि तें पितामहाकडून हस्तगत न झालेले जर पिता हस्तगत करितो तर तें पित्याचें स्वसंपादित द्रव्य होतें, अतएव त्याची इच्छा नसल्यास पुत्रांला त्याचे वाटे मिळणार नाहीत.

विभक्ताः सह जीवंतो विभजेरप्नुनर्यादि ॥

समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

१ पराश्रमोजन करून जी विद्या दुसऱ्यापासून संपादिली त्या विद्येकडून मिळालेले जें तें विद्याधन झटले आहे. २ मित्रापासून मिळालेले तें मैत्र. ३ विवाहात मिळालेले तें वैवाहिक. ४ विवाहात मधुपर्कपूजासमयां मिळालेले तें माधुपर्किक.

This is explained in
Mut. p. 207. II. 9. 12.
Mayakha p. 55. 492

एक वेळ विभाग होऊन वेगळे झाले, नंतर पुनः स्वेच्छेने धन एकत्र करून एकत्र राहून पुनः विभाग करितील तर सर्वांचे समान विभाग होतील, ज्येष्ठ भ्रात्याला ज्येष्ठांश (उद्धार) मिळणार नाही.

in explanation. 27. 4. 457.
4. 9. 13.
in 27. 4. 227. 1. 9. 12.

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा ह्येतांशप्रदानतः ॥

म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

ज्या भ्रात्यांमध्ये कोणीएक वडील किंवा कनिष्ठ भ्राता विभागसमयी संन्यासादिक धारण करून आपल्या वांट्याला मुकेल अथवा एकादा मृत होईल तर त्याचा भाग लोपला जाणार नाही.

27. 4. 227.

27. 4. 227.

सौदर्या विभजेरस्तं समेत्य सहिताः समम् ॥

भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

तर सौंदर्य (सखे) भाते, आणि संसृष्ट (विभक्त होऊन पुनः एकत्र झालेले) भाते व सहोदर बहिणी, ह्या सर्वांनीं तो विभाग समान वांटून घ्यावा.

27. 4. 227.

27. 4. 227.

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभान् भ्रातृन् यवीयसः ॥

सो ज्येष्ठः स्यादभागश्च नियंतव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

जो ज्येष्ठभ्राता लोभाने कनिष्ठ भ्रात्यांशीं प्रतारणा करितो खाला विभागहीन करून राजांनीं खाला शिक्षा करावी.

27. 4. 227.

सर्व एव विकर्मस्था नार्हति भ्रातरो धनम् ॥

न चादत्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥

सर्व भाते विरुद्ध (जुगार, वेश्यागमन इत्यादि) कर्म आचरण करणारे असतील तर त्या सर्वांसहि जिंदगी मिळणार नाही. कनिष्ठ भ्रात्यांला विभाग दिल्यावांचून ज्येष्ठभ्रात्याने समाधिक द्रव्यांतून आपण विभाग घेऊं नये.

भ्रातृण्यविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ॥

न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन ॥ २१५ ॥

सर्व भाते पित्यासहवर्तमान एकत्र राहून द्रव्यसंपादन करितील तर विभागसमयी पित्याने विषम विभाग (न्यूनाधिक भाग) कदापि करू नये.

27. 4. 227.

27. 4. 227.

उर्ध्वं विभागाज्ज्ञातस्तु पित्र्यमेव धनं हरेत् ॥

संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

पुत्र विभक्त होऊन विभाग झाल्यानंतर पुनः पित्याला पुत्र होईल तर त्या पुत्राला आई-बापांचे जे धन ते मात्र मिळेल, अथवा पित्याशीं जे संसृष्ट (विभक्त होऊन पुनः एकत्र झालेले) असतील त्यांबरोबर विभाग घेईल.

333
mit p. 199.
p. 203-204
333
p. 203-204
p. 203-204
p. 203-204

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ॥

मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥

सत्तिरहित पुत्राची जिंदगी मातेने घ्यावी, मातेच्या अभावी पितामहीने घ्यावी.

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि ॥

पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

यथाशास्त्रविधीकरून ऋण व जिंदगी यांचा विभाग झाल्यानंतर जर काहीं आणखी मायिक द्रव्य समजण्यांत आलें तर त्याचा समान विभाग करावा.

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ॥

योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥

वस्त्र, वाहन, अलंकार, कृतान्न (ओदन, सक्तु इत्यादिक), उदक (विहीर, तलाव इत्यादि), स्त्रिया (दासी इत्यादिक), योगक्षेम (मंत्री, उपाध्यायादिक), आणि प्रचार (गृहादिकांत जाण्यायेण्याचा मार्ग), हीं अविभाज्य द्रव्ये मन्वादिकांनीं झटलीं आहेत.

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ॥

क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

क्षेत्रजादिक पुत्रांचा हा विभागाविधि क्रमेंकरून मी तुहांला सांगितला. यानंतर जुगाराचा धर्म श्रवण करा.

द्यूतं समाव्हयं चैव राजा राष्ट्रांनिवारयेत् ॥

राजांतरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिता ॥ २२१ ॥

द्यूत आणि समाव्हय हीं राजानें राज्यांत होऊं देऊं नयेत; कारण, हे दोनही दोष राजांचा नाश करणारे होत.

प्रकाशमेतत्तत्स्वरूपं यदेवनसमाव्हयौ ॥

तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

द्यूत, आणि समाव्हय हीं दोन प्रसिद्ध चोरी होय, याकरितां ह्या दोहोंचा समूळ नाश करण्याविषयीं राजानें यत्नसहित रहावे.

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ॥

प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञेयः समाव्हयः ॥ २२३ ॥

प्राणरहित जे कांसे इत्यादिक खांहीकरून लावलावून जो खेळ खेळतात तो लोकांत जुगार झटला आहे. प्राणसहित जे बोकड, मेंढे, टोणगे, घोडे यांच्या पैजा लावून परस्पर लढाया लावणें तो समाव्हय झटला आहे.

द्यूतं समाव्हयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ॥

तान्सर्वान्धातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

जुगार, किंवा पैज जो खेळेल किंवा खेळवील त्याचा आणि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांचीं चिन्हें धारण करणारे शूद्र या सर्वांचा राजानें नाश करावा.

कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषंडस्थांश्च मानवान् ॥

विकर्मस्थान् शौडिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥

जुगार इत्यादिक खेळणारे, नर्तक, गायक, क्रूर, पाखंडी, निंदकर्म करणारे, आणि मद्य करणारे, या मनुष्यांला नगरांतून राजानें त्वरित हांकलून लाववावें.

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ॥

विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

हे जुगारी इत्यादिक पूर्वोक्त सर्व, राष्ट्रांत गुप्त चोर होत; कारण, हे नानाप्रकारचीं दुष्ट कर्मे करून लोकांला फसवून चांगल्या (सज्जन) प्रजांचा नाश करितात.

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ॥

तस्मात् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥

हे द्यूत केवळ या कार्याच महत् वैर उत्पन्न करणारें आहे असें नाहीं; तर पूर्व कल्पाचे ठायींही वैर करणारें असें पाहण्यांत आलें आहे. याकरितां बुद्धिमान् पुरुषानें विनोदार्थ सुद्धां जुगार खेळूं नये.

प्रच्छन्नं वाऽप्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ॥

तस्य दंडविकल्पः स्यादथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

जो मनुष्य प्रसिद्धपणानें अथवा गुप्तपणानें जुगार खेळेल त्याला दंड करणें तो राजानें स्वेच्छेनें करावा; ह्मणजे जितका इच्छेस वाटेल तितका करावा.

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दंडं दातुमशक्नुवन् ॥

आनृत्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥

क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र हे दंड देण्याविषयीं असमर्थ असतील तर त्यांनीं योग्य काम करून ऋणांतून मुक्त व्हावें, ब्राह्मणानें तर थोडथोडे द्यावें, चाकरी करून फेडूं नये.

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ॥

शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

स्त्रिया, बालकें, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्री आणि रोगी यांला राजानें दंड करणें असत. शिफा, वेणुदल यांनीं ताडन करावें, व दोरीनें बांधावें, याप्रमाणें दंड करावा.

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्थिणाम् ॥

धनोष्णणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥

जे मनुष्य राजानें राज्याचीं निरनिराळीं कामें चालविण्याकरितां आज्ञा करून नेमले असतील ते लोकांपासून लांच खाऊन कार्याचा नाश करितील तर त्यांचें धन राजानें सर्व लुटून घ्यावें.

कूटशासनकर्तृश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ॥

स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्विद्वत्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥

राजाच्या आज्ञेविरुद्ध खोटे दस्तैवज इत्यादिक करणारे; मंत्री, सेना इत्यादिकांस फितुर करणारे; स्त्रिया, बालकें, ब्राह्मण यांची हत्या करणारे; आणि शत्रूची सेवा करणारे त्या सर्वांचा राजानें वध करावा.

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र कच न यद्ववेत् ॥

कृतं तद्धर्मतो विद्वान्न तद्भूयो निर्वर्तयेत् ॥ २३३ ॥

जे ऋणादिक व्यवहार यथासांग तपासले जाऊन ज्यांचे फैसले झाले, आणि ज्या व्यवहारांत चौकशी होऊन अपराध्यास दंड वगैरे शिक्षा झाली असे व्यवहार योग्य कारणावांचून पुनः फिरणार नाहीत, योग्य कारण असल्यास फिरतील.

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ॥

तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दंडयेत् ॥ २३४ ॥

अमात्य (मंत्री), प्राड्विवाक (ध्यायाधीश), हे सर्व व्यवहार पाहण्याविषयीं राजानें नेमले असतां ते जर अयोग्य रीतीनें व्यवहाराचा निर्णय करितील तर तो निर्णय राजानें स्वतां योग्य करून त्या अमात्यादिकांला सहस्रपण दंड करावा.

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ॥

एते सर्वे पृथक् पृथक् ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥ २३५ ॥

ब्रह्महत्या करणारा, मद्यपी, ब्राह्मणाचें सुवर्ण चोरणारा, आणि गुरुपत्नीशीं गमन करणारा हे चार पृथक् पृथक् महापातकी जाणावे.

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ॥

शारीरं धनसंपुक्तं दंडं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

हे चार महापातकी प्रायश्चित्त न करितील तर यांला पुढच्या श्लोकांत सांगितल्याप्रमाणें शारीर दंड व धनदंड असे दोन दंड करावे.

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ॥

स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ २३७ ॥

गुरुपत्नीशीं गमन करील तर त्याचे मस्तकीं तशा लोखंडानें भगाकार डाग द्यावा, द्विजाति मद्यपान करील तर त्याचे मस्तकीं सुराध्वजाकार डाग द्यावा, सुवर्णाची चोरी केली असतां कुण्याचे पाउलासारख्या आकाराच्या लोखंडानें डागावे, आणि ब्रह्महत्या करणारास कबंधाकार डागावे.

१ सुराध्वज झणजे दारूचे चिन्ह शिखा, बाटली, दारू काढण्याचें यंत्र इत्यादिकांसारखा जो लोखंडाचा आकार करितात तो.

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठयाविवाहिनः ॥

चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

हे जे पूर्वोक्त चिन्हांनीं युक्त सांगितले त्यांच्याशीं अजव्यवहार, यज्ञयागादिक अनुष्ठाने, वेदाभ्ययनादिक, आणि विवाहादिक संबंध हे वर्ज्य करावे, व सर्व धर्मांपासून बहिष्कृत होताते दीन होऊन सर्व पृथ्वीचे ठायीं यांनीं भ्रमण करावे.

ज्ञातिसंबंधिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ॥

निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥

ज्ञाति, आणि संबंधी यांनीं, ज्यांच्या मस्तकावर डाग दिलेला असे जे त्यांचा त्याग करावा. त्यांजवर दया करूं नये, त्यांला नमस्कार करूं नये, अशी मनुची आज्ञा आहे.

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम् ॥

नांवया राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूतमसाहसम् ॥ २४० ॥

सर्वे ब्राह्मणादिक वर्ण त्या त्या पातकाचे यथाशास्त्र प्रायश्चित्त करितात तर राजाने त्यांच्या कपाळीं डागूं नये, तर त्यांपासून उत्तमसाहसदंड घ्यावा.

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ॥

विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ २४१ ॥

पूर्वोक्त अपराध न जाणून ब्राह्मण करील आणि तो गुणवान् असेल तर त्याला मध्यम साहस दंड करावा, अथवा घरदार, जिदगी यांसहित त्याला देशपार करावे.

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ॥

सर्वस्वहारमर्हति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

क्षत्रियादिक वर्ण जर हीं पूर्वोक्त पापें, न जाणून कारतील तर त्यांची सर्व जिदगी दंडार्थ घ्यावी. जाणून करिल्ली तर ते वधशिक्षेला पात्र होतील.

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ॥

आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

धार्मिक राजाने महापातकाचे धन घेऊं नये, जर कदाचित् लोभाने घेईल तर तो महापातकाचा दोषी होईल.

अप्सु प्रवेश्य तं दंडं वरुणायोपपादयेत् ॥

श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

१ एक हजार ऐशीं पण, किंवा हजार पण धनदंड, वध, सर्वस्वहरण, गांवांतून हाकून देणे, डाग, अन्वच्छेद हे दंड उत्तम साहस झटले आहेत, ह्या शिक्षा मिळवण्याजोगा जो अपराध तोही उत्तम साहस.

दंडाचें जें धन असेल तें नदी इत्यादि उदकांत टाकून वरुणाला समर्पण करावें, अथवा वेदपाठी, आचारसंपन्न अशा ब्राह्मणाला द्यावें.

ईशो दंडस्य वरुणो राज्ञां दंडधरो हि सः ॥

ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

कां कीं, महापातक्यांचे दंडापासून जें धन मिळालें त्याचा स्वामी वरुण आहे, वेदपारग ब्राह्मण सर्व जगताचा स्वामी आहे, ह्मणून पूर्वोक्तप्रमाणें त्या धनाचा व्यय राजानें करावा.

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ॥

तत्र कालेन जायंते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥

निष्पद्यंते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ॥

बालाश्च न प्रमीयंते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥

ज्या देशांत राजा महापातकिसंबंधी धन ग्रहण करीत नाही, तेथें परिपूर्णकालानें मनुष्य उत्पन्न होतात, व दीर्घायुषी होतात, आणि वैश्य लोक ज्या प्रकारेंकरून धान्यादिक सस्ये निरनिराळीं पेरितात त्याप्रमाणें भिल भिल रीतीनें तीं उत्पन्न होतात, बालकें अकालीं मृत होत नाहीत, व कोणी व्यंग उत्पन्न होत नाही.

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ॥

हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

ब्राह्मणाला पीडा करणारे जे शूद्रादिक नीचवर्ण त्यांला, राजानें अंगच्छेदादिक नानाप्रकारचे वधाचे उपायभूत दंड करून मारावें.

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ॥

अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥

जो अपराधी वधास योग्य असून त्याच्या वधापासून जितकें पाप राजाला होतें, तितकेंच पाप, वधास योग्य मनुष्य असून त्याला सोडिलें असतां होतें, तस्मात् राजानें अपराध्याला यथायोग्य दंड करावा.

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ॥

अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

ऋणादिक अठरा प्रकारच्या व्यवहारमार्गांविषयीं परस्पर विवाद करणारे जे वादी आणि प्रतिवादी त्यांच्या कार्यांचा निर्णय कसा करावा याविषयींचा विस्तार कमेंकरून सांगितला.

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ॥

देशानलब्धान् लिप्सेत लब्धान्श्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

या रीतीनें राजानें धर्मयुक्त व्यवहार यथाशास्त्र करून प्रजेची प्रीति संपादावी आणि अप्राप्त देश मिळविण्याचा उद्योग करावा, व प्राप्त झालेल्या देशांचें रक्षण करावें.

सम्यक् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ॥

कंटकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

शास्त्राने सांगितलेल्या प्रदेशीं यथाशास्त्र किल्ला बांधून त्या किल्ल्यांत राजाने राहावे, आणि आपले जे जे शत्रु असतील त्यांचे नाशाचा सर्वदा सक्तप्रयत्न करावा.

रक्षणादार्यवृत्तानां कंटकानां च शोधनान् ॥

नरेन्द्रास्त्रिदिवं यांति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

जे राजे प्रजापालनाविषयीं तत्पर राहून साधूंचा आचार रक्षण करून चोरांचे शासन करितात ते स्वर्गाप्रत जातात. तस्मात् राजाने चोरादिकांचे शासन करण्याविषयीं महाप्रयत्न करावा.

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ॥

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥

जो राजा चोरांचे शासन करीत नाही, आणि प्रजेपासून कर मात्र घेतो आजवर सर्व प्रजा क्रोधयुक्त होतात, आणि त्या पापाने त्याचे सर्व पुण्य नष्ट होऊन त्याला स्वर्गप्राप्ति होत नाही.

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ॥

तस्य तदर्थते नित्यं सिध्यमान इव हुमः ॥ २५५ ॥

जसा उदकाच्या योगाने वृक्ष मोठा वाढतो, तद्वत् राजाच्या बाहुबलाच्या आश्रयाने सर्व प्रजा निर्भय राहतात आणि त्याचे राज्य नित्य भरभराटीस चढते.

द्विविधांस्तस्करान् विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ॥

प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

चारचक्षु (ह्मणजे दूतरूप नेत्रांनीं पाहणाऱ्या) राजाने, परद्रव्याचा अपहार करणारे प्रकाश (प्रसिद्ध) अप्रकाश (अप्रसिद्ध) असे जे दोन प्रकारचे चोर त्यांची निरंतर चौकशी करावी.

प्रकाशावंचकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ॥

प्रच्छन्नवंचकास्तेषां ये स्तेनाद्विक्रयः ॥ २५७ ॥

बाजारांत विकण्यास योग्य अशा नानाप्रकारच्या वस्तु चोरणारे जे ते गुप्तचोर, निर्जनस्थानी (अरण्यदिस्थानी) आणि मनुष्य निद्रित इत्यादिक अवस्थेत असतां जे लुटालूट करून धन हरण करितात ते प्रसिद्ध चोर होत.

उत्कीचकाश्चौषधिका वंचकाः कितवास्तथा ॥

मंगला देशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिक्कैः सह ॥ २५८ ॥

लांच खाणारे, भय प्रदर्शन करून लोकांपासून द्रव्य घेणारे; सुवर्णादि वस्तूंमध्ये खो-
टी वस्तु टाकून लोकांला ठकवून परद्रव्याचा अपहार करणारे; जुगार, पैजा खेळणारे;
धनपुत्रादिकांचा लाभ होईल इत्यादिक मंगल समाचार सांगून उपजीविका करणारे; आप-
ल्या पातकांचे गोपन करून उत्तम आचार लोकांत प्रसिद्ध करून परधनाचा अपहार क-
रणारे, हातावरच्या रेषा इत्यादिक पाहून त्यांची शुभाशुभ फलें सांगून दुसऱ्यांपासून द्रव्य
उपटणारे.

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ॥

शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥

हस्तीला नानाप्रकारच्या गांठी शिकवून त्याजवर उपजीविका करणारे; चिकित्सा (वैद्य-
की) करून उपजीविका करणारे; शिल्पविद्या व चित्रलेखनविद्या यांच्यावर उपजीविका
करणारे; आणि वेश्या स्त्रिया हे सर्व परधनहरणाविषयीं निपुण होत असें जाणावे.

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककंटकान् ॥

निगूढचारिणश्चान्यानानार्यानार्यलिंगिनः ॥ २६० ॥

इत्यादिक हे प्रसिद्ध लोकांला वंचना करणारे होत यास्तव राजानें यांची दूतद्वारा चौक-
शी ठेवावी, आणि इतर जे गुप्तपणानें ब्राह्मणादिकांचा वेष धारण करून धन हरण कर-
णारे शूद्र त्यांचीहि चौकशी ठेवावी.

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ॥

चौरैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥

पूर्वकथित जे लोकवंचक त्यांला गुप्तपणानें वचनकर्म करणारे सम्यक् व अनेक स्थानीं
स्थित जे चार (हणजे सातव्या अध्यायांत सांगितले जे कापटिकादिक) त्यांहीकरून जा-
णून त्यांला उत्साह उत्पन्न करून ते आपल्याला वश करून घ्यावे.

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ॥

कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

आपापल्या कर्मामध्ये तत्वपूर्वक त्यांचे दोष लोकांत प्रसिद्ध करून चांगल्या प्रकारेंकरून
राजानें अपराधानुरूप त्यांला दंड करावा.

न हि दंडादते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ॥

स्तेनासां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥

नम्रवेष धारण करून पृथ्वीवर नित्य संचार करणारे जे पापी व चौर यांच्या पापाचा
(अपराधाचा) निग्रह राजदंडावांचून होणें अशक्य आहे यास्तव त्यांला राजानें अवश्य
दंड करावा.

सभाप्रपापूपशालावेशमदानविक्रयाः ॥

चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ॥

शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥

एवंविधान् नृपो देशान् गुल्मैः स्थावरजंगमैः ॥

तत्स्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

सभा (हणजे ग्रामनगर इत्यादिकांचे ठायीं निश्चित जनसमूह जमण्याचें स्थान), प्र-
पा (उदकदानाचें गृह), अपूपशाला (पकानें विकण्याचें स्थान), मदाविक्रयाचें स्थान,
अन्नविक्रयाचें स्थान, चतुष्पथ, वेश्यागृह, प्रसिद्ध वृक्षांचीं मूले, जनसमूहाचीं स्थाने, पुरातन
बाग, वने, कारागिरांचीं स्थाने, शून्य गृहे, आम्नादि वृक्षांचीं वने, नानाप्रकारचीं उपवने,
अशा प्रदेशांचे ठायीं सेना, रक्षक, चौकीदार, गुप्तचौकीदार इत्यादिक ठेवून राजानें तस्करा-
दिकांचें निवारण करावें; कारण बहुधा अशा प्रदेशांचे ठायीं अन्न, पान, स्त्रीसंभोग इत्यादि-
कांसाठीं चोर राहत असतात.

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ॥

विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

जे पूर्वी चोरांला सहायभूत होऊन चौर्यकर्म करणारे, चोरीच्या सर्व युक्ति जाणणारे,
असे जे पूर्वी चौर्यकर्म करणारे चार पुरुष (गुप्त बातमीदार) त्यांच्याकडून चोरांला पकडून
सांला शासन करावें.

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ॥

शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

पूर्वचोर जे चार पुरुष त्यांनीं त्या चोरांला असे सांगावे कीं, यावे, चला तुम्ही आम्ही
आपले घरीं जाऊन लडूकादिक भोजन करू; आमच्या देशामध्ये एक ब्राह्मण असा आहे
कीं, तो मनोरथवस्तुची सिद्धि जाणतो, व जे कोणी त्याच्याकडे जातात त्यांचे सर्व मनोरथ
पूर्ण होतात, याकारितां त्यांचे दर्शन घेऊ; एकठां पुरुष बहुतांशीं मळयुद्ध करणारा आमच्या
कडे आहे तो तुम्ही आम्ही जाऊन पाहू; इत्यादिक प्रकार करून गुप्त बातमीदार राजपुरुषांनीं
चोरांशीं स्नेह करून त्यांना धरावे.

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूळप्रणिहिताश्च ये ॥

तान् प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबांधवान् ॥ २६९ ॥

भोजन, पान इत्यादिक जीं पूर्वी चोरांचीं स्थाने सांगितलीं त्यांत गेले असतां आपणांस
धरतील अशा शंकेने जे तेथे जाणार नाहीत ते, आणि जे चारपुरुष पूर्वचोर त्यांचा
समागम न करणारे या सर्वांला त्या त्या लक्षणावरून ओळखून हड्डने बलावून बळजोरीने
मित्र, ज्ञाति, बांधवांसहित त्यांचा नाश राजानें करावा.

नहोटेन विना चौरं घातयेद्भार्मिको नृपः ॥

सहोदं सोपकरणं घातयेद्विचारयन् ॥ २७० ॥

धार्मिक राजाने चोरीचा मुद्दा छणजे चोरलेले द्रव्य, चोरीचीं साधनें इत्यादिक सामग्री चोरापाशीं मिळाल्याखेरीज चोरांला शिक्षा करूं नये. ज्या चोरापाशीं चोरीचा मुद्दा मिळेल त्याला कोणता विचार न करितां अवश्य शिक्षा करावी.

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ॥

भांडावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥

गांवांतील जे लोक चोरांला समजून उमजून अन्नसामग्री, भांडीं, अथवा राहण्याला ठिकाण देतात ते चोरांचे मिळफी होत असें जाणून राजाने त्या सर्वांलाहि शिक्षा करावी.

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामंतांश्चैव चोदितान् ॥

अभ्याघातेषु यथ्यस्थान् शिष्याश्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥

राजाने राज्यांत लोकांच्या संरक्षणाकरितां परगण्यांत जे अधिकारी नेमिले असतील ते, अथवा जवळच्या परगण्यांतल्या ज्या लोकांला बंदीबस्ताचे काम सोंपून दिले असेल ते असतां, चोर चोरी करतील, किंवा मुलखांत लूट करतील आणि हे लोक अलग राहून यांस पकडण्याविषयी मदत न करतील तर त्यांलाहि राजाने चोराप्रमाणे शिक्षा करावी.

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीविनः ॥

दंडेनैव तमप्योषेत्स्वकादृमार्द्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥

जो दुसन्याचे याजनप्रतिग्रहादिक करून यागदानादि धर्म उत्पन्न करून उपजीविका करितो अशा ब्राह्मणाला आणि आपला धर्म ज्याने टाकिला त्याला राजाने दंड करून दुःखित करावे.

ग्रामघाते हिताधीने पथि मोषाभिदर्शने ॥

पाक्तितो नाभिधावतो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥

चोर इत्यादिक लुटालूट करून गांवाचा नाश करित असतां, पुलाचा नाश झाला असतां, मार्गी चोरांची गांठ पडली असतां तेथे निकट राहणारे जन जेर यथाशक्ति धावून येऊन निवारण करणार नाहींत तर त्यांला सर्व सामग्रीसहित देशांतून हांकलून लावावे.

राज्ञः कोषापहर्तृश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ॥

घातयेद्विविधैर्दंडैररीणां चोपमापकान् ॥ २७५ ॥

राजाचा जामदारखाना लुटणारे, राजाच्या विरुद्ध कर्म करणारे आणि राजाशीं शत्रू-कडून पैर करविणारे यांचा नानाप्रकारच्या दंडांनीं (अपराधानुसार कर, चरण, जिवाछेदादिकांनीं) घात करावा.

संधि छित्वा तु ये चौर्ष्यं रात्रौ कुर्वति तस्कराः ॥

तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥

जे चोर रात्रीं संधिच्छेद करून चोरी करितात त्यांचे राजाने हात तोडून त्यांना तीक्ष्ण शूलावर द्यावे.

अंगुलीग्रंथिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ॥

द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥

वस्त्राच्या गांठीचे सोडून नेणाऱ्या चोराचीं दोन बोटे तोडावीं, परंतु एकवार असें घडल्यास दुसऱ्यानें असें करील तर एकेक हात पाय तोडावा. तिसऱ्यानें करील तर वध करावा.

अग्निदान् भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ॥

सन्निधान्तृश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

चोरांला अग्नि, अन्नसामग्री, शस्त्रें, स्थल यांतें देणारे आणि चोरीच्या वस्तु ठेवणारे यांला राजाने चोराप्रमाणें शिक्षा करावी.

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ॥

तद्वापि प्रतिसंस्क्रुर्याद्वाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥

सर्व जनांला उपयुक्त अशा तलावाचा सेतुभेदादिक करून जो नाश करितो त्याला उदकांत बुडवून अथवा अन्य रीतीनें मारावे. जर तो तलाव पहिल्याप्रमाणें करून देईल तर त्याचा वध करूं नये, तर उत्तमसाहस दंड करावा.

कोष्ठागारायुधमार्गदेवतामारभेदकान् ॥

हस्त्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

राजाचे धान्यादिक धनाचे गृह, शस्त्रगृह, देवतागृह, यांचा भेद करणारे; आणि हत्ती, अश्व, रथ यांची चोरी करणारे यांचा वध करावा, याविषयीं विचार करूं नये.

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ॥

आगमं वाप्यपां भिदात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥

सर्व जनांच्या उपयोगार्थ बांधलेल्या तळावाचे जो केवळ उदक हरण करितो, अथवा उदक येण्याच्या मार्गाचा नाश करितो तो पूर्वसाहस देडाला पात्र होतो.

संयुक्तसूत्रेद्राजमार्गे यस्त्वग्नेव्यमनापदि ॥

स द्वौ कार्षापिणौ दद्यादमेभ्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥

आपात्तेरहित असता जो मनुष्य राजमार्गावर पुरीषोत्सर्ग करील किंवा अपवित्र पदार्थ टाकिल त्याला दोन कार्षापणदंड करावा. आणि मार्गावर अपवित्र पदार्थ जो टाकला असेल तो मार्गावरून त्याजकडून बाहेर टाकवा.

आपद्रतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा ॥
परिभाषणमर्हति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥

आपत्तीनें प्रस्त झालेला, वृद्ध, गर्भिणी अथवा बालक हे पूर्वोक्त (अपवित्र पदार्थ मार्गावर टाकणे) कर्म करितील तर ते परिभाषणाला (काय केले असे विचारण्याला) योग्य होतात, दंडाला योग्य नाहीत; परंतु मार्गशुद्धि करवावी, हणजे अपवित्र पदार्थ मार्गावरून त्यांजकडून काढवावा.

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ॥
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

वैद्यशास्त्राचे ज्ञानावांचून पशु इत्यादिकांचे ठायीं मिथ्या वैद्यकी जे करितील त्याला पूर्व साहस दंड करावा. आणि मनुष्यांचे ठायीं खोटी वैद्यकी करितील तर त्याला मध्यम साहस दंड करावा.

संक्रमध्वजपट्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ॥
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पंच दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥

संक्रम (पाण्यावर बांधलेला पूल), ध्वज, पुष्करिणी इत्यादिकांत जो खांब उभारलेला असतो तो आणि मृत्तिका इत्यादिकांच्या क्षुद्र मूर्ति यांचा जो नाश करितो त्याला पांचशें पण दंड करावा, आणि ज्या वस्तूचा नाश केला असेल ती त्याजकडून नवी करून देवावी.

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ॥
मणीनामपवेधे च दंडः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अदूषित (अदुष्ट द्रव्यांत वाईट द्रव्ये घालूनतीं) दूषित करणे, माणिक्यादि मण्यांचा भेद करणे, आणि मोले इत्यादिकांचा भलत्याच ठिकाणी भेद करणे, यांतून कोणता एक अपराध असतां प्रथमसाहस दंड करावा.

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्द्वैमूल्यतोऽपि वा ॥

समाप्रयाहमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥

समान किंमत देणारे सर्व असतां एकाला चांगली वस्तु देतो, व दुसऱ्याला खराब वस्तु देतो, या रीतीने विषमव्यवहार करणारा, अथवा कोणाला बहुत मोलाची वस्तु देतो, कोणाला थोड्या किमतीची वस्तु देतो या रीतीने विषम व्यवहार करणारा पूर्वसाहस किंवा मध्यम साहस दंडाला पात्र होतो.

बंधनानि च सर्वाणि राजमार्गे निवेशयेत् ॥

दुःखिता यत्र दृश्येन् विवृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥

केदी लोक राहण्याची घरे (तुरुंग) प्रसिद्ध राजमार्गावर करावी, कां कां पायांत बेडी घातलेले; क्षुधेतृषेने पीडित; नखे, केश, दादी ही मोठी वाढलेले; कश शरीर असे अपराधी मनुष्यतुहंगांत

लोकांनीं पाहिले असतां अपराध करणारास अशी दशा प्राप्त होते, अशी पाहणारांस दह-
शत पडेल आणि तेणेंकरून अपराध कमी होतिल.

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ॥

द्वाराणां चैव भेत्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥

प्राकार (तट) फोडणारा, खंदक बुजविणारा, आणि दरवाजे फोडणारा यांला तत्काल
देशांतून हाकलून लावावे.

आभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ॥

मूलकर्मणि चानाम्नैः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

अभिचार (शास्त्रकथित मारणप्रयोग), मूल कर्म (पायांची धूलि घेऊन मारण-
प्रयोग) हीं कर्म करणारे यांला दोनशें पण दंड करावा, पूर्वोक्त कर्मकरून मनुष्य मृत
होईल तर मनुष्यवधाचा दंड करावा. या रीतीनें माता, पिता, भार्या, इत्यादिकांवांचून
मंत्री इत्यादिकांला मोह उत्पन्न करून धनप्राप्तिनिमित्त वशीकरणप्रयोग व उच्चाटनादि
नानाप्रकारचे प्रयोग करणारां यांलाहि दोनशें पण दंड करावा.

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च ॥

मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्धमम् ॥ २९१ ॥

प्ररोह (अंकुर) येण्यास ज्याचें बीज समर्थ नाही असें धान्यादिक, अंकुर येण्यास योग्य
आहे असें सांगून त्या बीजाचा विक्रय करणारा, अथवा निकाम बीजांत थोडें बीज घालून
विक्रय करणारा, मर्यादेचा भेद करणारा, हे सर्व नानाप्रकारे विकाररूप अशा (नाक,
हस्त, पांय, हे कापून) वधदेडाला पात्र होतिल.

सर्वकंटकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ॥

प्रवर्तमानमन्याये छेदयेत्तल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

सर्व कंटकांमध्ये अतिशय पापी असा जो सोनार तो जर अन्याय कर्माविषयी प्रवृत्त
होतो तर त्याचे सुरीनें तुकडे तुकडे करावे.

सीताद्वय्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ॥

कालमासाद्य कार्यं च राजा दंडं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

शेत करण्याच्या वस्तु (नांगर, कुदले इत्यादिक), शस्त्रे (तलवार इत्यादिक), औ-
षधे यांची चोरी केली असतां काल व कार्य यांचा विचार करून राजानें दंडाची
कल्पना करावी.

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदंडौ सुदृढतया ॥

सप्त प्रकृतयो हिताः सप्तानि राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्री), पुर, राष्ट्र, कोश, दंड, सुवृत्त ह्या सातांला प्रकृति असें हणतात, आणि हीं सात राज्याचीं अंगे आहेत, यास्तव राज्य सप्तांग असें ह्मटले आहे.

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ॥

पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥

ह्या ज्या सात, राज्याच्या प्रकृति यांमध्ये क्रमैकरून पहिली पहिली प्रकृति महाव्यसन (दुःख) जाणावी.

सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदंडवत् ॥

अन्योन्यगुणवैशेष्यान् किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

लोकांचे ठायीं त्रिदंडासारखे परस्पर संयोग पावलेले जे सप्तांग राज्य त्याचे ठायीं परस्परांच्या उपकारकरून कोणतेहि अंग अधिक नाही. जरी पूर्व पूर्व-अंगांचे आधिक्य सांगितले आहे तथापि ह्या सात अंगांमध्ये अन्य अंगाला उपकार करण्याविषयीं दुसरे अंग शक्य होत नाही, याकरितां उत्तर उत्तर अंगाचीहि अपेक्षा करणे प्राप्त आहे. याहून अधिकाचा निषेध सांगितला. याला दृष्टांत यतीचा त्रिदंड—जसे तीन दंड मिळून वर चार अंगुले गोपुच्छाच्या केशांचे वैष्टन केल्याने परस्पर संबद्ध होतात, आणि त्रिदंडधारणाच्या शास्त्रांतील कोणताहि दंड अधिक नाही, त्याप्रमाणे पूर्वी सांगितलेले सप्तांग राज्य जाणावे.

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदंगं विशिष्यते ॥

येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

जीं जीं राज्यसंबधी कार्ये अवश्य प्राप्त होतात त्या त्या कार्याविषयीं ते ते अंग विशेषेकरून उपयुक्त आहे याकरितां जे राज्यकार्य ज्या अंगाने केले जाते ते अंग त्या कार्याविषयीं प्रधान ह्मटले आहे.

चारेणोत्साहमोमेतः क्रिययैव च कर्मणाम् ॥

स्वशक्तिः परशक्तिः च नित्यं विद्यान्महीषतिः ॥ २९८ ॥

गुप्त वातपीडासः सत्तया अध्यायांत सांगितलेला सैन्याचा फापटिकादि उत्साहयोग; आणि इतर नानाप्रकारची राजकार्ये यांहीकरून आपली व शत्रूची शक्ति प्रबल दुर्बल किती आहे याविषयीं नित्य राजाने विचार करून तदनुरूप वागावे.

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ॥

आरभेत ततः कार्यं संचित्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

सर्व पीडा, कामक्रोधांपासून न उद्धवणांशीं दुःखे आणि स्वपरचक्र संकटे या सर्वांचे विचार करून नंतर लहान मोठे कार्य राजाने आरंभावे.

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ॥

कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीनिषेवते ॥ ३०० ॥

राजाने आपल्या राज्याची वृद्धि आणि शत्रूच्या राज्याचा न्हास होण्याची जी जी कार्ये असतील ती करावी, ती कार्ये करित असतां जरी राजा श्रांत झाला तथापि ती पुनः पुनः करावीच, टाकू नयेत; कारण, कर्म (उद्योग) करणाराची सेवा लक्ष्मी करिते. युगानुरूप कर्म फलरूप होतात असे औदासीन्य राजाने कदापि करू नये.

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ॥

राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥

कृत, त्रेता, द्वापर आणि कलि हीं चार युगे होत. परंतु तीं नव्हत, तर राजा जसे आचरण करील तसे युग होतें, ह्मणजे राजाच युग होतें, राजा धार्मिक अधार्मिक जसा असेल तदनुरूप सर्व प्रजा होते.

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रतद्वापरं युगम् ॥

कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

अज्ञान, आळस इत्यादिकांच्या योगाने जेव्हां राजा निरुद्यमी होतो तेव्हां कलि होतो, राजा शाहणा असतांही कांहीं कर्म करित नाही तेव्हां द्वापर होतो. कर्म करितो तेव्हां त्रेता युग होतें. यथाशास्त्र कर्म करितो तेव्हां कृतयुग होतें. याकरितां राजाने निरंतर नानाप्रकारचीं कर्म (उद्योग) करित असावे.

इंद्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ॥

चंद्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजो वृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥

इंद्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चंद्र, अग्नि आणि पृथिवी यांचीं तेजे (पराक्रम) राजाने धारण करून व दुष्टांचा नाश करून प्रताप आणि प्रेम यांहीं युक्त असावे.

वार्षिकान् चतुरो मासान् यथेदोऽभिप्रवर्षति ॥

तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिद्व्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

वर्षाकाळी जसा चार मास इंद्र, धान्यादिकांची वृद्धि होण्याकरितां पर्जन्यवृष्टि करितो तद्वत् इंद्राचें कर्म करित होतारा राजाने सर्व आपल्या राज्यांत प्रजांवर कामाची (इच्छित मनोरयांची) वृष्टि करावी; ह्मणजे प्रजा जे जे योग्य काम इच्छतील ते ते राजाने पूर्ण करावे. (हे इंद्रव्रत राजाने धारण करावे.)

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोमं हरति रक्षिभिः ॥

तथा हरेत्करं राष्ट्राभित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥

जसा सूर्य मार्गशीर्षादि आठ महिनेपर्यंत आपल्या किरणांनीं योडयोडा उदकरस-ग्रहेण करितो, तद्वत् सूर्याचें कर्म करित होतारा राजाने योडा न करितां आपल्या प्रजेपासून यथा-शास्त्र कर घ्यावा. (हे सूर्यव्रत राजाने धारण करावे.)

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ॥

तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

जसा प्राणवायु सर्व प्राणिमात्रांचे ठायीं अंतःप्रवेश करून सर्वत्र संचार करितो, तद्वत् वायूचें कर्म करीत होत्साता राजानें गुप्तवातमीदारांच्या योगानें सर्व राज्यांत प्रवेश करून फिरत असावें. (हें वायुव्रत धारण करावें.)

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ॥

तथा राज्ञा नियंतव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥

जरी यमांला शत्रु, मित्र नाहींत तथापि जो त्याची निंदा करितो तो त्याचा शत्रु, स्तुति करणारा मित्र होय असें जाणावें. जसा यम शत्रुमित्रांच्या मरणकालीं दोघांला मारतो तद्वत् सर्व प्रजांला अपराधानुसार यमाचें कर्म करीत होत्साता राजानें दंड करावा. (हें यमव्रत जाणावें.)

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिटृश्यते ॥

तथा पापान्निगृण्णीयात् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

जसा वरुण आपल्या पाशांनीं दुष्टांला बांधतो तद्वत् वरुणाचें कर्म करीत होत्साता राजानें पाप्यांचा निग्रह करावा. (हें वारुणव्रत जाणावें.)

परिपूर्णं यथा चंद्रं दृष्ट्वा दृश्यंति मानवाः ॥

तथा प्रकृतयो ह्यस्मिन् स चांद्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥

जसा परिपूर्ण चंद्र पाहून मनुष्यांला आनंद होतो, तद्वत् सर्व प्रजांनीं राजांला पाहून आनंदित असावें, याप्रमाणें चंद्राचें व्रत राजानें धारण करून राहावें.

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्प्रापकर्मसु ॥

दुष्टसमंतर्हिंस्तश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

पाप करणारे जे याविषयीं राजानें प्रतापयुक्त, तेजस्वी राहावें, अग्नेीचें व्रत धारण करीत होत्साता दुष्ट मंत्र्यांचा नाश करावा.

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समं ॥

तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतं ॥ ३११ ॥

जसी पृथ्वी लहान मोठीं स्यावरजंगम भूतें समसमान कृतीनें धारण करिते तद्वत् विद्वान्, धनिक, गुणवान्, दीन, अनाथ या सर्वांचे राजानें योग्य स्तूप करून धारण करावें. (हें पृथ्वीचें व्रत.)

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमंतर्द्वितः ॥

स्तेनान् राजा निगृण्णीयात्स्वराज्ये पर एव च ॥ ३१२ ॥

हे (पूर्वोक्त) उपाय, आणि दुसरे उपाय यांहींकरून राजानें युक्त होऊन नित्य नि-
रालस्यपणानें आपल्या राज्यांतील व परराज्यांतील सर्व चोरांचा नाश करावा.

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ॥

ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

राजाला मोठी जरी आपत्ति प्राप्त झाली तथापि त्यानें ब्राह्मणांला क्रोधयुक्त करूं नये;
कारण, ब्राह्मण क्रुद्ध झाले असतां ते बलवाहनसहित राजाचा शीघ्र नाश करितील.

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ॥

क्षयी चाप्यापितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१४ ॥

ज्या ब्राह्मणांनीं शाप देऊन अग्नि सर्व वस्तु भक्षण करणारा, समुद्र अपेक्षजल, चंद्र क्षय-
रोगी व पुष्ट केला त्या ब्राह्मणांला क्रोध उत्पन्न करून कोण नाशते न पावेल?

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ॥

देवान् कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृन्धुयात् ॥ ३१५ ॥

जे ब्राह्मण क्रुद्ध झाले असतां अन्यलोक आणि लोकपाल यांला उत्पन्न करितात, देवां-
ला अदेव (मनुष्य) करितात यांला पीडा उत्पन्न करून कोण समुद्धीप्त पावेल, कोणी पाव-
णार नाही.

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ॥

ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥

ज्या ब्राह्मणांचे वेद हे धन आहे यांचा आश्रय करून पृथिव्यादिकलोक, देव नित्य राह-
तात, त्या ब्राह्मणांला, जीवत राहाण्याची इच्छा करणारा कोण मारील ?

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥

प्रणीतश्चाप्रणतिश्च यथाभिदैवतं महत् ॥ ३१७ ॥

अग्नि संस्कारयुक्त असो किंवा असंस्कृत असो, परंतु तो जसा मोठी देवता आहे, तद्वत्
ब्राह्मण विद्वान् किंवा मूर्ख कसाहि असो तो मोठी देवता आहे.

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पाको नैव च दुष्यति ॥

हूयमानश्च यज्ञेषु मूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

जसा अग्नि श्मशानांत शवाचे दहन करणारा जरी आहे तथापि यज्ञाचे उपायां तद्दुद्देशानें हवन
केले असतां तो महातेजस्वी होत्सता मोठा वृद्धिमत होतो.

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तते सर्वकर्मसु ॥

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥

या रीतीनें यद्यपि संपूर्ण अनिष्ट कर्मे करणारे ब्राह्मण असतील तथापि ते पूजेला योग्य
व मोठी देवता होत असें जाणवें.

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ॥

ब्रह्मैव संनिर्यतु स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

जे क्षत्रिय ब्राह्मणांला पीडा करितील त्यांला शापादिक देऊन शिक्षा करण्याविषयी ब्राह्मण समर्थ आहेत. याकरिता ब्राह्मणांला आपल्या आधीन राखण्याविषयी क्षत्रिय समर्थ नाही; कारण ब्राह्मणापासून क्षत्रिय उत्पन्न झाला आहे.

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्पति ॥ ३२१ ॥

उदकापासून अग्नि, ब्राह्मणापासून क्षत्रिय आणि पाषाणापासून लोखंड याप्रमाणे उत्पत्ति आहे आणि यांचे तेज क्रमेकरून दहन, पराजय, छेदन हीं कार्ये करिते; परंतु ते आपापल्या उत्पत्तिस्थानीं शांत होते.

नाब्रह्मक्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ॥

ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

ब्राह्मणावांचून क्षत्रिय, आणि क्षत्रियावांचून ब्राह्मण वृद्धिगत होत नाही; तर ब्राह्मण व क्षत्रिय हे दोघे परस्पर संबद्ध असतील तरच उभयतांला परलोकी व इहलोकीं धर्मार्थकाम-मोक्षप्राप्ति होते.

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदंडसमुत्थितम् ॥

पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥

दंडापासून मिळालेले सर्व द्रव्य राजाने ब्राह्मणांला देऊन आणि राज्य पुत्रांला देऊन संग्रामांत प्राणत्याग करावा.

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ॥

हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

या रीतीने राजाने नित्य राजधर्म आचरण करून सर्व लोकांचे हित होईल अशा प्रकारे सर्व आपल्या कामदार लोकांची अधिकारांवर योजना करावी.

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ॥

इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥

राजांचा नित्य हा इतिकर्तव्यताविधि सर्व सांगितला. आतां वैश्य व शूद्र यांच्या हा (पुढे सांगितलेला) कर्मविधि क्रमेकरून जाणावा.

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ॥

वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

मीजीपर्यंत संस्कार झालेला अशा वैश्याने विवाह करून पशूंचे रक्षण आणि वार्ता (शेती, व्यापार इत्यादिक) यांचे ठायीं नित्य तत्पर असावे.

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ॥

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥

ब्रह्मदेवाने वैश्याल उत्पन्न करून त्याला पशु दिले; आणि ब्राह्मण, क्षत्रिय, यांला सर्व प्रजा दिल्या.

न च वैश्यस्य कामः स्यान्नरक्षेयं पशूनिति ॥

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥

पशूंचे रक्षण मी करणार नाही असे वैश्याने कदापि इच्छूं नये, शेती इत्यादिक करूनहि वैश्याने पशूंचे रक्षण करावे.

मणिमुक्ताप्रवालाणां लोहानां तांतवस्य च ॥

गंधानां च रसानां च विद्यादर्घ्यबलाबलम् ॥ ३२९ ॥

मणि, मोलें, पोंवळीं, लोह, वस्त्रें, कापूर इत्यादिक सुगंधि द्रव्यें, लवणादिक रस, या सर्वांचे उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ या भेदानें व देशकालव्यवस्थेने न्यूनाधिक दर वैश्याने जाणावे.

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ॥

मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

वैश्याने सर्व प्रकारचीं बीजे पेरण्याचा प्रकार, कोणते बीज कोणत्या काळी कोणत्या भूमीत पेरिले असतां उत्तम फलद्रूप होईल इत्यादिक सर्व गुणदोष हे जाणावे. प्रस्थ, द्रोण इत्यादिक सर्व प्रकारची मापे; व तोळा, मासा इत्यादिक वजन हींहि सर्व जाणावीं.

सारासारं च भांडानां देशानां च गुणागुणान् ॥

लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥

भांड्यांचा सारासार विचार (हें भांडें उत्तम, हें वाईट इत्यादिक विशेष) जाणावा. देशाचे गुण; अवगुण, विकण्याच्या वस्तूचे लाभ, अलाभ, आणि पशूंची वृद्धि हीं सर्व वैश्याने जाणावीं.

भृत्यानां च भृति विद्याद्राषाश्च विविधा नृणां ॥

द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥

मजूर लोकांची मजुरी, मनुष्यांच्या निरनिराळ्या नानाप्रकारच्या भाषा, द्रव्यांच्या स्थितीचे उपाय, आणि क्रयविक्रय हीं सर्व वैश्याने जाणावीं.

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेत्तलमुत्तमम् ॥

दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥

धर्मेकरून द्रव्याचे वृद्धीविषयी (व्याजवृद्ध्याविषयी) मोठा यत्न करावा, आणि सर्व प्राण्यांला निरपेक्षपणाने अन्नदानच करावे.

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनां ॥

शुश्रूषैव नु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

वेदवेत्ते, गृहस्थाश्रमी, स्वधर्मानुष्ठानाने कीर्तिमान् अशा ब्राह्मणांची जी सेवा तोच शूद्राला मोक्ष देणारा उत्तम धर्म आहे, तस्मात् शूद्राने द्विजातींची सेवा करावी.

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ॥

ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्रुते ॥ ३३५ ॥

वाह्याभ्यंतरशुचिर्भूत, द्विजातींची सेवा करणारा, मृदुभाषण करणारा, अभिमानरहित, ब्राह्मणादिकांचा आश्रय करणारा असा जो शूद्र तो उत्तम जातीप्रत पावतो.

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ॥

आपदापि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां सहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र ह्या चार वर्णांचा, आपत्ति काल नसतां हा शुभ कर्मविधि सांगितला. आतां यानंतर आपत्कालीं चार वर्णांचे धर्म कसे ते क्रमैकरून श्रवण करा.

इति मानवधर्मशास्त्रे महाराष्ट्रीय व्याख्यायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अध्याय दाहावा.

संकरजातींची उत्पत्ति आणि आपद्धर्म यांविषयी सांगतो.

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ॥ १ ॥

प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥

आपापल्या कर्मात तत्पर होत्साते ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य ह्या तीन वर्णांनीं वेद पठन करावा. ह्या तिघांतून ब्राह्मणाने मात्र अध्यापन करावे, क्षत्रियवैश्यांनीं करूं नये. कदाचित् करितील तर ते प्रायश्चित्ती होतील.

सर्वेषां ब्राह्मणो विदादृच्युपायान् यथाविधि ॥

प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

वर्णांनीं आपापली उपजीविका कशी चालवावी ते सर्व यथाशास्त्र उपजीविकेचे उपाय सर्वाला ब्राह्मणांनीं सांगावे, आणि स्वतांही त्यांनीं यथोक्त आचरण करावे.

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रेष्ठयान्नियमस्य च धारणात् ॥
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥

मोठी जाति; मोठे कारण (उत्पत्तिस्थान); अध्ययन, अध्यापन आणि व्याख्यान इत्यादि-
युक्त वेदधारण; आणि मोठा संस्कार या सर्वांनी ब्राह्मण श्रेष्ठ आहे याकरितां सर्व वर्णांचा
प्रभु ब्राह्मण आहे.

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥

चतुर्थे एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य हे तीन वर्ण द्विजाति ह्मणले आहेत, आणि चौथा वर्ण
शूद्र एकजाति ह्मणला आहे, मिळून वर्ण चार, पांचवा वर्ण नाही.

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ॥

आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥

सर्व वर्णांचे ठायीं पुरुषसंभोगाने जे दूषण तद्विरहित अशा समान वर्णांतल्या, यथाशा-
स्त्रविवाहेकरून प्राप्त ज्या स्त्रिया त्यांचे ठायीं क्रमेकरून, ह्मणजे ब्राह्मणापासून ब्राह्मणीचे
ठायीं, क्षत्रियापासून क्षत्रियेचे ठायीं असे जे उत्पन्न होतात ते मातापितरांच्या जातीनें युक्त
असे ह्मणले आहेत.

स्त्रीष्वनंतरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ॥

सदृशानेव तानाहुर्मतृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य यांपासून अनंतरजात स्त्रीचे ठायीं, (ह्मणजे ब्राह्मणापा-
सून विवाहिता क्षत्रियेचे ठायीं, क्षत्रियापासून विवाहिता वैश्येचे ठायीं, आणि वैश्यापासून
विवाहिता शूद्रेचे ठायीं) जे उत्पन्न होतात ते सदृश होत, व ते मातृदोषाने निंदित
असे मन्वादिकांनीं ह्मणले आहेत.

अनंतरासु जातानां विधिरेषः सनातनः ॥

द्वयैकांतरीसु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥

अनंतरजातींचे ठायीं उत्पन्न झालेल्यांचा परंपरागत चालत आलेला हा नित्यविधि
सांगितला. आतां दोन, एक जाति, मध्ये अंतर असतां उत्पन्न झालेल्यांचा विधि पुढे
सांगेन, तो श्रवण करा.

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामंबष्ठो नाम जायते ॥

निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

पार१२. जसे—ब्राह्मणापासून वैश्यास्त्रीचे ठायीं उत्पन्न, क्षत्रियापासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न, किंवा ब्राह्मणा-
पासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न झालेले असे जाणवे.

ब्राह्मणापासून विवाहित वैश्यस्त्रीचे ठायीं झालेला तो अंबष्ठ झटला आहे, आणि ब्राह्मणा-
पासून विवाहित शूद्रकन्येच्या ठायीं झालेला तो निषाद, यालाच पारशव असेंहि झणतात.

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूरचाराविहारवान् ॥

क्षत्रशूद्रवपुर्जंतुस्यो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥

क्षत्रियापासून विवाहित शूद्रकन्येचे ठायीं क्रूर अशा आचारविहारानीं युक्त, क्षत्रशूद्रस्व-
भावयुक्त असा उग्रनामक पुत्र होतो.

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ॥

वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्वडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

ब्राह्मणापासून क्षत्रियादिक तीन वर्णांचे स्त्रियांचे ठायीं, क्षत्रियापासून वैश्यादिक दोन
वर्णांचे स्त्रियांचे ठायीं आणि वैश्यापासून शूद्रवर्ण स्त्रीचे ठायीं जे उत्पन्न होतात ते सहा
अपसद (निकृष्ट जाति) झटले आहेत.

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्रांगनासुतौ ॥ ११ ॥

याप्रमाणें अनुलोमजाति सांगून आतां प्रतिलोमाची उत्पत्ति सांगतो— क्षत्रिया-
पासून ब्राह्मणीकन्येचे ठायीं जो उत्पन्न होतो तो जातीनें सूत झटला आहे. वैश्यापासून
क्षत्रियकन्येचे ठायीं झालेला तो मागध, आणि ब्राह्मणीकन्येचे ठायीं झाला तो
वैदेह जाणावा.

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चांडालश्चाधमो नृणाम् ॥

वैश्यराजन्यविप्रासु जायंते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

शूद्रापासून वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण यांच्या कन्यांचे ठायीं उत्पन्न झालेले ते क्रमेकरून
आयोगव, क्षत्ता, मनुष्यांत अधम असा चांडालजाति, होत असें जाणावें.

एकांतरे त्वानुलोम्यादंबष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ ॥

क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १२ ॥

जसे एकजातिअंतरयुक्त जे अनुलोम यांत अंबष्ठ आणि उग्र, तसे प्रतिलोमांत
क्षत्ता व वैदेहक होत असें जाणावें.

पुत्रा येऽनंतरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ॥

ताननंतरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

द्विजातींपासून अनंतर वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं क्रमेकरून उत्पन्न झालेले जे पुत्र
सांगितले ते सर्व मातृदोषेकरून अनंतरनामक झटले आहेत.

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते ॥

आभीरौऽबष्ठकन्यायामायोगन्यां तु धिग्रणः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणापासून उग्रकन्येचे ठायीं जो झाला तो आवृत, अंबष्ठकन्येचे ठायीं झाला तो आभीर, आणि आयोगवीचे ठायीं झाला तो धिग्वण, याप्रमाणें जाणावे.

आयोगवश्च क्षत्ता च चंडालश्चाधमो नृणाम् ॥

प्रातिलोभ्येन जायंते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

आयोगव, क्षत्ता आणि मनुष्यांमध्ये अधम असा चंडाल, हे तीन व्युत्क्रमेंकरून झालेले आहेत याकरितां शूद्राहूनहि अधम होत.

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु ॥

प्रतीपमेते जायंते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

वैश्यापासून मागध व वैश्य, आणि क्षत्रियापासून ब्राह्मणीचे ठायीं झाला तो सूत. या रीतीनें झालेले जे तीन तेहि पुत्रकार्य करण्याविषयीं समर्थ नाहींत.

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ॥

शूद्राज्जातो निषादां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

निषादापासून शूद्रेचे ठायीं जो झाला तो जातीकरून पुक्कस ह्मणला आहे. शूद्रापासून निषादीचे ठायीं झाला तो कुक्कुटक ह्मणला आहे.

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते ॥

वैदेहकेन त्वंबष्ठवामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥

क्षत्तौ जो त्यापासून उग्रेचे ठायीं झालेला तो श्वपाक, वैदेहकापासून अंबष्ठीचे ठायीं उत्पन्न तो वेण जाणावा.

द्विजातयः सवर्णासु जनयंत्यव्रतांस्तु तान् ॥

तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् ब्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

द्विजातीपासून समानवर्ण स्त्रियांचे ठायीं जे उत्पन्न झाले आणि ते, संस्कारानें (मौंजी-बंधनानें) हीन असतील तर ते ब्रात्य ह्मणले आहेत.

ब्रात्यास्तु जायते विप्र्रात्यापात्मा भूर्जकंटकः ॥

आर्वत्यवाटधानौ च पुष्पधः शैल एव च ॥ २१ ॥

ब्रात्य ब्राह्मणापासून ब्राह्मणी स्त्रीचे ठायीं जो उत्पन्न झाला तो प्रापात्मा, भूर्जकंटक-जाति ह्मणला आहे. यालाच देशभेदेकरून आर्वत्य, वाटधान, पुष्पध, शैल असीं नावे ह्मणतात.

१ क्षत्रियापासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न झालेली ती उग्रकन्या, ब्राह्मणापासून वैश्येचे ठायीं झालेली ती अंबष्ठी, शूद्रापासून वैश्यस्त्रीचे ठायीं झालेली ती आयोगवी याप्रमाणें जाणावें. २ शूद्रापासून वैश्येचे ठायीं झाली ती क्षत्ता.

शल्लो मल्लश्च राजन्याद्ब्राह्म्यान्निच्छिविरेव च ॥

नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

ब्राह्म्य क्षत्रियापासून क्षत्रियवर्णस्त्रीचे ठायीं उत्पन्न झालेला शल्लजाति, आणि सांचीं नामें शल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस, द्रविड हीं देशभेदानें जाणावीं.

वैश्यान्तु जायते ब्राह्म्यात्सुधन्वाचार्य एव च ॥

कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ २३ ॥

ब्राह्म्यवैश्यापासून वैश्यवर्ण स्त्रीचे ठायीं उत्पन्न झालेला सुधन्वाचार्यजाति होतो, व त्याचीं कारुष, विजन्मा, मैत्र, सात्वत, हीं नामें देशभेदानें जाणावीं.

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ॥

स्वकर्मणां च त्यागेन जायते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

व्यभिचार, विवाह करण्याला जो योग्य नाही त्याच्याशीं विवाह करणें, स्वकर्मांचा त्याग प्रांहींकरून ब्राह्मणादि वर्णांचे वर्णसंकर होतात.

संकीर्णयोनि यो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ॥

अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥

अनुलोम व प्रतिलोम यांचा परस्पर संबंध होऊन त्यापासून जे संकीर्णयोनि (वर्णसंकरयोनि) उत्पन्न होतात ते सर्व तुह्माला सांगेन.

सूतो वैदेहकश्चैव चांडालश्च नराधमः ॥

मागधः क्षत्रजातिश्च तथायोगव एव च ॥ २६ ॥

एते षट् सदृशान् वर्णान्जनयन्ति स्वयोनिषु ॥

मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

सूत, वैदेहक, चांडाल, मागध, क्षत्रा, आणि आयोगव हे सर्व आपापल्या जातीच्या स्त्रियांचे ठायीं आपापल्या वर्णांला उत्पन्न करितात. येथें सादृश्यता मातृजातीकडून मानावी; कारण, चार वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं पित्याहून अधिक निंदित पुत्र होतात असे पुढें सांगेल. पिता, अधिक निंदित आपल्या जातीच्या स्त्रियेचे ठायीं उत्पन्न करितो असें विधान ह्या श्लोकापासून सूचित केलें. जसें शूद्रापासून वैश्यस्त्रीचे ठायीं उत्पन्न झालेला आयोगव ह्मणला आहे. याहून शुद्ध अशा आयोगवी, वैश्या, ब्राह्मणी, क्षत्रिया, शूद्रा यांचे ठायीं जो उत्पन्न झाला तो आयोगव ह्मणला आहे, परंतु शुद्ध आयोगवापेक्षां हे सर्व आयोगव दुष्ट होत, याविषयीं दृष्टांत, जसें स्त्रीपुरुषांतून एकानें ब्रह्महत्या केली असतां त्यापासून पुत्र उत्पन्न झाला, तीं उभय स्त्रीपुरुषे ब्रह्मह्यारी होत, तेव्हां सांप्रतपासून जो उत्पन्न झाला तो त्या उभयतांहून अधिक दुष्ट होतो.

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्य जायते ॥

आनंतर्पात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

जसा ब्राह्मणापासून क्षत्रिया व वैश्या यांचे ठायीं झालेला पुत्र द्विज उत्पन्न होतो, व ब्राह्मणापासूनहि द्विज उत्पन्न होतो, परंतु हा द्विज त्या द्विजांहून अधिक श्रेष्ठ झटला आहे, त्याप्रमाणे शूद्रापासून ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या यांचे ठायीं, उत्पन्न झालेल्या पुत्रांहून वैश्यापासून क्षत्रियेठायीं, व क्षत्रियापासून ब्राह्मणीचे ठायीं उत्पन्न झालेला पुत्र श्रेष्ठ झटला आहे. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांपासून उत्पन्न झालेले प्रतिलोम प्रशस्त होत, हे जाणविण्याकरितां हे वचन आहे.

ते चापि बाह्यान् सुबहून् तप्तोप्यधिकदूषितान् ॥

परस्परस्य दारेषु जनयति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

आयोगव इत्यादि सहा परस्पर स्वजाति स्त्रियांचे ठायीं अनुलोमांहूनहि अधिक दुष्ट असे पुत्र उत्पन्न करितात, जसा आयोगव क्षत्ताजाति स्त्रीचे ठायीं आपणाहून हीन पुत्र उत्पन्न करितो आणि क्षत्ताहि आयोगव जाति स्त्रीचेठायीं आपणाहून हीन पुत्र उत्पन्न करितो, त्याप्रमाणे इतर प्रतिलोमांविषयीहि जाणावे.

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां हीनं जातुं प्रसूयते ॥

तथा बाह्यतरं बाह्यं चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

ज्याप्रमाणे शूद्र ब्राह्मणी स्त्रीचे ठायीं चांडालांत उत्पन्न करितो, त्याप्रमाणे चांडालही चारीवर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं आपणाहूनहि हीन पुत्र उत्पन्न करितो.

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्याबाह्यतरान् पुनः ॥

हीनाहीनान्प्रसूयंते वर्णान् पंचदशैव तु ॥ ३१ ॥

शूद्रापासून उत्पन्न झालेले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांचे स्त्रियांचे ठायीं तीन प्रतिलोमज लणजे आयोगव, क्षत्ता, चांडाल, हे चार वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं व आपल्या जातीच्या स्त्रियेचे ठायीं आपणाहून हीन असे पंधरा पुत्र उत्पन्न करितात, आणि अनुलोमजाहून हीन, वैश्य व क्षत्रियांपासून उत्पन्न झालेले असे मागध, वैदेह, सूत हे तीन, चारवर्णांच्या स्त्रियांचे आणि आपल्या जातीच्या स्त्रियांचे ठायीं आपणाहून हीन प्रत्येक पांच पांच पुत्र उत्पन्न करितात. या रीतीने तीस पुत्र होतात. अथवा चांडाल, क्षत्ता आयोगव, वैदेहक, मागध, सूत हे साहा पूर्वपूर्वांहून उत्तरोत्तर श्रेष्ठ आहेत. हेही सर्व प्रतिलोमापासून पुत्र उत्पन्न करितील तर ते पंधरा पुत्र होतात, जसे, चांडालापासून पांचप्रकारच्या स्त्रियांचे ठायीं पांच उत्पन्न होतात, क्षत्तापासून चारवर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं चार उत्पन्न झाले, आयोगवापासून तीन वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं तीन उत्पन्न झाले, वैदेहकापासून दोनवर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं दोन पुत्र उत्पन्न झाले, मागधापासून एकवर्णांच्या स्त्रियेचे ठायीं एक पुत्र उत्पन्न झाला. सूताहून पुढे दुसरा कोणी उत्पन्न होत नाही. या रीतीने पंधरा पुत्र झाले,

श्लोकांत पुनः ह्या पदाचें उच्चारण भृगूनें केलें त्याचें तात्पर्य असें आहे कीं, सूत, मागध, वैदेहक, आयोगव, क्षत्ता, चांडाल हे साहा उत्तरोत्तरांहून पूर्व पूर्व श्रेष्ठ होत. हे प्रतिलोमाप्रमाणें पुत्र उत्पन्न करितील तर पंधरा पुत्र होतात. जसें — सूतापासून पांच वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं पांच झाले, मागधापासून चार वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं चार झाले, वैदेहकापासून तीन वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं तीन झाले, आयोगवापासून दोन वर्णांच्या स्त्रियांचे ठायीं दोन झाले, क्षत्तापासून एक वर्ण स्त्रियेचे ठायीं एक झाला, चांडालाहून कोणी हीन नाही, याकरितां यापासून हीन अनुलोम उत्पन्न होतो, या रीतीनें पंधरा पुत्र झाले व दोनही मिळून तीस झाले.

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ॥

सैरिंध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

केशरचनादि प्रसाधनकर्मांचे उपचार जाणणारा, दासकर्म जें उच्छिष्टादि भक्षण तद्विरहित, अंगसंवाहनादिक जें दासकर्म तेणेंकरून उपजीविका करणारा, आणि पाशबंधनेंकरून मृगादिकांच्या वधाणें उपजीविका करणारा अशा सैरिंध्रनामक पुत्राला आयोगवीस्त्रीचेठायीं, दस्यु (याचें पुढें पंचेचाळिसावे श्लोकांत लक्षण सांगितलें आहे तो) उत्पन्न करितो.

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ॥

नृप्रशंसत्यजस्रं यो घंटाताडोरुणोदये ॥ ३३ ॥

वैदेहकापासून आयोगवाचे स्त्रीचे ठायीं मैत्रेयनामक, मधुर भाषण करणारा, असा पुत्र होतो, त्यानें नित्य तास वाजवून प्रातःकालीं राजे इत्यादिकांची स्तुति उपजीविकेसाठीं करावी.

निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ॥

कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

आयोगवीस्त्रीचे ठायीं निषादापासून मार्गवनामक दाशपुत्र उत्पन्न होतो, ज्याला आर्यावर्तवासी लोक कैवर्त असें ह्मणतात. यानें नौका कर्म करून उपजीविका करावी.

मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गर्हितान्नाशनासु च ॥

भवंत्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥

मृताचीं वस्त्रें वापरणाऱ्या, उष्टें अन्न खाणाऱ्या आणि क्रूरस्वभाव अशा ज्या आयोगवाच्या स्त्रिया त्यांचे ठायीं सैरिंध्र, मैत्रेय आणि मार्गव हे तीन पितृभेदेकरून भिन्न भिन्न होतात.

१ वैश्यापासून ब्राह्मणीचे ठायीं उत्पन्न झालेला तो वैदेहक. २ ब्राह्मणापासून अद्वेचे ठायीं झालेला तो निषाद.

कारावरोनिषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ॥

वैदेहकादंधमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयो ॥ ३६ ॥

वैदेही स्त्रीचे ठायीं निषादापासून चर्मछेद करणारा (चर्मकार) कारावरनामक पुत्र उत्पन्न होतो. वैदेहकापासून कारावरस्त्रीचे ठायीं अंधजातिवान पुत्र आणि निषादस्त्रीचे ठायीं मेदजाति पुत्र होतो. ह्या दोघांनीं गांवाच्या बाहेर राहावे.

चांडालात्पांडुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ॥

आहिंडिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥

वैदेही स्त्रीचे ठायीं चांडालापासून पांडुसोपाक नामक पुत्र होतो, यानें बांबूंचा व्यापार करून उपजीविका करावी. निषादापासून वैदेही स्त्रीचे ठायीं आहिंडिकनामक पुत्र हातो.

चांडालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ॥

पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

चांडालापासून पुक्कसी स्त्रीचे ठायीं सोपाख्य पुत्र होतो. हा पापी, साधूंनीं निंदित, वध-शिक्षेला पात्र जे अपराधी यांचा राजाज्ञेनें वध करून त्याजवर उपजीविका करणारा होय, असा जाणावा.

निषादस्त्री तु चंडालात्पुत्रमंत्यावसायिनम् ॥

श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥

चांडालापासून निषादस्त्रीचे ठायीं अतिनिंदित, अंत्यावसायी (चांडालादिकांहूनहि अतिदुष्ट), श्मशानांत राहणारा, श्मशानावर उपजीविका करणारा असा पुत्र होतो.

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ॥

प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

माता पितरांपासून वर्णसंकराच्या इतक्या जाति प्रदर्शित केल्या, मग त्या प्रकट असोत अथवा अप्रकट असोत; परंतु आपापल्या कर्मांकरून त्या जाति जाणण्याला योग्य होतात.

सजातिजनंतरजाः षट्सुता द्विजधर्मिणः ॥

शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य यांपासून आपापल्या जातीच्या स्त्रियांचे ठायीं उत्पन्न झालेले पुत्र तीन आणि आनुलोम्येकरून उत्पन्न झालेले पुत्र तीन हे द्विजधर्मीं हटले आहेत. ह्मणजे ब्राह्मणापासून क्षत्रिया, वैश्या व शूद्रा यांचे ठायीं झालेले आणि वैश्यापासून शूद्रेचे ठायीं झालेले हे साहा पुत्र द्विजधर्मीं हटले आहेत, ह्मणजे ते उपनयनसंस्कारास योग्य होत, आणि जे अपध्वंसज, ह्मणजे द्विजातीपासून प्रातिलोम्येकरून उत्पन्न झाले ते सर्व शूद्रधर्मीं होत.

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ॥

उत्कर्ष चापकर्ष च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

तप आणि बीज यांच्या प्रभावांनी, सजार्तीपासून उत्पन्न झालेले व अनंतरजार्ती-
पासून झालेले मनुष्यांमध्ये युगायुगाचे ठायीं या संसारांत जन्मैकरून उंच नीच होतात.
तपाच्या प्रभावाने विश्वामित्रासारखे, व बीजाच्या प्रभावाने ऋष्यशृंगासारखे होतात.

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ॥

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

पुढें सांगितलेल्या ज्या सर्व क्षत्रियजाति त्यांच्या उपनयनादि संस्कारांचा लोप झाल्या-
मुळे आणि याजन, अध्यापन, प्रायश्चित्त यांकरितां ब्राह्मणांचें दर्शन नसल्यामुळे हळूहळू
लोकांचे ठायीं त्या सर्व क्षत्रियजाति शूद्रत्वाला पावल्या.

पौंड्रकाश्चौड्रविडाः कांबोजा यवनाः शकाः ॥

पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

पौंड्रक, औड्र, द्रविड, कांबोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद,
आणि खश या देशांत उत्पन्न झालेले क्षत्रिय उपनयनादि क्रियांचा लोप झाल्यामुळे शूद्र
झाले.

मुखबाहूरुपज्ञानां या लोके जातयो बहिः ॥

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आणि शूद्र यांच्या, उपनयनादिक क्रिया लुप्त झाल्यामुळे जित-
क्या जाति झाल्या त्या सर्व म्लेच्छभाषांनी युक्त असोत अथवा श्रेष्ठभाषांनी युक्त असोत ह्या
सर्व जाति दस्यु होत.

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः ॥

ते निंदितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

द्विजार्तीपासून आनुलोम्येकरून उत्पन्न झालेले जे सहा अपसद (दहाव्या श्लोकांत
सांगितलेले) ते, आणि अपध्वंसज (प्रतिलोमापासून उत्पन्न), या सर्वांनी ब्राह्मणांच्या
निंदित कर्मांनी उपजीविका करावी.

सूतानामश्वसारथ्यमंबष्ठानां चिकित्सनम् ॥

वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥

सूत, अंबष्ठ, वैदेहक, मागध, यांनी क्रमेकरून अश्वसारथ्य, वैद्यकी, स्त्रियांचे कार्य
(अंतैः पुररक्षण) आणि वैश्यवृत्ति यांहीकरून उपजीविका करावी.

मत्स्यघातो निषादानां तष्टिस्त्वायोगवस्य च ॥

मेदांध्रचुंचुमदूनामारण्यपशुर्हिसनम् ॥ ४८ ॥

निषादाचीजी विका मत्स्य मारणें; आयोगवाची काष्ठें तासणें; आणि मेद, अंघ्र, चुंचु, महु यांची आरण्य पशु मारणें ह्या उपजीविका जाणाव्या. ब्राह्मणापासून वैदेहक स्त्रीचेठायीं उत्पन्न झालेला तो चुंचु, आणि बंदिस्त्रीचेठायीं ब्राह्मणापासून झालेला तो महु होय. क्षत्रियापासून शूद्रेचे ठायीं झालेली कन्या बंदी स्त्री, तिलाच उग्रा असें ह्मणतात.

क्षत्रग्रपुक्कसानां तु बिलौको वधबंधनम् ॥

धिग्वणानां चर्म कार्यं वेणानां भांडवादनम् ॥ ४९ ॥

क्षत्ता, उग्र, पुक्कस यांची उपजीविका बिळांत राहणारे घोरपड इत्यादिक धरणें व मारणें; धिग्वणांची उपजीविका चर्मकार्य; वेणांची कांस्य, मृदंग इत्यादि वाद्ये वाजवणें याप्रमाणें उपजीविका जाणावी.

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ॥

वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयंतः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

ग्राम, इत्यादिकांजवळ जे प्रसिद्ध वृक्ष, श्मशान, पर्वत, उपवने यांच्या समीप या सर्वांनीं प्रसिद्ध आपापल्या कर्मावर उपजीविका करून राहावें.

चांडालश्वपचानां तु बहिर्ग्रीमात्प्रतिश्रयः ॥

अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभं ॥ ५१ ॥

वासांसि मृतचैलानि भिन्नभांडेषु भोजनं ॥

कार्णायसमलंकारः परिद्राव्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

चांडाल, श्वपच या दोघांनीं गांवाच्या बाहेर राहावें. ज्या लोहादि पात्रांवर यांनीं भोजन केलें तीं पात्रे पुनः व्यवहारांत घेऊं नयेत. यांचे धन कुत्रे, गर्दभ जाणावें. यांनीं शववस्त्रे धारण करावीं. फुटक्या मृन्मय पात्रांत भोजन करावें, लोखंडाचे अलंकार धारण करावे. नित्य भ्रमण करीत राहावें.

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ॥

व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥

धर्माचरण करणाऱ्या पुरुषाने यांच्या (चांडाल, श्वपाकांच्या) सहवर्तमान दर्शनादि व्यवहार करूं नये. कर्ज देणें घेणें, विवाहादि संबंध हे सर्व व्यवहार त्यांनीं सजातीशीं करावे.

अन्नमेषां परार्थीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने ॥

रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

यांला अन्न देणें असतां साक्षात् आपण देऊं नये, तर चाकराकडून फुटक्या पात्रांत द्यावें; ग्राम, नगर इत्यादि स्थानीं त्यांनीं रात्रीं संचार करूं नये.

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिन्हिता राजशासनैः ॥

अबांधवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

त्यांनीं दिवसा गांवांत देव घेव करण्याकरितां राजाच्या हुकुमाने जावे, व अनाथ प्रेत न्यावे, याप्रमाणें शास्त्रमर्यादा आहे.

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ॥

वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

राजाचे आज्ञेनें यथाशास्त्र वधाला योग्य ने पुरुष त्यांचा वध करावा. वधाला योग्य पुरुषांचीं वस्त्रे, शय्या, आभरणें धारण करावीं.

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ॥

आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥

संकरयोनीपासून उत्पन्न झालेला, वर्णरहित, लोकांनीं न जाणलेला, सज्जनाचा वेष धारण करणारा, असा पुरुष सज्जन नसेल तर त्याच्या कर्मावरून त्याची जाति समजावी.

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ॥

पुरुषं व्यंजयंतीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

अश्रेष्ठता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रियाराहित्य, यांहींकरून लोकांत संकरजाति पुरुषाला जाणतात.

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ॥

न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥

मातेचा स्वभाव अथवा पित्याचा स्वभाव किंवा उभयतां मातापितरांचा स्वभाव पुरुष ग्रहण करितो, संकरजाति कोणत्याहि प्रकारें आपला स्वभाव सोडीत नाही.

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्यादो निसंकरः ॥

संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

मोठ्या कुळांत उत्पन्न झालेला मनुष्य आहे आणि योनिसंकर आहे तर थोडा अथवा बहुत पित्याचा स्वभाव तो ग्रहण करितोच.

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायंते वर्णदूषकाः ॥

राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

ज्या राज्यांत वर्णाला दूषण करणारे वर्णसंकर उत्पन्न होतात ते राज्य जनासहित शीघ्र नाश पावते.

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ॥

स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण, गार्ह, स्त्रिया, बाल यांतून कोणत्या एकाच्याहि रक्षणाकरितां, दुष्टप्रयोजन-

रहित असा देहत्याग करील तर तो बाह्य (वर्णातून बाहेर) जरी आहे तथापि तो देहत्याग स्वर्गप्राप्तीला कारण होतो.

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), शुचिर्भूतपणा, इंद्रियनिग्रह हे धर्म संक्षेपाने चारहि वर्णांला मनून सांगितले.

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजापते ॥

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमायुगात् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणापासून शूद्रेचेठायीं जी कन्या होते ती पारशवी झटली आहे. ती कन्या ब्राह्मणाने वरिली, आणि तिच्यापासून कन्या उत्पन्न झाली, तिचा विवाह ब्राह्मणाशीं होऊन तिला कन्या झाली, या रीतीने कन्या उत्पन्न होत आल्या आणि त्यांचे विवाह ब्राह्मणजातीशीं होत गेले तर सहावी कन्या बीजाच्या प्राधान्येकरून ब्राह्मणजातीला उत्पन्न करिते, ह्मणजे सातव्या जन्मांत ब्राह्मण उत्पन्न होतो.

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम् ॥

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विदाद्वैश्यान्तथैव च ॥ ६५ ॥

पूर्वश्लोकांत सांगितल्या रीतीने शूद्र ब्राह्मणत्वाला पावतो, आणि ब्राह्मण शूद्रत्वाला पावतो. या रीतीने क्षत्रियापासून व वैश्यापासून उत्पन्न झालेल्यांविषयीं जाणावे. जसे; ब्राह्मणापासून शूद्रेचेठायीं जो उत्पन्न झाला तो पारशव होय, तो (पारशव) पुरुष शूद्रेशीं विवाह करून तिचेठायीं पुरुषालाच उत्पन्न करितो, तोहि शूद्रेशीं विवाह करून आणखी पुरुषालाच उत्पन्न करितो, या रीतीने पुत्र उत्पन्न होत आले आणि त्यांनीं शूद्रेशीं विवाह केला तर तो सहावा पुत्र योनीच्या नीचत्वाने शूद्रजातीला उत्पन्न करितो. या रीतीने क्षत्रियापासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न झालेली कन्या चवथ्या पुरुषाचे ठायीं, बीजाच्या प्राधान्येकरून क्षत्रियाला उत्पन्न करिते, आणि पुत्र चतुर्थ पुरुषाचे ठायीं योनीच्या नीचत्वाने शूद्राला उत्पन्न करितो, वैश्यापासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न झालेली कन्या दुसऱ्या पुरुषाचे ठायीं बीजाच्या प्राधान्येकरून वैश्याला उत्पन्न करिते, आणि पुत्र, दुसऱ्या पुरुषाचे ठायीं योनीच्या नीचत्वाने शूद्राला उत्पन्न करितो, या रीतीने ब्राह्मणापासून वैश्येचे ठायीं उत्पन्न झालेल्याचे उत्कर्ष व अपकर्ष पांचव्या पुरुषाचे ठायीं होतात. ब्राह्मणापासून क्षत्रियेचे ठायीं उत्पन्न झालेल्याचे उत्कर्षापकर्ष तिसऱ्या जन्मांत, क्षत्रियापासून वैश्येचे ठायीं उत्पन्न झालेल्याचे उत्कर्षापकर्ष तिसऱ्या जन्मांत होतात.

अनार्याणां समुत्पन्नो ब्राह्मणानु यदृच्छया ॥

ब्राह्मण्यामनार्याणां श्रेयस्त्वं केति चेद्वेत् ॥ ६६ ॥

नीच जातीचे ठायीं हणजे ब्राह्मणापासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न झाला, आणि नीच जातीपासून हणजे शूद्रापासून ब्राह्मणीचे ठायीं उत्पन्न झाला. या दोहोंमध्ये श्रेष्ठ कोण असा संशय असतां त्याचा निर्णय पुढच्या श्लोकांत सांगेल. संशयाचें कारण असें.— ब्राह्मणापासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न झालेला शूद्र बीजोत्कर्षास्तव श्रेष्ठ, आणि शूद्रापासून ब्राह्मणीचे ठायीं झालेला शूद्र क्षेत्रोत्कर्षास्तव तोहि श्रेष्ठ होईल.

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्याभवेद्गुणैः ॥

जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥

श्रेष्ठ बीजापासून नीचयोनीचे ठायीं हणजे ब्राह्मणापासून शूद्रेचे ठायीं उत्पन्न झालेला गुणांनीं श्रेष्ठ होतो. शूद्रापासून ब्राह्मणीचे ठायीं उत्पन्न झालेला तो प्रतिलोम्येकरून उत्पन्न असल्यामुळे शूद्रधर्माविषयीहि तो अनधिकारी आहे, हणून तो नीच, याप्रमाणें निश्चय जाणावा.

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ॥

वैगुण्याज्जन्मनः पूर्वं उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

पारशव आणि चांडाल हे दोघेहि उपनयनसंस्काराला योग्य. नाहींत, असी शास्त्रमर्यादा आहे; कारण, पूर्व (पारशव) नीचजातीचे ठायीं (शूद्रेचे ठायीं) उत्पन्न झाला आहे, आणि दुसरा (चांडाल) प्रतिलोम आहे.

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा ॥

तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥

जसें उत्तम बीज उत्तम क्षेत्रांत पेरिलें असतां उत्तम सस्य उत्पन्न होतें, तद्वत् श्रेष्ठापासून श्रेष्ठस्त्रीचे ठायीं उत्पन्न झालेला सर्व संस्कारांला पात्र होतो.

बीजमेके प्रशंसंति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ॥

बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं नु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

कोणी पंडित बीज उत्तम असें हणतात, कोणी पंडित क्षेत्र उत्तम असें हणतात, कोणी पंडित बीज आणि क्षेत्र ह्या उभयतांची प्रशंसा करितात, हणून याविषयीं पुढें जी व्यवस्था सांगणें आहे ती जाणावी.

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्ट्यंतरेव विनश्यति ॥

अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थंडिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

उषर भूमीचे ठायीं बीज पेरिलें तर तें नष्ट होतें, त्यापासून अंकुर उत्पन्न होत नाहीं, आणि क्षेत्र उत्तम पण तें बीजरहित आहे तर तें केवळ स्थंडिल होय, त्यापासून फल उत्पन्न होणार नाहीं, याकरितां उत्तम बीज उत्तम क्षेत्रांत पडेल तर त्यापासून उत्तम फल उत्पन्न होतें हें पूर्वी सांगितलें. तस्मात् दोघांचें प्राधान्य आहे असें जाणावें.

यस्माद्वीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ॥

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्वीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥

ज्या कारणास्तव बीजाच्या प्रभावेकरून तिर्यक् जातीचे ठायीं (हारेणीचे ठायीं) ऋष्यशृंगादि ऋषि उत्पन्न झाले आणि ते पूजित व प्रशस्त झाले, याकरितां बीज प्रशस्त आहे, लक्षणजे बीज आणि योनि यांमध्ये बीजेकरून उत्कृष्ट जाति प्रधान आहे असें समजावें.

अनार्यमार्यकर्माणमार्य चानार्यकर्मिणम् ॥

संप्रधार्याब्रवीद्वाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥

नीच आहे पण श्रेष्ठ कर्म करणारा आहे, आणि श्रेष्ठ असून नीचकर्म करणारा आहे, या दोहोंचा विचार करून ब्रह्मदेवानें सांगितलें कीं, सम नाही, व असम नाही, कां कीं, द्विजातीचें कर्म करणारा शूद्र द्विजातीशीं सम होत नाही, लक्षणजे द्विजातिकर्माचा अनधिकारी द्विजातीचें कर्म जरी करील तथापि तो द्विजातीशीं सम होत नाही, या रीतीनें शूद्राचें कर्म करणारा द्विजाति शूद्राशीं सम होत नाही. निषिद्धकर्म केल्यानें जात्युत्कर्ष दूर होत नाही, व असमहि नाही. निषिद्धकर्म केल्यानें दोहोंची समता होते, याकरितां ज्याला जें कर्म निंदित असेल तें त्यानें करूं नये, हा वर्णसंकरपर्यंत नियम आहे.

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ॥

ते सम्यगुपजीवियुः षट् कर्माणि यथाक्रमं ॥ ७४ ॥

जे ब्राह्मण ब्रह्मप्राप्तीला कारण अशा ब्रह्माच्या ध्यानानें युक्त होऊन स्वकर्माचे ठायीं स्थिर रहातात त्यांनीं अध्यापनादि सहा कर्मे आचरण करावीं.

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ॥

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करणें यज्ञ करविणें, दान देणें, दान घेणें हीं सहा कर्मे ब्राह्मणांचीं होत.

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ॥

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

त्रयो धर्मा निवर्तते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति ॥

अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ॥

न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

ह्या सहा कर्मांतून तीन कर्मे (अध्यापन, यज्ञ करविणें, आणि विशुद्ध पुरुषापासून प्रतिग्रह करणें) हीं ब्राह्मणांचीं उपजीविकाभूत होत. ब्राह्मणाच्या जीविकेकरितां जीं तीन कर्मे

सांगितलीं तीं क्षत्रियांस नाहीत, क्षत्रियाला जशीं तीन पूर्वोक्त कर्मे उक्त नाहीत, तशीं वैश्यासही नाहीत असे प्रजापति मनूनं सांगितलें. अध्ययन, दान, यजन हीं तीन कर्मे क्षत्रिय व वैश्य यांस विहित आहेत.

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुरुषिर्विशः ॥

आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यज्ञिः ॥ ७९ ॥

शस्त्रे (खड्गादिक) व अस्त्रे (वाणादिक) हीं दोन धारण करणे हे क्षत्रियांचें कर्म; व्यापार, पशुरक्षण, शेती हीं कर्मे वैश्यांचीं होत, हीं यांला उपजीविकाभूत जाणावीं, आणि अध्ययन, दान देणे, यज्ञ करणे हीं दोघांला धर्मार्थ आहेत.

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणं ॥

वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

ब्राह्मणाचें श्रेष्ठ कर्म वेदाभ्यास, क्षत्रियाचें श्रेष्ठकर्म रक्षण, आणि वैश्याचें श्रेष्ठकर्म व्यापार व पशुपालन; याप्रमाणें आपापल्या मर्कांमध्ये तिघांचीं तीन श्रेष्ठ कर्मे जाणावीं.

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ॥

जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनंतरः ॥ ८१ ॥

ब्राह्मण स्वकर्मानें उपजीविका करण्याविषयीं असमर्थ असेल तर त्यानें क्षत्रियाच्या कर्मेकरून उपजीविका करावी; कारण, ब्राह्मणाला क्षत्रिय समीप आहे.

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ॥

रुषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकां ॥ ८२ ॥

स्वकर्म व क्षत्रियकर्म या दोहोंनींहि उपजीविका करण्याविषयीं ब्राह्मण असमर्थ असेल तर त्यानें शेती, पशुपालन, व्यापार ह्या वैश्यकर्मांनीं उपजीविका करावी.

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोपि वा ॥

हिंसाप्रायां पराधीनां रुषि यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

वैश्यकर्मानें उपजीविका करणारा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय यानें रुषिकर्म यत्नपूर्वक वज्र्य करावें, कारण, रुषि ही पराधीन (बैल इत्यादिकांचे आधीन) व भूमिस्थित प्राण्यांची हिंसा जीत बहुत होते असी आहे.

रुषिं साध्विति मन्यंते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ॥

भूमिं भूमिशयांश्चैव हंति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥

कोणी कोणी रुषिवृत्ति उत्तम आहे असें लणतात, परंतु तें योग्य नाही; कां की, भूमि, व भूमिस्थित जीव यांचा नाश नांगर, कुदळें हीं करितात, याकरितां रुषिवृत्ति साधु लोकांनीं निंदित केली आहे.

इदं तु वृत्तिवैकल्याच्च जतो धर्मनैपुणम् ॥

विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय हे आपापल्या जीविकेवर निर्वाह करण्याविषयी असमर्थ असतील, आणि वैश्यवृत्तीने निर्वाह करतील तर पुढे जे पदार्थ विकण्याविषयी वर्ज्य केले त्यांचाचून इतर द्रव्यवृद्धि करणारे पदार्थ त्यांनी विकावे.

सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ॥

अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

वर्ज्य पदार्थ सांगतो— सर्व रस, सिद्धार्थ (पांढरे शिरस), तिल, पाषाण, लवण, पशु, आणि मनुष्य हे विकू नयेत. रसांच्या निषेधाने लवणाचा निषेध सिद्ध झाला असता पुनः जो लवणाचा निषेध केला तो दोषगौरव सूचित होण्याकरिता आहे व तोही प्रायश्चित्तगौरवार्थ सांगितला, या रीतीने इतर पदार्थांचाहि दृढक् दृढक् निषेध समजावा.

सर्वं च तांतर्व रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ॥

अपि चेत्सुररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥

तंतूपासून उत्पन्न झालेली सर्व वस्त्रे; रक्त वस्त्रे; सण, अतसी, व मेंढे यांच्या पासून होणारी वस्त्रे; श्वेत, अथवा आरक्त फलमूल औषधी ही विकू नयेत.

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गंधांश्च सर्वशः ॥

क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ॥

मद्यं नीलं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥

जल, लोह, विष, मांस, सोमलता, गंधयुक्त द्रव्ये (कापूरादिक), मूध, मधु, दही, घृत, तेल, मधूच्छिष्ट (सोम), गुड, कुश, आरण्यकपशु, दाढायुक्त (सिंहादिक), पक्षी, मद्य, नीळ, लाल आणि सर्व प्रकारचे एकशफ पशु (अश्वादिक) हे विकू नयेत.

कामयुत्पाथ कृष्णा तु स्वयमेव कृषीवलः ॥

विक्रीणीत तिलान् शुद्धान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

शेती करणारा शेतांत तिल उत्पन्न करील आणि ते तिल शुद्ध असून फार दिवसपर्यंत घरांत न राहिलेले असे असतील तर ते धर्मार्थ विकावे, लाभार्थ विकू नयेत.

भोजनाभ्यंजनादानाद्यदन्यत्कुसुते तिलैः ॥

कृमिभूतः श्वविष्टायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

भक्षण, दान आणि अभ्यंग यांचाचून इतर कार्याला (विक्रयादिकाला) तिलाचा उपयोग करील तर तो किडा होऊन आपल्या पितरांसह कुत्र्याचे विष्टेत बुडतो.

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ॥

अपहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

मांस, लाख, लवण यांच्या विक्रयेकरून ब्राह्मण तत्काल पतित होतो, दुधाच्या विक्रयाने तीन दिवसांनी शूद्र होतो.

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ॥

ब्राह्मणः सप्त रात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इच्छापूर्वक दुसऱ्या वस्तूचा विक्रय केल्याने ब्राह्मण सात रात्रींनी वैश्यभावाला पावतो.

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ॥

कृताब्जं चाकृतान्जेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

रस (गूळ इत्यादि) रसांनी (घृतादिक रसांनी) बदला करावे. लवण दुसऱ्या रसांनी बदलकरून नये, सिद्धांजे आम्रांजेकरून व तिल धान्यप्रस्थाने समान बदला करावे.

जीवेदेनेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ॥

न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

आपत्तीप्रत पावलेल्या अशा क्षत्रियाने पूर्वकथित उपजीविकेने निर्वाह करावा; परंतु ब्राह्मणाच्या उपजीविकेने निर्वाह करण्याचा अभिमान कदापि करू नये.

यो लोभादधमो ज्ञान्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ॥

तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

जो अधमजाति मनुष्य लोभाने श्रेष्ठजातिविहित कर्मांनी उपजीविका करील त्याला राजाने निर्धन करून शीघ्र देशपार करावे.

वर्धं स्वधर्मो विगुणो न पारकथः स्वनुष्ठितः ॥

परधर्मेण जीवन्निह सद्यः पतति जातिनः ॥ ९७ ॥

स्वधर्म विगुण जरी आहे तथापि तोच आचरण करावा. परंतु दुसऱ्याचा धर्म आचरण करू नये, परधर्मावर उपजीविका करणारा जातीपासून शीघ्र भ्रष्ट होतो.

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ॥

अनाचरन्मकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

आपत्काली वैश्य आपल्या वृत्तीने उपजीवन करण्याविषयी असमर्थ असेल तर त्याने शूद्रवृत्तीने (द्विजातिशुश्रूषेने) निर्वाह करावा. अकार्ये (उच्छिष्टभोजनादिक) करू नयेत. आपत्तिमुक्त झाल्यानंतर शूद्रवृत्तीपासून निवृत्त व्हावे.

अथाकुर्वन्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ॥

पुत्रदारात्पर्यं प्राप्नो जीवेत्काश्चकर्मभिः ॥ ९९ ॥

शूद्र द्विजातींची सेवा करण्याविषयी असमर्थ असेल आणि त्याची स्त्रीपुत्रादिक क्षुधेने म्लान होतील तर त्याने सूपकारादिकर्मांनी निर्वाह करावा.

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ॥

तानि कारककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १०० ॥

ज्या कर्मांनी द्विजातींची सेवा होईल तीं तक्षणादिक कारक कर्मे, आणि नानाप्रकारची शिल्प (चित्रलिखनादि) कर्मे हीं शूद्राने करावी.

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ॥

अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥

वैश्यवृत्ति न करणारा, आणि उपजीविकेविषयी कष्ट पावणारा असा ब्राह्मण आपल्या मार्गी स्थित असेल तर त्याने पुढे सांगितल्या धर्माप्रमाणे निर्वाह करावा.

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ॥

पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

आपत्तिकाली ब्राह्मणाने सर्वापासून, झणजे निंदित वर्णापासूनहि दानप्रतिग्रह करावा; कारण, पवित्र पदार्थ (गंगादिक) दोषी होतो ही गोष्ट धर्मेकस्न सिद्ध होत नाही.

नाध्यापनाद्याजनाद्या गर्हिताद्या प्रतिग्रहान् ॥

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनांबुसमाहिते ॥ १०३ ॥

वेदपढविणे, यज्ञ करविणे आणि निदितापासून दानप्रतिग्रह करणे यांपासून ब्राह्मणाला दोष प्राप्त होत नाही; कारण, अग्नि व उदक यांसारखा ब्राह्मण पवित्र आहे.

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमस्ति यतस्ततः ॥

आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

जसे आकाश कर्दमांतहि असून कर्दमापासून अलिप्त आहे, तद्वत् जो ब्राह्मण प्राणांत संकट प्राप्त असतां प्रतिलोमजापासून अन्न भक्षण करितो तो पापलिप्त होत नाही.

अजीगर्तः सुतं हंतुमुपासर्पद्भुक्षितः ॥

न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥

अजीगर्त ऋषि क्षुधेने पीडित झाला असतां त्याने आपला पुत्र शुनःशोप (हरिश्चंद्राला) विकला. यज्ञांत शंभर गाई घेऊन यज्ञस्तंभाला बांधून मारण्याविषयी प्रवृत्त झाला. क्षुधाशांति होण्याकरितां असे कर्म केले असतांहि तो पापाने लिप्त झाला नाही. ही कथा ऋग्वेदाच्या ऐतरेय ब्राह्मणांत स्पष्ट आहे.

धर्मांसमिच्छन्नातोऽनुं धर्माधर्मविचक्षणः ॥

प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

धर्माधर्म जाणणारा असा वामदेवऋषि क्षुधेने पीडित झाला असतां प्राणरक्षणार्थं कुत्र्याचे मांस भक्षण करण्याविषयी इच्छित असतांहि तो पापलिप्त झाला नाही.

भारद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ॥

बव्हीर्गाः प्रनिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥

महातपस्वी भारद्वाज ऋषि पुत्रासहित क्षुधेन पीडित झाला असतां त्यानें निवर् अरण्यांत वृधु नामक तक्षा (सुतारा) पासून पुष्कळ गाईंचें दान घेतलें.

क्षुधार्तश्चान्तुमभ्यागादिश्वामित्रः श्वजाघनीम् ॥

चंडालहस्तादादाय धर्माधर्माविचक्षणः ॥ १०८ ॥

धर्माधर्म जाणणारा असा विश्वामित्र ऋषि क्षुधेन पीडित झाला त्या वेळीं त्यानें चांडालाच्या हातांतून कुऱ्याचे जंघेचें मांस घेऊन तें भक्षण करण्याचा निश्चय केला.

प्रतिग्रहावाजनादा तथैवाभ्यापनादपि ॥

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गृहीतः ॥ १०९ ॥

प्रतिग्रह, याजन, आणि अध्यापन ह्या उपा तीन वृत्ति यांमध्ये आपत्काल नसतां असतप्रतिग्रह करणे हें परलोकी ब्राह्मणास फार निंदित आहे.

याजनाभ्यापने नित्यं क्रियते संस्कृतात्मनाम् ॥

प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यंत्यजन्मनः ॥ ११० ॥

याविषयी कारण सांगतो— आपत्काली अथवा अनापत्काली ब्राह्मणानें उपनयन-संस्कारयुक्त जे द्विजाति झाला पढवावें, व त्याचें ऋत्विक्कर्म करावें, आणि प्रतिग्रह करणे तो निरुष्ट जातीपासूनहि करावा, याकरितां या दोहोंपेक्षां प्रतिग्रह निंदित झटला आहे.

जपहोमैरपेत्येनो याजनाभ्यापनैः कृतं ॥

प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

याजन (ऋत्विक्कर्म करणे) व अध्यापन करणे यांपासून जें पाप होतें तें जपहोम करून दूर होतें. प्रतिग्रहापासून जें पाप होतें तें तपानें, व दान घेतलेल्या वस्तूचा आग केळ्यानें दूर होतें.

शिलोच्छ्रमप्याददीत विप्रो जीवन्मृतस्ततः ॥

प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युच्छ्रमः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

आपल्या जीविकेनें निर्वाह करण्याविषयी असमर्थ ब्राह्मण असेल तर त्यानें उपपातकी इत्यादिकांपासून शिल व उच्छ्रम ग्रहण करावें, परंतु असतप्रतिग्रह करूं नये. प्रतिग्रहाहून शिल प्रशस्त, शिलाहून उच्छ्रम श्रेष्ठ.

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः ॥

याव्यः स्यात्स्नातकैश्चिप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥

धर्म आणि कुटुंब यांच्या करितां कष्ट पावणारे जे निर्धन ब्राह्मण त्यांनीं सोनें, रुपें

वर्ज्यं करून धान्य, वस्त्र व यागादिकांसाठीं सोनें, रुपें शास्त्रोक्तकर्मविरहित क्षत्रिया-
पासूनहि मागावें. जो क्षत्रिय रुपणत्वेकरून धन देणार नाही आजपाशीं मागूं नये.

अकृतं च कृतात्क्षेत्रात् गौरजाविकमेव च ॥

हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वपूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

सस्यसहित क्षेत्राहून सस्यरहित क्षेत्राचा प्रतिग्रह करावा तो दोषरहित आहे, आणि
गाय, वकरा, मेंढा, सुवर्ण, अन्न, सिद्धान्न यांमध्ये पूर्वपूर्व उत्तरोत्तराहून दोषरहित आहे,
याकरितां पूर्वपूर्वाच्या अभावीं पुढचें पुढचें ग्रहण करावें.

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ॥

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥

दाय (विभागानें प्राप्त), लाभ (भूमीत पुरून ठेवलेले मिळालेले, अथवा मैत्री इत्या-
दिकानें मिळालेले), क्रय (मोल देऊन घेतलेले), जय (जिंकून मिळालेले), प्रयोग
(व्यापारांत मिळालेले), कर्मयोग (कृषि कर्म करून मिळालेले), आणि सत्प्रतिग्रह
करून मिळालेले अशा सात प्रकारांनीं द्रव्यप्राप्तीचे आगम (मार्ग), धर्म्य (धर्मयुक्त)
आहेत. यांतून जिंकून मिळविणें हा क्षत्रियाला धर्म्य व्यापार, कृषि करून मिळविणें
वैश्याला धर्म्य, आणि सत्प्रतिग्रह ब्राह्मणाला धर्म्य जाणावा.

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ॥

भृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

विद्या (वेदविद्याव्यतिरिक्त वैद्यक, तर्कविद्या, न्याय, विषाची शुद्धि), शिल्प (लिख-
नादि), भृति (मजुरी, वेतन), सेवा (दुसऱ्याची आज्ञासंपादन), गार्ह्ये रक्षण,
व्यापार, कृषिकर्म, संतोष, भैक्ष्य (भिक्षासमूह), व्याजब्रह्म करणें हे दहा उपाय उपजी-
विकेला कारण होत, ह्मणजे आपत्काल असतां जी जीविका ज्याला निषिद्ध आहे ती त्यानें
आपत्कालीं आचरण करावी.

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ॥

कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽन्विकाम् ॥ ११७ ॥

ब्राह्मण, अथवा क्षत्रिय यांनीं व्याज घेऊं नये, निरुद्ध कर्म करणारास, धर्मार्थ
थोडें व्याज घेऊन यथेष्ट धन द्यावें.

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ॥

प्रजा रक्षन्परं पातत्या किञ्चिदात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥

आतां राजाचे आपद्धर्म सांगतो— यथाशक्ति प्रजाचें रक्षण करीत होताता,
आपत्कालीं प्रजांपासून चौथा भाग ग्रहण करणारा राजा पातकापासून मुक्त होतो.

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराभवः ॥

शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्ममाहारयेद्बलिम् ॥ ११९ ॥

शस्त्रेकरून जयप्राप्ति आणि संप्रामांतून पळून न जाणें हे दोन धर्म राजाचे होत. शस्त्रानें चोरांपासून वैश्यांचें रक्षण करून त्यांपासून यथाशास्त्र कर घ्यावा.

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं त्रिंशं कार्षापणावरम् ॥

कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ १२० ॥

धान्याबद्दल वैश्यांपासून कर, वीस रुपये नफा असतां आठवा भाग घ्यावा, आपत्काल अथवा अत्यंत आपत्काल असेल तर चौथा भाग घ्यावा, आपत्काल नसतां बारावा भाग घ्यावा. हिरण्य (मोहोर इत्यादि), पशु यांचा पन्नासावा भाग घ्यावा, आपत्कालीं विसावा भाग घ्यावा, शूद्र, कार (सूपकारादि), शिल्पी (सुतार इ०) यांच्यापासून आपत्कालीं सुद्धां कर घेऊं नये, परंतु त्यांपासून तें तें काम करून घ्यावें.

शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन् क्षत्रमागधयेद्यदि ॥

धनिर्न वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥

ब्राह्मणाची सेवा करून उपजीविका करण्याविषयीं असमर्थ असा शूद्र उपजीविकेची इच्छा करील तर त्याने क्षत्रियाची सेवा करून उपजीविका करावी. अथवा धनिक वैश्याची सेवा करून उपजीविका करावी.

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ॥

ज्ञातब्राह्मणवाग्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥

स्वर्गप्राप्त्यर्थ, अथवा उपजीविका आणि स्वर्ग या दोहोंकरितां शूद्रानें ब्राह्मणाचीच सेवा करावी. ब्राह्मणाची सेवा करणारा शूद्र होय, असें या संसारांत प्रसिद्ध होणें ही, इहलोकीं शूद्राची कृतकृत्यता आहे.

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ॥

यदतोऽन्यादि कुरुते तद्व्यत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥

ब्राह्मणाची सेवा हेंच शूद्राचें मुख्य कर्म झटलें आहे. तें सोडून तो दुसरें कर्म करील तर तें त्याचे निष्फल होतें.

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुंबाद्यथार्हतः ॥

पार्श्वे चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥ १२४ ॥

सेवा करणारा जो शूद्र त्याचे सेवासामर्थ्यकर्म; उत्साह, पुत्र स्त्री इत्यादिकांचें पोषण-परिमाण या सर्वांचा विचार करून ब्राह्मणांनीं आपल्या घरीं त्याची योग्य उपजीविका करावी.

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ॥

पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥

उच्छिष्ट अन्न, जुनी वस्त्रे, धान्यांचे फोल, जुनी शय्या, आणि जुनी घराची सामग्री हीं सर्व आश्रित शूद्राला द्यावीं.

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ॥

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥

लसुण इत्यादिक भक्षणापासून शूद्राला कोणतेंहि पातक नाही, उपनयनादि संस्कार, अग्निहोत्रादि धर्म हे नाहीत. पाकयज्ञादि धर्मांचा निषेधहि नाही. हा विचार पूर्वी एकवार सांगितला असतां पुनः हें वचन अनुवादार्थ आहे.

धर्मेऽस्तवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ॥

मंत्रवर्ज्यं न दुष्यति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

आपला धर्म जाणण्याची इच्छा करणारे, धर्मप्राप्तीची इच्छा करणारे, द्विजातींच्या अनिषिद्ध आचारांचा आश्रय करणारे असे जे शूद्र त्यांनी नमस्कारमंत्रेकडून पंचमहायज्ञादि कर्म कराने, त्याग करून नये, तेणेंकडून ते प्रशंसायी न होतां प्रशंसेला पावतात.

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ॥

तथा तथेमुं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिंदितः ॥ १२८ ॥

दुसऱ्याच्या गुणाची निंदा न करितां शूद्र जसजसा सदाचाराचा आश्रय करितो तसा तसा ह्या लोकीं जनांनीं अनिंदित होत्सता परलोकीं स्वर्गाला पावतो.

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः ॥

शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥

धन संपादन करण्याविषयीं समर्थ जरी शूद्र असेल तथापि त्यानें धनसंग्रह करूं नये. कारण, शूद्राला धन प्राप्त झाल्यानें तो उन्मत्त होऊन ब्राह्मणांसच पीडा करील, जणजे त्यांची शुश्रूषा करणार नाही.

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ॥

याम्सम्यगनुतिष्ठन्ति वर्जन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आणि शूद्र ह्या चार वर्णांचे हे आपद्धर्म सांगितले. ज्या आपद्धर्मांचा उत्तमरीतीनें आश्रय केला असतां मोक्षलक्षणगतीप्रत पावतात.

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे मृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

चार वर्णांचीं संपूर्ण धर्मविधि ह्या सांगितला. यानंतर शुभ असा प्रायश्चित्तविधि सांगेन.
इति मानवधर्मशास्त्रे महाराष्ट्रभाषायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अध्याय अकरावा.

प्रायश्चित्तविधि सांगतो.

सांतानिकं यक्ष्यमाणमध्वर्गं सर्ववेदसम् ॥
गुर्वर्थं पितृमात्रार्थं स्वाध्यायाध्युषतापिनः ॥ १ ॥
नवैतान् स्नानकान्विद्याह्नाह्नाणान्धर्मभिक्षुकान् ॥
निःस्त्रेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

विवाहाची इच्छा करणारा; ज्योतिष्टोमादियागांची इच्छा करणारा, पांथ, सर्वस्वदक्षिण विश्वजिज्ञासू करणारा; विद्यागुरु, माता, पिता ह्या तिघांला भोजनाच्छादन देणारा; वेदपठण-समयी भोजनाच्छादनाची इच्छा करणारा, ब्रह्मचारी आणि रोगी; हे नऊ ब्राह्मण स्नातक झणजे ब्रह्मचारी झटले आहेत आणि हे धर्मभिक्षाशील होत. हे सर्व निर्धन असतील तर त्यांच्या विद्येला योग्य असे हिरण्यादिक यांला विशेषेकरून द्यावे. (आतां या स्थानीं असी आशंका उत्पन्न होते कीं दहाव्या अध्यायाच्या शेवटीं असे सांगितले कीं, यानंतर प्रायश्चित्तविधि सांगेन, असी प्रतिज्ञा केली आणि स्नातक ब्रह्मचार्यांचे वर्णनाचा प्रारंभ केला, तो प्रतिज्ञेला निरुद्ध आहे. त्याचें समाधान असें करितो कीं करण्यास अयोग्य कार्य करणारे दानेकरून शुद्ध होतात, हें सांगितलें, आणि सर्पादिकांच्या वधाची शुद्धि दानापासून न होईल तर त्यानें दुसरे प्रायश्चित्त करावें असें पुढें सांगणें आहे, याकरितां दानपात्राचें वर्णन करणें हें महत् प्रायश्चित्त आहे त्यापेक्षां त्याचा प्रारंभ केला हें युक्त. आणि या अध्यायाचें प्रयोजनही हें आहे कीं, वर्ण आणि आश्रम ह्या धर्मांची प्रायश्चित्ते भिन्न भिन्न सांगावी व नैमित्तिक धर्मांचीहि प्रायश्चित्ते भिन्न भिन्न सांगावी, हें हि ह्या अध्यायांत सांगणें योग्य आहे.)

एतेभ्यो हि विज्ञान्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ॥

इतरेभ्यो बहिर्वेदिकताम्रं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

हे जे पूर्वोक्त नऊ ब्राह्मणश्रेष्ठ यांला वेदीच्या आंत दक्षिणासहित अन्न द्यावें, यांहून जे इतर आला वेदीच्या बाहेर सिद्धान्त द्यावे, यांला धनदानाविषयी नियम नाही.

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ॥

ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

राजानें वेदवेद्या ब्राह्मणांस सर्व रत्ने आणि यज्ञार्थ दक्षिणा हीं द्यावीं.

कृतदारोऽपरान् दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ॥

रतिमात्रं फलं तस्य ब्रह्मदानुस्तु संततिः ॥ ५ ॥

जो सभार्य असून भिक्षा मागून त्या धनाने (संतति आदि निमित्तावांचून) दुसरा विवाह करितो त्याला रतिमात्र फल मिळेल, ज्याने विवाहाला द्रव्य दिले त्याची ती संतति होते, तस्मात् अशा प्रकारे धन संपादन करून दुसरा विवाह करू नये.

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ॥

वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

स्त्रीपुत्रांचे ठायीं आसक्त असोत परंतु वेद पढणारे अशा ब्राह्मणांला राजाने गोभू-हिरण्यादिक धनें यथाशक्ति द्यावीं, तेणेंकरून राजाला स्वर्गप्राप्ति होते.

यस्य वै वार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ॥

अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

अवश्य पोष्यवर्ग भृत्य, स्त्री, पुत्रादिक अशांचें तीन वर्षेपर्यंत पोषण होण्यास पुरेल इतकें धन अथवा धान्यादिक ज्या पुरुषापाशीं असेल तो सोमयाग करण्याला योग्य होतो.

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ॥

स पीतसोमपूर्वोपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

याहून कमी द्रव्य असतां जो सोमयाग करितो त्याचा तो सोमयाग पहिलाच असेल तथापि तो सांग होणार नाही, दुसऱ्याचें तर सर्वथा फल मिळणारच नाही.

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ॥

मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

जो अवश्य पोष्यवर्गाचें पोषण करित नाही, आणि कीर्ति मिळण्याकरितां इतरांला मात्र देतो, व पोष्यवर्ग दुःखानें वांचत आहे, तर असा पुरुष धर्माचा प्रतिरूपक होतो, ह्मणजे तो धर्मदाता नव्हे, तर प्रथम कीर्ति मात्र मिळते, परंतु नंतर नरक प्राप्त होतो.

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ॥

तद्भवत्यसुखोदकं जीवितश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

भृत्य, पुत्र, स्त्री, माता, पिता इत्यादिक जो पोष्यवर्ग त्याला जिवंतपणीं पीडा देऊन तो (पोष्यवर्ग) मृत झाल्यानंतर परलोकासाठीं जो त्यांचें दानादिक और्ध्वदेहिक कर्म करितो तो जीवंत असतां व मृत असतांही तें दान त्याला दुःख देणारें होतें, तस्मात् असें करू नये.

यज्ञश्चेत्यतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वनः ॥

ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥

यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ॥

कुटुंबात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

धार्मिक राजा असतां ज्या ब्राह्मणाचा अथवा क्षत्रियाचा यज्ञ, इतर सामग्री असल्यामुळे एका अंगाने असंपूर्ण होईल, आणि पाकयज्ञादिविरहित, व सोमरहित, व बहुत पशूंनी युक्त असा वैश्य असेल तर त्या वैश्याच्या घरांतून यज्ञाला योग्य असे द्रव्य बलात्कार करून किंवा चौर्य करून यज्ञ करणाराने यज्ञाच्या सिद्धयर्थ घ्यावे.

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वैश्यनः ॥

न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

यज्ञाचीं तीन किंवा दोन अंगे द्रव्यावांचून सिद्ध होत नसतील आणि वैश्यापासूनहि धन मिळत नसेल तर शूद्राच्या घरांतून बलात्काराने किंवा चौर्यकर्मने धनग्रहण करावे, कां की, शूद्राला कोणताहि यज्ञसंबंध नाही.

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ॥

तयोरपि कुटुंबाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

जो अग्निहोत्री नसून शंभर गाई ज्याच्या जवळ आहेत तो, अथवा यज्ञ करणारा नसून सहस्र गाई ज्याच्या जवळ आहेत तो, या दोघांच्या घरांतून यज्ञाच्या अंगाची सिद्धि होण्याकरितां धनग्रहण करावे, याविषयी विचार करूं नये.

आदाननित्याच्चादानुराहरेदप्रयच्छतः ॥

तथा यशोऽस्य प्रथने धर्मश्चैव प्रयर्धने ॥ १५ ॥

जो ब्राह्मण नित्य प्रतिग्रह मात्र करितो; आणि वापी, कूप, तळाव, यज्ञ, दान यांतून कांही करित नाही त्यापासून यज्ञाचे सिद्धीकरितां धन मागावे, तो न देईल तर बलात्कार अथवा चोरी करून त्याच्या घरांतून धन घ्यावे, त्यापासून घेणाराची प्रसिद्धि होते व धर्म वृद्धिगत होतो.

तथैव सप्तमे भस्ते भक्तानि षडनभ्रता ॥

अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

एक दिवसरात्रांत दोन वेळ भोजन करावे अशी शास्त्राची आज्ञा आहे, यामध्ये साहा वेळ ज्याने भोजन केले नाही त्याला तीन दिवस उपोषणे घडली. नंतर चौथ्या दिवशी पहिले भोजन शाब्दानंतर, एक दिवसाला पुरेल इतके अन्न हीनकर्म करणारापासूनहि आणावे.

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ॥

आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥

खळे, शेता, गृह, यांपैकी जेथे मिळेल तेथून अन्न (धान्य) चोरून आणावे; आणि जर अन्नस्वामी विचारिल कीं हें कोठून चोरिले, तर त्याला चोरीचे निमित्त सांगावे.

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ॥

दस्पुनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

यज्ञादिकर्जापूर्वोक्त निमित्तं यांच्या करितां हि क्षत्रियानें ब्राह्मणाचें धन कदापि चोरूं नये. अत्यंत आपत्काल प्राप्त होईल तर निषिद्ध कर्म करणारा, विहित कर्माचा त्याग करणारा असा ब्राह्मण, आणि क्षत्रिय यांच्या घरांतून चोरी करून धन आणावें.

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ॥

स कृत्वा ह्रवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥

जो मनुष्य असाधु लोकांपासून द्रव्य घेऊन साधुलोकांला (ऋत्विजादिकांला) देतो, तो आपल्या आत्माची नौका करून दोषांला (ह्मणजे ज्यापासून द्रव्य ग्रहण केलें तो, आणि ज्याला दिलें तो या उभयतांला) तारितो.

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ॥

अयज्वनां तु यद्विद्वत्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

यज्ञ करणाऱ्यांचें जें धन तें देवस्व (देवांचें धन) असें पंडित ह्मणतात. आणि यज्ञ न करणाऱ्यांचें जें धन तें आसुर धन ह्मटलें आहे.

न तस्मिन्धारयेद्दंडं धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥

क्षत्रियस्य च बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त निमित्ताकरितां चौर्यकर्म करणाऱ्या ब्राह्मणाला धार्मिक राजानें दंड करूं नये. कां कीं, राजाच्या मूर्खपणानें ब्राह्मण क्षुधेनें पीडित होतो.

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुंबान्महीपतिः ॥

श्रुतशाले च विज्ञाय धर्म्यां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

ब्राह्मणाचे सेवकजन, कुटुंब (पोष्यवर्ग), अध्ययन, आचरण हें सर्व जाणून त्याची धर्मयुक्त उपजीविका राजानें करावी.

कल्पायित्वास्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समंततः ॥

राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥

राजानें ब्राह्मणाची जीविका करून शत्रुचोरादिकांपासून त्याचें रक्षण करावें. त्याचें रक्षण केल्यामुळे तो (ब्राह्मण) जो धर्म करील त्याचा सहावा अंश राजाला प्राप्त होतो.

न यज्ञार्थं धनं शूद्रादिप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ॥

यज्ञमानो हि भिक्षित्वा चंडालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

ब्राह्मणानें यज्ञाकरितां शूद्रापासून कदापि धन मागूं नये. कदाचित् मागून त्या द्रव्यानें तो यज्ञ करील तर दुसऱ्या जन्मीं चांडाल होईल.

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ॥

स याति भासता विप्रः कारकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

यज्ञार्थं इव्य मागितलें असतां जो मनुष्य संपूर्ण धन देत नाही तो शंभर जन्मपर्यंत भासपक्षी, अथवा काकपक्षी होतो.

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ॥

स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

जो मनुष्य देवाचें अथवा ब्राह्मणाचें धन लोभानें हरण करितो तो पापी परलोकाचे ठायीं गृध्रपक्ष्याच्या उच्छिष्टानें उपजीविका करितो.

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ॥

कृत्मानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ २७ ॥

पशुयज्ञ आणि सोमयज्ञ वषाच्या आरंभाचे ठायीं एकवेळ करावे. कदाचित् हे यज्ञ न होतील तर यांच्या प्रायश्चित्तार्थ, वर्षाच्या समाप्तीचे ठायीं अभिदेवताक यज्ञ करावा.

आपत्कालेन यो धर्मं कुरुते नापदि द्विजः ॥

स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

जो द्विज आपत्ति नसतां आपद्विहित अनुष्ठान करितो त्याचें तें अनुष्ठान परलोकीं निष्फल होतें, असें मन्वादिकांनीं निश्चित केले आहे.

विश्वेश्व देवैः साय्येश्व ब्राह्मणेश्व महर्षिभिः ॥

आपत्सु मरणाद्रीतिर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

मरणापासून भय पावणारे असे विश्वेदेव, साय्य, ब्राह्मण, महर्षि, या सर्वांनीं आपत्कालीं मुख्य विधि जो सोमादि यज्ञ यांचा वैश्वानरी इष्टि इत्यादिक गौणविधि केला आहे.

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ॥

न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

मुख्य विधि करण्याविषयीं समर्थ असतां जो गौणविधीचें अवलंबन करून अनुष्ठान करितो त्या दुर्मतीस परलोकीं गौणविधीचेंहि फल मिळत नाही.

न ब्राह्मणोऽवेदयत् किञ्चिद्वाजनि धर्मवित् ॥

स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

कोणी अपराध केला असतां धर्मज्ञ ब्राह्मणानें राजाला सांगू नये, तर आपल्या पराक्रमेकरूनच अपकार करणाऱ्याचें शासन करावें.

स्ववीर्याद्वाजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवन्तरम् ॥

तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृहीयादरीन् द्विजः ॥ ३२ ॥

राजाच्या पराक्रमाहून आपला पराक्रम मोठा आहे, याकरितां द्विजानें आपल्या पराक्रमें-
करून शत्रूंचा निग्रह करावा.

श्रुतीरथर्वांगिरसीः प्रकुर्यादविचारयन् ॥

वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥ ३३ ॥

अथर्व अंगिराऋषीनें सांगितलेले जे मारणप्रयोग त्यांहींकरून शत्रूंचा निग्रह करावा,
याविषयीं विचार करूं नये, ब्राह्मणाची वाणी हें शस्त्र आहे, येणेंकरून शत्रूंचा नाश
करावा.

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥

धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

शत्रूंपासून पराभवलक्षण आपत्ति प्राप्त असतां क्षत्रियानें आपल्या बाहुबलानें, वैश्य व
शूद्र यांनीं धनानें, आणि ब्राह्मणानें अभिचारात्मक जपहोमांनीं आपत्ति तरावी.

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥

विहित कर्में करणारा, पुत्रशिष्यादिकांचा शास्ता, प्रायश्चित्तादिक धर्म सांगणारा,
आणि सर्व प्राण्यांविषयीं मित्रभाव धारण करणारा, असा ब्राह्मण छटला आहे. त्या ब्राह्म-
णाला अनिष्ट (निग्रहकर) असें भाषण बोलूं नये, व कठोर वाणीहि बोलूं नये.

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ॥

होता स्यादग्निहोत्रस्य नात्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

कन्या, स्त्री, अल्पविद्वान्, मूर्ख, व्याधिपीडित, मोंजी न झालेला या सर्वांनीं सायंप्रा-
तःश्रौतहोम करूं नये.

नरके हि पतंत्येते जुह्वतः स च यस्य तत् ॥

तस्माद्देवानकुशलो होता स्याद्देवपारगः ॥ ३७ ॥

कदाचित् हे (पूर्वोक्त) सर्व होम देतील तर ते नरकांत पडतात, आणि ज्याचा
अग्नि आहे (होमजे अग्निहोत्राचा स्वामी) तोहि नरकाप्रत जातो. याकरितां जो देवपा-
रग, श्रौतकर्मांत प्रवीण असा ब्राह्मण असेल त्यानें यजमानाचा होम करावा.

प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ॥

अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

ब्रह्माच्या निमित्त जी अग्निहोत्राची दक्षिणा अश्व आहे ती, धनसंपत्ति असतां, न
देईल तर अग्निहोत्राचें फल त्या ब्राह्मणाला मिळणार नाहीं. तस्मात् (धनसंपत्ति असतां)
आधानाचे ठायीं ब्रह्माला अश्वरूप दक्षिणा द्यावी.

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः ॥
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यज्ञेह कथंचन ॥ ३९ ॥

इंद्रियें जिकून, श्रद्धा धारण करीत होःसात्या पुरुषानें दुसरीं पुण्यकर्म (यज्ञव्यतिरिक्त तीर्थयात्रादिक) करावीं, परंतु शास्त्रोक्त दक्षिणाविरहित यज्ञ कधींहि करूं नये.

इंद्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्त्ति प्रजाः पशून् ॥
हंत्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यज्ञेत् ॥ ४० ॥

यांत दक्षिणा थोडी आहे असा यज्ञ इंद्रियें, स्वर्ग, आयुष्य, कीर्त्ति (मृत असतां ख्याति), यश (जीवत ख्याति), अपत्यें, आणि पशु यांचा नाश करितो, याकरितां ज्याच्या नवळ धन अल्प असेल त्यानें यज्ञ करूं नये.

अग्निहोत्र्यपविश्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ॥
चांद्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण बुद्धिपूर्वक सायंप्रातः होम न करील तर त्याला वीरहत्यासम (पुत्र-हत्यासम) दोष होतो, याकरितां त्यानें एक मासपर्यंत चांद्रायण व्रत करावें.

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ॥
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

जे ब्राह्मण शूद्रापासून धन घेऊन अग्निहोत्र धारण करितात ते शूद्रांचेच याजक (ऋत्विज) होतात, त्याला त्या अग्निहोत्राचें कोणतेंहि फल प्राप्त होत नाहीं, व वेदवेद्या ब्राह्मणांचे ठायीं ते निंदित होतात.

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ॥
पदं मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

शूद्रापासून धन घेऊन अग्निहोत्र सेवन करणारे असे जे मूर्ख ऋत्विज त्यांच्या मस्तकीं पाय देऊन तो शूद्र त्या ब्रह्मदानानें नरकापासून तरतो, आणि ऋत्विजांला कोणतेंहि फल प्राप्त होत नाहीं.

अकुर्वन् विहितं कर्म निंदितं च समाचरन् ॥
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

विहित कर्म (संध्योपासनादि) न करणारा, निंदित कर्म (हिंसादिक करणारा), आणि इंद्रियांच्या अर्थाविषयी अति आसक्ति करणारा मनुष्य प्रायश्चित्ताला योग्य होतो.

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ॥
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

बुद्धिपूर्वक न केलेल्या पापाविषयी प्रायश्चित्त आहे असे पंडित झणतात. कोणी आचार्य बुद्धिपूर्वक केलेल्या पापाविषयीहि प्रायश्चित्त आहे असे श्रुतिनिदर्शनेंकरून सांगतात.

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति ॥

कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

इच्छाविरहित केलेलें पाप वेदाभ्यासेकरून दूर होतें. रागाद्वेषादि मोहानें इच्छेकरून केलेलें पाप नानाप्रकारच्या प्रायश्चित्तांनीं नष्ट होतें.

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवान्पूर्वकृतेन वा ॥

न संसर्गं ब्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्ते कृते द्वित्रः ॥ ४७ ॥

प्रारब्धेकरून पूर्वजन्मीं केलेल्या पापानें प्रायश्चित्तास योग्य झाला असतां झालें प्रायश्चित्तावांचून सज्जनांबरोबर भोजन, वास, स्पर्श, याजन इत्यादि संसर्ग करूं नये.

इह दुश्चरितैः केचित् केचित्पूर्वकृतैस्तथा ॥

प्राप्नुवांति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

कितीएक मनुष्य इहजन्मीं दुष्टकर्म केल्यानें आणि कितीएक मनुष्य पूर्वजन्मीं दुष्टकर्म केल्यानें दुरात्मे होताते या जन्मीं कुत्सित स्वरूपातें पावतात.

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदंतताम् ॥

ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्वर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥

पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्रताम् ॥

धान्यचौरोऽंगहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

अन्नहर्त्ताऽऽमयावित्वं मीक्यं वागपहारकः ॥

वस्त्रापहारकः श्वैव्यं पंगुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥

एवं कर्मविशेषेण जायंते सद्भिर्गहिताः ॥

जडमूकांधबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

सुवर्णाची चोरी करणारा कुनखित्वातें पावतो. सुरापान करणारा श्यावदंतत्वातें पावतो. ब्रह्महत्या करणाराला क्षयरोग होतो. गुरुस्त्रीचे ठायीं गमन करणाराला दौश्वर्म्य (गजकर्ण होतें), पिशुनाला (विक्रमान दोष सांगणाराला) पूतिनासिक (नासिका रोग) होतो, सूचकाला (अविद्यमान दोष सांगणाराला) मुखदुर्गंधरोग, धान्याची चोरी करणाराला अंगहीनत्व, धान्यांत वाईट द्रव्य मिश्रण करणाराला अधिकांग होतें, अन्न चोरणारास अग्निमांसरोग, वाणीचा अपहार करणारास मुकेपणा, वस्त्र चोरणारास पांढरें कोड, अश्व चोरणारास पंगुपणा, याप्रमाणें जे जे कर्म करावें तदनुरूप विचित्राकृति, साधूंनीं निंदित, जड, मुके, अंध, बधिर असे मनुष्य होतात.

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये ॥

निर्दोहिं लक्षणैर्युक्ता जायंतेऽनिष्कृतैस्तैः ॥ ५३ ॥

यास्तव शुद्धीकरितां नित्य प्रायश्चित्त करावें; जे प्रायश्चित्त करीत नाहीत ते निष्ठ लक्षणांनीं युक्त होतात.

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वगनागमः ॥

महानि पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

पंच महापातके सांगती— ब्रह्महत्या, सुरापान, ब्राह्मणाचें दहा मासे अथवा अधिक सोने चोरणें, गुरूपत्नीगमन हीं चार व यांशीं संसर्ग करणें हें एक अशीं पांच महापातके होत असे मन्वादिक लणतात.

भनूतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ॥

गुरोश्चालीकनिर्वधः समानि ब्रह्महत्याया ॥ ५५ ॥

ब्रह्महत्यासम पातके— नीचजाति असून मी उत्कृष्ट जाति आहे असे मिथ्या बोलणें, नेणेंकरून मरणशिक्षा होईल असा कोणाचा दोष राजापाशीं सांगणें, आणि गुरूजवळ मिथ्या भाषण करणें हीं पातके ब्रह्महत्यासम जाणावीं.

ब्रह्मोद्भूता वेदनिंदा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ॥

गर्हितानव्ययोज्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

सुरापानसम पापे— वेदविस्मरण, वेदनिंदा, खोटी साक्ष, मित्रवध, लशून इत्यादि नि-
बिद्ध भक्षण, विष्ठादिकांचें भक्षण हीं सहा पापे सुरापानसम झटलीं आहेत.

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ॥

भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

सुवर्णस्तेयसम पापे— ब्राह्मणसुवर्णव्यतिरिक्त निक्षेप (ठेव) चोरणें, मनुष्य, घोडा, रपें, भूमि, हिरा इत्यादि मणि यांची चोरी करणें हीं पापे सुवर्णस्तेयसम जाणावीं.

रेतःसेकः स्वयीनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गृहतरुपसमं विदुः ॥ ५८ ॥

गुरुपत्नीगमनसम पापे— सोदरभगिनी, चांडाली, कुमारी, मित्रस्त्री, पुत्रस्त्री यांचे ठापी गमन करणें हीं गुरुपत्नीगमनसम पापे झटलीं आहेत.

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ॥

गुरुमानृपिनृत्यागः स्वाध्यायाग्नौः सुतस्य च ॥ ५९ ॥

परिविस्तितानुजेऽमूढे परिवेदनमेव च ॥

तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥

कन्याया वूषणं चैव वार्षुष्यं व्रतलोपनम् ॥

तडागारावदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥

व्रात्यता बांधवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ॥

भृताश्चाध्ययनादानमपणनानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायंत्रप्रवर्तनम् ॥
 हिंसौषधीनां ख्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥ ६३ ॥
 इधनार्थमशुक्राणां दुष्माणां वपातनम् ॥
 आत्मार्थं च क्रियारंभो निदितान्मादनं तथा ॥ ६४ ॥
 अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया ॥
 असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥ ६५ ॥
 धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ॥
 स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

उपपातकं सांगतो— गोवधः यज्ञ करण्यास अयोग्य जे त्यांकडून यज्ञ करविणें; पर-
 स्त्रीगमन; आत्मविक्रय; गुरु, माता, पिता, वेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ), स्मार्तार्थ, पुत्र यांचा
 त्याग करणें; ज्येष्ठ भ्राता अविवाहित असतां कनिष्ठाचा विवाह करणें; ज्येष्ठ कनिष्ठ भावाला
 कन्या देणें, व त्यांच्याकडून यज्ञ करविणें; कन्येला (योनींत बोटें घालून) दूषित करणें;
 व्याजावर उपजीविका करणें; ब्रह्मचारी असतां मैथुन करणें; तळाव, बाग, भार्या, अप-
 र्ण यांचा विक्रय करणें; विहित कालीं संस्कार न होणें; पितृव्यादि नांदांचा त्याग; द्रव्य
 घेऊन पदविणें; द्रव्य देऊन पदणें; विक्रय करण्यास अयोग्य जे तिल इत्यादिक ते विकणें;
 सुवर्णादिकांच्या खाणींचे राजाच्या आज्ञेने अधिकार घेणें; पूल इत्यादिक नांधणें; औषधि
 मारणें; आपली स्त्री इत्यादिकांस वेष्ट्या करून त्यांकडून परपुरुषसंयोग करवून त्यापासून जें
 धन मिळेल त्यावर उपजीविका करणें; शास्त्रोक्त मारणप्रयोग करणें; मणिमंजरीषधीनीं
 वशीकरणप्रयोग दुसऱ्यांवर करणें; इधनाकरितां ओले वृक्ष तोडणें; देवता पितर यांना-
 चून केवळ आपणाकरितां पाकनिष्पत्ति करणें; निदित (लसुणइत्यादिक) अन्न भक्षण
 करणें; अधिकार असतां अग्नीचा त्याग करणें; सुवर्णव्यतिरिक्त रुपें इत्यादिकांची चोरी
 करणें; देव, पितर, ऋषि यांचीं ऋणें न कोडणें; श्रुतिस्मृतिविरुद्ध शास्त्राचा (बौद्धादि
 शास्त्राचा) अभ्यास करणें; नृत्य करणें; गायन करणें; वाद्य वाजविणें; धान्य, तांबें, लोखंड,
 पशु इत्यादिकांची चोरी करणें; मद्यपान करणाऱ्या अशा ज्या द्विजार्तीच्या स्त्रिया त्यांचे-
 ठायीं गमन करणें; स्त्री, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय यांचा वध करणें; नास्तिकपणा (परलोक
 नाहीं अशी बुद्धि) हीं सर्व प्रत्येक उपपातकें होत.

ब्राह्मणस्य व्रजः कृत्या घातिरघ्रेयमद्ययोः ॥

जैह्वं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

जातिभ्रंशकर पातकें— ब्राह्मणाला दंडहस्तादिकानें पीडा करणें; अतिदुर्गंधी प-
 दार्थ (विष्ठादिक), व मद्य हे हुंगणें; कुटिलपणा; मुखादिकांत मैथुन करणें, हीं सर्व
 पातकें जातिभ्रंश करणारीं झटली आहेत.

खराश्वोष्टृमृगेभानामजाविकवधस्तथा ॥

संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

संकरीकरण पापे—गाढव, घोडा, उंट, मृग, हस्ती, बोकड, मेंढा, मत्स्य, सर्प
आणि महिष या प्रत्येकाचा वध करणे हीं संकरीकरण पापे झटलीं आहेत.

निंदितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ॥

अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

अपात्रीकरण पापे—प्रतिग्रह करण्यास अयोग्य जे त्यांपासून धनप्रतिग्रह करणे; व्यापार;
शूद्र सेवा आणि मिथ्या भाषण हे प्रत्येक पाप अपात्रीकरण जाणावे.

रुमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ॥

फलैश्चकुसुमस्नेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

मलिनीकरण पापे—रुमि (लहान किडे), कीट (मोठे किडे), पक्षी यांचा मारणे;
भक्ष्य पदार्थ, आणि मद्य हीं एका पात्रांतून आणून ते भक्ष्य पदार्थ खाणे; फळे,
काष्ठ आणि पुष्पे यांची चोरी करणे; अधीरपणा हीं पापे मलिनीकरण झटलीं आहेत.

एताग्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक् पृथक् ॥

यैर्वैव्रतैरपोह्यते तानि सम्यक्निबोधत ॥ ७१ ॥

हीं जीं ब्रह्महत्यादिक निरनिराळीं पातके सर्व सांगितलीं तीं ज्या ज्या व्रतांनीं
(प्रायश्चित्तांनीं) दूर होतात तीं तीं व्रते सांगतों, श्रवण करा.

ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ॥

भैक्षाद्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजं ॥ ७२ ॥

ज्यानें ब्रह्महत्या केली त्यानें आपल्या शुद्ध्यर्थ अरण्यांत कुटी करून त्या कुटींत बारा
वर्षपर्यंत वास करावा. ज्या ब्राह्मणाला मारलें त्याची शिरकरोटी घेऊन भिक्षा मागावी.
ते भिक्षाभ भक्षण करून राहावे. हे द्वादशवार्षिक प्रायश्चित्त अज्ञानकृत ब्राह्मणवधावि-
षयी जाणावे, हेच प्रायश्चित्त क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यांचा क्रमैकरून द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गु-
ण जाणावे.

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ॥

प्रास्येदात्मानमग्रौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥

अथवा अस्त्रधारी पुरुषांच्या अस्त्राचें लक्ष्य (निशाण) आपल्या इच्छेनें आपण
व्हावे. अथवा अग्नि प्रदीप्त करून त्यांत, खालीं मस्तक करून तीन वेळ आपलें आपण
शरीर टाकावे, तेणेंकरून ब्रह्महत्येपासून शुद्ध होतो. हीं दोन प्रायश्चित्ते आणि पुढच्या
श्लोकांत सांगितलेले एक अश्वमेधप्रायश्चित्त असीं तीन, निर्गुण ब्राह्मणाचा वध क्षत्रियानें
जाणून केला असता त्या क्षत्रियाविषयी जाणावी.

यज्ञेन वाश्वमेधेन स्वर्गिता गोसवेन वा ॥

अभिजिद्विश्वमित्रां वा त्रिवृतामिष्टुतापि वा ॥ ७४ ॥

अथवा अश्वमेध, स्वर्जित, गोसव, अभिजित्, विश्वजित्, त्रिवृत्, अग्निष्टुत् ह्या यज्ञांपै-
कीं कोणता एक यज्ञ करावा. हे प्रायश्चित्त, अज्ञानेकरून ब्राह्मणाला मारलें असतां
ब्राह्मणादि तीन वर्णाविषयीं जाणावें.

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ॥

ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्क्ष्यतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥

ब्रह्महत्येपासून शुद्ध होण्याकरितां अल्पाहारी, इंद्रियें जिकणारा, वेदाचें पारायण क-
रीत होत्साता शंभर योजनेपर्यंत गमन करावें, हेहि प्रायश्चित्त, जातिमात्र ब्राह्मणवध
असतां वर्णत्रयाविषयीं जाणावें.

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥

धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

अथवा वेदवेच्या ब्राह्मणाला सर्वस्वदान करावें, किंवा जीवनपर्यंत भोजननिमित्त असें
ब्राह्मणाला धन द्यावें, अथवा धनधान्यादिसामग्रीसहित गृह द्यावें. हेहि अज्ञानेकरून
जातिमात्र ब्राह्मणाचा वध असतां ब्राह्मणाविषयीं जाणावें.

हविष्यभुग्वानुसरेत्प्रतिघ्नोतः सरस्वतीम् ॥

जपेद्वा नियताहारस्त्रिवे वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥

अथवा हविष्य (नीवारादिक) भोजन करीत होत्साता पश्चिमवाहिनी सरस्वती नदीचे
ठायीं स्नान करावें, अथवा अल्पाहार करून तीन वेळ वेदसंहितेचा जप करावा. हेहि
बुद्धिपूर्वक जातिमात्र ब्राह्मणाच्या वधाविषयीं ब्राह्मणाला जाणावें.

कृतवापनो वा निवसेद्ग्रामांते गोव्रजेपि वा ॥

आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

द्वादश वार्षिकाचा विशेष सांगतो— गाईब्राह्मणांचें हित करीत होत्साता वपन
करून गांवाच्या समीपभागीं, किंवा गाईच्या गोठणीवर, अथवा पुण्यप्रदेश, पुण्यवृक्ष यां-
तून कोणत्याहि स्थानीं राहावें.

ब्राह्मणार्थं गवार्थं च खदः प्राणान् परित्यजेत् ॥

मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥

अथवा द्वादशब्द व्रताला प्रारंभ केला आहे आणि मध्ये, ब्राह्मण गाई यांला विपत्तीतून
सोडविण्याकरितां प्राणत्याग करील तर त्या कालीं तो ब्रह्महत्येपासून मुक्त होतो.

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ॥

विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

ब्राह्मणाचें धन चोरांनीं लहून नेलें आणि तें धन चोरांपासून आपणाच्या निमित्ताने
ययाशक्ति निष्कपटपणाने घेत करील आणि तीन वेळ शुद्ध करील व तें ब्राह्मणाचें सर्वस्व

धन जर तो आणून देईल तर ब्रह्महत्येपासून मुक्त होतो. अथवा धन चोरांनी ने-
ल्या कारणाने तत्क्षणीं दुःखित होऊन चोरांबरोबर युद्ध करून प्राणत्यागाविषयी प्रवृत्त हो-
णारा जो ब्राह्मण त्याला, चोरांनी नेलेल्या द्रव्यासमान द्रव्य देऊन त्याचे प्राण वांचविले
असतांहि ब्रह्महत्येपासून मुक्त होतो.

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ॥

समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥

याप्रमाणे नियम धारण करून निम्न व्रत धारण करीत होताता, ब्रह्मचारी, निश्चित हो-
ऊन अशीं बारा वर्षे समाप्त शास्त्रानंतर ब्रह्महत्येपासून मुक्त होतो.

शिष्टा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ॥

स्वमेनोऽवभृथस्नानो हयमेधे त्रिमुच्यते ॥ ८२ ॥

अथवा अश्वमेधयज्ञाच्या अवभृथस्नानकालीं राजा (यज्ञकर्ता यजमान) व ऋत्विज
ब्राह्मण यांचा समुदाय मिळाला असतां तत्कालीं ब्रह्महत्या करणाऱ्या ब्राह्मणाने आपले पाप
निवेदन करून त्यांच्या सहवर्तमान तेथें तो अवभृथस्नान करील तर ब्रह्महत्येपासून मुक्त होतो.

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ॥

तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्धयति ॥ ८३ ॥

कां कीं, ब्राह्मण धर्माचे मूळ आहे, आणि राजन्य (क्षत्रिय) धर्माचे अग्र आहे, याक-
रितां पाप्याने त्यांच्या समागमाचे ठायीं आपले पाप निवेदन केले असतां तो पापमुक्त होतो.

ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् ॥

प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मानैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण उत्पत्तिमात्रेकरूनच देवांचें दैवत आहे, मग वेदादिक गुणांशिकरून देवां-
ला पूज्य होईल यांत नवल नाही. ब्राह्मणाचा उपदेश सर्व मनुष्यांला मानण्यास योग्य
आहे, याविषयी वेदच कारण आहे, आणि उपदेशाचे मूळ वेद आहे.

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोप्येनस्सु निष्कृतिम् ॥

सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

विद्वान् ब्राह्मणामध्ये, वेद पढलेले तीन ब्राह्मण जे प्रायश्चित्त सांगतील ते पवित्र
होय, जणजे ते पाप्याच्या शुद्धीकारणें होतें, कां कीं, वेदपाठी ब्राह्मणाची वाणी पावन कर-
णारी आहे, याकरितां प्रकाशप्रायश्चित्तार्थ वेदवेद्या ब्राह्मणांची सभा अवश्य करावी.

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ॥

ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

ब्राह्मणादि वर्ण पूर्वोक्त प्रायश्चित्तातून कोणतेहि एक प्रायश्चित्त करून ब्रह्मव्रत सांगेल
तर तो ब्रह्महत्येपासून मुक्त होतो.

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ॥

राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रियीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

ब्राह्मणापासून ब्राह्मणी स्त्रीचे ठायीं झालेला गर्भ मारला असतां हेच (ब्रह्महत्याप्रयुक्त) प्रायश्चित्त करावे. यज्ञकर्मांला प्रवृत्त झालेला क्षत्रिय, वैश्य, व ब्राह्मणी रजस्वला स्त्री यांतून कोणाचा वध झाला असतांहि पूर्वोक्तांतून कोणतें एक प्रायश्चित्त करावे.

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुहं तथा ॥

अपट्टय च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

साक्षी होऊन मिथ्या बोलणें; गुरूला मिथ्या दोष लावणें; सुवर्णव्यतिरिक्त ठेवीचा अपहार करणें; आणि अग्निहोत्रिब्राह्मणस्त्री व मित्र यांची हत्या करणें यांतून कोणतें एक घडलें असतां ब्रह्महत्याप्रायश्चित्त करावे.

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाध्याकामतो द्विजम् ॥

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥

हें जें द्वादशाब्द प्रायश्चित्त सांगितलें, तें अशुद्धिपूर्वक ब्रह्महत्या घडली असतां तद्विषयक जाणावें, आणि शुद्धिपूर्वक करील तर हें प्रायश्चित्त नाही; तर त्याला द्विगुणित जाणावें.

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ॥

तया स्वकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य हे तीन वर्ण मोहेंकरून पैष्टी सुरा प्राशन करितील तर यांनीं अग्निवर्ण (क्षणजे अग्नीत तापवून लाल वर्ण) केलेली सुरा प्राशन करावी. तेणेंकरून शरीर नष्ट झाल्याने त्या पापापासून शुद्ध होतो.

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ॥

पयो घृतं वा मरणाद्दोषरुद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥

अथवा गोमूत्र, उदक, गोदुग्ध, गोघृत, गोमय यांतून कोणतेंहि एक अग्निवर्ण (तप्त) करून प्राशन करावे, आणि तेणेंकरून मृत होईल तर शुद्ध होतो.

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ॥

सुरापानापनुत्पथं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अथवा वनगाईइत्यादिकांच्या केशांचे वस्त्र धारण करून जटा धारण करून हातांत सुरापात्र धारण करावे आणि वर्षपर्यंत रात्री एकवेळ कण्या भक्षण कराव्या, अथवा तिळांची पेंढा भक्षण करावी; तेणेंकरून सुरापानदोषापासून शुद्ध होतो. हें प्रायश्चित्त, न जाणून असून सुरा प्राशन करणाराविषयी जाणावें.

सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते ॥
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥

सुरा ही अन्नाचा मल हाटली आहे, व मल हे पाप हाटले आहे, याकरितां ब्राह्मण, क्षत्रिय, आणि वैश्य यांनीं सुरापान करूं नये.

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ॥
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥

गौडी (गुळापासून होते ती), पैष्टी (पिठापासून होणारी), आणि माध्वी (मधुकृताच्या पुष्पांपासून होणारी), असीं तीन प्रकारची सुरा आहे. जसी एक मुख्य पैष्टी निषिद्ध त्याप्रमाणे इतरहि निषिद्ध होत, याकरितां ब्राह्मणांनीं तीनहि सुरा प्राशन करूं नयेत.

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुगन्धवम् ॥
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्रता हविः ॥ ९५ ॥

मद्य क्षणजे गौडी, माध्वी, पैष्टी अशा तीन प्रकारच्या सुरेखेरीज अकरा प्रकारचे पुलस्त्यानें सांगितलेले मद्य. ते प्रकार असे— पानस, द्राक्ष, माध्वीक, खजूर, ताल, ऊस (उसापासून उत्पन्न), मधु, टंक, मूढी (द्राक्षाविशेष), भैरेय (भिराद्रव्यापासून उत्पन्न), नारिकेरज (नारळवृक्षापासून उत्पन्न), मांस, सुरा (तीन प्रकारची), आसव (मद्याचा अवस्थाविशेष) हीं सर्व यक्ष, राक्षस, पिशाच यांचीं अन्नं होत, याकरितां देवतांचे हविष्याचे भोजन करणाऱ्या ब्राह्मणानें हीं भक्षण करूं नयेत.

अभेभ्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ॥
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

ब्राह्मण मद्यपान करील तर मोहित होऊन तो अपवित्रस्थानीं पडेल, मत्त होऊन वेदोच्चारण करील अथवा अन्य कांहीं अकार्य करील, याकरितां ब्राह्मणानें मद्यपान करूं नये.

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाह्लाप्यते सकृत् ॥
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥

ज्या ब्राह्मणाच्या हृदयांत वेद राहतो तो एकवार जरी मद्यपान करील तर तो तेवढ्यानेच नष्ट होतो, याचे ब्रह्मतेज नष्ट होतें, आणि तो ब्राह्मण शूद्रत्वाप्रत पावतो.

एषा विचित्राऽभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ॥
अतर्क्यं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

सुरापानजनित पापाचे हे नानाविध प्रायश्चित्त सांगितले. यानंतर सुवर्णचोरीचे प्रायश्चित्त सांगेन.

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ॥

स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ ९९ ॥

ब्राह्मणाचें सुवर्ण चोरणाऱ्या ब्राह्मणानें खांद्यावर मुसळ घेऊन राजाचे समीप जाऊन सांगारें कीं मी ब्राह्मणाचें सोने चोरिलें आहे यास्तव मला तुहीं दंड करा.

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्वन्यात्तु तं स्वयम् ॥

वधेन शुद्धयति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

राजानें तें मुसळ घेऊन त्या चोराला एकवार ताडून करावें, तेणेंकरून तो मृत झाला असतां शुद्ध होतो, ब्राह्मण तर तपानें शुद्ध होतो.

तपसाऽपनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ॥

चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥

सुवर्णाची चोरी करणारा द्विज तपेंकरून चोरीसंबंधी पाप दूर करण्याची इच्छा करील तर त्यानें वल्कलें परिधान करून अरण्यांत राहून ब्रह्महत्याप्रायश्चित्त करावें.

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ॥

गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपोनुदेत् ॥ १०२ ॥

द्विजानें हीं (पूर्वोक्त) व्रतें (प्रायश्चित्तें) करून चोरीसंबंधी पाप दूर करावें. गुरुस्त्रीगमननित्त पाप, हीं (पुढें सांगितलेलीं) व्रतें करून दूर करावें.

गुरुतल्प्याभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयौमये ॥

सूमां ज्वलंतीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

गुरुस्त्रीगमन करणारानें आपलें पाप स्पष्ट प्रसिद्ध करून तप्त लोखंडाच्या शय्येवर शयन करावें. अथवा लोखंडाची स्त्री बनवून ती अग्नीत तप्त करून तिला आलिंगन करावें, तेणेंकरून मृत झाला असतां तो शुद्ध होतो.

स्वयं वा शिश्रवृषणावुक्त्याधाय चांजलौ ॥

नैर्ऋतीं दिशंतीतिष्ठेदानीपातादजिह्मगः ॥ १०४ ॥

अथवा शिश्र, वृषण आपले आपण कापून अंजलीचे ठायीं घेऊन नैर्ऋत्यदिशीप्रत समोर शरीरपात होईपर्यंत गमन करावें.

सट्वांगी चीरवासा वा श्मश्रुली विजने वने ॥

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्धयेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

अथवा सट्वांग धारण करीत होत्सातां, वल्कलें परिधान करून नख, लोम, श्मश्रु, केश धारण करून निर्जन अरण्यांत निश्चित होऊन एक वर्षपर्यंत प्राजापत्य व्रत करावें, हे प्रायश्चित्त, आपली स्त्री अशा बुद्धीनें अज्ञानेंकरून गुरुस्त्रीगमन असतां जाणावें.

चांद्रायणं वा त्रीन्यासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ॥

हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अथवा इन्द्रिये जिकून फलमूलादि हविष्य, किंवा नीवारादिकांची यवागू भक्षण करित होत्साता गुरुस्त्रीगमनजन्य दोष दूर करण्याकरितां तीन मासपर्यंत चांद्रायणव्रत करावें. हें प्रायश्चित्त असाऱ्ही स्त्री अथवा दुसऱ्या वर्णाची गुरुपत्नी तिचे ठायीं गमन असतां जाणावें.

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ॥

उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

हीं पूर्वोक्त प्रायश्चित्ते करून महापातकी जनांनीं आपलें पाप दूर करावें, आणि उपपातकी जनांनीं पुढें जीं प्रायश्चित्ते सांगितलीं आहेत तीं करून आपलें पाप दूर करावें.

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत् ॥

कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

उपपातकी, गोहत्या करणारा यानें एक मासपर्यंत यवपिष्ट प्राशन करावें, वपन करावें, गाईच्या चर्मनें बांधित होऊन तीन मासपर्यंत गोष्ठाचे ठायीं वास करावा.

चतुर्थकालमश्रीयादक्षारलवणं मितम् ॥

गोमूत्रेण चरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥

जितेंद्रिय होत्साता एक दिवस उपवास करून दुसऱ्या दिवसीं चतुर्थ कालीं रुत्रिमलवणरहित अल्प आहार करावा. आणि दोन मासपर्यंत गोमूत्रानें स्नान करावें.

दिवानुगच्छेद्वास्तास्तु तिष्ठन्मूर्ध्नि रजः पिबेत् ॥

शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्री वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

दिवसा गाईच्या पाठीमागून फिरावें, उभा राहून, गाईच्या पावलांनीं वर उडालेली धूलि भक्षण करावी. गाईची सेवा करित होत्साता नमस्कार करून रात्रीचे ठायीं वीरासनें करून राहावें.

तिष्ठतीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजंतीष्वप्यनुव्रजेत् ॥

आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥

जितेंद्रिय, मत्सररहित असा होत्साता गाई उभ्या राहिल्या असतां आपणहि उभे रहावें, गाई चालावयास लागल्या असतां आपणहि चालावें, आणि गाई बसल्या असतां आपणहि बसावें.

आतुरामभिशास्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ॥

पतितां पंकलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

रोग, चोर, व्याघ्रादिक यांच्या भयानीं युक्त माई होईल, अथवा पडेल, किंवा चिखलांत रुपेल तर यथाशक्ति अनेक उपाय करून तिला त्या संकटांतून सोडवावें.

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वांति वा भृशम् ॥

न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तिः ॥ ११३ ॥

उष्णता, पर्जन्य, थंडी, वारा हे असतां यथाशक्ति गाईचें रक्षण केल्यावांचून आपलें रक्षण करूं नये.

आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ॥

भक्षयंतीं न कथयेत्पिबंतं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

गाई आपल्या अथवा दुसऱ्याच्या गृहीं, क्षेत्रीं, किंवा खळ्यांत धान्यादिक भक्षण करीत असेल तर सांगूं नये. वत्स स्तनपान करीत असतांही सांगूं नये.

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ॥

स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

गोहत्या केलेल्या मनुष्यानें ह्या (पूर्वोक्त) विधीकरून गाईच्या पाठीमागे चालावें, तेणें- करून तो तीन मासांनीं गोहत्येपासून मुक्त होतो.

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ॥

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्वयो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

यथाविधि प्रायश्चित्त करून एक वृषभ आणि दहा गाई यांचें दान करावें, कदाचित् तितकें सामर्थ्य नसेल तर वेदवेद्या ब्राह्मणाला सर्वस्व दान करावें.

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ॥

अवकीर्णिवज्रं शुद्ध्यर्थं चांद्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥

पुढें जो अवकीर्णी कथन केला आहे तद्विरहित द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) हे उपपातकेंकरून युक्त होतील तर त्यांनीं शुद्ध्यर्थं हेंच व्रत (प्रायश्चित्त) करावें. अथवा चांद्रायण करावें.

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ॥

पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

अवकीर्णी यानें चतुष्पथाचे ठायीं पाकयज्ञविधानेंकरून रात्रीं निर्ऋतिदेवताक काण- गर्दभेंकरून याग करावा.

हुत्वाग्नौ विविद्धोमानंततश्च समेत्युचा ॥

वार्तेद्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥

अग्नीचे ठायीं निर्ऋतीकारणें विधिपूर्वक गर्दभवपादिहोम चतुष्पथावर करून, नंतर "मार्सियंतु मारुत" ह्या ऋचेंकरून वायु, इंद्र, वृहस्पति, आणि अग्नि यांच्या उद्देशानें घृताच्या आहुतींचा होम करावा.

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ॥

अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हे तीन वर्ण व्रताचे ठायीं स्थित असून कामेकरून (इच्छेकरून) स्त्रीयोनीचे ठायीं रेतःपात करितील तर ब्रह्मचर्यव्रताचे उलंघन होतें, असे धर्म जाणणारे ब्रह्मवादी सांगतात.

मारुतं पुरुहूतं च गुहं पावकमेव च ॥

चतुरो व्रतिनोभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥

अवकीर्णी (ब्रह्मचर्यावस्थेत वीर्यपात करणारा) याचें ब्राह्मतेज वायु, इंद्र, बृहस्पति, अग्नि यांच्यांत जातें, याकरितां त्यांच्या उद्देशानें आहुति द्याव्या.

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ॥

सप्तागारांश्चरेद्वैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

हें अवकीर्णाख्य (रेतःपतननामक) पाप प्राप्त असतां गर्दभाचें चर्म परिधान करून आपलें कर्म लोकांला सांगत होत्साता सात घरीं भिक्षा मागावी.

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ॥

उपस्पृश्यांस्त्रिषवणं त्वंभेन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥

त्या सात गृहांपासून प्राप्त झालेल्या भिक्षानेंकरून एक वेळ भोजन करावें, सायंकाळीं, प्रातःकाळीं, माझ्यान्हकाळीं असें त्रिकाल स्नान करावें, याप्रमाणें एक वर्षपर्यंत व्रत केलें असतां शुद्ध होतो.

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ॥

चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

जातिभ्रंश करणाऱ्या पातकांतून एकादें पाप कोणी स्वेच्छेनें करील तर त्यानें सांतपन कृच्छ्र करावें. इच्छेवांचून करील तर प्राजापत्य करावें.

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैदवम् ॥

मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्यादावकैल्यहम् ॥ १२५ ॥

संकरीकरण आणि अपात्रीकरण या पापांतून कोणतें एकादें पाप इच्छेकरून कोणी करील तर त्यानें एक मासपर्यंत चांद्रायण करावें. मलिनीकरण पापांतून कोणतें एकादें पाप करील तर त्यानें तीन दिवसपर्यंत यवांची यवागू (पेज) प्राशन करावी.

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ॥

वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे त्रैयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

आपापण्या कर्मांत स्थित जे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यांचा वध असतां ब्रह्महत्याप्रायश्चित्ताचा (द्वादशाब्दाचा) चतुर्याश (त्रैवाधिकरूप), अष्टमांश, षोडशांश प्रायश्चित्ताच्या क्रमेकरून जाणावें. हें सर्व प्रायश्चित्त इच्छापूर्वक पापकर्म केलें असतां जाणावें.

भकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ॥

वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥

ब्राह्मण इच्छेवांचून; क्षत्रियाचा वध करील तर त्याने यथाविधि प्रायश्चित्तकरून एक बैल व सहस्र गाई यांचे दान ब्राह्मणाला द्यावे.

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ॥

वसन्दूरतरे ग्रामादृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अथवा जटाधारण करीत होत्साता नियमैकरून गांवाच्या बाहेर वृक्षाच्या मूळीं वास करून ब्रह्महत्येचे प्रायश्चित्त तीन वर्षेपर्यंत करावे. हे प्रायश्चित्त इच्छारहित वध असतां जाणावे.

एतदेव चरेद्वदं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ॥

प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥

आपल्या कर्मांत स्थित अशा वैश्याचा वध ब्राह्मण करील तर त्याने एक वर्षपर्यंत ब्रह्महत्याप्रायश्चित्त करावे. अथवा एकशें गाई द्याव्या. हे प्रायश्चित्त इच्छारहित वध असतां जाणावे.

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ॥

वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥

शूद्रवध करणाऱ्या ब्राह्मणाने सहा मासपर्यंत ब्रह्महत्याव्रत करावे, अथवा एक बैल आणि श्वेतवर्ण दहा गाई ब्राह्मणाला द्याव्या. हेहि इच्छाविरहित वध असतां जाणावे. हीं सर्व व्रतें करीत असतां कपालध्वजाचा त्याग करावा.

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मंडूकमेव च ॥

श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥

मांजर, मुंगूस, चाष, वेडूक, कुत्रा, घोरपड, घुबड आणि कावळा यांतून कोणा एकाचा वध केला असतां त्याने शूद्रहत्याव्रत करावे.

पयः पिबेन्निरात्रं वा योजनं वाऽध्वनौ ब्रजेत् ॥

उपस्पृशेत्स्वर्वत्यां वा सूक्तं वाऽद्वैतं जपेत् ॥ १३२ ॥

अथवा मार्जारादिकांचा वध बुद्धिपूर्वक केला नसेल तर त्याने निरात्र दुग्धप्राशन करावे; याविषयीं अशक्त असेल तर तीन दिवस चार चार कोश प्रयाण करावे; याविषयींहि अशक्त असेल तर तीन दिवस नदींत स्नान करावे, याविषयींहि अशक्त असेल तर "आपोहिष्टा." ह्या सूक्ताचा जप करावा.

अग्निं कार्णागिर्सीं दद्यात्सर्व्वं हत्वा द्विजोत्तमः ॥

पलालभारकं षडे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥

ब्राह्मण सर्पहत्या करील तर त्याने ब्राह्मणाला तीक्ष्णाग्र लोहदंड द्यावा. नपुंसकातें मारील तर एकभार पलाल (फलरहित धान्यकांड, कडवा, वाटूक, इत्यादि), आणि एक मासा शिसें हीं दान द्यावीं.

घृतकुंभं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ॥

शुके द्विहायनं वत्सं क्रौंचं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

सूकर (डुकर), तित्तिर, शुक (पोपट), क्रौंचपक्षी यांचा वध केला असतां क्रमेंकरून एक कुंभभर घृत, एकद्रोणपरिमित तिल, दोन वर्षांचा वत्स, आणि तीन वर्षांचा वत्स यांचें ब्राह्मणाला दान करावें.

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बहिणमेव च ॥

वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गां ॥ १३५ ॥

हंस, बलाका (बेगळा), बक, मोर, वानर, श्येन, भास यांतून कोणा एकाचा वध असतां ब्राह्मणाला गोदान करावें.

वासो दद्याद्वयं हत्वा पंच नीलान्वृषान् गजं ॥

अजमेषावनड्डाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

अश्वहत्या असतां वस्त्रदान, गजहत्या असतां पांच नील वृष द्यावे. बोकड, अथवा मेंढा मारला असतां वृषभदान, गर्दभ मारला असतां एक वर्षांचा वृषभ द्यावा.

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ॥

अक्रव्यादान् वात्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७ ॥

कच्चें मांस भक्षण करणारे मृग व्याघ्रादिक मारले असतां पुष्कळ दूध देणारी गाई द्यावी. कच्चें मांस न खाणारे असे हरिणादिक मारले असतां वत्सतरीचें दान करावें. उंटाची हत्या असतां एक रती सुवर्ण दान करावें.

जीनकार्मुकबस्तावीन् पृथग्दद्याद्विशुद्धये ॥

चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

ब्राह्मणादि चार वर्णांच्या जारिणी स्त्रियांचा वध केला असतां ब्राह्मणादि चार वर्णांनीं क्रमेंकरून चर्मपट, धनुष्य, बोकड, मेंढा यांचें दान करावें.

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशकुवन् ॥

एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥

जो ब्राह्मण सर्पादिकांच्या हत्येसंबंधी पाप दानेंकरून दूर करण्याविषयी असमर्थ असेल त्यानें एकेकाच्या वधसंबंधी एकेक कृच्छ्र प्रायश्चित्त करावें.

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ॥

पूर्णे चानस्यनस्थानां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

अस्थिमंत (शरठादिक) अशा सहस्र प्राण्यांची हत्या झाली असतां आणि अस्थिरहित असे एक गाडीभर प्राणी मृत झाले असतां शूद्रहत्याव्रत करावें.

किंचिदेव तु विप्राय दद्यादास्थिमतां वधे ॥

अनस्थनां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १४१ ॥

अस्थियुक्त प्राण्यांचा वध असतां प्रत्येकाच्या वधदोषाविषयीं कांहीं अल्पदान ब्राह्मणाला द्यावें. अस्थिरहित प्राण्यांचा वध असतां प्राणायाम करून शुद्ध होतो.

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृकशतम् ॥

गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

फले देणारे वृक्ष (आम्रादिक), गुल्म (कुब्जकादिक), वल्ली (गुडूच्यादिक), लता (वृक्षावर चढणारी वल्ली), आणि पुष्पित वीरुध (कूष्मांडादिक) यांचा छेद न जाणून केला असतां पापनिरासार्थ सावित्र्यादि ऋचांचा शंभर वेळ जप करावा.

अन्नाद्यज्ञानां सत्त्वानां रजसानां च सर्वशः ॥

फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनं ॥ १४३ ॥

अन्नादिकांत उत्पन्न झालेले जीव, गूळ इत्यादि रसांत उत्पन्न झालेले जीव आणि फल-पुष्पांत उत्पन्न झालेले जीव यांचा वध झाला असतां घृतप्राशन करावें.

कृष्टज्ञानामौषधीनां जातानां च स्वयं वने ॥

वृथालभेऽनुगच्छेद्वां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

शेत नांगरून त्यापासून झालेल्या, षष्टिकादिक, आपोआप अरण्यांत उत्पन्न झालेल्या अशा ज्या तीन प्रकारच्या औषधी त्यांचा प्रयोजनरहित छेद केला असतां एक दिवस दूध प्राशन करावें, आणि एक दिवस गाईच्या पाठीमागून जावें.

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवं ॥

ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥

जाणून अथवा न जाणून जी जीवहिंसा घडली तत्संबंधी पाप, हीं पूर्वोक्त प्रायश्चित्ते करून दूर करावें. यानंतर अभक्ष्य वस्तु भक्षण केली असतां वक्ष्यमाण (पुढे सांगावयाचें) प्रायश्चित्त श्रवण करा.

अज्ञानाद्वाकृणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ॥

मत्तिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणांतिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

अज्ञानेकरून गौडी-माध्वी सुरा प्राशन करील तर तत्कच्छपूर्वक पुनः संस्कारे-करून शुद्ध होतो. जाणून प्राशन करील तर मरणांत प्रायश्चित्त करून शुद्ध होतो, असी शास्त्रमर्यादा आहे.

अपः सुरा भाजनस्था मद्यभांडस्थितास्तथा ॥

पंच रात्रं पिबेत्पीत्वा शंखपुष्पीशृतं पयः ॥ १४७ ॥

पैष्टीसुरेच्या पात्रांत ठेविलेलें व इतर मद्याचे पात्रांत ठेविलेलें उदक मद्यरसगंधानें वज्रित असें जरी असेल आणि तें प्राशन करील तर, शंखपुष्पी औषधी घालून पक्क केलेलें दूध पांच दिवस प्राशन करावें.

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ॥

शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत् ग्रहं ॥ १४८ ॥

मदिरेला स्पर्श करील अथवा शूद्रोच्छिष्ट उदक प्राशन करील तर यथाविधि तीन दिवस कुशोदक प्राशन करावें.

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गंधमाघ्राय सोमपः ॥

प्राणानप्सु त्रिरात्रं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १४९ ॥

सोमयाग केलेला ब्राह्मण, सुरापान करणाऱ्याचा गंध ग्रहण करील तर उदकेंकरून तीन वेळ प्राणायाम करून घृत प्राशन करून शुद्ध होतो.

अज्ञानात्प्राश्य विष्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ॥

पुनः संस्कारमर्हति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हे तीन वर्ण, मनुष्यसंबंधी विष्ठा, मूत्र, आणि मद्याचा स्पर्श झालेली वस्तु ह्या तीर्हीतून कोणतेंहि एक भक्षण करितील तर ते पुनःसंस्काराला योग्य होतात.

वपनं मेखला दंडो भैक्षचर्या व्रतानि च ॥

निवर्तते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥

वपन, मेखला, दंड, भिक्षा मागणें आणि ब्रह्मचर्यव्रतें हीं, प्रायश्चित्तरूप पुनरुपनयनाचे ठायीं नाहींत.

अभोज्यानां तु भोज्यान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ॥

जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥

भोजन करण्यास योग्य ज्यांचें अन्न नाहीं त्यांचें अन्नभक्षण, स्त्रिया व शूद्र यांचें उच्छिष्ट भक्षण आणि अभक्ष्यमांसभक्षण यांतून कोणतें एक घडलें असतां सात दिवस यवपिष्ट भक्षण करावें.

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्याम्यपि द्विजः ॥

तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्म व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

शुक्त (ह्मणजे स्वभावेकरून मधुररस कालेंकरून उदकादिकपरिणामानें आम्ल झालेली), कषाय (वेहडा इत्यादिक), हीं पवित्र जरी आहेत तथापि तीं प्राशन करील तर तीं जिरलीं नाहींत तावत्पर्यंत अशुद्ध होतो.

विड्वाराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ॥

प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चांद्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

गांवडुकर, गर्दभ, उंट, कोल्हा, वानर, आणि कावळा यांतून कोणाचें मूत्र, पुरीष, द्विजाति. भक्षण करील तर त्यानें चांद्रायणव्रत करावें.

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ॥

अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १९५ ॥

शुष्कमांसें, भूर्मीत उत्पन्न झालेलीं छत्राकें, आणि भक्ष्य किंवा अभक्ष्य आहे असें ज्ञात न झालेलें जें मांस तें सूनास्थ मांस (वधस्थानसंबंधी मांस) यांतून कोणतें एक भक्षण केलें असतां चांद्रायण करावें.

कव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ॥

नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशेषनं ॥ १९६ ॥

कव्याद (कच्चे मांस भक्षण करणारे व्याघ्रादिक), गांवडुकर, उंट, कुक्कुट (कोंबडा), मनुष्य, कावळा आणि गर्दभ यांतून कोणाचें मांस भक्षण बुद्धिपूर्वक केलें असतां पुढे सांगितलेलें तप्तकृच्छ्र प्रायश्चित्त करावें.

मासिकान्नं तु योऽश्रीयादसमावर्तको द्विजः ॥

स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १९७ ॥

जो ब्रह्मचारी ब्राह्मण मासिकश्राद्धसंबंधी अन्न भक्षण करितो त्यानें तीन दिवस उपवास करून एक दिवस जलांत वास करावा.

ब्रह्मचारी तु योऽश्रीयान्मधु मांसं कथंचन ॥

स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १९८ ॥

जो ब्रह्मचारी इच्छाविरहित अथवा आपत्काली मासिक मध अथवा मांसभक्षण करितो त्यानें प्राजापत्य कृच्छ्र करून ब्रह्मचर्यव्रतशेष समाप्त करावें.

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ॥

केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्म सुवर्चलाम् ॥ १९९ ॥

माजार, कावळा, उंदीर, कुत्रा, मुंगूस यांतून कोणाचा उच्छिष्ट पदार्थ भक्षण केला असतां, आणि केश, कीटक यांहीं दूषित झालेला पदार्थ भक्षण केला असतां सुवर्चला औषधी घालून पक केलेलें उदक प्राशन करावें.

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥

अज्ञानभुक्तं तूत्तार्य शोध्यं वा प्याशुशोधनैः ॥ २०० ॥

आपल्या शुद्धीची इच्छा करणारा याने अभोज्य अन्न कदापि भक्षण करूं नये, कदाचित् अज्ञानेकरून भक्षण करील तर तें वमन करून टाकावें, वमन करून टाकणें अशक्य असल्यास प्रायश्चित्तेकरून आत्मशुद्धि करावी.

एषो नाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ॥

स्तेयदोषापहर्तृणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ २०१ ॥

अभक्ष्य पदार्थ भक्षण केले असतां जीं प्रायश्चित्ते त्यांचा हा नानाविध विधि सांगितला. आतां चोरीच्या पापाच्या प्रायश्चित्ताचा विधि श्रवण करा.

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्विजोत्तमः ॥

स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥ १६२ ॥

ब्राह्मणाच्या घरांतून इच्छापूर्वक धान्य, अन्न एतद्रूप धनाची चोरी ब्राह्मण करील तर त्यानें एक वर्षपर्यंत शुद्धीकरितां कृच्छ्रव्रत करावें; परंतु तें देश, काल, द्रव्यपरिमाण, स्वामिगुण, इत्यादिकांचा विचार करून अधिकही जाणावें. याप्रमाणें पुढें जीं व्रतें सांगणें आहेत त्यांविषयींहि हीच व्यवस्था जाणावी.

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ॥

कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चांद्रायणं स्मृतं ॥ १६३ ॥

मनुष्य, स्त्रिया, क्षेत्र, गृह, वापीजल, कूपजल, यांतून कोणत्या एकाची चोरी केली असतां चांद्रायण करावें, तेणेंकरून शुद्धि होते.

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेश्मतः ॥

चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६४ ॥

थोड्या किमतीचीं व ज्यांविषयीं प्रतिपदोक्त प्रायश्चित्ते कथन केलीं नाहींत असीं द्रव्ये चोरिलीं असतां चोरलेलें द्रव्य मालकास देऊन आपल्या शुद्धीकरितां सांतपन कृच्छ्र करावें.

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ॥

पुष्पमूलफलानां च पंचगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

मोदकादि भक्ष्यपदार्थ, पायसादिक भोज्यपदार्थ, वाहन (गाडी इत्यादिक), शय्या, आसन, पुष्पें, मूळें यांची चोरी केली असतां पंचगव्य प्राशन करावें.

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ॥

चेलचर्माभिषाणां च त्रिरात्रं स्याद्भोजनं ॥ १६६ ॥

तृण, काष्ठ, वृक्ष, शुष्क अन्न, गूळ, वस्त्र, चर्म यांतून कोणत्याहि पदार्थाची चोरी केली असतां तीन दिवस उपवास करावा.

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ॥

अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कदन्नता ॥ १६७ ॥

मणि, मोती, पोवळे, तांबें, रुपें, लोखंड, कांसें, पाषाण यांतून कोणतां एक पदार्थ चोरिला असतां बारा दिवसपर्यंत तंडुलांच्या कण्या भक्षण कराव्या.

कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च ॥

पक्षिगंधौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ १६८ ॥

कार्पास वस्त्रं, रेशमी वस्त्रं, ऊर्णा वस्त्रं, द्विशफ (गाई इत्यादिक), एकशफ (अश्वदिक), पक्षी, औषधी, गंधद्रव्यं (चंदनादिक), आणि रज्जु यांतून कोणतें एक चोरिलें असतां तीन दिवस दुग्ध प्राशन करावें.

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ॥

अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥

हीं पूर्वोक्त प्रायश्चित्ते करून चोरीजन्य पाप द्विजातीनें दूर करावें, अगम्य स्त्रीचेठायीं गमन केलें असतां जें पाप सांगितलें तें, पुढें सांगितलेलीं प्रायश्चित्ते करून दूर करावें.

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्व्रतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ॥

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वंत्यजामु च ॥ १७० ॥

सौंदर्य भगिनी, मित्रभार्या, पुत्रभार्या, कुमारी आणि चांडाली यांतून कोणत्याहि स्त्रीचे ठायीं अज्ञानेंकरून रममाण होऊन रेतःपात करील तर त्यानें गुरुपत्नीगमनप्रायश्चित्त करावें, जाणून, अभ्यासेंकरून असतां मरणांत प्रायश्चित्त उक्त आहे.

पैतृष्वसेर्यो भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च ॥

मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चांद्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥

आतेवहीण, माऊसबहीण, मामेवहीण ह्या भगिनीसमान होत, याकरितां यांचेठायीं गमन केलें असतां चांद्रायणव्रत करावें, व हें प्रायश्चित्त अज्ञानेंकरून गमन असतां जाणावें. जाणून अभ्यासपूर्वक केलें असतां मरणांत प्रायश्चित्त जाणावें.

एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ॥

ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति स्युष्यन्नधः ॥ १७२ ॥

पूर्व श्लोकांत सांगितलेल्या ज्या तीन भगिनी यांसहवर्तमान बुद्धिमान् पुरुषानें विवाह करूं नये. जर कदाचित् यांच्याशीं विवाह करील तर तो नरकाप्रत जाईल.

अमानुषीषु पुरुष उदकयायामयोनिषु ॥

रेतःसिक्त्वा जले चैव रुच्छं सांतपनं चरेत् ॥ १७३ ॥

गाईविरहित घोडी इत्यादि पशुजातिस्त्रिया, रजस्वला स्त्री, अयोनि (संबंधरहित) स्त्रिया, आणि उदक यांचेठायीं पुरुष रेतःपात करील तर त्यानें सांतपनरुच्छ करावें.

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ॥

गोयानेषु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७४ ॥

गाडी, उदक, दिवस यांचे ठायीं पुरुष अथवा स्त्री यांच्याशीं द्विजाति मैथुन करील तर त्यानें सवस्त्रस्नान करावें.

चांडालांत्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ॥

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५ ॥

अज्ञानेकरून चांडाली, स्लेच्छादिकांची स्त्री यांचे ठायीं ब्राह्मण गमन करील अथवा
खांचें अन्न भक्षण करील किंवा खांपासून- प्रतिग्रह करील तर तो पतित होतो, आणि
जाणून करील तर त्यांच्या समान होतो.

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुध्यादेकवेश्मनि ॥

यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ १७६ ॥

परपुरुषसंभोगाने दूषित झालेल्या स्त्रीस भर्त्यानें एका घरांत कोडून ठेवून, जें परस्त्री-
गमनसंबंधी व्रत पुरुषाला उक्त आहे तें तिच्याकडून करावें.

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयंत्रिता ॥

रुच्छूचांद्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥ १७७ ॥

स्वजातीय पुरुषाशीं एकावर गमन करून स्त्री दोषी झाली, त्याचें प्रायश्चित्त करून पुनः ती
स्वजातीय पुरुषाशीं गमन करील तर तिणें प्राजापत्यव्रत आणि चांद्रायणव्रत हीं दोन करावीं.

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः ॥

तद्भक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

द्विज (ब्राह्मण) चांडाली स्त्रीचे ठायीं एकात्र गमन करून जें पाप आचरण करितो
तें दूर होण्याकरितां त्यानें तीन वर्षेपर्यंत भिक्षा मागून तें अन्न भक्षण करून जप करावा.

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ॥

पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥

हिंसा, अभक्ष्यभक्षण, चोरी, अगम्यागमन हीं चार पातकें करणारे चार वर्ण यांचा हा प्रा-
यश्चित्तविधि सांगितला. आतां पतिताशीं संसर्ग करणारे जे त्यांचा प्रायश्चित्तविधि श्रवण करा.

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ॥

याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ १८० ॥

पतितासहवर्तमान एक वर्षपर्यंत एका यानांत बसून गमन करील अथवा एका आ-
सनावर बसेल, किंवा एका पंक्तीस भोजन करील तर तो पतित होतो, आणि पतिताकडून
न यजन करवील किंवा अध्ययन करवील अथवा त्याशीं विवाहादि संबंध करील तर
तत्काल पतित होतो.

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ॥

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

ज्या पाप्यासहवर्तमान जो मनुष्य पूर्वोक्त संसर्ग करितो, त्यानें तत्संसर्गशुद्धीकरितां
त्याचेंच व्रत (प्रायश्चित्त) चतुर्थांशन्यून करावें.

१ चतुर्थांश न्यून झणजे, ब्रह्महत्या करणारास द्वादशाब्द प्रायश्चित्त उक्त आहे, तेव्हां त्याचा संसर्ग यानें
नऊ वर्षे करावें, याप्रमाणें इतरांविषयीहि जाणावें.

पतितस्योदकं कार्यं सपिंडैर्वांधवैर्विहिः ॥

निंदितेऽहनि सायान्हे ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥ १८२ ॥

घटस्फोटाचा प्रकार सांगतो— सपिंड बांधव यांनी गांवाच्या बाहेर जाऊन ऋत्विक्, गुरु यांच्या समीप निंदित दिवसी (रिक्तातिथीचे ठायी) सायंकाळी पतिताची जीवंतपणीच उदकक्रिया करावी.

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ॥

अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बांधवैः सह ॥ १८३ ॥

सपिंड बांधवांनी प्रेरित अशा दासीने उदकाने भरलेला घट आणून प्रेताप्रमाणे (सणजे दक्षिणाभिमुख होऊन) पायाने लवंडून द्यावा, आणि नंतर बांधवांसहित सपिंडांनी पतिताचे एक अहोरात्र आशौच धरावे.

as Verse 181 in the

निवर्तेरंश्च तस्मान्नु संभाषणसहासने ॥

दायादस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

नंतर त्या पतिताबरोबर संभाषण करणे, एकासनावर बसणे, दायविभाग देणे, आणि इतर सर्व लौकिक व्यवहार हे सर्व बांधवांनी वर्य करावे.

ज्येष्ठता च निवर्तेन ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् ॥

ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणनोऽधिकः ॥ १८५ ॥

ज्येष्ठ भ्रात्याहून कनिष्ठ भ्राता गुणांनी अधिक असेल तर त्याला ज्येष्ठांश मिळेल, व ज्येष्ठ भ्रात्याचा ज्येष्ठपणा (प्रत्युत्थानादिक,) आणि ज्येष्ठांश ही निवृत्त होतात.

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुंभमपां नवम् ॥

तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ १८६ ॥

पतिताने प्रायश्चित्त केल्यानंतर सपिंड, समानोदक बांधवांनी पतितासह वर्तमान पुण्य जलाशयांत स्नान करून उदकपूर्ण नूतन घट पायाने लवंडावा.

स त्वंभु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ॥

सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥

मग कृतप्रायश्चित्त होताता त्याने तो घट उदकांत टाकून आपल्या घरी जाऊन पूर्वीप्रमाणे सर्व ज्ञातिकार्ये करावी.

एतदेव व्रतं कुर्यादोषित्सु पतितास्वपि ॥

वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहांतिके ॥ १८८ ॥

पतित स्त्रियांविषयींहि हाच पूर्वोक्त विधि, भर्त्रादिसपिंडवर्गांनी करावा. पतित स्त्रियांला अन्नवस्त्र देऊन आपल्या घराच्या समीप राहण्याकरितां पर्णकुटी बांधून द्यावी, व तीत त्यांनी राहावे.

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित् समाचरेत् ॥

कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥

अकृतप्रायश्चित्त अशा पाप्यांसहवर्तमान कोणताहि दानप्रतिग्रहादिक अर्थ करूं नये आणि पापाचें प्रायश्चित्त ज्यांनीं केलें त्यांची निंदाहि कदापि करूं नये.

बालघ्राश्च कृतघ्राश्च विशुद्धानपि धर्मतः ॥

शरणागतहंतृंश्च स्त्रीहंतृंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

बालहत्या, स्त्रीहत्या करणारे, आपल्यावर ज्यांनीं उपकार केला त्यांजवर अपकार करणारे; आणि शरणागताला मारणारे हे पापाचें शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करून जरी शुद्ध झाले असतील तथापि त्यांच्याशीं संसर्ग करूं नये.

येषां द्विजानां सावित्री नानुच्येत यथाविधि ॥

तांश्चारयित्वा त्रींशुच्छ्रान् यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांचा उपनयनसंस्कार गौणकालींसुद्धां झाला नसेल तर त्यांजकडून रुच्छ्रत्रयपरिमित प्राजापत्य करून नंतर त्यांचे यथाविधि उपनयन करावें.

प्रायश्चित्तं चिकीर्षति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ॥

ब्राह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥

विरुद्ध कर्म करणारे (निषिद्ध शूद्रसेवा करणारे) असल्यामुळे वेदाध्ययन न करणारे असे जे द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ते प्रायश्चित्त करण्याची इच्छा करतील तर त्यांलाहि ह्या रुच्छ्रत्रयपरिमित प्राजापत्याचा उपदेश करावा.

यद्वर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ॥

तस्योत्सर्गेण शुद्धयन्ति जप्येन तपसैव च ॥ १९३ ॥

जे ब्राह्मण निंदित कर्म करून धन संपादन करितात त्यांनीं तें धन टाकून वक्ष्यमाण जप, तप करावें, तेणेंकरून ते शुद्ध होतात.

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ॥

मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९४ ॥

निश्चित होऊन एक मासपर्यंत नित्य तीन सहस्र, सावित्रीचा जप करित होत्साता गोष्ठांत राहून दुग्धाचा आहार करावा, तेणेंकरून असत्प्रतिग्रहापासून शुद्ध होतो.

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतं ॥

प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥ १९५ ॥

गोष्ठापासून पुनः आल्यावर उपवास करून कृश, नम्र झालेला अशा ब्राह्मणास लोकांनीं, तूं आत्मावरोवर साम्य (ह्मणजे असत्प्रतिग्रह न करणें असा धर्म) इच्छितोस काय असे पुसावें.

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवां ॥

गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहं ॥ १९६ ॥

तेव्हां त्या ब्राह्मणानें ब्राह्मणांच्या अग्रभागीं, मी आजपासून पुनः असत्प्रतिग्रह करणार नाहीं, सत्य सांगतो असें बोलून गाईला भक्षण करण्याकरितां तृण घालावें, तें तृण गाईनीं भक्षण केलें असतां तो शुद्ध झाला असें जाणून ब्राह्मणांनीं व्यवहारांत खाला घ्यावें.

ब्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामंत्यकर्म च ॥

अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥

ब्रात्यांचें ऋत्विक् कर्म करणें, पिता, गुरु इत्यादिकांहून भिन्न अशा इतरांची अंत्य-क्रिया करणें, अभिचारयाग (मारणमंत्रप्रयोगरूप याग) करणें, आणि अहीननामक याग करणें यांपासून शुद्ध होण्याकरितां तीन कृच्छ्र करावे.

शरणागतं परित्यज्य वेदं विष्ठाव्य च द्विजः ॥

संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

रक्षणाची इच्छा धरून जो आपणाला शरणागत होतो त्याचा त्याग द्विजाति करील तर आणि वेद पढविण्यास जो योग्य नाही त्याला वेद पढवील, तर त्यानें एक वर्षपर्यंत यवांचा आहार करावा, तेणेंकरून तज्जन्य पाप दूर होतें.

श्वसृगालखरैर्दंष्ट्रो ग्राम्यैः क्रव्याद्विरेव च ॥

नराश्वोष्ट्वराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

कुत्रा, कोल्हा, गर्दभ, मनुष्य, अश्व, हुंकर, कच्चे मांस खाणारे मार्जारादिक, उंट, यांनीं दंश केला असतां एक प्राणायाम करून शुद्ध होतो.

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजपमेव वा ॥

होमाश्च सकला नित्यमपांस्त्यानां विशोधनं ॥ २०० ॥

एका पंक्तीत वसण्यास अयोग्य जे पतित व्यक्तींनीं एक मासपर्यंत, दोन दिवस उपोषण करून तिसऱ्या दिवसीं शायंकाळीं भोजन करावें, संहितेचा जप करावा, “ देवकृतस्यै-नसोऽवयजनमसि ” इत्यादि आठ मंत्रांहींकरून नित्य होम करावा, ह्मणजे शुद्ध होतात.

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ॥

स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०१ ॥

उंट किंवा गर्दभ जुंपलेल्या रथांत अथवा गाडीत ब्राह्मण समजून उमजून बसेल तर तो प्राणायाम करून शुद्ध होतो. जाणून नम्र होतसाता स्नान करील तर तोहि प्राणायाम करून शुद्ध होतो.

विनाद्विरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च ॥

सचैलो बहिराश्रुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥ २०२ ॥

रोगी मनुष्यावांचून अन्य कोणी मनुष्य उदकांत किंवा उदकव्यतिरिक्त मूत्रपुरी-
षोत्सर्ग करील तर त्यानें ग्रामाच्या बाहेर नद्यादिकांत वस्त्रसहित स्नान करावें, आणि
गाईला स्पर्श करावा, लणजे शुद्ध होतो.

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ॥

स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनं ॥ २०३ ॥

वेदोक्त नित्य कर्मे, आणि चतुर्थ अध्ययनांत सांगितलेलीं स्नातकव्रते यांचा लोप झाला
असतां एक दिवस उपवास करावा.

हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः ॥

स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

ब्राह्मणास हुंकार (हुं, उगाच राहा असें) बोलेल अथवा विद्येनें जो अधिक झाला
त्वंकार (तूं असा) शब्द बोलेल तर त्यानें स्नान करून झाला नमस्कार करून प्रसन्न करून
एक दिवस उपवास करावा.

ताडयित्वा तृणेनापि कंठे वाबध्य वाससा ॥

विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

ब्राह्मणास तृणेंकरूनहि ताडन, विवादांत जिंकणें, आणि वस्त्रेंकरून कंठाचे ठायीं बां-
धणें झालून कोणतें एक केलें असतां त्या ब्राह्मणास नमस्कार करून प्रसन्न करावें.

अवगूर्यं त्वद्दशतं सहस्रमभिहत्य च ॥

जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

ब्राह्मणाचा वध करावा अशा इच्छेंकरून त्याजवर शस्त्र उगारिलें असतां शंभर वर्षेपर्यंत
नरक प्राप्त होतो, आणि त्या शस्त्रानें त्याचा वध केला असतां सहस्र वर्षे नरक प्राप्त होतो.

शोणितं यावतः पांसून् संगृह्णाति महीतले ॥

तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

ब्राह्मणाच्या शरीरावर शस्त्रप्रहार करून त्याच्या अंगांतून रुधिर निघून तें भूमीवर प-
डून जितके धूलिरज ग्रहण करितें तितकीं वर्षेसहस्रेपर्यंत मारणारा नरकांत वास करितो.

अवगूर्यं चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितं ॥ २०८ ॥

ब्राह्मणाचा वध करावा अशा इच्छेनें त्याजवर दंड उगारिला असतां कृच्छ्रप्रायश्चित्त
करावें. प्रहार केला असतां अतिकृच्छ्र करावें, आणि प्रहार करून रुधिर निघालें असतां
कृच्छ्र व अतिकृच्छ्र अर्सी दोन करावीं.

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ॥

शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

प्रतिपदोक्त प्रायश्चित्ते न सांगितलेलीं असीं जीं प्रतिलोमवधादि पापें त्यांच्या शुद्ध्यर्थ प्रायश्चित्त सांगणें तें कर्त्याची शक्ति (शरीर, धन इत्या०), गुरुलघु पाप, ज्ञानाज्ञान अवस्था, सकृत्असकृत् यांचा सर्व विचार करून योजना करावी.

वैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ॥

तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

जे उपाय करून मनुष्य पापांतें दूर करितो; आणि देव, ऋषि, पितर यांनीं जे उपाय स्वीकृत केले ते तुझाला मी सांगेन.

अहं प्रातस्त्रयहं सायं त्र्यहमद्याद्याचितं ॥

अहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥ २११ ॥

प्राजापत्य प्रायश्चित्ताचें लक्षण—प्राजापत्य कृच्छ्र करणारा जो द्विज त्यानें तीन दिवस प्रातःकालीं, तीन दिवस सायंकालीं भोजन करावें; तीन दिवस अयाचित भोजन करावें; आणि शेवटीं तीन दिवस उपवास करावा. ग्रासांची संख्या व प्रमाण सांगतो— सव्वीस ग्रास प्रातःकालीं, वतीस ग्रास सायंकालीं, अयाचिताचे ठायीं चोवीस. ग्रास कुकुटांडप्रमाण, अथवा जेवढा मुखांत जाईल तेवढा ग्रास घ्यावा, हविष्यान भोजन करावें. इतर पदार्थ भक्षण करूं नये.

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकं ॥

एकरात्रोपवासं च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतं ॥ २१२ ॥

सांतपन कृच्छ्राचें लक्षण—गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत, आणि कुशोदक हीं सर्व एकत्र करून एक दिवसीं प्राशन करावें, आणि दुसऱ्या दिवसीं उपोषण करावें, याला सांतपन कृच्छ्र ह्मणतात, पूर्वोक्त गोमूत्रादिक सहा एक एक दिवस एकैक भक्षण करून सातव्या दिवसीं उपोषण करावें, याला महासांतपनकृच्छ्र ह्मणतात.

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ॥

अहं चोपवसेदंत्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥ २१३ ॥

अतिकृच्छ्राचें लक्षण—अतिकृच्छ्र करणारा द्विज यानें एक दिवसीं प्रातःकालीं एक ग्रास, एक दिवसीं सायंकालीं एक ग्रास, एक दिवसीं अयाचित एक ग्रास, आणि शेवटीं तीन दिवस उपवास करावा. याला अतिकृच्छ्र ह्मणतात.

तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ॥

प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥

तप्तकृच्छ्राचें लक्षण—तप्तकृच्छ्र करणारा विप्र यानें जितेंद्रिय, संयमयुक्त होऊन ज्ञान करून तीन दिवस एक वेळ उष्णोदक प्राशन करावें, तीन दिवस एकवेळ उष्ण दूध प्राशन करावें, तीन दिवस एकवेळ उष्ण घृत प्राशन करावें, तीन दिवस उष्ण वायु प्राशन

करावा. हें तसकूच्छ जाणावें. संख्या व प्रमाण सांगतो— सहा पळें उदक, तीन पळें दूध, आणि एक पळ घृत.

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ॥

पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

पराककृच्छ्राचें लक्षण—चित्त सावधान करून इंद्रियें आपल्या स्वाधीन राखून बारा दिवसपर्यंत उपवास करावा. याला पराककृच्छ्र ह्मणतात. हा सर्व पातकें दूर करणारा आहे.

एकैकं ऋसायेत्पिंडं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत् ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चांद्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

चांद्रायणाचें लक्षण—त्रिकाल (प्रातः मध्यान्हसायं) खान करून दररोज एकेक-ग्रास कृष्णपक्षांत कमी करावा. आणि शुक्लपक्षांत दररोज एकेक ग्रास वर्द्धिगत करावा. ह्मणजे, शुक्लपक्षाचे पौर्णिमादिवसीं पंधरा ग्रास भोजन करावें, आणि कृष्णपक्षां प्रतिपदेपासून एकेक ग्रास कमी करावा, याप्रमाणें चतुर्दशीचे ठायीं एक ग्रास भोजन करून अमावास्येचे दिवसीं उपोषण करावें, शुक्ल प्रतिपदेपासून एकेक ग्रास वर्द्धिगत करावा, पौर्णिमेच्या दिवसीं पंधरा ग्रास, भोजन करावें. ह्याला पिपीलिकामध्य चांद्रायण ह्मणतात. पिपीलिका (मुंगी) जशी मार्गे पुढें मोठी व मध्ये सूक्ष्म असते, तद्वत् हें व्रत आहे.

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ॥

शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चांद्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

यवमध्यचांद्रायण—हेंच चांद्रायण शुक्ल पक्षापासून आरंभिलें असतां तें यवमध्य चांद्रायण ह्मणलें आहे. याचा इतर सर्व विधि चांद्रायणाप्रमाणेंच जाणावा.

अष्टावष्टौ समश्रीयात्पिंडान्मध्यंदिने स्थिते ॥

नियतात्मा हविष्याशी यतिचांद्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

यतिचांद्रायण—जितेंद्रिय होऊन हविष्यानाचे प्रतिदिवसीं आठ ग्रास मध्याह्नी भक्षण करावे, याप्रमाणें एक मासपर्यंत करावें, तें यतिचांद्रायण होय. शुक्ल किंवा कृष्ण कोणत्याहि पक्षांत याला आरंभ करावा.

चतुरः प्रातरश्रीयात्पिंडान्विप्रः समाहितः ॥

चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचांद्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

निश्चित अशा ब्राह्मणानें प्रातःकालीं चार ग्रास व रात्रीं चार ग्रास भोजन करावें, हें मन्वादिकांनीं शिशुचांद्रायण ह्मणलें आहे.

यथा कथंचित्पिंडानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ॥

मासेनाश्रन्हविष्यस्य चंद्रस्यैति सलोकताम् ॥ २२० ॥

१ एक पळ ह्मणजे ध्यावहारिक मासे ४० होतात.

जो मनुष्य निश्चित होत्साता एका मासाचेठायीं हविष्यान्नाचे २४० ग्रास (कधीं १६, कधीं १०, कधीं उपोषण अशा प्रकारें) भक्षण करितो तो चंद्रलोकाप्रत जातो.

एतदुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतं ॥

सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

गुरुलघु संपूर्ण पातकांचा नाश होण्याकरितां एकादश रुद्र, द्वादशादित्य, अष्टौषसु, मरुत् (वायु) आणि महर्षि या सर्वांनीं हें चांद्रायणव्रत केलें.

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

आपण महाव्याहृतींचा प्रतिदिवसीं आज्यानें होम करावा. अहिंसा, सत्य, अक्रोध, आणि अकौटिल्य हे धर्म आचरण करावे.

त्रिरहस्त्रिनिशायां च सवासा जलमाविशेत् ॥

स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥

रात्री व दिवसा आदौ, मध्ये आणि अंतीं नद्यादिक उदकांत स्नान करावें. हें स्नान, पूर्वोक्त पिपीलिकामध्य व यवमध्य चांद्रायण यांहून व्यतिरिक्त चांद्रायणाविषयीं जाणावें. कां कीं, ह्या दोहोंविषयीं त्रिकाल स्नान उक्त आहे. व्रतकर्त्यानें स्त्री, शूद्र, पतित यांच्याशीं कदापि भाषण करूं नये.

स्थानासनाभ्यां विहरेदंशक्तोऽधः शयीत वा ॥

ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

दिवसा व रात्रीं उठून उभें राहावें, वसावें, निद्रा करूं नये, अशक्त असेल तर भूमीवर निजावें, पलंगादिकांवर निद्रा करूं नये. ब्रह्मचारी, व्रती (मौंजी पलाशदंडादियुक्त), आणि गुरु, देव, ब्राह्मण यांची पूजा करणारा असा असावा.

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ॥

सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमावृतः ॥ २२५ ॥

गायत्री व पवित्र (अघमर्षण) मंत्र, ह्यांचा यथाशक्ति जप करावा. हा जप सर्व प्राजापय व्रतें, चांद्रायणादि व्रतें यांचे ठायीं प्रायश्चित्तार्थ आचरण करावा.

एतैर्दिजातयः शोभ्या व्रतैराविष्कृतैः ॥

अनाविष्कृतपापांस्तु मंत्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या सर्वांनीं हीं व्रतें आचरण करून पाप दूर करावें, आणि ज्यांचीं पापें प्रकाशित नाहींत त्यांनीं मंत्र, होम यांहींकरून पापें दूर करावीं.

ख्यापनेनानुतापेन तपसाभ्ययनेन च ॥

पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥

पाप करणारा मनुष्य आपल्या पापाचें कथन, अनुताप, तपश्चर्या, वेदाध्ययन यांहीं करून स्वकीय पापापासून मुक्त होतो. आपत्कालीं दानेंकरून पापमुक्त होतो, एक प्राजापयस्थानीं एक गाई द्यावी, याप्रमाणें जितकीं प्राजापत्ये असतील त्याप्रमाणें धेनुमान समजावें.

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते ॥

तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

सर्प जसा आपल्या त्वचेपासून मुक्त होतो, तसा मनुष्य आपलें पाप प्रकाशित जसजसें करील तसा तसा तो पापमुक्त होतो.

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गृह्णीति ॥

तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥

पापी मनुष्याचें मन जसजसें आपल्या पापकर्माची निंदा करील तसतसें तें शरीर ह्मणजे जीवात्मा त्या अधर्मापासून (पापापासून) मुक्त होतो. हा अनुतापाचा अनुवाद केला आहे.

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥

नैवं कुर्या पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

पाप करून पापी अनुताप (पश्चात्ताप) करील तर तो त्या पापापासून मुक्त होतो. पुनः मी असें पापकर्म करणार नाहीं अशी निवृत्ति करून तो पापी पवित्र होतो.

एवं संचित्य मनसा प्रेत्य कर्म फलोदयं ॥

मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥

याप्रमाणें शुभाशुभ कर्माचें इष्टानिष्ट फल परलोकीं प्राप्त होणारें आहे असा मनांत विचार करून मन, वाणी, देह यांहींकरून नित्य शुभकर्म आचरण करावें.

अज्ञानाद्यदिवा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ॥

तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

आज्ञानेंकरून अथवा ज्ञानेंकरून निंदित कर्म करून त्या कर्मापासून मुक्त होण्याची इच्छा करणारा यानें पुनः दुसरें निंदित कर्म करू नये.

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ॥

तस्मिंस्तावत्तपः कुर्यादावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥

प्रायश्चित्त केलें असतां आपल्या मनाचा संतोष न होईल तर पुनः तें प्रायश्चित्त करावें. ज्यावत्कालपर्यंत मनाचा संतोष होई तावत्कालपर्यंत करावें.

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ॥

तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोतं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

देवता आणि मनुष्य यांच्या सर्व सुखाचें मूळ, मध्य, आणि अंत तप आहे, असें वेदार्थद्वष्टे ऋषींनीं सांगितलें आहे.

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणं ॥

वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनं ॥ २३५ ॥

ब्रह्मचर्य, वेदांतज्ञान हें ब्राह्मणाचें तप; सर्वाचें रक्षण करणें हें क्षत्रियाचें तप; व्यापार, शेती इत्यादिक करणें हें वैश्याचें तप; आणि सेवा करणें हें शूद्राचें तप.

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ॥

तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

वाणी, मन, आणि शरीर एतन्निमसंपन्न जे ऋषि ते एका प्रदेशां राहणारे होत्या ते निष्पापअंतःकरणेंकरून पृथिवी, आकाश, स्वर्ग ह्या तीन लोकांत राहणाऱ्या जगताला जाणतात.

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ॥

तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥

औषधें, आरोग्य; दैवी विद्या (ब्रह्मकर्मरूप वेदार्थज्ञान व वेदपठन) आणि नाना-विध स्वर्गस्थिति हीं सर्व तपानें सिद्ध होतात; कारण, या सर्वाचें साधन तप आहे.

यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं यच्च दुष्करम् ॥

सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

जें दुःखानें—तरण्याला योग्य (ग्रहदोषसूचित आपत्ति इत्यादिक), मिळण्यास योग्य, करण्यास योग्य, जाणण्यास योग्य आहे तें तपानें साध्य होतें; कारण, जें अतिदुष्कर कार्य तें तपानें साध्य होण्यास शक्य आहे, म्हणून तपाचें उत्तमन करूं नये.

— महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ॥

तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥

महापातकी आदिकरून जितके पातकी आहेत ते सर्व तपानें पातकापासून मुक्त होतात.

कीटाश्चाद्विपतंगाश्च पशवश्च वयांसि च ॥

स्थावराणि च भूतानि दिवं यांति तपोबलान् ॥ २४० ॥

कीट, सर्प, पतंग, पशु, पक्षी, वृक्षादिक हीं सर्व भूतें तपोमाहात्म्येंकरून स्वर्गाप्रत जातात.

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ॥

तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

मनुष्य मन, वाणी, शरीर यांहींकरून जें कांहीं पाप करितात तें, ते मनुष्य तपोधन होत्या ते तपानें नष्ट करितात.

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ॥

इत्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

तपानें शुद्ध अशा ब्राह्मणाचे हविर्भाग यज्ञामध्ये देवता ग्रहण करितात, आणि त्यांचे सर्व मनोरथ सफल करितात.

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ॥

तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

सकल लोकांची उत्पत्ति, स्थिति, लय करणारा जो प्रजापति (हिरण्यगर्भ) त्यानें हें तप करून हें शास्त्र उत्पन्न केलें. तसेच वसिष्ठादिक ऋषि तप करूनच वेदांते पावते झाले.

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ॥

सर्वस्यास्य प्रपश्यंतस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

तपेंकरून सर्व प्राण्यांला दुर्लभ जन्म प्राप्त होतें असें देवांनीं पाहून, सर्वांचें मूल तप होय असें जाणून तपाचें माहात्म्य वर्णन करितात.

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्या महायज्ञक्रियाक्षमा ॥

नाशयंत्यशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥

यथाशक्ति प्रत्यहीं वेदाभ्यास करणें, आणि महायज्ञ (पंचमहायज्ञ) करणें, आणि अपराधसहन हीं महापापजनित पातकांचाही शीघ्र नाश करितात, मग उपपातकांचा नाश करितील यांत आश्चर्य नाही.

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ॥

तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

जसा अग्नि आपल्या तेजेंकरून सन्निहित काष्ठें जाळून निःशेष करितो, तद्वत् वेदार्थ जाणणारा ब्राह्मण ज्ञानाग्नीकरून सर्व पातकांचा नाश करितो.

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ॥

अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

प्रकाश (प्रसिद्ध) अशा ब्रह्महत्यादि पातकांचीं प्रायश्चित्तें या प्रकारेंकरून सांगितलीं, यानंतर रहस्य (अप्रसिद्ध) पापांचीं प्रायश्चित्तें श्रवण करां.

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ॥

अपि भ्रूणहणं मासात्पुनंत्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

ओंकार, सप्त व्याहृति एतत्सहित जी गायत्री तिचे प्रतिदिवसीं सोळा प्राणायाम, पूरक, कुंभक, रेचक इत्यादि विधीनें एक मासपर्यंत केले असतां भ्रूणहत्या (गर्भहत्या) पापाचा नाश होतो. हें प्रायश्चित्त द्विजातींस मात्र विहित, स्त्रीशूद्रादिकांस विहित नाही.

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्युचम् ॥

माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापो हि विशुद्धयति ॥ २४९ ॥

कौत्स ऋषीर्नै दृष्ट जे सूक्त “अपनःशोशुचदधं०” हैं, वसिष्ठ ऋषीर्नै दृष्ट जे सूक्त “प्रतिस्तोमेतिरुषमनुशिष्य०” ही ऋचा, माहित्र ह्यणजे “महित्रीणामवोस्तु०” हैं सूक्त, आणि शुद्धवय ह्यणजे “एतोन्विद्रंस्तवाम०” ह्या तीन ऋचा यांचा प्रतिदिवसीं सोळा वेळ एकमासपर्यंत जप करील तर सुरापान, करणाराहि शुद्ध होतो.

सकृज्जप्त्वास्य वामीयं शिवसंकल्पमेव च ॥

अपहत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

ब्राह्मणसुवर्णं चोरणारा याने “अस्पवामस्य०” ह्या सूक्ताचा आणि “यज्जाग्रतोदूर०” ह्या वाजसनेयी शाखेंतील सूक्ताचा प्रतिदिवसीं एक वेळ असा एक मासपर्यंत जप करील तर तो शुद्ध होतो.

हविष्यंतीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च ॥

जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥

“हविष्यांगमजरंस्वर्विदा०” ह्या एकोणीस ऋचा, “नतमंहोनदुरितं०” ह्या आठ ऋचा, “इतिवाइतिमेनःशिवसंकल्प०” हैं सूक्त, आणि “सहस्रशीर्षापुरुष०” ह्या सोळा ऋचा, ह्या सर्वांचा जप प्रतिदिवसीं सोळा वेळ, असा एक मासपर्यंत करील तर गुरुपत्नीगमन करणारा शुद्ध होतो.

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ॥

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

“अवतेहेळो वरुण नमोभि०” ही ऋचा, “यत्किंचेदं वरुणदैव्येजने०” ही ऋचा आणि “इतिवाइतिमे मन०” हैं सूक्त ह्यांचा जप प्रतिदिवसीं एक वेळ एक वर्षपर्यंत केला असतां महापातकें व उपपातकें यांचा नाश होतो.

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ॥

जपंस्तरत्समंदीयं पूयते मानवरूपहात् ॥ २५३ ॥

प्रतिग्रह करण्यास अयोग्य अशाचा प्रतिग्रह करणारा, आणि निंदित अन्न भक्षण करणारा याने “तरत्सर्मदीधावति०” ह्या चार ऋचांचा जप करावा, तेणेंकरून तो शुद्ध होतो.

सोमारौद्रं तु बव्हेना मासमभ्यस्य शुद्ध्यति ॥

स्रवंत्यामाचरन् ज्ञानमर्यग्णामिति च द्वयृचम् ॥ २५४ ॥

“सोमा रुद्रा धारये श्यामस्वय०” ह्या चार ऋचा, “अर्यमा वरुणं मित्रंच०” ह्या दोन ऋचा यांचा जप, नदींत स्नान करून एक मासपर्यंत केला असतां बहु पाप करणारा शुद्ध होतो.

अब्दार्धमिंद्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ॥

अप्रशासं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५ ॥

“ इंद्रं मित्रं वरुणमग्नित्रय० ” ह्या सात ऋचांचा साहा महिने जप केला असतां सर्व पातकांपासून मुक्त होतो. उदकांत मूत्रपुरीषोत्सर्ग केला असतां एक मासपर्यंत भिक्षान्न भोजन करावें.

मंत्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ॥

सुगुर्वप्यपहंत्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचं ॥ २५६ ॥

एक संवत्सरपर्यंत “ देवकृतस्य० ” इत्यादि शाकलशाखीय होममंत्रांनीं घृताचा होम द्विज करील तर, अथवा “ नम इंद्रश्च० ” ह्या ऋचेचा जप संवत्सरपर्यंत करील तर महापातकाचाहि नाश होतो.

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्वाः समाहितः ॥

अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भिक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥ २५७ ॥

जो ब्रह्महत्यादि महापातकी असेल त्यानें इंद्रियें जिकून भिक्षान्न भक्षण करून एक वर्षपर्यंत गाईच्या मागून भ्रमण करावें, व पावमानी ऋचांचा प्रतिदिवसीं जप करावा, तेणेंकरून त्या पातकांपासून तो मुक्त होतो.

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् ॥

मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

अथवा अरण्यांत जाऊन निश्चित होत्साता वेदसंहितेचें त्रिवार पारायण करावें, तीन वेळ पराक व्रत करावें, लणजे तो सर्व पातकांपासून मुक्त होतो.

य्वहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्तूपः ॥

मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥

उपवासी, जितेंद्रिय होऊन प्रतिदिवसीं त्रिकाल स्नान करावें, आणि उदकांत स्थित होऊन “ ऋतंचसत्यं ” ह्या तीन ऋचांचा त्रिवार जप करावा, तेणेंकरून सर्व पातकांपासून मुक्त होतो.

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वं पापापनोदनः ॥

तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

जसा सर्व यज्ञांचा राजा अश्वमेध यज्ञ सर्व पातकांचा नाश करितो, तद्वत् अघमर्षण सूक्त सर्व पातकांचें नाशक आहे.

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नपि यतस्ततः ॥

ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन ॥ २६१ ॥

तीन लोकस्थ प्राण्यांची हत्या करील, महापातकी इत्यादिकांचें अन्न भक्षण करील, परंतु तो ब्राह्मण ऋग्वेदाचें अध्ययन करित आहे तर त्याला कोणतेंहि पाप लिप्त होत नाहीं.

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ॥

साम्नां वा सरहस्पानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

मंत्रब्राह्मणरूप ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, अथवा उपनिषत्सहित सामसंहिता यां-
तून कोणत्याहि एका संहितेचा तीन वेळ जप केला असतां सर्व पातकांपासून मुक्त होतो.

यथा महाऋदं प्राप्य क्षिप्रं लोष्टं विनश्यति ॥

तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥

मातीचें टेंकूळ मोठ्या डोहांत टाकिलें असतां तें जसें तात्काळ विरघळतें, तद्वत् सर्व
पातक तीन वेदांच्या पाठानीं नष्ट होतों.

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ॥

एष ज्ञेयस्त्रिवृद्देवो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥ २६४ ॥

ऋग्वेदमंत्र, यजुर्वेदमंत्र, बृहद्रथादिक सामें, आणि ह्या तीन वेदांचीं ब्राह्मणें हीं सर्व
मिळून जो ग्रंथविशेष तो त्रिवृद्देव ह्मणला आहे, यातें जो ब्राह्मण जाणतो तो वेदवेत्ता
जाणावा.

आद्यं यत्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ॥

स गुह्योन्यस्त्रिवृद्देवो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

ज्याचे ठायीं तीन वेद राहतात आणि सर्व वेदांमध्ये श्रेष्ठ, त्र्यक्षर ह्मणजे अकारोकार-
मकारात्मक, वेदांचा सारभूत असा जो गुप्त प्रणव तो त्रिवृद्देव दुसरा; यातें जो जाणतो
तो वेदवेत्ता जाणावा.

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति मानवधर्मशास्त्रे महाराष्ट्रभाषाटीकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अध्याय बारावा.

शुभाशुभ कर्मफलप्राप्तीचे निरूपण करितो.

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमयमुक्तस्त्वयाऽनघ ॥

कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥

सर्व ऋषि भृगु ऋषीस ह्मणतात, हे पापरहित, भृगुऋषे, तुम्ही आह्मास चार वर्णांचे
विधिपूर्वक धर्म, तद्विषयक प्रायश्चित्त हें सर्व सांगितलें, यानंतर आह्मास शुभाशुभ कर्मांचीं
फलें विधिपूर्वक कथन करा.

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ॥

अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

मनूचा पुत्र धर्मात्मा भृगुऋषि त्या महर्षीप्रत बोलतो की, हे ऋषिश्रेष्ठहो, संपूर्ण ,
कर्मयोगाचा निर्णय तुझी माझ्यापासून श्रवण करा.

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ॥

कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

मन, वाणी, देह यांपासून उत्पन्न होणारे जे शुभाशुभ (विहितनिषिद्धरूप) कर्म
(सुखदुःखफलक) त्यापासून उत्पन्न होणाऱ्या मनुष्याच्या गति (जन्मांतरप्राप्ति)
उत्तम, मध्यम, अधम अशा होतात.

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ॥

दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

पुढच्या श्लोकांत सांगितलेल्या दशलक्षणांनी युक्त; उत्तम, मध्यम, अधम ह्या भेदांनी
तीन प्रकारचा; आणि मन, वाणी, देह यांचा आश्रय करणारा असा जो देही क्षणजे
जीवात्मा त्याला मन प्रवर्तक आहे, क्षणजे उत्तम, मध्यम, अधम कर्मांची प्रवृत्ति क-
रणारे आहे.

परब्रह्मेष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिंतनं ॥

वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसं ॥ ५ ॥

दशलक्षण कर्मे सांगतो- परब्रह्मप्राप्तीविषयी इच्छा, मनैकरून दुसऱ्याचे अनिष्ट-
चिंतन, नास्तिकपणा हे तीन प्रकारचे अशुभफलक असे मानस (मनापासून उत्पन्न)
कर्म होय.

पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः ॥

असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

अप्रिय कथन, असत्य भाषण, परदोषकथन, प्रयोजनरहित प्रलाप (अनर्थक वचन)
हे चार प्रकारचे अशुभफलक असे वाचिक (वाणीपासून उत्पन्न) कर्म जाणावे.

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ॥

परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

अन्यायाने दुसऱ्यांच्या वस्तु घेणे, विधीवांचून पश्चादिक मारणे, परस्त्रीगमन करणे, हीं
तीन कर्मे शारीर (शरीरोत्पन्न) होत.

मानसं मनसैवायमुपभुंक्ते शुभाशुभं ॥

वाचा वाचारुतं कर्म कायेनैव च कायिकं ॥ ८ ॥

शरीरापासून उत्पन्न झालेले जे शुभाशुभ कर्म त्याचे फल कर्मेकरून मन, वाणी, श-
रीर यांहींकरून हा देही पुरुष उपभोगितो.

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ॥

वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातितां ॥ ९ ॥

मनुष्य शरीरकर्मदोषांनीं स्थावर योनींप्रत जातो. वाणीसंबंधी कर्मदोषांनीं पक्षी, मृग, पशु यांची योनि पावतो, आणि मनःसंबंधी कर्मदोषांनीं चांडालादिक जातींप्रत पावतो.

वाग्दंडोऽथ मनोदंडः कायदंडस्तथैव च ॥

यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदंडीति स उच्यते ॥ १० ॥

ज्याची वाणी, मन, शरीर ह्या सर्वांनीं करून क्रमानें निषिद्धकथन, असंस्कल्प, निषिद्ध व्यापार यांचा त्याग ज्यानें केला आहे तो पुरुष त्रिदंडी जाणावा; कारण, दमन ह्मणजे दंड, ह्या तिन्हींपासून तिघांचें दमन केलें याकरितां तो त्रिदंडी होय.

त्रिदंडमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥

मनुष्य संपूर्ण जीवांचेठायीं मनोदंड, कायदंड, वाणीदंड हे तीन दंड स्थापन करून व कामक्रोध जिंकून नंतर मोक्षलक्षण सिद्धींप्रत पावतो.

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

शरीरास कर्मांचे ठायीं जो प्रवृत्त करणारा तो क्षेत्रज्ञ असें पंडित ह्मणतात, आणि जो नानाव्यापार (कर्म) करितो तो भूतात्मा (शरीर) ह्मणला आहे.

जीवसंज्ञोऽतरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ॥

येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

सर्व देहधान्यांसहवर्तमान उत्पन्न होणारा जो जीवनामक अंतरात्मा, ज्याला महत् (शरीर व क्षेत्रज्ञ यांहून भिन्न) असें ह्मणतात तो भिन्न आहे. जेणेंकरून क्षेत्रज्ञ, जन्माचे ठायीं सर्व सुखदुःखांचा अनुभव घेतो.

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ॥

उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

महत्तत्त्व आणि क्षेत्रज्ञ हे दोघे, पृथिव्यादि पंचमहाभूतांच्या योगांनीं उच्चनीच योनींचे ठायीं व्यापकत्वेकरून राहणारा जो परमात्मा त्याला व्यापून राहतात.

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतंति शरीरतः ॥

उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयंति याः ॥ १५ ॥

ह्या परमात्म्याचे शरीरापासून असंख्य जीव उत्पन्न होतात. जे जीव उच्चनीच योनींचे ठायीं राहणाऱ्या देहांस कर्मप्रेरणा करितात.

पंचभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ॥
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

पापी मनुष्यांला दुःखांचा भोग भोगण्याकरितां पृथिव्यादि पंचमहाभूतांच्या अंशांपासून एक दुसरें ध्रुव शरीर (लिंगशरीर) परलोकीं दुःखें अनुभविणारें असें उत्पन्न होतें.

तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः ॥
तास्त्रेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥

त्या लिंगशरीरेंकरून यमाच्या यातना (तीव्रवेदना) भोगून ते पापी जीव पृथिव्यादि पंचभूतांचे अंशांचे ठायीं यथाविभाग लीन होतात.

सोनुभूयासुखोदकान्दोषान्विषयसंगजान् ॥
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

लिंगशरीरस्थ जीव, सदोष अशा— शब्द स्पर्श रूप रस गंध विषयांच्या उपभोगांपासून उत्पन्न झालेल्या यमयातना भोगून निष्पाप होत्साता नंतर महाबलिष्ठ असे जे महत् व परमात्मा त्या दोघांचा आश्रय करितो.

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातंद्रितौ सह ॥
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखसुखं ॥ १९ ॥

महत् व परमात्मा हे दोघे आलस्यरहित होऊन, ज्या धर्मानें आणि अधर्मानें जीव युक्त होत्साता इहलोकीं व परलोकीं सुखदुःखांप्रत अनुभवितो तो धर्म आणि भोग भोगून शेष राहिलेले पाप या उभयतांचा विचार करितात.

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ॥
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्रुते ॥ २० ॥

तो जीव जेव्हां धर्माचरण बहुत करितो व पाप थोडें करितो तेव्हां स्थूलशरीररूपानें परिणामाला पावलेलीं जीं पृथिव्यादि पंचमहाभूतें त्यांहींकरून युक्त होत्साता परलोकीं सुखातें पावतो.

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ॥
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥

तो जीव जेव्हां अधर्माचरण बहुत करितो आणि धर्माचरण अल्प करितो तेव्हां, पंच-महाभूतांनीं व्यक्त होत्साता, लणजे मृत झाल्यानंतर लिंगदेहाचा आश्रय करून यम-यातना अनुभवितो.

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ॥
तान्येव पंचभूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

तो जीव यमयातना भोगून पापविरहित होऊन, ज्यांपासून लिंगशरीर उत्पन्न झाले त्या पृथिव्यादि पंचमहाभूतांच्या अंशांचे ठायीं पुनः प्रवेश करितो.

एता दृष्ट्यास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ॥

धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दद्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

आपल्या अंतःकरणेकरून ह्या जीवाच्या गति धर्माधर्मास कारण (क्षणजे स्वर्गनरकादिक जे उपभोग खांला योग्य प्रिय अप्रिय देहप्राप्तिकारक) होत असें जाणून सतत धर्माचरणाविषयीं मन आसक्त करावें.

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ॥

यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

सत्त्व, रज, तम हे तीन आत्मा जो महत्तत्त्व त्याचे गुण होत. तो महत्तत्त्व आत्मा ज्या गुणांहींकरून व्याप्त होत्साता सर्व पदार्थमात्राचे ठायीं राहतो.

यो यदैषां गुणो देहे साकल्पेनातिरिच्यते ॥

स तदा तद्गुणप्राप्यं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

तीन गुणांनीं युक्त जरी हें शरीर आहे तथापि तीन गुणांतून जो गुण शरीराचे ठायीं अधिक असतो त्या गुणानें विशिष्ट असा देही (प्राणी) होतो.

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ॥

एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

आतां सत्त्वादि गुणांचें लक्षण सांगतो— सत्त्व हें ज्ञान (यथार्थ भासणें) होय, हें सत्त्वाचें लक्षण; तम हें अज्ञान, हें तमोगुणाचें लक्षण; राग (इष्ट वस्तूचे ठायीं प्रीति), द्वेष (अनिष्ट वस्तूचे ठायीं रोष) हे दोन रजोगुण, हे रजोगुणाचें लक्षण; ह्या तीन गुणांनीं हा सर्व पांचभौतिक देह व्यापिलेला आहे.

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ॥

प्रशांतमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥

जेव्हां आत्म्याला प्रीतिसंयुक्त, प्रशांत, शुद्धस्वरूप, अशांतें पहातो तेव्हां तो सत्त्वगुण जाणावा.

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ॥

तद्वजोऽप्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

जेव्हां आत्म्याला दुःखयुक्त, अप्रसन्न अशांतें पाहतो तेव्हां तो रजोगुण जाणावा. तो रजोगुण सर्व देही यांला दुर्निवार आहे.

यत्तु स्थान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं त्रिषयात्मकं ॥

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

जेव्हां आत्म्याला मोहयुक्त, विषयरूपी, अव्यक्त अशातें पाहतो, तेव्हां तो तमोगुण जाणावा. हा तमोगुण अप्रतर्क्य (तर्क करण्यास अशक्य), अविज्ञेय (जाणण्यास अशक्य) असा आहे.

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ॥

अग्न्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

ह्या तीन गुणांचा श्रेष्ठ, मध्यम, नीच असा तीन प्रकारचा जो फलोदय तो सर्व मी तुम्हाला सांगेन.

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥

धर्मक्रियात्मचिता च सात्त्विकं गुणलक्षणं ॥ ३१ ॥

वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, दानादि धर्माचरण, आत्मध्यान हीं सर्व सत्त्वगुणांचीं लक्षणे होत.

आरंभरुचितास्थैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ॥

विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणं ॥ ३२ ॥

फलप्राप्त्यर्थे कर्म करण्याचा स्वभाव, अधीरता, असत्कार्यग्रहण, विषयसेवा हीं सर्व रजोगुणांचीं लक्षणे होत.

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ॥

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

लोभ, निद्राशीलत्व, अधीरता, क्रूरपणा, नास्तिकपणा, अनाचारता, याचना, पूर्वापर व्यवधानराहित्य हीं सर्व तमोगुणांचीं लक्षणे होत.

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठतां ॥

इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

भूत, भविष्य, वर्तमान ह्या तीन कालांचे ठायीं राहणारे जे तीन गुण त्यांचे संक्षेपें करून हे (वक्ष्यमाण) गुणलक्षण क्रमानें जाणण्यास योग्य आहे.

यत्कर्म कृत्वा कुर्वश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ॥

तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

जे कर्म करून आणि करीत असतां किंवा पुढें करण्याची इच्छा करीत असतां जो मनुष्य लज्जित होतो, तें सर्व तामसगुणाचें लक्षण होय असें ज्ञाया पुरुषानें जाणावें.

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ॥

न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

ज्या कर्म करून इहलोकीं आपली मोठी ख्याति व्हावी असें इच्छितो, आणि असंपत्ती (केलेल्या कर्माची फलप्राप्ति न होणे) विषयीं दुःखी होत नाहीं तें राजसगुणाचें लक्षण जाणावें.

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ॥

येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

जें कर्म (वेदार्थ) सर्वात्मत्वेकरून जाणण्याची इच्छा सर्व लोक करितात, जें कर्म करीत असतां कदापि लज्जित होत नाहीं, आणि ज्या कर्मेकरून स्वकीय आत्मा संतुष्ट होतो तें सर्व सत्व गुणाचें लक्षण जाणावें.

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ॥

सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठचमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

तमोगुणाचें लक्षण काम, रजोगुणाचें लक्षण अर्थ, सत्त्वगुणाचें लक्षण धर्म, हे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ आहेत. लणजे कामाहून अर्थ श्रेष्ठ, अर्थाहून धर्म श्रेष्ठ असें जाणावें.

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ॥

तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

ज्या ज्या गुणेंकरून जीव ज्या ज्या गतीप्रत पावतो त्या गति, सर्व जगताच्या क्रमेकरून सांगतां.

देवत्वं सात्विका यांति मनुष्यत्वं च राजसाः ॥

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

सात्विक वृत्तीनें राहणारे देवत्वाप्रत पावतात, राजस वृत्तीनें राहणारे मनुष्यत्वाप्रत पावतात, आणि तमोवृत्तीनें राहणारे तिर्यक्त्वाप्रत पावतात.

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ॥

अधमा मध्यमाग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥ ४१ ॥

सत्त्वादि तीन गुणांहींकरून तीन प्रकारची जी गति (जन्मांतरप्राप्ति) सांगितली ती देशकालादि भेदानें आणि संसारास कारणभूत जें कर्म त्याच्या भेदानें अधम, मध्यम, उत्तम भेदैकरून पुनः तीन प्रकारची जाणावी.

स्थावरीः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ॥

पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

वृक्षादिक, लहान व मोठे कीटक, मत्स्य, सर्प, कांसव, पशु, आणि मृग ह्या सर्व गति (जन्म) तमोगुणाच्या नीच गति जाणाव्या.

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ॥

सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥

हत्ती, अश्व, शूद्र, म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र, डुकर, ह्या सर्व गति तमोगुणाच्या मध्यम गति जाणाव्या.

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दांभिकाः ॥

रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमागतिः ॥ ४४ ॥

चारण (नटादिक), सुपर्ण (पक्षी), दांभिक पुरुष, राक्षस, पिशाच, ह्या सर्व गति तमोगुणाच्या उत्तम गति जाणाव्या.

ब्रह्मा मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ॥

द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥

शैल, मेल, नेट, शस्त्रवृत्ति, द्यूत करणारे, मदपी, हे सर्व पुरुष रजोगुणाच्या नीच गति जाणाव्या.

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ॥

वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

राजे; क्षत्रिय; राजपुरोहित; शास्त्रार्थप्रिय, कलहप्रिय पुरुष; ह्या सर्व रजोगुणाच्या मध्यम गति जाणाव्या.

गंधर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ॥

तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥

गंधर्व, गुह्यक, यक्ष, विद्याधरादिक, अप्सरा ह्यासर्व रजोगुणाच्या उत्कृष्ट गति जाणाव्या.

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ॥

नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्विकी गतिः ॥ ४८ ॥

तपस्वी, यति, ब्राह्मण, वैमानिक गण (अप्सराविरहित पुष्पक विमानांत बसून फिरणारे), नक्षत्रे, दैत्य ह्या सर्व सत्वगुणाच्या अधम गति जाणाव्या.

यज्वान ऋषयो वेदा देवा ज्योतींषि वत्सराः ॥

पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्विकी गतिः ॥ ४९ ॥

यज्ञ करणारे, ऋषि, देव, वेद, ध्रुवादिक तारे, वत्सर, पितृगण (सोमपादिक), साध्यगण, ह्या सर्व गति सत्वगुणाच्या मध्यम गति जाणाव्या.

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ॥

उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

ब्रह्मा, सृष्टि उत्पन्न करणारे सर्व प्रजापति (मरीच्यादिक), धर्म, महत्त्व, माया, ह्या सर्व गति सत्वगुणाच्या उत्तम गति होत असे पंडित लणतात.

१ उपनयनसंस्कारहीन क्षत्रियापासून सवर्णा स्त्रीचे ठायी उत्पन्न झालेले, यांची उत्पत्ति अकराव्या अध्यायांत सांगितली आहे हे यष्टिरूप शस्त्रे धारण करणारे होत. २ बाहुयुद्ध करणारे. ३ तमा-सगीर, भोरपी इत्यादिक. ४ शस्त्राने उपजीविका करणारे.

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ॥

त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ९१ ॥

मन, वाणी, शरीर हीं तीन, कर्माचीं साधनें होत, ह्मणजे ह्या तीन्हींकरून कर्म होतें; ह्यांच्या भेदेकरून तीन प्रकारचें कर्म सत्व, रज, तमभेदेकरून होतें; पुनः नीच, मध्यम, उत्तम भेदेकरून एकेक कर्म तीन प्रकारानें नऊ प्रकारचें होतें; हा सर्व संसार पंचभूतांपासून उत्पन्न झालेला आहे असें जाणावें.

इंद्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च ॥

पापान्संयांति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ९२ ॥

नरांमध्ये अधम असे अविद्वान् पुरुष इंद्रियांच्या प्रसंगानें विषयांचे ठायीं आसक्त होऊन धर्मत्याग करितात, मग धर्मत्याग करून निंदित गर्तीप्रत पावतात.

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ॥

क्रमशो याति लोकेऽस्मिन्स्तत्सर्वं च निबोधत ॥ ९३ ॥

इहलोकीं जीव जें जें पापकर्म करून जी जी निंदित योनि पावतो तें तें सर्व क्रमेंकरून श्रवण करा.

बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ॥

संसारान्प्रतिपद्यंते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ९४ ॥

ब्रह्महत्यादि महापातकें करणारे पुरुष, बहुत वर्षगणपर्यंत घोर नरकयातना भोगून यातनाक्षय झाल्यानंतर पुनः संसारांप्रत पावतात.

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणां ॥

चंडालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ९५ ॥

कुत्रा, डुकर, गर्दभ, उंट, गाय, बोकड, मेंढा, मृग, पक्षी, चंडाल, पुक्कस यांच्या योनींप्रत ब्रह्महारी जातो.

रुमिकीटपतंगानां विड्भुजां चैव पक्षिणां ॥

हिंस्रानां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ ९६ ॥

रुमि, कीट, पतंग, विष्टा भक्षण करणारे पक्षी, व्याघ्रादि घातुक प्राणी यांच्या योनींप्रत मद्यपी ब्राह्मण जातो.

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चांबुचारिणाम् ॥

हिंस्त्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ९७ ॥

लूता (ऊर्जनाभ), सर्प, सरळ, तिर्यच, जलचर (कुंभीरादिक); आणि हिंसाशील पिशाचादिक यांच्या योनींप्रत सुवर्णाची चोरी करणारा ब्राह्मण जातो.

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ॥

क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ९८ ॥

तृण, गुल्म, लता, कव्याद (कच्चे मांस भक्षण करणारे), दंष्ट्री (सिंहादिक), कूर कर्म करणारे, यांच्या योनीप्रत गुरूपत्नीगामी शतशः वेळ जातो.

हिंसा भवंति क्रव्यादाः रुमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ॥

परस्परादिनस्तेनाः प्रेतांत्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

जीवहिंसा करणारे क्रव्याद होतात, अभक्ष्यभक्षण करणारे रुमि होतात, आणि महापातकिव्यतिरिक्त जे चोर ते परस्परांचे मांस खाणारे होतात, चांडालाच्या स्त्रीप्रत गमन करणारे प्रेत (पिशाच) होतात.

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ॥

अपहत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

पतितांशीं समागम, परस्त्रीसेवन, ब्राह्मणाचे सुवर्ण चोरणे यांतून कोणते एक करणारा ब्रह्मराक्षस होतो.

मणिमुक्ताप्रवालानि तृत्वा लोभेन मानवः ॥

विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥

मणि, मोत्ये, पोवळी, आणि इतर नानाविध रत्ने यांची चोरी लोभाने करणारा मनुष्य सोनारांच्या योनीप्रत जातो.

धान्यं तृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ॥

मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतं ॥ ६२ ॥

धान्य, कांस्य, जल, मध, दूध, रस (गुडलवणादिव्यतिरिक्त इक्ष्वादि रस), घृत, यांची चोरी करणारा क्रमेकरून उंदीर, हंस, प्लवनामकपक्षी, दंश (वनमक्षिका), कावळा, कुत्रा, मुंगूस यांच्या योनीप्रत जातो.

मांसं गृध्रो वपां मदुस्तैलं तैलपकः खगः ॥

चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥

मांस, वपा, तैल, लवण, दधि, यांची चोरी करणारा क्रमेकरून गीध, महुनामक जलचर पक्षी, तैलपायिकनामक पक्षी, उंच स्वराने शब्द करणारा चीरानामक कीट, बलाका पक्षी यांच्या योनीप्रत जातो.

कौशेयं तित्तिरिह्वा क्षौमं हत्वा तु दुर्दुरः ॥

कार्पासतांतवं क्रौंचो गोधा गां वाग्गुदो गुडं ॥ ६४ ॥

कौशेय (रुमिकोशापासून झालेले) वस्त्र, क्षौम (अबळीच्या सुतापासून झालेले) वस्त्र, कार्पासचे वस्त्र, गाई, मूळ यांची चोरी करणारा क्रमेकरून तित्तिरपक्षी, वेडूक, क्रौंच पक्षी, गोधा, वाग्गुदनामा पक्षी यांच्या योनीप्रत जातो.

तुच्छुंदरिः शुभानांधान्यन्नशाकं तु बर्हिणः ॥

श्राविकृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्पकः ॥ ६५ ॥

सुगंधी पदार्थ (कस्तूरी इत्यादिक), पत्रशाक, कृतान्न (ओदन, सक्तु इत्यादिक), अरुतान्न (त्रीहियवादिक) यांची चोरी करणारा क्रमेकरून चिचुंदरी, मयूर, शल्य (साळई), शल्यक यांच्या योनीप्रत जातो.

बको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ॥

रक्तानि तृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

अग्नि, गृहोपस्कर (सूप मुसळ इत्यादि गृहोपयोगी पदार्थ), आरक्त वस्त्रे यांची चोरी करणारा क्रमेकरून बक, गृहकारी (भिती इत्यादिकांवर मृत्तिका इत्यादिकाने गृह करणारा सपक्ष कीट), आणि चकोर यांच्या योनीप्रत जातो.

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ॥

स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्टः पशूनजः ॥ ६७ ॥

मृग, हत्ती, अश्व, फलमूल, स्त्री, उदक, वाहने (गाडी इत्यादिक), पशु, यांची चोरी करणारा क्रमेकरून वृक (लांडगा), व्याघ्र, वानर, ऋक्ष (आस्वल), चातक पक्षी, उंट, बोकड यांच्या योनीप्रत जातो.

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपतृप्त्य बलान्नरः ॥

अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥

जे कांहीं परद्रव्य त्याचा बलत्काराने अपहार करणारा व देवतांला निवेदन न केलेले हवि भक्षण करणारा मनुष्य अवश्य तिर्यग्योनीप्रत पावतो.

स्त्रियोप्येतेन कल्पेन तृत्वा दोषमवाप्नुयुः ॥

एतेषामेव जंतूनां भार्यात्वमुपयाति ताः ॥ ६९ ॥

पूर्वोक्त प्रकारेकरून स्त्रियाहि इच्छापूर्वक परद्रव्यांचा अपहार करितील तर त्याही दोषात प्राप्त होतात, आणि त्या पापेकरून पूर्वकथित जीवांच्या स्त्रिया होतात.

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ॥

पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यांति शत्रुषु ॥ ७० ॥

याप्रमाणे निष्किंदाचरणाचीं फले सांगून आतां विहिताचरणाचा त्याग केला असतां त्याचा फलविपाक सांगतो—ब्राह्मणादिक चार वर्ण आपत्तिकालावाचून पंचमहायज्ञादि कर्मांचा त्याग करितील तर ते पुढे सांगितलेल्या निदित योनीप्रत जाऊन नंतर जन्मांतरी आपल्या शत्रूंचे दास होतात.

वांताशुल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मास्त्वकाच्युतः ॥

अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥

स्वकर्मापासून भ्रष्ट झालेला ब्राह्मण, वांतीभक्षण करणारा, उल्कामुख नामक प्रेतविशेष होतो. स्वकर्मापासून भ्रष्ट झालेला क्षत्रिय, विष्टा व शव यांत भक्षण करणारा कटपूतननामक प्रेतविशेष होतो.

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ॥

चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मास्त्रकाद्भुतः ॥ ७२ ॥

वैश्य आपल्या धर्मापासून भ्रष्ट होईल तर तो पूय भक्षण करणारा मैत्राक्षज्योतिना-
मक प्रेत होतो. शूद्र आपल्या धर्मापासून भ्रष्ट होईल तर तो यूकाभक्षण करणारा चै-
लाशकनामक प्रेत होतो.

यथा यथा निषेवंते विषयान्विषयात्मकाः ॥

तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

विषयलुब्ध पुरुष जसें जसें अतिशयेंकरून विषयांचें सेवन करितात, तसीतसी त्यांची
प्रकीर्णता विषयांचे ठायीं होते.

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ॥

संप्राप्नुवंति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

अल्पबुद्धि मनुष्य, निंदित असे जे विषयोपभोग त्यांच्या अभ्यासेंकरून गंहित अशा
नानाविध तिर्यगादियोनींचे ठायीं दुःखें अनुभवितात.

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ॥

असिपत्रवनादीनि बंधनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥

चतुर्थाध्यायांत सांगितलेले जे तामिस्र, असिपत्रवन, बंधन, छेदन इत्यादि नरक
त्यांचे ठायीं दुःखें अनुभवितात.

विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणं ॥

करंभवालुकातापान्कुंभीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

नानाप्रकारच्या पीडा पावतात; कावळे, उलूक इत्यादि पक्ष्यांनी भक्षण केले जातात;
तस वाळूचा ताप पावतात; आणि अतिदारुण कुंभीपाकादि नरकांचे ठायीं दुःख पावतात.

संभवांश्च विषोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ॥

शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥

दुःखप्रचुर अशा निषिद्ध (तिर्यगादिक) योनींचे ठायीं उत्पत्ति; शीत, ताप यांपासून
पीडा; नानाप्रकारचीं भयें हीं सर्व प्राप्त होतात.

असहृद्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ॥

बंधनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

पुनः पुनः गर्भस्थानांचे ठायीं वास, दारुण जन्म, बंधनें, कष्ट, दुसऱ्याचें दास्यत्व
हीं सर्व प्राप्त होतात.

बंधुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ॥

द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनं ॥ ७९ ॥

बंधु, आणि सुहृत्संबंधी यांच्याशी वियोग; दुर्जनसमागम; द्रव्यसंपादनाविषयी प्रयास; द्रव्यनाश; मित्र व शत्रु यांची प्राप्ति हीं सर्व प्राप्त होतात.

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनं ॥

क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

अपरिहार्य वृद्धावस्था, व्याधींपासून नानाप्रकारच्या पीडा; नानाप्रकारचे क्लेश; दुर्जय मृत्यु हीं सर्व प्राप्त होतात.

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ॥

तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्रुते ॥ ८१ ॥

सात्विक, राजस, तामस यांतून ज्या ज्या भावाने (चेतोवृत्तीने) जे जे कर्म करितो तशा प्रकारच्या शरीराने तसतसे फल उपभोगितो.

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ॥

नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

विहितप्रतिषिद्ध कर्मांचा सर्व हा फलोदय तुह्याला मी सांगितला. यानंतर ब्राह्मणाचे मोक्षहित कर्म श्रवण करा.

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ॥

अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥

उपनिषदादि वेदांचा, पाठेकरून व अर्थेकरून अभ्यास; कृच्छ्रांश्रायणादि तप; ब्रह्मविषयक ज्ञान; इन्द्रियजय; अहिंसा; आणि गुरुसेवा हीं सर्व कर्मे मोक्षाविषयी अतिश्रेष्ठ होत.

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ॥

किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

पूर्वी जीं वेदाभ्यासादि शुभ कर्मे सांगितलीं त्यांमध्ये कोणते एखादे कर्म अतिशयेकरून मोक्षसाधन होतें.

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ॥

तत्पुण्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

वेदाभ्यासादिक जीं हीं पूर्वोक्त श्रेयसाधनभूत सर्व कर्मे यांमध्ये उपनिषत्प्रतिपादित जे आत्मज्ञान ते श्रेष्ठ आहे, कारण, ते सर्व विद्यांमध्ये प्रधान; कां की, आपासून मोक्ष प्राप्त होतो.

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ॥

श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

वेदाभ्यासादिक पूर्वोक्त ह्या सहा कर्मांमध्ये इहलोकी व परलोकी श्रेयस्कर असे वैदिक (परमार्थज्ञानरूप) कर्म मोक्षाविषयी योग्य आहे असे जाणावे.

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ॥

अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिन्स्मिन् क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥

पूर्वश्लोकोक्त सर्व कर्म परमात्मोपासनारूप वैदिक कर्माचे ठायीं कर्मेकरून संभवतात; ह्मणजे परमार्थरूपाने आत्मज्ञानाचा अभ्यास केला असतां ऐहिकामुष्मिक श्रेयःप्राप्ति होते.

मुखाभ्युदयिकं कर्म नैश्रेयसिकमेव च ॥

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

वैदिक (वेदोक्त) कर्म दोन प्रकारचे आहे. एक प्रवृत्त व दुसरे निवृत्त. सुख आणि अभ्युदय (उत्तरोत्तरोत्कर्ष) करणारे प्रवृत्त कर्म आहे (ह्मणजे ज्योतिष्टोमादि यज्ञांपासून सुख देणारे स्वर्गादि फल प्राप्त होतें, परंतु संसारांत पुनः येतो याकरितां तें कर्म प्रवृत्त झटलें आहे.) आणि निःश्रेयस (मोक्ष) याविषयी जें कर्म तें नैश्रेयसिक (ह्मणजे संसारांत पुनः न आणणारे असें) झटलें आहे; याकरितां तें निवृत्त कर्म जाणावें.

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ॥

निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

इहलोकीं आणि परलोकीं कामनेच्या उद्देशाने जें कर्म केले जातें तें प्रवृत्त कर्म ऋषींनीं झटलें आहे. ज्ञानपूर्वक जें निष्काम (कामनारहित) कर्म तें निवृत्त कर्म झटलें आहे.

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्प्रतां ॥

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यस्तेति पंच वै ॥ ९० ॥

प्रवृत्त कर्म केले असतां देवतांशीं समान होतो. निवृत्त कर्म केल्याने पृथिव्यादि पंच भूतांला जिंकतो; ह्मणजे ज्या पंचभूतांपासून शरीर उत्पन्न होतें त्यांला जिंकिल्याने पुनर्जन्म होत नाही.

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥

समं पश्यन्नात्मयाजी स्माराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

स्थावरजंगमरूप सर्व भूतांचे ठायीं आपल्या आत्म्याला, आणि आत्म्याचे ठायीं सर्व भूतांला समदृष्टीने जो पाहतो तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करणारा होत्साता, स्वप्रकाशमान ने ब्रह्म (मोक्ष) त्याप्रत पावतो.

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ॥

आत्मज्ञाने शमे च स्याद्देदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ ९२ ॥

ब्राह्मणाने यथोक्त कर्मांचा (अग्निहोत्रादिक कर्मांचा) त्याग करून ब्रह्मध्यान, इन्द्रियजय, ओंकार, उपनिषदादि वेदांचा अभ्यास यांविषयी यत्न करावा. हे, मोक्षमार्गाचे उपाय दाखविण्याकरितां सांगितले, अग्निहोत्रादिकांचा त्याग करावा असे याचे तात्पर्य नाही.

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥

प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यांस जन्म साफल्य करणारे आत्मज्ञान, वेदाभ्यास, इत्यादि कर्म आहे; परंतु ब्राह्मणास तर विशेषेकरून आहे, याकरितां हे कर्म करूनच द्विजाति कृत-कृत्य होतो, अन्यथा नाही.

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनं ॥

अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥

पितर, देव, मनुष्य यांचा नियम नेत्र वेद आहे, आणि वेद, शास्त्र हीं दोनही अशक्य, अप्रतर्क्य होत, असी शास्त्रमर्यादा आहे.

या वेदवाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुट्टष्टयः ॥

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ९५ ॥

वेदवाह्य स्मृति, दृष्टार्थ वाक्ये (चैत्याला वंदन केलें असतां स्वर्गप्राप्ति होते इत्यादि वाक्ये), आणि असत्कर्तृमूलक चार्वाकादिशास्त्रे हीं सर्व निष्फल होत; कारण, तीं सर्व नरकफल देणारीं होत असीं मन्वादिकांनीं झटली आहेत.

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानि चित् ॥

तान्यर्वाकालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥

आतां ब्रह्म जाणणें तें वेदापासून जाणावें हें दाखविण्याकरितां वेदाची प्रशंसा सांगतो—वेदवाह्य जीं शास्त्रे तीं सर्व, अर्वाचीन पुरुषांनीं रचलेलीं आहेत याकरितां अनियम झणजे तीं प्रमाणभूत नाहीत. स्मृति इत्यादिक जीं तीं नियम आहेत. कां कीं, स्मृति इत्यादिकांस मूळ वेद असल्यामुळे तीं प्रमाणभूत होत.

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥

चार वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, आणि भूतभविष्यवर्तमान जें सर्व कर्म तें वेदापासूनच सिद्ध होतें.

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च पंचमः ॥

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

सत्व, रज, तम ह्या तीन गुणांपासून उत्पन्न जे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हे सर्व विषय, ते वेदापासून उत्पन्न होतात.

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनं ॥

तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जंतोरस्य साधनं ॥ ९९ ॥

नियम असीं वेद व शास्त्र हीं सर्व भूतांला धारण करणारीं होत, याकरितां पुरुषाला श्रेष्ठ साधन असें हेंच (वेदशास्त्र) होय असें मी (भृगु) मानितों.

सेनापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च ॥

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदहति ॥ १०० ॥

सेनापतित्व, राज्य, दंडनियमन, आणि सर्व लोकांचें आधिपत्य ह्या सर्वांस वेदशास्त्रज्ञच योग्य होतो.

यथा जातबलो वह्निर्दहत्याद्रीनपि द्रुमान् ॥

तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥

जसा मोठा प्रदीप्त अग्नि ओल्या वृक्षांलाहि जाळितो, तद्वत् पाठानें व अर्थानें वेद जाणणारा, निषिद्धाचरणजन्य दोषाला जाळितो.

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥

इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

जो पुरुष तत्त्वेंकरून वेद व शास्त्र यांतें जाणून तदनु रूप आचरण करून ब्रह्मज्ञानें करून ब्रह्मचर्यादिक आश्रमाचे ठायीं राहतो तो इहलोकीं ब्रह्मप्राप्तीस योग्य होतो.

अज्ञेभ्यो ग्रंथिनः श्रेष्ठा ग्रंथिभ्यो धारिणो वराः ॥

धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥

अल्प (वर्ग, दोन वर्ग) अभ्ययन केलेले जे त्यांहून संपूर्ण एक ग्रंथाचें अभ्ययन करणारे श्रेष्ठ, त्यांहून पढलेलें न चुकणारे श्रेष्ठ, न चुकणाऱ्यांहून जे अर्थ जाणतात ते श्रेष्ठ, अर्थ जाणणारे जे त्यांहून तदनु रूप आचरण करणारे श्रेष्ठ होत.

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ॥

तपसा किल्बिषं हंति विद्यायामृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

तप (आश्रमविहित कर्म) आणि आत्मज्ञान हे दोन ब्राह्मणाला मोक्षाचे श्रेष्ठ उपाय होत. कां कीं, तपेंकरून पापाचा नाश होतो, व आत्मज्ञानेंकरून मोक्ष प्राप्त होतो.

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ॥

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥

धर्माचें तत्त्व जाणण्याविषयीं इच्छिणारा पुरुष यानें प्रत्यक्ष, अनुमान, आणि नात्ताप्रकारचें शास्त्रोक्त शब्दप्रमाण हीं तीन प्रमाणें उत्तम प्रकारेंकरून जाणावीं.

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ॥

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

वेद आणि स्मृति हीं, वेदशास्त्रांला विरोध आणि ल्यावांचून मीमांसाशास्त्रेंकरून जो जाणतो तो धर्माला जाणतो, मीमांसा ज्यास अवगत नाही त्याला धर्म समजत नाही.

नेश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ॥

मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥

भृगु सांगतो कीं, मोक्षाचें साधनभूत सर्व कर्म मी तुलास सांगितलें, आतां ह्या मानव धर्मशास्त्राचें वक्ष्यमाण रहस्य श्रवण करा.

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ॥

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः ॥ १०८ ॥

या मानवधर्मशास्त्रांत जे धर्म सांगितले नाहीत ते कसे आचरण करावे असा संशय येईल तर, पुढें सांगणें आहेत लक्षणें ज्यांचीं असे जे शिष्ट ब्राह्मण ते जो धर्म सांगतील तो निश्चित आचरण करावा, त्याविषयीं शंका धरूं नये.

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः स परिवृंहणः ॥

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥

ज्यांनीं मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराणें इत्यादि अंगांनीं युक्त वेदाचें (ब्रह्मचर्यादि विहित धर्मकरून) अध्ययन केलें ते शिष्ट ब्राह्मण जाणावे; कारण, वेदांचें प्रत्यक्ष करण्यास ते हेतु होत.

दशावरा वा परिषदां धर्मं परिकल्पयेत् ॥

अथवा वापि वृत्तस्थास्तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

दहाहून अधिक अथवा तीर्हीहून अधिक जो स्वकर्मनिष्ठ ब्राह्मणांचा समुदाय ती परिषत् (सभा) झटली आहे. ती सभा जो धर्म सांगेल तो कदापि उलंघन करूं नये.

त्रैविद्यो हतैकस्तर्को नैरुक्तो धर्मपाठकः ॥

त्रयश्चाश्रयिणः सर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥

तीन वेदांच्या तीन शाखांचें अध्ययन करणारे, श्रुतिस्मृतिविरोधरहित धर्मशास्त्राचें अध्ययन करणारे, मीमांसा शास्त्र, मानवादि धर्मशास्त्र, नैरुक्त हीं सर्व शास्त्रें जाणणारे असे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ दहाहून अधिक असतील तर ती परिषत् झटली आहे.

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ॥

अथवा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ह्या तीन वेदांच्या शाखा पढणारे; आणि ह्या तीन वेदांचा अर्थ जाणणारे असे तीर्हीहून अधिक जे ब्राह्मण ती परिषत् जाणावी, ती धर्मसंशय दूर करण्यास योग्य होते.

एकोऽपि वेदविद्वर्म्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ॥

स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥

अर्थसहित वेद पढलेला; आणि स्मृति, पुराणें, मीमांसा, न्याय ह्या सर्वांचे अर्थ जाणणारा असा एकही ब्राह्मण जो धर्म सांगेल तोहि उत्तम, परंतु सहस्र मूर्ख ब्राह्मणांनीं सांगितलेला तो धर्म नव्हे.

अत्रतानामयंत्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ॥

सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥

सावित्र्यादि ब्रह्मचारिव्रतरहित, मंत्रवेदाध्ययनरहित आणि केवल ब्राह्मणजाति मात्र धारण करून उपजीविका करणारे असे सहस्रशः जरी एकत्र मिळाले तत्रापि ती सभा नव्हे.

यं वदन्ति तमोभूत्वा मूर्खा धर्ममतद्विदः ॥

तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥ ११५ ॥

तमोगुणानें युक्त, मूर्ख, धर्म न जाणणारे असे होत्साते जे पापाचें प्रायश्चित्त सांगतात त्यांस, त्या पाप्याचें तें पाप शतगुणित होऊन प्राप्त होतें.

तदद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ॥

अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥

भृगु सांगतो कीं, हे ऋषिहो, तुहांस उत्तम कल्याणकारक असा मी धर्म सांगितला. ह्या धर्मापासून च्युत न होणारा, ह्मणजे यथोक्त धर्माचरण करणारा ब्राह्मणादिक, मोक्षलक्षण गतीप्रत पावतो.

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ॥

धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥

संपूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, आणि वैराग्य ह्या सहा गुणांनीं युक्त अतएव भगवान् देव मनु जो त्यानें लोकांचें हित व्हावें या इच्छेंकरून याप्रमाणें परम गुह्य असा सर्व धर्म मजकारणें सांगितला.

सर्वमात्मानि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ॥

सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

ब्राह्मणानें निश्चित होऊन सत्, असत्, सर्व आत्म्याचे ठायीं ब्रह्मस्वरूपेंकरून पाहावें, सर्व पदार्थमात्रातें आत्मत्वानें पाहणाराला रागद्वेष प्राप्त होत नाहीत, व अधर्माचे ठायीं मन जात नाही.

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥

आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥

आत्मा हाच इंद्रादिक सर्व देवता होत. हें सर्व जगत् आत्म्याचे ठायीं स्थित आहे. ह्या सर्व क्षेत्रज्ञादिकांस कर्मसंबंध आत्माच उत्पन्न करितो.

खं सन्निवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ॥

पक्तिदृष्टयोः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ १२० ॥

मनसींदुं दिशः श्रोत्रे क्रांति विष्णुं बले हरम् ॥

वाच्यमि मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

बाह्याकाश हृदयाकाशाचे ठायीं लीन करावें, ह्मणजे एकरूपानें धारण करावें. चेष्टा आणि स्पर्श ह्यांला कारणभूत जो देहस्थित वायु त्याचे ठायीं बाह्यवायु लीन करावा. बाह्य तेज उदरस्थ तेजाचे ठायीं लीन करावें. बाह्य जल देहस्थ जलाचे ठायीं लीन करावें. पृथ्वीचा भाग जें शरीर तें बाहेरच्या पृथ्वीभागाचे ठायीं लीन करावें. मनाचे ठायीं चंद्र,

श्रोत्रांचे ठायीं दिशा, पादेंद्रियाचे ठायीं विष्णु, बलाचे ठायीं हर, वागिंद्रियाचे ठायीं अग्नि, पांथिंद्रियाचे ठायीं मित्र, आणि उपस्थेंद्रियाचे ठायीं प्रजापति यांला लीन करावें.

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥

रुक्माभं स्वप्रधीगम्यं विद्यात्तत्पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

ब्रह्मदेवापासून स्तंबपर्यंत सर्व चराचराचा शास्ता, अणूहूनहि अणु, सुवर्णासारखा शुद्धस्वरूप, स्वप्रबुद्धिसदृश ज्ञानेंकरून जाणण्यास योग्य, असा जो पुरुष परमात्मा त्याचें चिंतन करावें.

एतमेके वदंत्यग्निं मनुमेके प्रजापतिम् ॥

इंद्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

कोणी अग्नि, कोणी मनु, कोणी प्रजापति, कोणी इंद्र, कोणी प्राण, कोणी नित्य-ब्रह्म असीं स्वनुद्द्यनुसार निरनिराळीं नामें देऊन ह्या परमात्म्याची उपासना करितात.

एष सर्वाणि भूतानि पंचभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ॥

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

हा परमात्मा शरीराच्या उत्पत्तीला कारणभूत जीं पृथिव्यादिक पंचमहाभूतें त्यांच्या मूर्ति करून सर्व प्राण्यांला व्यापित करून जन्म, वृद्धि, क्षय यांहींकरून नित्य चक्राप्रमाणें फिरणारे, असे जे सर्व प्राणी त्यांला मोक्षप्राप्तीपर्यंत संसारी करितो.

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ॥

स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

जो मनुष्य या रीतीनें सर्व भूतांचे ठायीं आत्मत्वेकरून आत्म्याप्रत पाहतो तो ब्रह्म-साक्षात्कार पावून श्रेष्ठ अशा ब्रह्मपदाप्रत पावतो, ह्मणजे मुक्त होतो.

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ॥

भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥

भृगुऋषीनें सांगितलेलें असें हें मानव (मनुकृत) स्मृतिशास्त्र जो द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, किंवा वैश्य) पठन करितो तो नित्य आचारसहित होतो, आणि जसी अपेक्षित असेल तसी स्वर्गापवर्गादिरूप गति पावतो.

इति मानवधर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

कुल्लूकभट्टव्याख्यानानुसारिण्यां गोघेत्युपावह्यवापूशास्त्रिविरचितायां मनुस्मृति-

प्राहाराष्ट्रभाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भाषांतरकर्त्याची प्रार्थना.

एवं मया मानवधर्मशास्त्रे व्यधायि वृत्तिर्विदुषां हिताय ॥

दुर्बोधजातेर्दुरितक्षयाय भूयान्ततो मे जगतामधीशः ॥ १ ॥

इति मनुस्मृतिः समाप्ता.

